श्री चारित्ररत्न गणि कृत

दान प्रदीप

संपादक : मुनिराज श्री जयानंदविजयजी

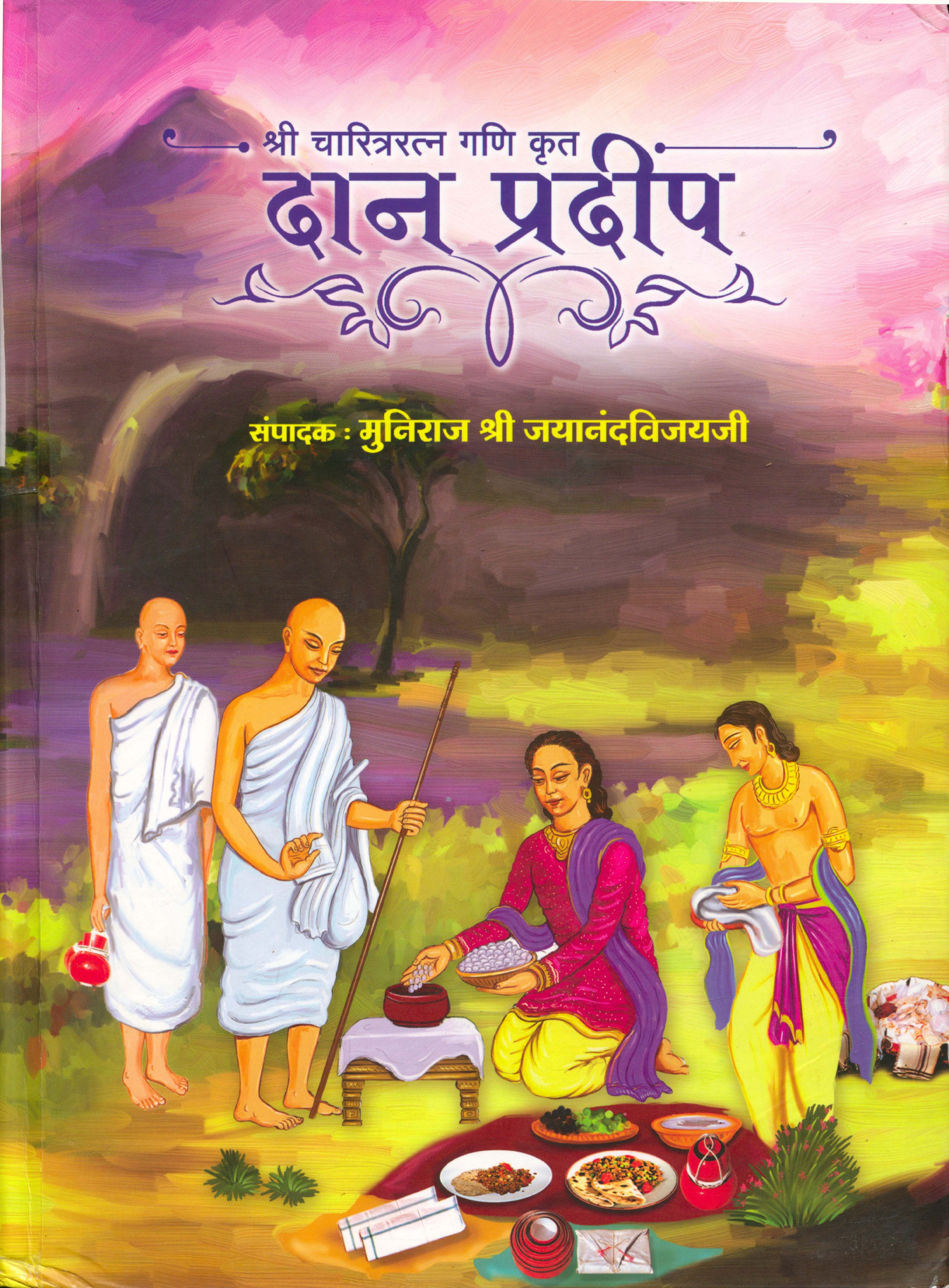

द्रव्य सहायक

श्री गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति
भीनमाल, (राज.)

• प्राप्तिस्थान •

शा. देवीचंद छगनलालजी

सुमति दर्शन, नेहरू पार्क के सामने, माघ कॉलनी, भीनमाल-३४३ ०२९ (राज.) फोन : (०२९६९) २२० ३८७

श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढी

साँथू-३४३ ०२६. जिला : जालोर (राज.) फोन : (०२९७३) २५४ २२१

श्री विमलनाथ जैन पेढी

बाकरा गाम-३४३ ०२५. (राज.) फोन : (०२९७३) २५१ १२२ मो. : ९४१३४ ६५०६८

महाविदेह भीनमाल धाम

तलेटी हस्तिगिरि, लिंक रोड, पालीताणा-३६४ २७०. फोन : (०२८४८) २४३ ०१८

श्री तीर्थेन्द्र सूरि स्मारक संघ ट्रस्ट

तीर्थेन्द्र नगर, बाकरा रोड-३४३ ०२५. जिला : जालोर (राज.) फोन : (०२९७३) २५१ १४४

संरक्षक

(१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज. के. एस. नाहर, २०१ सुमेर टॉवर, लव लेन, मझगांव, मुंबई-१०.

(२) मीलियन ग्रुप, सूराणा, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा.

(३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, ताराटेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७. फोन : २३८०१०८६.

(४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई. महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना-३६४२७०.

(५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ, वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरू ज्वेलर्स, ३०५, स्टेशन रोड संघवी भवन, थाना (प.) महाराष्ट्र.

(६) अति आदरणीय वडील श्री नाथालाल तथा पू. पिताजी चीमनलाल, गगलदास, शांतिलाल तथा मोंघीबेन अमृतलाल के आत्मश्रेयार्थे चि. निलांग के वरसीतप, प्रपौत्री भव्या के अट्ठाई वरसीतप अनुमोदनार्थ दोशी वीजुबेन चीमनलाल डायालाल परिवार, अमृतलाल चीमनलाल दोशी पांचशो वोरा परिवार, थराद-मुंबई.

(७) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा, फर्म - अरिहन्त नोवेल्हटी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुरटंकशाला रोड, अहमदाबाद. पृथ्वीचंद अेन्ड कं., तिरुचिरापली.

(८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलखभाई परिवार.

(९) शा कांतीलाल केवलचंदजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६३ में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते.

(१०) 'लहेर कुंदन ग्रुप' शा जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)

(११) २०६३ में गुडा में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार, प्रिन्केश, केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी काशम गौत्र त्वर परिवार गुडाबालोतान् जयचिंतामणि १०-५४३ संतापेट नेल्लूर-५२४००१ (आ.प्र.)

(१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा. पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान् 'नाकोडा गोल्ड' ७०, कंसारा चाल, बीजामाले, रूम नं. ६७, कालबादेवी, मुंबई-२

(१३) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड. के. वी. एस. कोम्प्लेक्ष, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्टूर A.P.

(१४) एक सद्गृहस्थ, धाणसा.

(१५) गुलाबचंद डॉ. राजकुमार, निखीलकुमार, बेटा पोता परपोता शा छगनराजजी पेमाजी कोठारी, आहोर, अमेरिका : ४३४१, स्कैलेण्ड ड्रीव अटलान्टा जोर्जिया U.S.A.-३०३४२. फोन : ४०४-४३२-३०८६/ ६७८-५२१-११५०

(१६) शांतिरूपचंद रविन्द्रचंद, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी महेता, जालोर, बेंगलोर.

(१७) वि.सं.२०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मित्तुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा, शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एन्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा. भीवंडी, इचलकरंजी.

(१८) बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा पोता चंपालाल सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल. नवकार टाइम, ५१, नाकोडा स्टेट न्यु बोहरा बिल्डींग, मुंबई-३.

(१९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार, बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्रा मार्केटींग, विजयवाडा.

(२०) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४-रहेमान भाई बि. एस. जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४.

(२१) पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शन, बेटा पोता सुमेरमलजी वरदीचंदजी आहोर, जे. जी. इम्पेक्स प्रा.लि.-५५ नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९.

(२२) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)

(२३) मुनिश्री जयानंद विजयजी की निश्रा में लेहर कुंदन ग्रुप द्वारा शत्रुंजय तीर्थे २०६५ में चातुर्मास उपधान करवाया उस समय के आरधक एवं अतिथि के सर्व साधारण की आय में से सवंत २०६५.

(२४) मातुश्री मोहनीदेवी, पिताश्री सांवलचंदजी की पुण्यस्मृति में शा पारसमल सुरेशकुमार, दिनेशकुमार, कैलाशकुमार, जयंतकुमार, बिलेश, श्रीकेष, दीक्षिल, प्रीष कबीर, बेटा पोता सोवलचंदजी कुंदनमलजी मेंगलवा, फर्म : Fybros Kundan Group, ३५ पेरुमल मुदली स्ट्रीट, साहुकार पेट, चेन्नई-१. Mengalwa, Chennai, Delhi, Mumbai.

(२५) शा सुमेरमलजी नरसाजी -मेंगलवा, चेन्नई.

(२६) शा दूधमलजी, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२

(२७) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३A पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्राबाद.

(२८) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रींकेश, यश, मीत, बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(२९) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रविणकुमार, दिलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्टूर.

(३०) एक सद्गृहस्थ (खाचरौद)

(३१) श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, 11-X-2-Kashi, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्प्लेक्स, पहला माला, चेन्नई-७९.

(३२) मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंवरलालजी की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा. पी. टी. जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सी वींग, गोरेगांव (वेस्ट), मुंबई-६२.

(३३) गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुंबई, विजयवाडा, दिल्ली. जुगराज ओटमलजी ए ३०१/३०२, वास्तुपार्क, मलाड (वेस्ट), मुंबई-६४

(३४) राज राजेन्द्र टेक्सटाईल्स, एक्सपोर्टस लिमीटेड, १०१, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुंबई, मोधरा निवासी.

(३५) प्र. शा. दी. वि. सा. श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या मुक्ति दर्शिताश्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोबाई की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, ह्वितिक, आहोर. कोठारी मार्केटींग, १०/११ चितुरी कॉम्पलेक्ष, विजयवाडा.

(३६) पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई परिवार द्वारा समेतशिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटा पोता सोनराजजी मेघाजी कटारीया संघवी धाणसा. अलका स्टील ८५७ भवानी पेठ, पूना-२.

(३७) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६६ में तीर्थेन्द्र नगरे-बाकरा रोड मध्ये चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते हस्ते श्रीमती मैतीदेवी पेराजमलजी रतनपुरा वोहरा परिवार-मोधरा (राजस्थान)

(३८) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६२ में पालीताना में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते शांतीलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार विजयकुमार, श्री हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी परीवार-आहोर.

(३९) संघवी कांतिलाल, जयंतिलाल गणपतराज राजकुमार, राहुलकुमार समस्त श्रीश्रीश्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण. संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी, ८५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-६०० ०७९.

(४०) संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासन. राजेश इलेक्ट्रीकल्स ४८, राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली-६२७ ००१.

(४१) शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, दांसपा, मुंबई.

(४२) शा भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेषकुमार, राहुल बेटा पोता तेजराजजी संघवी कोमतावाला भीनमाल, एस. के. मार्केटींग, राजरतन इलेक्ट्रीकल्स-२०, सम्बीयार स्ट्रीट, चेन्नई-६०००७९.

(४३) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(४४) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेस, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.) - फूलचंद भंवरलाल, १८० गोवींदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई-१.

(४५) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सुरत. फर्म : मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन, चीकपेट क्रोस, बेंगलोर-५३.

(४६) बल्लु गगनदास विरचंदभाई परिवार, थराद.

(४७) श्रीमती मंजुलादेवी भोगीलाल वेलचन्द संघवी धानेरा निवासी. फेन्सी डायमण्ड, ११ श्रीजी आर्केड, प्रसाद चेम्बर्स के पीछे, टाटा रोड नं.१-२, ऑपेरा हाऊस, मुंबई-४.

(४८) शा शांतिलाल उजमचंद देसाई परिवार, थराद, मुंबई. विनोदभाई, धीरजभाई, सेवंतीभाई.

(४९) बंदा मुथा शांतिलाल, ललितकुमार, धर्मेश, मितेश, बेटा पोता मेघराजजी फुसाजी ४३, आइदाप्पा नायकन स्ट्रीट, साहुकार पेट, धाणसा हाल चेन्नई-७९.

(५०) श्रीमती बदामीदेवी दीपचंदजी गेनाजी मांडवला चेन्नई निवासी के प्रथम उपधान तप निमित्ते. हस्ते परिवार.

(५१) श्री आहोर से आबू-देलवाडा तीर्थ का छरि पालित संघ निमित्ते एवं सुपुत्र महेन्द्रकुमार की स्मृति में संघवी मुथा मेघराज, कैलाशकुमार, राजेशकुमार, प्रकाशकुमार, दिनेशकुमार, कुमारपाल, करण, शुभम, मिलन, मेहुल, मानव, बेटा पोता सुगालचंदजी लालचंदजी लूंकड परिवार आहोर. मैसुर पेपर सप्लायर्स, ५, श्रीनाथ बिल्डींग, सुल्तान पेट सर्कल, बेग्लोर-५३.

(५२) एक सद्गृहस्थ बाकरा (राज.)

(५३) माइनोक्स मेटल प्रा.लि., (सायला), नं.७, पी.सी.लेन, एस.पी.रोड क्रॉस, बेग्लोर-२, मुंबई, चेन्नई, अहमदाबाद.

(५४) श्रीमती प्यारीबाई भेरमलजी जेठाजी श्रीश्रीश्रीमाल अग्नि गौत्र, गांव-सरत.

(५५) स्व. पिताश्री हिराचंदजी, स्व. मातुश्री कुसुमबाई, स्व. जेष्ठ भ्राताश्री पृथ्वीराजजी, श्री तेजराजजी आत्मश्रेयार्थ मुथा चुन्निलाल, चन्द्रकुमार, किशोरकुमार, पारसमल, प्रकाशकुमार, जितेन्द्रकुमार, दिनेशकुमार, विकाशकुमार, कमलेश, राकेश, सन्नि, आशिष, नीलेश, अंकुश, पुनीत, अभिषेक, मोन्टु, नितिन, आतिश, निल, महावीर, जैनंम, परम, तनमै, प्रनै, बेटा पोता, प्रपोता लडपोता हिराचंदजी, चमनाजी, दांतेवाडिया परिवार, मरुधर में आहोर (राज.). फर्म : हीरा नोवेल्टीस, फ्लॉवर स्ट्रीट, बल्लारी.

(५६) मुमुक्षु दिनेशभाई हालचंद अदानी की दीक्षा के समय आई हुई राशी में से हस्ते हालचंदभाई वीरचंदभाई परिवार थराद, सुरत.

(५७) श्रीमती सुआबाई ताराचंदजी वाणी गोता बागोड़ा. बी. ताराचंद ॲण्ड कंपनी, ए-१८, भारतनगर, ग्रान्ट रोड, मुंबई-४०० ००७.

(५८) २०६९ में मु. जयानंद वि. की निश्रा में श्री बदामीबाई तेजराजजी आहोर, इन्द्रादेवी रमेशकुमारजी गुडा बालोतान एवं मूलीबाई पूनमचंदजी साँथू तीनों ने पृथक्-पृथक् नव्वाणु यात्रा करवायी, उस समय आयोजक एवं आराधकों की ओर से उद्यापन की राशी में से। पालीताना.

(५९) शा जुगराज फूलचंदजी एवं सौ. कमलादेवी जुगराजजी श्रीश्रीश्रीमाल चन्द्रावण गोता के जीवित महोत्सव पद्मावती सुनाने के प्रसंग पर - कीर्तिकुमार, महेन्द्रकुमार, निरंजनकुमार, विनोदकुमार, अमीत, कल्पेश, परेश, मेहुल वेश आहोर. महावीर पेपर ॲण्ड जनरल स्टोर्स, २२-२-६, क्लोथ बाजार, गुन्टुर.

(६०) शा जुगराज, छगनलाल, भंवरलाल, दरगचंद, घेवरचंद, धाणसा. मातुश्री सुखीबाई मिश्रीमलजी सालेचा. फर्म : श्री राजेन्द्रा होजीयरी सेन्टर, मामुल पेट, बेंग्लोर-५३.

सह संरक्षक

(१) शा तीलोकचंद मयाचन्द एन्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई-४

(२) शा ताराचंद भोनाजी आहोर मेहता नरेन्द्रकुमार एण्ड कुं. पहला भोईवाडा लेन, मुंबई नं. २.

(३) स्व. मातृश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर. प्रविण एण्ड कं. १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद-१२.

(४) १९९२ में बस यात्रा प्रवास, १९९५ में अट्ठाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थे नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष्य में संघवी भबुतमल जयंतिलाल, प्रकाशकुमार,

प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकूश, रितेश नाणेशा, प्रकाश नोवेल्टीज्, सुन्दर फर्नीचर, ७९४, सदाशीव पेठ, बाजीराव रोड, पूना-४११ ०३० (सियाणा)

(५) सुबोधभाई उत्तमलाल महेता धानेरा निवासी, कलकत्ता.

(६) पू. पिताजी ओटमलजी मातुश्री अतीयाबाई प. पवनीदेवी के आत्मश्रेयार्थ किशोरमल, प्रवीणकुमार (राजु) अनिल, विकास, राहुल, संयम, ऋषभ, दोशी चौपड़ा परिवार आहोर, राजेन्द्र स्टील हाउस, ब्राडी पेठ, गुन्टुर (A.P.)

(७) पू. पिताजी शा प्रेमचंदजी छोगाजी की पुण्यस्मृति में मातुश्री पुष्पादेवी. सुपुत्र दिलीप, सुरेश, अशोक, संजय वेदमुथा रेवतडा, (राज.) चेन्नई. श्री राजेन्द्र टॉवर नं.१३, समुद्र मुद्दाली स्ट्रीट, चेन्नई.

(८) पू. पिताजी मनोहरमलजी के आत्मश्रेयार्थ मातुश्री पानीदेवी के उपधान आदि तपश्चर्या निमित्ते सुरेशकुमार, दिलीपकुमार, मुकेशकुमार, ललितकुमार, श्रीश्रीश्रीमाल, गुडाल गोत्र नेथीजी परिवार आलासण. फर्म : M. K. Lights, ८९७, अविनाशी रोड, कोइम्बटूर-६४१ ०१८.

(९) गांधि मुथा, स्व. पिताजी पुखराजजी मातुश्री पानीबाई के स्मरणार्थ हस्ते गोरमल, भागचन्द, नीलेश, महावीर, वीकेश, मीथुन, रीषभ, योनिक बेटा पोता पुखराजजी समनाजी गेनाजी सायला, वैभव ए टु झेड डोलार शोप वासवी महल रोड, चित्रदूर्गा.

(१०) श्रीमती शांतिदेवी मोहनलालजी सोलंकी के द्वितीय वरसीतप के उपलक्ष में हस्ते मोहनलाल विकास, राकेश, धन्या बेटा पोता गणपतचंदजी सोलंकी जालोर, महेन्द्र ग्रुप, विजयवाडा (A.P.)

(११) पू. पिताजी श्री मानमलजी भीमाजी छत्रिया वोरा की पुण्य स्मृति में हस्ते मातुश्री सुआदेवी. पुत्र मदनलाल, महेन्द्रकुमार, भरतकुमार. पौत्र नितिन, संयम, श्लोक, दर्शन सूराणा निवासी कोइम्बटूर.

(१२) स्व. पू. पिताजी श्री पीरचंदजी एवं स्व. भाई श्री कांतिलालजी की स्मृति में माताजी पातीदेवी पीरचंदजी, पुत्र : हस्तीमल, महावीरकुमार, संदीप, प्रदीप, विक्रम, नीलेष, अभीषेक, अमीत, हार्दिक, मानू, तनीश, यश, पक्षाल, नीरव बेटा पोता परपोता पीरचंदजी केवलजी भंडारी-बागरा. पीरचंद महावीरकुमार-मैन बाजार, गुन्टुर.

(१३) श्री सियाणा से बसद्वारा शत्रुंजय-शंखेश्वर छ रि पालित यात्रा संघ २०६५ हस्ते संघवी प्रतापचंद, मूलचन्द, दिनेशकुमार, हितेशकुमार, निखिल, पक्षाल, बेटा पोता पुखराजजी बाल गोता सियाणा. फर्म : जैन इन्टरनेशनल, ९५, गोवींदाप्पा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई.

(१४) स्व. पू. पि. शांतिलाल चीमनलाल बलु मातुश्री मधुबेन शांतिलाल, अशोकभाई सुरेखाबेन आदी कुमार थराद, अशोकभाई शांतिलाल शाह. २०१, कोश मेश अपार्टमेन्ट, भाटीया स्कूल के सामने, सांईबाबा नगर, बोरीवली (प.), मुंबई-४०० ०७२.

(१५) शा जीतमलजी अन्नाजी मु.पो. नासोली भीनमाल, अशोक गोल्ड शोप नं. ७, काका साहेब गाडगील मार्ग, खेड गली (प्रभादेवी), दादर, मुंबई-४०० ०२५.

द्रव्य सहायक

श्री गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति
भीनमाल, (राज.)

• प्राप्तिस्थान •

शा. देवीचंद छगनलालजी

सुमति दर्शन, नेहरू पार्क के सामने, माघ कॉलनी, भीनमाल-३४३ ०२९ (राज.) फोन : (०२९६९) २२० ३८७

श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढी

साँथू-३४३ ०२६. जिला : जालोर (राज.) फोन : (०२९७३) २५४ २२१

श्री विमलनाथ जैन पेढी

बाकरा गाम-३४३ ०२५. (राज.) फोन : (०२९७३) २५१ १२२ मो. : ९४१३४ ६५०६८

महाविदेह भीनमाल धाम

तलेटी हस्तिगिरि, लिंक रोड, पालीताणा-३६४ २७०. फोन : (०२८४८) २४३ ०१८

श्री तीर्थेन्द्र सूरि स्मारक संघ ट्रस्ट

तीर्थेन्द्र नगर, बाकरा रोड-३४३ ०२५. जिला : जालोर (राज.) फोन : (०२९७३) २५१ १४४

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पेज नं.
1.	प्रस्तावना	1
2.	प्रथम प्रकाश	13
3.	मेघनाद राजा की कथा	16
4.	द्वितीय प्रकाश	49
5.	दान के भेद (ज्ञान दान)	49
6.	विजय राजा की कथा	51
7.	सुबुद्धि और दुर्बुद्धि की कथा	69
8.	वसु और पर्वत की कथा	92
9.	तृतीय प्रकाश	102
10.	अभयदान का महात्मय	102
11.	शंख श्रावक की कथा	104
12.	चतुर्थ प्रकाश	133
13.	पात्र दान का माहात्म्य	133
14.	वज्रकर्ण राजा की कथा	134
15.	तारचंद्र कुरुचंद्र की कथा	143
16.	पंचम प्रकाश	161
17.	पद्माकर की कथा	161
18.	रत्नसार की कथा	167
19.	षष्ठम प्रकाश	181

क्र.	विषय	पेज नं.
20.	आसनदान पर करिराज की कथा	181
21.	सप्तम प्रकाश	207
22.	अन्नदान	207
23.	कनकरथ की कथा	210
24.	भद्र अतिभद्र की कथा	222
25.	अष्टम प्रकाश	234
26.	पान–दान	234
27.	रत्नपाल राजा की कथा	237
28.	नवम प्रकाश	283
29.	औषध दान	283
30.	धनदेव की कथा	284
31.	दशम प्रकाश	315
32.	वस्त्र–दान	315
33.	ध्वजभुजंग की कथा	318
34.	एकादशम प्रकाश	349
35.	पात्र–दान	349
36.	धनपति की कथा	351
37.	द्वादश प्रकाश	361
38.	यक्ष श्रावक की कथा	363
39.	जीर्ण श्रेष्ठी की कथा	370
40.	सुधन और मदन की कथा	377
41.	कृतपुण्य की कथा	383
42.	धनसार श्रेष्ठी की कथा	392

श्री आदिनाथाय नमः

प्रस्तावना

जैन दर्शन की ग्रंथ समृद्धि चार प्रकार के अनुयोग से पल्लवित है। उनमें से चरितानुयोग सुगम होने से लोकप्रिय होने के साथ ही साथ बोधक होने की विशेष योग्यता को भी धारण करता है। मनुष्य के स्वभाव के विविध चित्र कथानुयोग में ही पाये जा सकते हैं। धर्म का अद्‌भुत वर्णन जैन कथा साहित्य के प्रत्येक भाग में प्राप्त होता है। इसके साथ ही उसमें यह खूबी भी रही हुई है कि प्रत्येक प्रसंग पर सत्कार्य का शुभ फल और दुष्कृत्य का अशुभ फल दर्शाकर कथानुयोग के पाठकों को धार्मिक और नैतिक प्रवर्त्तन का लाभ करवाता है।

सर्वज्ञ–भाषित शास्त्रों को सत्यता के साथ सावधानीपूर्वक उतारकर उसका विस्तार सामान्य जन को समझ में आ सके–इस प्रकार से निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि, टीका, टब्बा, रास आदि नव–पल्लवित शाखाओं के रूप में विस्तृत करके हमारे महान पूर्वाचार्यों और विद्वान मुनि–महाराजों ने जैन साहित्य की अनुपम सेवा की है। उन शास्त्रों में रहे हुए तत्त्व और चर्चित विषयों के रस कस लाभ सामान्य जीव भी सरलता से ले सकें, ऐसे उच्च आशय को ध्यान में रखते हुए किसी भी विषय पर कथानुयोग की रचना की है, क्योंकि कथानुयोग उपदेश के लिए एक सबल साधन माना जाता है। अखिल भारत के कथा, इतिहास और वार्त्ता रूपी साहित्य में तत्त्व और विद्वत्ता की दृष्टि से अवलोकन करनेवालों के लिए जैन अनुयोग प्रशंसनीय बने बिना नहीं रह सकता।

चरित्र–ग्रंथों के वाचक–वर्ग के लिए एक बात खास रूप से लक्ष्य में रखनी चाहिए कि किसी भी धर्मवीर या दानवीर नायक के बाह्य चरित्र के साथ उसके आन्तरिक चरित्र का विचार करना भी घटित होता है, क्योंकि आन्तरिक चरित्र की शुद्धि से ही बाह्य चरित्र आकर्षक बनता है। आन्तरिक चरित्र के द्वारा गुप्त रूप से भावित किये गये सत्कार्य जगत में बाह्य रूप से दृष्टिगत होते हुए जन–समाज की आत्मा में विस्मयता का संचार करते हैं और वे अनुकरणीय भी बनते हैं।

कथानुयोग के ग्रंथों में धर्म रूपी कल्पवृक्ष की चार शाखाओं–दान, शील, तप और भावना के स्वरूप–वर्णन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अद्‌भुत चमत्कारिक दानवीर पुरुषों के चरित्रों से सीखने, जानने और मनन करने का अत्यधिक विषय मिलता है। इतना ही नहीं, उन चार प्रकार की शाखाओं में से एक शाखा–दान रूपी धर्म को प्राप्त करने से भी कोई भी मनुष्य मोक्ष के निकट पहुँच सकता है। शास्त्रकारों ने तो यहां तक कहा है कि धर्म की इन चार शाखाओं में से तीन शाखाएँ–शील, तप और भाव जहां आदरनेवाले के लिए उपकारक होती हैं, वहीं दान धर्म तो ग्रहणकर्त्ता और दानदाता–दोनों के लिए उपकारक सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, इस दानधर्म की महिमा का वर्णन सर्वज्ञों ने भी अपूर्व प्रकार से किया है। इस दानधर्म को स्पष्ट प्रकार से प्रकट करनेवाला और उसमें आनेवाले दानवीरों के चरित्रों के लिए कोई खास ग्रंथ, जो पठन–पाठन के योग्य हो, उसकी जरुरत का विचार करते हुए यह **"दान प्रदीप"** नामक ग्रंथ हमने मूल के आधार पर गुजराती अनुवाद से हिन्दी में भाषान्तर करके प्रकट किया है।

शास्त्रों में कहा गया है कि पृथ्वी का भूषण पुरुष है, पुरुष का भूषण उत्तम लक्ष्मी है और लक्ष्मी

का भूषण दान है। इसी कारण से जैसे काव्य से कवि, बुद्धि से मंत्री, न्याय से राजा, शूरवीरता से सुभट, लज्जा से कुलपुत्र, सतीत्व से घर, शील से तप, कान्ति से सूर्य, ज्ञान से अध्यात्मी, वेग से अश्व एवं आँख से मुख शोभित होता है, वैसे ही दान से लक्ष्मी शोभित होती है। अतः अनेक प्रयासों से प्राप्त और प्राणों से भी ज्यादा महत्त्व रखनेवाली लक्ष्मी की एकमात्र उत्तम गति दान ही है। इसके अलावा तो लक्ष्मी उपाधि रूप ही है।

यह दान पात्रभेद की अपेक्षा अलग–अलग होने से अलग–अलग फल प्रदान करनेवाला होता है। जैसे–सुपात्र को दिया गया दान धर्म का कारण रूप होता है, अन्य को दिया गया दान दया का बोधक होता है, मित्र को दिया गया दान प्रीतिवर्द्धक होता है, शत्रु को दिया गया दान वैर–भाव का नाशक होता है, दास–वर्ग को दिया गया दान भक्तिवर्द्धक होता है, राजा को दिया गया दान सन्मान–प्रदाता होता है और बन्दियों (भाटादि) को दिया गया दान यशवर्द्धक होता है।

सभी प्रकार की दैविक व मानुषी समृद्धि एवं मोक्ष सम्पदा का उत्कृष्ट कारण धर्म ही है और उसके भी दान, शील, तप व भाव रूपी चार प्रकार होने पर भी दान धर्म को मुख्य कहने का कारण यह है कि बाकी तीन धर्म दान धर्म से ही स्थिरता को प्राप्त होते हैं।

इस दान दीपक ग्रंथ में जिनेश्वर भगवान द्वारा कथित ज्ञानदान, अभयदान और उपष्टम्भदान–इन तीन भेदों का विवेचन करके इन पर अनेक महान पुरुषों की कथाएँ दी गयी हैं। इन चरित्रों में आनेवाले उदार, पुण्य–प्रभावक दानवीरों के जीवन का स्मरण करवाकर पाठकों के हृदय में उन्नत भावों को जागृत करने के साथ उन्हें दानवीर बनने की प्रेरणा भी इस ग्रंथ में दी गयी है। ऐसे चरित्रों को पढ़ने से मन में आह्लाद उत्पन्न होता है। वह आह्लाद अपूर्व व अपरिमित होने से उसमें संचित उत्तम बोध अन्तःकरण में निर्मलता के साथ अव्याबाध आनन्द को प्रवाहित करता है।

जिनागम रूपी अग्नि में से विविध अर्थों के तेज को ग्रहण करके जिनशासन रूपी घर में दान रूपी दीप को प्रकट करने के लिए (श्रीजगच्चन्द्रसूरिजी के उत्तरोत्तर पाट पर श्रीसोमसुन्दरजी गुरु हुए। उनके पाँच शिष्य श्रीमुनिसुन्दर सूरिजी, श्रीजयचन्द्र मुनि, श्रीभुवनसुन्दरसूरिजी, श्रीजिनसुन्दरसूरिजी और श्रीजिनकीर्त्ति मुनि हुए। इनमें से श्री जिनसुन्दरसूरिजी के शिष्य) श्रीचारित्ररत्न गणिजी ने इस ग्रंथ की रचना की है। मारवाड़ में श्रीचित्रकूट (वर्त्तमान में चित्तौड़गढ़) में यह ग्रंथ संवत् 1499 वें वर्ष में लिखकर पूर्ण किया गया है। इसके मूल श्लोक 6675 हैं। इस ग्रंथ के पिछले भाग में दी गयी प्रशस्ति में ग्रंथकर्त्ता महाराज ने ऐसा बताया है। यह मूल ग्रंथ भी इसी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है। यह मनुष्यों के लिए उपकारक होने से प्रवर्त्तक श्रीकांतिविजयजी महाराज के शिष्यरत्न मुनिराजश्री चतुरविजयजी महाराज ने भाषान्तर करवाकर प्रकट करने की आज्ञा प्रदान की थी। इस ग्रंथ में ग्रंथकार महाराज ने बारह प्रकाश (विभाग) में उपरोक्त तीनों दान और उन पर अनेक कथाओं का समावेश किया है। किस–किस प्रकाश में किस–किस दान के प्रकार और उस पर दानवीर नरों के चरित्रों का अधिकार किन पन्नों से कहां तक है–यह सब भी संक्षेप में आगे बताया है। इससे सम्पूर्ण ग्रंथ का रहस्य सरलता से समझा जा सकेगा। इसके अलावा विशेष रूप से प्रत्येक प्रकाश और कथाओं की अनुक्रमणिका भी इस प्रस्तावना के बाद के भाग में दी गयी होने से किसी भी दान के विषय और उस पर दी जानेवाली कथा को यथासम्भव स्वाभाविक रूप में सरलता से पढ़ा जा सकेगा।

प्रकाश वर्णन

प्रथम प्रकाश :–मंगलाचरण, अभिधेय, दान के प्रकार और मेघनाद राजा की कथा–प्रथम श्रीआदिनाथ भगवान की मंगलाचरण के रूप में स्तुति करके–'उन प्रभु से ही दान की परम्परा शुरु हुई है और आज तक दानधर्म से तीनों लोक के प्राणी सुखी हैं'–यह बताकर ग्रंथकार ने अपने गुरुदेव की स्तुति करके जिनशासन रूपी घर में दान रूपी दीपक को प्रकट करने के लिए (अभिधेय बताकर) मोक्ष–सम्पदा का उत्कृष्ट कारण धर्म है, जिसके चार प्रकार–दान, शील, तप व भाव हैं, यह बताकर दान को मुख्य बताया है। यह दान उपरोक्त प्रमाण से तीन प्रकार का है। प्रथम ज्ञानदान के बिना किसी भी मनुष्य के द्वारा स्वल्प भी धर्म करना सम्भव नहीं है। अभयदान रूपी मेघ के वर्षण से तृण के अंकुरों की तरह सभी धर्म वृद्धि को प्राप्त होते हैं और उस वर्षण के बिना शुष्क हो जाते हैं। इसी प्रकार सुपात्र का पोषण करने से तीसरा उपष्टम्भ दान समस्त धर्मों पर आवश्यक रूप से उपकार करता है। शील, तप और भाव–ये तीन प्रकार के धर्म सर्व रूप में यतियों के जीवन में ही सम्भव होते हैं। अतः यतियों को अन्नादि उपष्टम्भ दान करने से शीलादि धर्म का आराधन हो सकता है, जिससे महान पुरुषों ने दान को प्रधान धर्म बताया है। तीर्थंकर भी चारित्र ग्रहण करने के पूर्व एक वर्ष तक वर्षीदान करते हैं और केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद भी पर्षदा में सबसे पहले दानधर्म की देशना प्रदान करते हैं। इस प्रकार दानधर्म की अनेक प्रकार से उपयोगिता और मुख्यता बताकर चित्त, वित्त और पात्र–इन तीनों की शुद्धि शास्त्रानुसार विस्तारपूर्वक बताते हुए उस पर मेघनाद राजा का चरित्र दिया गया है। मेघनाद राजा ने अपने पूर्वभव में धनराज नामक वणिक के रूप में दानधर्म का अपूर्व आराधन किया था, जिससे मेघनाद के भव में उसे अपरिमित लक्ष्मी, राज्य–वैभवादि प्राप्त हुआ था। इसके साथ ही नागेन्द्र के तुष्ट होने से सभी मनवांछित वस्तु–प्रदाता एक दिव्य रत्नमय कटोरा और त्रैलोक्य–विजय हार प्राप्त हुआ था। अन्त में अनेक वर्षों तक राज्य का पालन करके अपनी शील–सम्पन्न रानी मदनसुन्दरी के साथ चारित्र ग्रहण करके केवलज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष के अधिकारी बने। इस मेघनाद राजा के चरित्र में अन्य दो गर्भित कथाएँ और श्रीधर्मघोष नामक मुनिश्री की देशना समस्त पाठकों को आनन्द उत्पन्न करने के साथ दानधर्म की प्रेरणा भी प्रदान करती है। इस प्रकार प्रथम प्रकाश पूर्ण होता है।

द्वितीय प्रकाश :–इसमें सबसे पहले ज्ञान–दान के प्रकार, इन प्रकारों के आचार का वर्णन और उस पर विजयराजा का दृष्टान्त है। पहले दान के तीन भेद–ज्ञान, अभय और उपष्टम्भ कहे गये हैं। उनमें से ज्ञान के मति आदि पाँच भेद बताकर श्रुत की मुख्यता बतायी गयी है। अभयदान सर्व–सम्पत्ति का कारण है। धर्म के उपष्टम्भ की पुष्टि के लिए पात्र को

जो दान दिया जाता है, वह उपष्टम्भ दान कहलाता है। ये तीनों दान अक्षय मोक्षसुख के अद्वितीय कारण रूप हैं। दयादान, उचितदान और कीर्त्तिदान भी अगर सुपात्र को दिया जाय, तो इनका भी उन तीनों में ही समावेश हो जाता है। इन तीनों प्रकार के दानों में ज्ञानदान की मुख्यता है, क्योंकि जो मनुष्य ज्ञानदान देकर उसकी आराधना करते हैं,वे उससे पूज्यता को प्राप्त करते हैं और जो उसकी विराधना करते हैं, वे अपूज्यता को प्राप्त होते हैं। इस विषय पर विजयराजा की कथा इस दूसरे प्रकाश में बतायी गयी है।

राजगृह नगर के जयन्त राजा ने वय से लघु होने पर भी बुद्धि व पराक्रम में श्रेष्ठ मानकर अपने पुत्र चन्द्रसेन को राज्य प्रदान किया। इससे उनके ज्येष्ठ पुत्र विजय ने स्वयं को अपमानित महसूस किया। उसने पिता के घर का त्याग कर दिया। उड्डियाण देश में कीर्तिधर नामक मुनिश्री के दर्शन करके अत्यधिक आनन्द को प्राप्त किया। पंच–महाव्रत पर सेठ की पुत्रवधू रोहिणी के द्वारा शालि के दानों की वृद्धि का दृष्टान्त और पंच–महाव्रत पालने का उपदेश सुनकर विजय ने चारित्र ग्रहण कर लिया। फिर विजय मुनि अन्य मुनियों को ज्ञानदान करने लगे। पर कालान्तर में ज्ञान पढ़ाने में उन्हें नीरसता महसूस होने लगी। ज्ञान पर द्वेष–भाव पैदा हुआ। अतिचारों की आलोचना किये बिना ही विजय मुनि मरण को प्राप्त हुए और प्रथम देवलोक में उत्पन्न हुए। आयु पूर्ण होने पर वहां से च्यवकर पद्मखण्ड नगर में धनसेठ के घर पर धनशर्मा नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। पूर्वभव में ज्ञान पर द्वेष करने से उन कर्मों का उदय इस भव में हुआ। ज्ञान प्राप्त न कर सकने का कारण पिता ने ज्ञानी गुरुदेव से पूछा, तो उन्होंने पूर्वभव की वास्तविकता बतायी। फिर श्रीगुरुदेव ने ज्ञान की आराधना और विराधना पर सुबुद्धि और दुर्बुद्धि की कथा सुनायी। जिससे धनशर्मा को पश्चात्ताप हुआ। उसने ज्ञान की आराधना की। वहां से मरकर प्रथम देवलोक में गया। वहां से च्यवकर साकेतनगर में धनमित्र नामक वणिक हुआ। वहां जातिस्मरण ज्ञान होने पर फिर से ज्ञान की आराधना और दान करने लगा। अन्त में संसार का त्याग करके चारित्र ग्रहण किया। फिर केवलज्ञान प्राप्त करके स्वर्ण–कमल पर बैठकर ज्ञानदान पर देशना प्रदान करने लगे–"ज्ञान की आराधना की इच्छा करनेवाले पुरुषों को ज्ञान लेते व देते समय आठ प्रकार के काल, विनयादि आचारों का प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए।....." आदि इन आठ आचारों की आठ कथाओं के साथ विस्तारपूर्वक वर्णन धनशर्मा केवली महाराज करने लगे। ज्ञान–प्राप्ति और ज्ञान–दान के अभिलाषियों को यह वर्णन विशेष रूप से पढ़ना चाहिए। धनमित्र का चरित्र और उसमें आनेवाली ग्यारह कथाएँ व ज्ञानदान के आचारादि का वर्णन, महिमादि पढ़ने पर वाचक ज्ञानदान करने के लिए उत्सुक बनता है और उसके फलस्वरूप प्राणी को मोक्ष प्राप्त करवाता है। यह हकीकत इस प्रकाश में देकर ग्रंथकर्त्ता इस प्रकाश को

पूर्ण करते हैं।

तृतीय प्रकाश :–अभयदान की महत्ता, विवेचन, देश व सर्व से दया का विवेचन एवं उस पर शंख श्रावक की कथा–इसमें अभयदान का माहात्म्य बताया गया है। मन, वचन व काया के योग द्वारा करना, करवाना एवं अनुमोदन करना–इन तीन प्रकार से त्रस व स्थावर–सभी जीवों के वध से दूर रहना सर्वथा अभयदान कहलाता है। यह सर्वसंग का त्याग करनेवाले मुनियों में ही संभव है। देश से अभयदान मोक्ष की साक्षात् साक्षी रूप है–इत्यादि अभयदान की विस्तृत व्याख्या करके अन्यदर्शनी ऋषि कपिल का भी प्राणियों के प्रति दया रखने का मत उन्हीं के शास्त्रों से बताया गया है। जैनदर्शन के महापुरुषों–श्रीशांतिनाथ भगवान के पूर्वभव का कबूतर को अभयदान देने के लिए तथा श्रीसुव्रतस्वामी का भरुचनगर में अश्व की रक्षा करने के लिए, श्रीमहावीरस्वामी द्वारा लोगों को अभयदान देने के लिए शूलपाणि यक्ष के द्वारा दी गयी अगणित व्यथाओं को सहन करने के लिए, मेतार्य मुनि के द्वारा क्रौंच पक्षी को बचाने के लिए, धर्मरुचि मुनि द्वारा चींटियों को अभयदान देने के लिए, कुमारपाल राजा द्वारा अपने अठारह देशों में अभयदान की प्रवृत्ति चलाने के लिए अमारि पटह बजवाने का दृष्टान्त देकर अभयदान का स्वरूप बहुत ही प्रभावशाली रूप से बताया है। इसी के साथ शंख श्रावक और उसके तीन मित्रों का विस्तृत चरित्र बताकर उसी के अंतर्गत चोर की कथा तथा श्रीज्ञानशूर नामक मुनिराज की धर्मदेशना बतायी गयी है। अन्त में शंख श्रावक ने अपूर्व जीवदया के पालन से अतुल लक्ष्मी–वैभव प्राप्त किया। वहां से मरकर स्वर्ग में उत्पन्न हुआ और वहां से च्यवकर विजयनगर में विजयसेन राजा की विजया रानी की कुक्षि से जय नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। पूर्वभव में अभयदान देने के कारण यहां पर भी समृद्धि प्राप्त की। अन्त में वैराग्य उत्पन्न होने पर घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया। तत्काल देवताओं ने उन्हें मुनिवेश प्रदान किया। फिर अनेक प्राणियों को प्रतिबोधित करके आयुष्य का क्षय होने पर मोक्ष–सम्पदा प्राप्त की। यह शंख श्रावक का चरित्र पाठक–वर्ग को आश्चर्यकारक, कानों को सुखकारक और आत्मा को कर्ममुक्त बनाकर परमात्म–स्वरूप प्रकट करानेवाला है। इस प्रकार यह प्रकाश पूर्ण होता है।

चतुर्थ प्रकाश :–धर्मोपष्टम्भ दान का स्वरूप, प्रकार, वसतिदान –इस प्रकरण में धर्मोपष्टम्भ दान का स्वरूप दर्शाया गया है। इस दान को देने से धर्म का उपष्टम्भ / उपकार / अवलम्बन होता है। इसमें जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार के पात्र होते हैं। समकितधारी जघन्य, देशविरति श्रावक मध्यम व सर्वविरति मुनि उत्कृष्ट पात्र कहलाते हैं। समकित आदि गुणों से युक्त श्रावक भी पूजनीय होते हैं, क्योंकि सत्यपुरुषों के सत्यबन्धु होने से वे साधर्मिक भाई कहलाते हैं। उन पर प्रेमभाव रखकर अन्न–वस्त्रादि से उनकी भक्ति

करनी चाहिए। जैसे–भरत राजा, दण्डवीर्य राजा, कुमारपाल आदि ने की थी। महान पुरुष श्रीरामचन्द्रजी ने अरण्य में रहते हुए भी उस प्रकार की भक्ति की थी–यह वृत्तान्त इस प्रकाश में कहा गया है।

संयम का साधन शरीर होने से, वह जिसके द्वारा टिका रहे, वैसा अशन–पानादि मुनीन्द्रों को देने चाहिए, जिससे तप, चारित्र व ज्ञान की भक्ति होने से दाता को उसकी प्राप्ति हो सकती है। इसकी पुष्टि के लिए पाँचवें अंग में श्रीगौतमस्वामी ने भगवान श्रीमहावीरस्वामी से पूछा था कि दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति किस प्रकार होती है? तब प्रभु ने जो फरमाया, वह यहां मनन करने योग्य है। एषणीय और अनेषणीय अशनादि देने से क्या लाभ–अलाभ होता है–इसकी वास्तविकता के साथ साधु का दृष्टान्त, मुधादान (बदले की इच्छा के बिना), मुधाजीवी (केवल रत्नत्रयी की आराधना के निमित्त) पर दृष्टान्त, दान के आठ प्रकार, वसति–शयनादि का वर्णन और उस पर वंकचूल की कथा, शय्या पर कोशा वेश्या, उपाश्रय के दान पर अवन्ती सुकुमार, वसतिदान पर तारचन्द्र–कुरुचन्द्र की कथाएँ विस्तार से बताकर जन–समाज पर अनहद उपकार किया है। पठन करनेवाले प्राणी उसी प्रकार आचरण करते हुए अर्थात् शुद्ध भाव से वैसा दान देते हुए उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करते हैं। इसी बात के साथ यह प्रकाश पूर्ण होता है।

पंचम प्रकाश :–शयनदान का वर्णन और उस पर पद्माकर राजा की कथा–आठ प्रकार के दान के साथ वसतिदान के विषय में पूर्व प्रकाश में हकीकत और कथा–दोनों दी गयी हैं। इस प्रकाश में दूसरे शयनदान का पहले सामान्य अर्थ बताया गया है। वर्षाकाल और शेषकाल की अपेक्षा से दो प्रकार का शयन कहा जाता है। फल की इच्छा किये बिना शयनदान देनेवाले को सरलता से मोक्ष–लक्ष्मी प्राप्त होती है। इसका स्पष्ट उल्लेख करके उस पर पद्माकर राजा की विस्तृत कथा दी गयी है। यह पद्माकर राजा अपरिमित सुकृत्यों के द्वारा धर्मोद्योत करते हुए पात्र को निर्दोष शयनादि का दान करते हुए श्रावक धर्म का शुद्ध रीति से पालन करके देवलोक में गया। देव–मनुष्य के आठ भवों तक शयनदान के पुण्य रूपी कल्पवृक्ष के रूप में अद्‌भुत भोगों को भोगकर निर्मल चारित्र का पालन करके केवलज्ञान–केवलदर्शन प्राप्त करके मोक्ष में गया। यह चरित्र इतना अधिक रसदार है कि सरल हृदयी मनुष्य को उसमें श्रद्धा उत्पन्न होती है और वह त्वरा से उसका अधिकारी बन जाता है। यह पढ़ने पर ही जाना जा सकता है। इस प्रकार पाँचवाँ प्रकाश यहां पूर्ण होता है।

षष्ठम प्रकाश :–आसनदान का वर्णन और उस पर करिराज की कथा–इस प्रकाश में उपष्टम्भदान के तीसरे भेद आसनदान का वर्णन किया गया है। वर्षाकाल में निर्दोष काष्ठमय और बाकी के शेषकाल में ऊन के आसन पर मुनि बैठते हैं। अतः पुण्यशाली

श्रावकों को निरन्तर वैसा दान मुनीश्वरों को महान भावों के साथ करना चाहिए, जिससे चारित्र की प्राप्ति सुलभ हो। इस पर करिराज की कथा व गर्भित धन–जो कि इसलोक और परलोक में महत्त्व व धर्मादि का अद्वितीय कारण होने से और धर्म का कारण धन भी होने से (क्योंकि धन से धर्म और धर्म से मोक्ष उत्तरोत्तर संबंधित होने से) उस पर दण्डवीर्य राजा का दृष्टान्त, धर्मबुद्धि मंत्री की कथा, मोक्ष–पुरुषार्थ का विवेचन, करिराज के पूर्वभव का वृत्तान्त बताकर अन्त में इस दान के सेवन से पाप–समूह का नाश करके करिराज ने स्थिर, अनन्त, अखण्ड आसन मोक्ष को प्राप्त किया। यह हकीकत इस विभाग में देकर इस प्रकाश को पूर्ण किया गया है।

सप्तम प्रकाश :–आहारदान का वर्णन, उसके प्रकार और उस पर कनकरथ की कथा–आहारदान नामक चौथे भेद का विवरण इस प्रकाश में दिया गया है। देह पुण्य क्रिया में उपकारक होने से इसका उपादान कारण आहार है। जैसे–सभी व्यापारों में बीज बोना मुख्य है, वैसे ही दानों में आहारदान मुख्य है। शास्त्रों में कहा गया है कि जिनेश्वर भगवान को दीक्षा लेने के बाद पहला पारणा करवानेवाला अन्नदान के प्रभाव से उसी भव में अथवा तीसरे भव में अवश्य मोक्ष जाता है। यहां श्रेयांसकुमार, शालिभद्रादि के दृष्टान्त दिये गये हैं। दाता, ग्रहणकर्त्ता और वस्तु–यह त्रिपुटी शुद्ध हो, तो ही मोक्ष होता है। उस त्रिपुटी का विस्तारपूर्वक विवेचन विशेष रूप से जानने योग्य है। पहले अन्नदान का माहात्म्य, पात्रदान की महिमा और उस पर कनकरथ की कथा के साथ सात प्रकार के पात्रों का वर्णन और उस पात्रदान के अंतर्गत भद्र, अतिभद्र की कथा अनेक हकीकतों के साथ दी गयी है। जिसका मनन करने से मनुष्य उसका दाता बनकर अक्षयसुख प्राप्त करता है। यहां इस दान का अधिकार पूर्ण होता है।

अष्टम प्रकाश :–जलदान का विवेचन, उसके प्रकार और उस पर रत्नपाल राजा का दृष्टान्त–पुण्य की खान रूपी सुपात्र को पानी का दान करने का पाँचवाँ भेद इस प्रकाश में बताया गया है। सभी आरंभों से निवृत मुनियों को प्रासुक (अचित्त) जल कल्पनीय होता है, अतः वे कच्चे पानी का आरंभ नहीं करते। श्रीओघनिर्युक्ति में कहा है कि अप्काय का आरंभ करने से छःकाया की विराधना होती है, क्योंकि जल में अन्य पाँच काया सम्भव है। अतः यतियों को प्रासुक जल ग्रहण करना चाहिए। वह जल आरनाल आदि के भेद से नौ प्रकार का होता है। इसके उपरान्त द्राक्षोदक आदि बारह प्रकार का जल भी शास्त्रों में बताया गया है। उनके नाम विवेचन के साथ इस प्रकाश में दिये गये हैं। वे विशेष रूप से जानने योग्य हैं। मुनियों को उत्सर्ग मार्ग में कैसा जल उपयोग में लाना चाहिए तथा श्रावक को आश्रित करके भी यहां जो बताया गया है, उसके सिवाय दूसरे प्रकार के जल का पान करना आगम

में नहीं सुना जाता। वह आज्ञा भी इस प्रकाश में बतायी गयी है। प्रासुक जल का निर्मल भाव से दान देने के कारण रत्नपाल राजा ने दिव्य सम्पत्ति प्राप्त की, उसका चारित्र भी दर्शाया गया है। यह चरित्र इतने अद्‌भुत और विस्तृत रूप में दिया गया है कि खास रूप से मनन करते हुए पठनीय है। यह प्रकाश यहीं पूर्ण होता है।

नवम प्रकाश :–औषधदान का विवेचन और उस पर धनदेव व धनदत्त की कथा–धर्मार्थ दान का छट्ठा प्रकार औषधदान इस प्रकाश में बताया गया है। मुनियों के लिए धर्म साधने में शरीर मुख्य साधन है। अगर वह व्याधि रहित हो, तो धर्म का आराधन अच्छी तरह हो सकता है। पूर्वकर्मों के उदय के कारण मुनियों को भी रोग संभवित है। अतः व्याधि का नाश करने के लिए विधिपूर्वक औषधदान करना चाहिए। अरिहन्त भगवान ने इस दान की मुख्यता बतायी है तथा विशेष रूप से कहा है कि जो मनुष्य हर्षपूर्वक एक भाई की तरह मुनियों की चिकित्सा करता है, वह मनुष्य धर्मतीर्थ का ही उद्धार करता है। इस दान का माहात्म्य उत्कृष्ट है। औषधदान करनेवाला मनुष्य अपने भावरोग की चिकित्सा भी साथ–साथ कर लेता है। यह बताकर–एक वानर ने मुनि के पैर से कांटा निकाला, जिससे उसकी आत्मा उन्नत बनी–यह दर्शाया है। इसी प्रकार–श्रीऋषभदेव भगवान ने अपने पिछले भव में मुनि के कोढ़ की चिकित्सा की, जिससे तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन हुआ–इस दृष्टान्त को संक्षेप में बताकर इस औषधदान पर धनदेव और धनदत्त का चमत्कारी, मनन करने योग्य अपूर्व चरित्र बताया गया है। जो मनुष्य इसका मननपूर्वक पठन व पाठन करता है और आचरण में उतारता है, वह अतुल समृद्धि पाकर उन दोनों भाइयों की तरह अन्त में अनन्त मोक्ष–लक्ष्मी को प्राप्त करता है। यह प्रकाश यहां पूर्ण होता है।

दशम प्रकाश :–वस्त्रदान का वर्णन, उसके प्रकार और उस पर ध्वजभुजंग राजा की कथा–पुण्य को पुष्ट करनेवाला वस्त्रदान नामक सातवाँ प्रकार इस प्रकाश में कहा गया है। पवित्र भावों से मुनियों को कल्पनीय वस्त्र का दान करना चाहिए। संयम की रक्षा के लिए साधु को वस्त्र रखने की आज्ञा जिनेश्वर भगवन्तों ने दी है। यहां सात पात्र–सम्बन्धी उपकरण, तीन पछेवड़ी (ओढ़ने का वस्त्र, गोचरी के लिए जाते समय ओढ़ने का सुत्तरा, ऊन की कम्बल और कम्बल के अन्दर रखने का सुतरा–ये तीन), रजोहरण और मुँहपत्ती–ये बारह प्रकार की उपधि जिनकल्पी साधुओं को हो सकती है। उपलक्षण से 2–9 प्रमुख प्रकार की अल्प भी हो सकती है। केवल अन्नादि आहार के निमित्त खास उपकरण विशेष और चोलपट्टा–ये दो व पूर्व के बारह मिलकर चौदह प्रकार की उपधि स्थविरकल्पी साधुओं को होती है। यह बताकर सचेलक व अचेलक–दो प्रकार के धर्मों का स्पष्ट विवेचन, वस्त्रदान की महिमा और उस पर ध्वजभुजंग राजा की कथा बतायी गयी है। उसके पूर्वभव का वृत्तान्त

और उस भव में शुद्ध भावपूर्वक मुनियों को किये गये वस्त्रदान से इस भव में मिला हुआ दैदीप्यमान पराक्रम, अतुल–उज्ज्वल यश, दीर्घ आयुष्य, उत्तम कुल में जन्म, सर्व–इच्छित की प्राप्ति, अपरिमित लक्ष्मी, राज्य–संपत्ति, वैभव, अनिष्ट का नाशादि इस चरित्र में पढ़ते हुए आह्लाद उत्पन्न होता है। इस प्रकार पढ़कर व विचारकर शुद्ध भाव से इस दान को देनेवाले ध्वजभुजंग राजा की तरह अन्त में मुक्तिसुन्दरी को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यह प्रकाश पूर्ण होता है।

एकादश प्रकाश :–पात्रदान का वर्णन और उस पर धनपति सेठ की कथा–विवेकी पुरुष अपनी आत्मा को पात्र बनाने के लिए मुनि (सुपात्र) को पात्रदान करे। यह दान मोक्ष का कारण रूप होने से इस प्रकाश में इसका वर्णन किया गया है। मोक्ष का कारण कर्मक्षय, कर्मक्षय का कारण चारित्र और चारित्र का पालन शरीर के आधीन है। शरीर–स्थिति का कारण आहार है और वह पात्र के बिना लब्धि–रहित पुरुष नहीं कर सकता। अतः आहार का कारण पात्र है। तुम्बड़े का पात्र, मिट्टी का पात्र और लकड़ी का पात्र–ये तीन प्रकार के पात्र साधु–साध्वी धारण कर सकते हैं। जैसे–पात्रों को विधिपूर्वक सुपात्र को दान करनेवाले धनपति श्रेष्ठी की तरह लक्ष्मी अपने आप उसके पास चली आती है। ऐसा बताकर यहां धनपति का वृत्तान्त दर्शाया गया है। इसी चारित्र के मध्य अन्याय से धन की आशा करनेवाले चार मित्रों की कथा देकर पात्रदान से होनेवाले अक्षयसुख का वर्णन करके इस प्रकाश को पूर्ण किया गया है।

द्वादश प्रकाश :–दान के गुणों व दोषों का वर्णन और उस पर यक्ष श्रावक, धन व्यापारी, भीम निधिदेव और सुधन–मदन की कथा– गुणयुक्त व दोषरहित दान यदि दिया जाय, तो ही वह मुक्ति का कारण बनता है–यही बात कहने के लिए इस अन्तिम प्रकाश में गुण–दोष का वर्णन किया गया है। 1. आशंसा, 2. अनादर, 3. पश्चात्ताप, 4. विलम्ब और 5. गर्व–ये पाँच दोष दान के हैं और इनके विपरीत भाव दान के गुण हैं। मोक्ष के अलावा आशंसा दो प्रकार की है–इहलोक–संबंधी और परलोक– संबंधी। इस लोक से संबंधित कीर्त्ति की अभिलाषा रखना इहलोक–संबंधी आशंसा है। इस पर दो वृद्धा स्त्रियों की कथा दी गयी है और परलोक में ऐश्वर्यादि पाने की इच्छा से दान देना–परलोक–संबंधी आशंसा है। इस पर यक्ष श्रावक की कथा दी गयी है। इन आशंसाओं के साथ दान देने से पुण्य बहुत कम हो जाता है। निराशंस दान गुणरूप है, जिस पर धन व्यापारी की कथा कही गयी है। आदर व अनादर से दान देने के ऊपर विवेचन और उस पर भीम का दृष्टान्त बताया गया है। शुभ भाव से उत्पन्न होनेवाला उत्तम फल और उस पर जीर्ण सेठ की कथा कही गयी है। आदर–रहित दान देने से विपत्ति प्राप्त होती है। इस पर निधिदेव और भोगदेव की कथा

कही गयी है। पुण्यबुद्धि से युक्त मनुष्य को सुपात्र में दान देकर बाद में पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से फल का नाश हो जाता है। सुपात्र में दान देने के बाद अनुमोदना करने से पुण्य में अत्यधिक वृद्धि होती है। इन दोनों विषयों पर सुधन और मदन की कथा कही गयी है। सुपात्र को दान देने में विलम्ब न करने से मनोहर अर्थ की सिद्धि होती है और विलम्ब करने पर दातार के भावों में कमी आ जाने से पुण्य खण्डित हो जाता है, क्योंकि दोनों ही बातें भाव के आधीन हैं। पुण्य के खण्डित होने से पुण्यानुसार परभव में कृतपुण्य की तरह खण्डित संपत्ति प्राप्त होती है–इस पर कृतपुण्य की कथा कही गयी है। जिसकी बुद्धि एकमात्र पुण्यकर्म में ही तत्पर होती है, वह पुरुष दान करते समय अगर गर्व करे, तो दान का विपरीत फल प्राप्त होता है। गर्व भी दो प्रकार का हो सकता है। प्रथम प्रकार तो यह है कि स्वयं दान देकर गर्व करे–वह स्वनिमित्त गर्व हुआ। दूसरा यह है कि दूसरों को दान देते देखकर स्वयं उसकी स्पर्द्धा करे, वह पर–निमित्त गर्व हुआ। इस प्रकार दो तरह से दान देकर गर्व करता हुआ व्यक्ति अशुभ कर्म को बांधता है। जो दशार्णभद्र की तरह मोक्ष के करीब हो, उसी की उदार बुद्धि की स्पर्द्धा संभव है। कोई व्यक्ति स्पर्द्धायुक्त दान देकर संपत्ति तो प्राप्त कर लेता है, पर वह पुण्य का अनुबन्ध नहीं कर पाता। इसका पुण्य चिरकाल तक नहीं ठहर पाता। इस पर धनसार श्रेष्ठी की कथा कही गयी है। अन्त में ईर्ष्यालु मनुष्य को सत्पुरुषों के गुणों पर भी ईर्ष्या होती है और वह दुष्कर्मों को बांधता है–इस पर कुंतलदेवी रानी का दृष्टान्त देकर इस प्रकाश को पूर्ण किया गया है।

ग्रंथ–प्रशस्ति :–ग्रंथकार महाराज की पट्टावली, ग्रंथ रचने का समय और स्थान–

इस प्रकार ऊपर इस ग्रंथ का सार संक्षेप में दिया गया है। फिर अंत में ग्रंथकार महाराज ने अत्यन्त मंगल रूप श्रीमहावीरस्वामी, श्रीगौतम गणधर और अपने श्रीगुरुदेव की पाट–परम्परा देकर अपनी गुरुभक्ति दर्शाकर इस ग्रंथ को पूर्ण किया है।

यह ग्रंथ विशेष रूप से पठन, मनन और बार–बार मनन करने योग्य है। मनुष्य–जीवन के लिए सन्मार्गदर्शक, पिता की तरह सर्व–वांछित–प्रदाता, माता की तरह सर्व–पीड़ा को दूर करनेवाला, मित्र की तरह हर्षवर्द्धक यह धर्म महामंगलकारक कहलाता है। दानधर्म आत्मिक आनन्द उत्पन्न करनेवाला, मोक्षमार्ग को निकट लानेवाला, आत्मज्ञान की भावनाओं को स्फुरित करनेवाला, निर्मल सम्यक्त्व–श्रावकत्व–परमात्मतत्त्व को प्रकट करनेवाला होने से यह ग्रंथ एक अपूर्व रचना है। अतः विशेष लिखने की अपेक्षा आद्यन्त पढ़ने की नम्र विनति है। अन्त में परमात्मा से प्रार्थना है कि शेषनाग की तरह दैदीप्यमान जिनकी नाल है, बड़े–बड़े पत्तों का समूह जिनकी दिशाएँ हैं, जिनकी कर्णिका मेरुपर्वत के समान है, ऐसे

आकाश रूपी कमल में मनोहर कान्तियुक्त चन्द्र–सूर्य रूपी राजहँस जब तक क्रीड़ा करते हैं, तब तक सम्यग्दृष्टि प्राणियों को मोक्षनगर का मार्ग प्रकाशित करते हुए यह दैदीप्यमान दानधर्म जिनप्रवचन रूपी घर में चारों तरफ प्रकाश बिखेरे, जिससे सभी प्राणी मोक्ष रूपी लक्ष्मी का वरण करें।

इस ग्रंथ को साद्यन्त देखने के लिए कृपालु मुनिराज श्रीकर्पूरविजयजी महाराज ने जो कृपा की है, इसके लिए उनका अत्यन्त आभार ज्ञापित है।

इस ग्रंथ में शुद्धि लाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है। फिर भी दृष्टि–दोष या प्रेस–दोष के कारण अथवा अन्य किसी भी कारण से किसी भी स्थल पर कोई स्खलना दृष्टिगोचर हो, तो मिथ्यादुष्कृतपूर्वक क्षमायाचना है।

श्री आत्मानंद भवन–भावनगर
आसोज शुक्ला विजयादसमी गांधी
वीर सं. 2450, आत्म सं. 29,
वि. सं. 1980

गुजराती अनुवादक
वल्लभदास त्रिभुवनदास
सेक्रेटरी

श्री दानप्रदीप

जिनागम रूपी अग्नि में से विविध प्रकार के
अर्थ रूपी तेज को ग्रहण करके
जिनशासन रूपी महल में
दान रूपी दीप को
प्रकट करनेवाला
अपूर्व ग्रंथ

काव्येनैव कविर्धियेव सचिवो न्यायेन भूमिधवः
शौर्येणैव भटो ह्रियेव कुलजः सत्येव गेहस्थितिः।
शीलेनैव तपस्त्विषेव सविता चित्त्येव अध्यात्मवान्
वेगेनैव हयो दृशैव वदनं दानेन लक्ष्मीस्तथा।।1।।

अर्थ :–जैसे काव्य से कवि, बुद्धि से मंत्री, न्याय से राजा, शौर्य से सुभट, लज्जा से कुलपुत्र, सती–स्त्री से घर की स्थिति, शील से तप, कान्ति से सूर्य, ज्ञान से अध्यात्मी पुरुष, वेग से अश्व और नेत्र से मुख शोभित होता है, वैसे ही दान से लक्ष्मी शोभित होती है।

।। ॐ श्रीआदिनाथाय नमः।।

।।प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीष्वराय नमः।।

महोपाध्याय श्रीचारित्ररत्नगणिविरचित

श्री

दान–प्रदीप–भाषान्तर

प्रथम प्रकाश

श्रीसिद्धि के भर्त्ता और सुमंगला के स्वामी भगवान श्रीआदिनाथ जिनेश्वर सभी को मंगल प्रदान करें। उन्हीं भगवान से दानधर्म की शुरुआत हुई है। उसी दानधर्म के कारण आज तीनों लोक के प्राणी सुखी हैं।

जिन भगवान के दैदीप्यमान वचन–समूह के द्वारा आज तक जगत निरन्तर प्रकाशित है, उस अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश करनेवाले श्रीवर्द्धमान स्वामी रूपी अद्भुत–अलौकिक सूर्य तत्त्व–प्रकाशक बनें।

विशुद्धि से शोभित पण्डितों के मानस में विलास करने की इच्छुक देवी राजहंसिनी की तरह जैसे तत्त्व–अतत्त्व का विवेचन करती है, वह जिनवाणी रूपी श्रीसरस्वती देवी हमें श्रुतज्ञान का सार प्रदान करें।

जो गुरु मात्र कलि रूप पंक में डूबते हुए श्रीजिनशासन का उद्धार करने से ही गौतम गणधर की तुल्यता को धारण करते थे, इतना ही नहीं, बल्कि उत्तम गुणों रूपी लक्ष्मी के द्वारा गौतमस्वामी की उपमा को प्राप्त थे, वे श्री देवसुन्दर नामक गुरुदेव विभूति रूप बनें।

जिन्होंने दृढ़ धर्म रूपी विद्या के द्वारा मोह को जीतकर जयलक्ष्मी को वरा है, वे तपागच्छ के स्वामी श्रीसोमसुन्दरजी नामक उत्तम गुरु महाराज जयवन्त हैं।

जिन्होंने अपनी वाणी से व शास्त्रामृत के प्रयोग से हम जैसे पत्थरों को आर्द्र किया है, उन भव का नाश करने में शक्तिमान और समस्त कलाओं को धारण करनेवाले श्रीजिनसुन्दरजी गुरुदेव सत्पुरुषों के लिए शुभ बनें। जैसे कि कला को धारण करनेवाला चन्द्र है, वह भी अपनी किरणों के प्रयोग से चन्द्रकान्त आदि पत्थरों को अमृत के द्वारा आर्द्र कर देता है।

जिनके नाम रूपी अर्थ पर आरूढ़ होकर समग्र अर्थ की सिद्धियाँ स्वर्ग, मृत्यु व पाताल–इन तीनों लोकों रूपी क्रीड़ास्थान में स्वेच्छापूर्वक व सुखपूर्वक क्रीड़ा करती है, वे सभी (पाँचों) परमेष्ठि हमारी लक्ष्मी रूप बनें।

इस प्रकार पूज्यों की स्तुति रूप भावमंगल करके जिनागम रूपी अग्नि में से अनेक प्रकार के अर्थ रूपी तेज को ग्रहण करके मैं जिनशासन रूपी घर में दान रूपी दीप को प्रज्ज्वलित करता हूं। समग्र प्रकार की दैवीय व मानुषी समृद्धि व मोक्ष–सम्पदा का उत्कृष्ट कारण धर्म ही है। अतः उस समृद्धि की वांछा रखनेवालों को उस धर्म का सेवन करना चाहिए, क्योंकि उपाय के बिना उपेय वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। जिनेश्वरों ने इस धर्म को दान, शील, तप और भाव के रूप में चार प्रकार का कहा है। इसमें दान को सबसे प्रमुख बताया है, क्योंकि दान के द्वारा ही बाकी तीन धर्म स्थिर रहते हैं। वह इस प्रकार है :–

जिनेश्वरों ने ज्ञानदान, अभयदान और उपष्टम्भदान–ये तीन प्रकार के दान बताये हैं। इनमें से ज्ञानदान के बिना कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार का धर्म स्वल्प मात्रा में भी नहीं कर सकता। अभयदान रूपी मेघ के वर्षण से तृण के अंकुरों की तरह सभी धर्म वृद्धि को प्राप्त होते हैं और उस वर्षण के अभाव में वे सूख जाते हैं–ऐसा पण्डित–पुरुषों ने कहा है। सुपात्र का पोषण करने से तीसरा उपष्टम्भ दान होता है। यह समग्र धर्म का उपकारक होता है, क्योंकि आधार में गुण उत्पन्न करने से उसमें रहे हुए आधेय गुणों की प्राप्ति अवश्य होती है। जो तीन प्रकार का–शील, तप और भाव धर्म सिद्धान्तों में कहा गया है, वह सर्व से तो यतियों में ही सम्भव है। पर उन यतियों को अन्नादि का उपष्टम्भ दान करने से उन शीलादि धर्मों का आराधन हो सकता है। इसका कारण यह है कि शरीर की स्थिति अन्नादि के आधीन है और शरीर ही धर्म का साधन है। इस प्रकार शीलादि तीनों प्रकार के धर्म का निमित्त दान ही है। अतः पण्डित पुरुष दान का ही प्रधानता से वर्णन करते हैं।

अतः यह जानना चाहिए कि दानधर्म के सेवन में जिनका मन आसक्त है, वे ही शीलादि धर्म का अच्छी तरह से सेवन कर सकते हैं। जैसे राजा की यथाविधि सेवा करने से उसके पूरे परिवार की सेवा हुई–यह जाना जाता है। जिनेश्वरों ने भी सर्व प्राणियों को आनन्द–प्रदायक दान का सेवन एक वर्ष पर्यन्त किया और उसी के बाद चारित्र ग्रहण किया। केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद भी पर्षदा में पहले दानधर्म की देशना ही वे प्रदान करते हैं। लोक में भी सभी

गुणों के मध्य दान की मुख्यता ही विशेष रूप से देखने में आती है। गाय भी अगर सर्वांग–युक्त और उत्तम लक्षणोंवाली होने पर भी दूध न देती हो, तो उसका कोई आदर नहीं करता। इसी तरह दान–गुण–रहित मनुष्य उच्च वंश में उत्पन्न हुआ हो, स्वर्णाभूषणों से शोभित हो, अक्षुण्ण बल से युक्त हो, स्वरूपवान हो और लीलायुक्त गमन करता हो, तो भी दानरहित होने से वह मदवारि–रहित हाथी की तरह लोक में शोभित नहीं होता। विद्वद्जन व्यापार का फल धन की प्राप्ति को कहते हैं। उस धन का फल दान के बिना अन्य कुछ भी नहीं है। दान के अभाव में वह धन दुरन्त संसार में मात्र अटन करानेवाला ही है।

अतः हे विवेकियों! दान करने से धन खत्म हो जायगा–यह विचार भी मन में मत लाना। प्रत्यक्ष देखो कि कुएँ, उद्यान और गायें आदि दान के कारण ही क्षीण नहीं होतीं। भाग्य की अनुकूलता हो, तो व्यक्ति को अवश्य ही दान करना चाहिए, क्योंकि नसीब में जितना धन होगा, भाग्य उसे अवश्य पूर्ण करेगा। अगर भाग्य प्रतिकूल है, तो भी दान तो अवश्य ही करना चाहिए, क्योंकि अगर दान नहीं किया गया, तो प्रतिकूल भाग्य उस धन का सर्वथा नाश वैसे भी कर देगा। विविध प्रकार की समृद्धि प्राप्त होना दान की ही अद्भुत महिमा है, जिसका वर्णन अशक्य है। दानदाता मनुष्य अपने हाथ को तीर्थंकर के भी हस्तकमल पर रखता है। देव, नारक तिर्यंच योनि में हाथों से दान देना किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। ऐसा विचार करके पुण्यवान मनुष्य दान देकर अपने मनुष्य जन्म को सार्थक करता है। दान देनेवाले मनुष्यों को परभव में सौभाग्य, आरोग्य, अखण्ड आज्ञा, दीर्घायुष्य, अक्षीण भोग, ऐश्वर्य–लीला और स्वर्ग–सम्पदादि फल की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार कीर्त्ति, प्रतिष्ठा, सर्व लोक की अभीष्टता, कलंक का नाश, शत्रु के साथ मित्रता, राज–सम्मान और स्ववचन–प्रामाण्यादि इस भव में भी सम्भव होता है। ये सभी दान के फल हैं। यह दान ग्राहक शुद्धि, दाता शुद्धि और देश शुद्धि (जिसे अन्यत्र चित्त, वित्त और पात्र शुद्धि कहा गया है) से युक्त हो, तो सभी शुभ अर्थों की सिद्धि करनेवाला होता है। इसका कारण यह है कि सर्वत्र उपेय (प्राप्त करने योग्य पदार्थ) की सिद्धि में अवश्य ही गुण रूपी उपाय की अपेक्षा रही हुई है। आगम में कथित जिनचैत्य आदि सात प्रकार के पवित्र पात्र में दिये गये दान का यथाविधि उपयोग हो, तो वह दान **ग्राहक–शुद्ध** कहलाता है। जिसके चित्त में ईर्ष्या, पश्चात्तापादि दोष न हो, हर्ष व रोमांच द्वारा जिसका शरीर दैदीप्यमान हो, ऐसा विवेकी मनुष्य आशंसा–रहित जिस दान को देता है, वह दान **दातृ–शुद्ध** कहलाता है। न्याय से उपार्जित, एषणीय (42 दोषों से रहित) और अपने स्वामित्व में रहा हुआ उत्तम द्रव्य (पदार्थ) ऊपर कहे हुए सत्पात्र को विधिपूर्वक दिया जाय, तो वह दान **देय–शुद्ध** कहलाता है। इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त करते हुए शुभ अध्यवसाय से युक्त जो मनुष्य उपर्युक्त तीन प्रकार के

शुद्ध दानधर्म का आराधन करता है, वह मेघनाद नामक राजा की तरह सर्व समृद्धि प्राप्त करके अनुक्रम से मोक्षपद को प्राप्त करता है। यथा :–

मेघनाद राजा की कथा

इस पृथ्वी पर **जम्बू** नामक एक द्वीप है। उस द्वीप में अपनी लक्ष्मी के द्वारा सभी द्वीपों को पराजित करता हुआ **मेरुपर्वत** रूपी एक ऊँचा जयस्तम्भ है। उसी जम्बूद्वीप में **भरत** नामक एक क्षेत्र है। उसमें रहे हुए लोग स्वर्ग व मोक्ष रूपी धान्यलक्ष्मी को जिनेश्वर की वाणी रूपी जल के सिंचन द्वारा वृद्धिंगत करते हैं। उस भरत क्षेत्र में चैत्यों द्वारा सत्पुरुषों को आनन्द प्रदान करनेवाली **रंगावती** नामक नगरी थी। उसकी तुलना में देवपुरी अमरावती का वैभव फीका प्रतीत होता था। उस नगरी में श्रेष्ठ बुद्धि से युक्त **लक्ष्मीपति** नामक राजा राज्य करता था। वह सभी पुरुषों में उत्तम होने से अपने नाम को सार्थक करता था। उसके **कमला** नामक रानी थी। जैसे स्वर्णालंकार को मणि शोभित करती है, वैसे ही चन्द्रकला की तरह उज्ज्वल उसका शील उसके रूप–सौन्दर्य को शोभित करता था। उसके **मेघनाद** नामक एक पुत्र था। उसकी बुद्धि न्याय के विषय में आदरयुक्त थी। विधाता ने उसे सर्व गुणों का निधान बनाया था। जैसे लक्ष्मी सदाचार का आश्रय लेती है, वैसे ही सभी कलाएँ मानो परस्पर स्पर्द्धा करते हुए एक ही वक्त में एक साथ कुमार को आश्रय बनाकर रही हुई थीं। मानो पृथ्वी पर बृहस्पति का शुभागमन हुआ हो, इस प्रकार वह कुमार व्याकरणादि चौदह निर्मल महाविद्याओं का ज्ञाता था। छत्तीस प्रकार के दण्डायुध की कला में उसने ऐसा परिश्रम किया था कि साक्षात् इन्द्र स्वयं युद्ध करने आया हो, तो उसे कुमार तृणवत् भी न माने। खेदहीन चित्तयुक्त वह कुमार धनुर्विद्या में तो इतना माहिर था कि इन्द्र का पुत्र अर्जुन भी उसके सामने विवश हो जाय। वह तिर्यंचों व मनुष्यों की सभी विषम भाषाओं में भी देवताओं की तरह कुशलता को प्राप्त था। उसने बाण की कला का निरन्तर इस तरह अभ्यास किया था कि शब्दवेधियों में तो उसे प्रथम स्थान प्राप्त था। काष्ठ की विविध व अद्‌भुत शिल्प–विद्याओं में वह इतना अधिक प्रवीण था कि देवों के शिल्पी विश्वकर्मा भी उसे अपना विजेता मानकर पृथ्वी से भागकर मानो स्वर्ग में चले गये थे। विशिष्ट बुद्धियुक्त उस कुमार ने अष्टांग–निमित्त शास्त्र का अच्छी तरह से अध्ययन किया था। अतः वह तीनों काल की घटनाओं को अच्छी तरह से जान सकता था। दुनिया में ऐसी कोई रत्न की जाति नहीं, जो रोहणाचल पर्वत पर न हो, उसी तरह जगत में ऐसी कोई कला न थी, जिसे कुमार न जानता हो।

एक बार **मेघनाद** अपने मित्रों के साथ उद्यान में गया हुआ था। वहां उसने किसी विदेशी मुसाफिर को बैठे हुए देखकर पूछा–"हे पथिक! तुम कहां से आये हो?"

पथिक ने कहा–"हे पृथ्वीपति! **चम्पानगरी** में **धनदत्त** नामक श्रेष्ठी निवास करते हैं। मैं उनका **सुधन** नामक पुत्र हूं। शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा करने के लिए निकला हूं, क्योंकि उस तीर्थ की यात्रा द्वारा प्राणी अपना जन्म पवित्र करते हैं।"

कुमार ने कहा–"हे पान्थ! राह में कहीं कोई विशेष बात देखी हो, तो बताओ।"

उसने कहा–"हे कृपानाथ! अभी **चम्पानगरी** में **मदनसुन्दर** नामक राजा राज्य करते हैं। अतिशय सौन्दर्य के कारण उनका नाम सार्थकता को धारण करता है। उस राजा के शील–संपन्न **प्रियंगुमंजरी** नामक महारानी हैं। उन दोनों के अत्यन्त लावण्ययुक्त **मदनमंजरी** नामक एक कन्या है। उस कन्या ने अभी–अभी नया–नया दोषों को सजीवता प्रदान करनेवाला यौवन प्राप्त किया है। वह दिनों–दिन अपने सर्वांग में गुणों के उदय को ही धारण करती है। वर्णन करने में अशक्य लावण्यादि असमान–असाधारण गुणलक्ष्मी को धारण करती हुई उस कुमारी के स्वरूप का वर्णन करनेवाले सभी कवि असत्य माने जाते हैं। कला की कुशलताओं को धारण करनेवाली वह कुमारी मानो साक्षात् सरस्वती देवी के रूप में स्वर्ग से धरा पर उतरी हो और सौभाग्य के द्वारा वह साक्षात् लक्ष्मी ही प्रतीत होती है। इस प्रकार वह कुमारी शोभित होती है।

दुर्भागी, दुर्बुद्धिमान और दुःशीलयुक्त पतियों के योग से अत्यन्त दुःखित अन्य स्त्रियों को देखकर उस कन्या ने प्रतिज्ञा की है कि जो पुरुष विस्तृत व्याकरण, ज्योतिष, शिल्पशास्त्र, सर्वभाषा और धनुर्विद्या आदि समस्त कलाओं का ज्ञाता होगा, उस वर के साथ मैं विवाह करूंगी।

उसके पिता राजा ने उसकी प्रतिज्ञा को जानकर चारों दिशाओं में खोजबीन करवायी, पर उसके योग्य वर प्राप्त न होने पर अपने महामंत्री के साथ विचार करके स्वयंवर का आयोजन किया है। ऐसा स्वयंवर मण्डप बनवाया है, मानो स्वर्ग से विमान ही उतरा हो। वह मण्डप ऐसा शोभित हो रहा है, मानों कन्या के गुण रूपी लक्ष्मी की क्रीड़ा का स्थान हो।

स्वयंवर मुहूर्त्त आज से ठीक एक महीने के बाद का है। राजाओं को बुलवाने के लिए उस राजा ने सभी जगह अपने दूत भेजे हैं। आगत राजाओं के रहने के लिए उस राजा ने अपने चित्त के समान विशाल व उत्तम जनवासे बनवाये हैं। उनके भोजन के लिए मनोहर अन्न और अश्वादि के लिए घास के ढ़ेर लगवाये हैं। वे ढ़ेर इतने ऊँचे हैं, मानो कन्या की कीर्त्ति रूपी लक्ष्मी की क्रीड़ा के पर्वत हों।"

इस प्रकार की वार्त्ता उस पथिक के मुख से सुनकर राजकुमार आश्चर्यचकित हुआ। अपनी ही कलाओं के अनुकूल उस कन्या की प्रतिज्ञा को जानकर उस पर मन ही मन

आसक्त हो गया। उसके बाद राजकुमार ने उस पथिक का सन्मानादि करके उसे रवाना किया और अपने महल में लौट आया। रात्रि में उसे राजकन्या के दर्शन की उत्कण्ठा में नींद ही नहीं आयी। उसने विचार किया–"अहो! उस कन्या की कला–कुशलता किसे आश्चर्यकारक नहीं लगेगी? उसने अपने वर की परीक्षा के लिए विषम प्रतिज्ञा की है। जिस पुरुष ने इस सार्थक नामयुक्त रत्नगर्भा वसुन्धरा को चारों तरफ से नहीं देखा, उसका जन्म कूपमण्डुक की तरह निष्फल है। विविध देशों के भ्रमण रूपी कसौटी पर कसे बिना विवेकी पुरुष के भाग्य–स्वर्ण की यथार्थ परीक्षा नहीं हो सकती। जो पुरुष केवल अपने ही घर में शूरवीर होता है, उसकी कीर्त्ति दुनिया में प्रसृत नहीं होती। अपने ही स्थान पर स्थिर रहे हुए सूर्य की प्रभा क्या कभी भुवन को प्रकाशित कर सकती है?"

इस तरह विचार करके साहसिक पुरुषों में प्रमुख वह राजकुमार पितादि से छिपकर अकेला ही घर से बाहर निकल गया। चलते–चलते देश, नगर, ग्रामादि का उल्लंघन करते हुए एक दिन यमराज के क्रीड़ाघर के समान भयंकर अरण्य में पहुँचा। वहां श्रम से श्रान्त होने के कारण रात्रि में निद्राधीन हो गया। मध्यरात्रि में उसके पास साक्षात् यमराज के समान एक राक्षस प्रकट हुआ। बड़े–बड़े दाँतों के कारण उसका मुख अत्यन्त विकराल प्रतीत होता था। मस्तक पर रहे हुए पीले केशों के कारण वह डरावना लग रहा था। उसके नेत्र लाल थे और एवं शरीर विशाल पर्वत की भाँति लम्बा–चौड़ा था। उसने उद्धत होते हुए कुमार से कहा–"अरे मनुष्य! तूं अपने इष्टदेव का स्मरण कर ले। क्षुधा से आर्त्त होने के कारण मेरा पेट पाताल में चला गया है। अतः मैं तेरा तुरन्त ही भक्षण करूंगा।"

यह सुनकर कुमार ने धैर्य धारण करके निर्भयतापूर्वक कहा–"हे राक्षस–श्रेष्ठ! तूंने अपने कुल के योग्य ही वचन कहे हैं। अगर स्वयं ही नाशवान मेरे इस शरीर के द्वारा तुम्हारी क्षुधा–तृप्ति होती है, तो मैं इस शरीर के द्वारा क्यों न पुण्य कमाऊँ? पर अभी तो मैं चम्पानगरी की राजकन्या की प्रतिज्ञा पूर्ण करके उसके साथ विवाह की उत्कण्ठा मन में लिये हुए जा रहा हूं। वहां मैं कृतार्थ होऊँ या अकृतार्थ–लौटते समय वापस तेरे पास जरूर आऊँगा। उस समय तुम अपने मनोरथ अवश्य पूर्ण करना। मैं अपने वचनों का प्राणान्त होने तक अवश्य ही पालन करूंगा। यह तुम निश्चय जानो।"

कुमार के वचनों को सुनकर राक्षस आश्चर्यचकित होकर कहने लगा–"ठीक है, तुम सुखपूर्वक जाओ। तुम्हारा मार्ग निर्विघ्न हो। तुम अपने साध्य को अवश्य ही साधोगे। मेरा निवास यहां नजदीक ही है। अतः तुम उदारता के साथ लौटकर वापस आना।"

इस प्रकार राक्षस की अनुज्ञा लेकर कुमार वहां से आगे चला। शीघ्र ही वह अपने इष्ट स्थान **चम्पानगरी** में पहुँचा। वहां अनेक राजाओं ने नये–नये आवासों में अपना डेरा जमा

रखा था। कुछ राजा अभी भी आ–आकर वहां उतर रहे थे। इस प्रकार कुमार ने हजारों राजाओं को वहां देखा। पृथ्वी पर आये हुए स्वर्ग–मण्डप के समान स्वयंवर–मण्डप को भी उसने देखा। उस मण्डप का तोरण दिशा रूपी स्त्रियों के रत्नमय आभूषणों की शोभा को धारण करता था। कन्या की प्रतिज्ञा को जाहिर करते हुए राजपुरुष नगर के मध्य पटह बजा रहे थे, जिसे कुमार ने सुना। स्थान–स्थान पर हर्षमय उत्सव की परम्पराएँ स्वर्गपुरी से स्पर्धा कर रही थीं। यह सब देखकर मेघनादकुमार आश्चर्यचकित हो रहा था। उसी समय महल के गवाक्ष में बैठी हुई राजकन्या का किसी ने अपहरण कर लिया। कन्या को वहां न पाकर अत्यन्त घबरायी हुई व दुःखित दासियों ने रोते–रोते राजा के पास जाकर पुकार की–"हे स्वामी! आपकी कन्या का किसी अदृश्य पुरुष ने अपहरण कर लिया है।"

यह सुनकर राजा वज्राहत के समान निष्प्राण–सा हो गया। फिर थोड़ा सम्भलकर तुरन्त सैनिकों को चारों दिशाओं में कन्या की खोज करने के लिए भेजा। कन्या का मिलना तो दूर रहा, उसके समाचार तक प्राप्त नहीं हुए। विद्वान निमित्तज्ञ भी कुछ बता न पाये। तब उस कन्या के विरह से उत्पन्न दुःख रूपी शंकू से पीड़ित माता–पिता, स्वजनादि उच्च स्वर में इस प्रकार रुदन करने लगे–"स्वभाव से निर्मल, बुद्धि से सरस्वती को जीतनेवाली और सर्वगुण–संपन्ना हे पुत्री! किस पापी ने तेरा हरण किया है? हे पुत्री! तुझे वरने के लिए उत्सुक सभी राजा यहां आये हुए हैं। फिर स्नेहयुक्त हम सबको और उन सबको छोड़कर हे पुत्री! तूं कहां चली गयी है? तेरे बिना निराश होकर व क्रोधित होकर ये सभी राजा कृपण मनुष्य के घर से याचकजनों की तरह हमारी निन्दा करते हुए इस स्वयंवर से चले जायंगे। हा! हा! यह नगर, यह महल, यह मण्डप और यह महोत्सव तेरे बिना अरण्य की तरह शून्य हो गये हैं।

हे निर्लज्ज, पापी, दुष्ट विधाता! तूंने यह क्या किया? ऐसे समय में हमारी कन्या का अपहरण क्यों किया? हे दुष्टबुद्धि दैव! हमने तुम्हारा क्या अपराध किया था कि जिससे हमारे मनोरथों को निर्मूल कर दिया? हमने पूर्वभव में जरूर ईर्ष्या से किसी के मनोरथ तोड़े होंगे, अन्यथा हमारे मनोरथों पर इस तरह तुषारापात नहीं होता।"

इस प्रकार धरती और आकाश को द्रवीभूत करते हुए समग्र स्वजन–वर्ग चौधार अश्रुपात करने लगे। उस समय अत्यन्त शोक के कारण हृदय में शल्य–युक्त होने पर भी दुःख–संतप्त राजा ने विचार किया–"अहो! मुझ पर विधाता की इतनी प्रतिकूलता है कि उसने मेरे मनोरथों को ही जड़ से उखाड़ फेंका है। आये हुए इन सभी राजाओं को मैं क्या मुँह दिखाऊँगा? उन्हें क्या कहकर वापस लौटाऊँगा?"

इस प्रकार राजा को दुःखित देखकर उनके मुख्य प्रधान ने कहा–"हे देव! सामान्य

मनुष्य की तरह आपका शोक से विह्वल होना उचित नहीं है। हे राजन्! सिर पर आ पड़े कार्य में यथायोग्य तथ्य का विचार करें, क्योंकि धीर पुरुष किसी भी कार्य को करने में अपनी बुद्धि को स्थिर रखते हैं।''

यह सुनकर राजा ने कहा–''ऐसी विषम आपदा रूपी नदी को तैरकर पार उतरने में तुम जैसों की बुद्धि ही नाव रूप होती है। अतः तुम्ही विचार करके कोई उपाय बताओ।''

तब औत्पातिकी बुद्धि से युक्त प्रधान ने राजा से कहा–''हे देव! दिव्य शक्ति से युक्त किसी देव ने ही कन्या का हरण किया है, क्योंकि दिन–दहाड़े हरण करने की शक्ति उसी में हो सकती है। अतः अब उस कन्या को छुड़ाकर लाने में कोई सामान्य पुरुष तो समर्थ नहीं हो सकता। जिस वस्तु का हरण अश्व ने किया हो, उसे गधा छुड़ाकर लाने में कैसे समर्थ हो सकता है? अतः जो पुरुष उस कन्या की प्रतिज्ञा को पूर्ण करने में समर्थ होगा, वही कदाचित् उस कन्या को वापस लाने में कामयाब हो सकता है। अतः हमें सभी राजाओं से कन्या की प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के बारे में पूछना चाहिए। कोई राजा अगर उस प्रतिज्ञा को अंगीकार करे, तो वही उसे लाकर उसके साथ विवाह करे। अगर कदाचित् कोई भी राजा उसकी प्रतिज्ञा को पूर्ण नहीं कर पायेंगे, तो लज्जित होकर स्वतः ही वे अपने–अपने नगरों की और लौट जायंगे। उसके बाद हम यथाशक्ति उस कन्या को लाने का प्रयत्न करेंगे।''

प्रधान के वचनों को सुनकर हर्षित होते हुए राजा ने कहा–''यह उपाय बहुत अच्छा है। हम ऐसा ही करेंगे।''

उसके बाद उस बुद्धिनिधान प्रधान ने आगत सभी राजाओं को बुलवाकर कहा–''हे राजाओं! हमारी राजकन्या ने पाणिग्रहण के लिए ऐसी प्रतिज्ञा की है कि जो कोई शब्दवेध, धनुर्वेद, समग्र भाषा, समग्र शिल्पकला और स्पष्ट रूप से अष्टांग निमित्त शास्त्र को जानता हो, वही मेरा पति होगा। अतः जो कोई वीर पुरुष इस दुष्कर प्रतिज्ञा को पूर्ण करने में समर्थ हो, वह शीघ्र ही पटह का स्पर्श करे।

इसके बाद अपनी निमित्त विद्या के द्वारा राजकुमारी के हरण का पता लगाये। शिल्पकला के द्वारा आकाशगामी गरुड़ बनाये। उसके प्रयोग द्वारा जिस स्थान पर कन्या रही हुई है, वहां निर्विघ्न रूप से पहुँचे। फिर कन्या का हरण करनेवाले शत्रु को धनुर्विद्यादि के द्वारा युद्ध में जीतकर कन्या को शीघ्र ही वापस लाये। उसे वापस लाने में हम भी यथाशक्ति सहायता करेंगे। उसे वापस लाने के बाद उस राजा का उस कन्या के साथ निर्विघ्न रूप से विवाह होगा।

अगर कदाचित् कन्या यहां होती, तो भी उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेवाले के साथ ही

उसका विवाह होता। अतः अब भी उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के बाद ही उसके साथ विवाह करना योग्य होगा।''

प्रधान के इन वचनों को सुनकर सभी राजा उदास होकर म्लान मुख के साथ मौन होकर खड़े रह गये।

उस समय मेघनाद कुमार ने आनन्दित होकर शीघ्रता के साथ उठकर पटह का स्पर्श किया, क्योंकि विद्याएँ कभी गुप्त नहीं रह सकतीं। उसने कहा–''आप सभी के देखते ही देखते मैं, **लक्ष्मीपति राजा** का पुत्र **मेघनाद**, उस कन्या की सभी प्रतिज्ञाओं को पूर्ण करूंगा।''

यह सुनकर सारी सभा विकस्वर नेत्रों से दातार के सन्मुख याचकों की तरह कुमार के सन्मुख देखने लगी। उसकी आकृति, पराक्रम व वाणी से विस्मित होते हुए राजा ने भी कहा–''हे भद्र! आपके आगमन से यह निश्चित होता है कि अभी तक हमारा भाग्य जागृत है। सर्व अवयवों में उत्तम लक्षणोंवाली तुम्हारी आकृति ही बता रही है कि तुम्हारी शक्ति निःशंक रूप से इस विश्व के परे है। जैसे अनेक मणियों के बीच चिन्तामणि रत्न होने के कारण वह दिखायी नहीं पड़ता, वैसे ही इतने राजाओं के मध्य पधारे हुए आप हमें हमारे प्रमाद के कारण नजर नहीं आये। मेरी लक्ष्मीपति राजा के साथ परम प्रीति है। उनका पुत्र हमें इस आपदा से मुक्त करे, यह तो अत्यन्त योग्य है। हम तो शोक रूपी दावानल के ताप से तप्त हैं। अतः अब आप हमारी पुत्री की वार्त्ता रूपी अमृत–वृष्टि के द्वारा हमें आश्वस्त करेंगे, तो बहुत ही अच्छा हो।''

इस तरह राजा ने जब सन्मानपूर्वक कुमार से पूछा, तो अपनी निमित्त विद्या के उपयोग द्वारा अच्छी तरह से जान लेने के बाद कुमार ने कहा–''हे राजन्! **हेमांगद** नामक कोई विद्याधर इधर से आकाशमार्ग द्वारा गमन कर रहा था। राजकन्या ने उसके हृदय का हरण कर लिया। अतः गवाक्ष में बैठी उस कन्या को वह उठाकर ले गया है। यहां से एक हजार योजन की दूरी पर **रत्नसानु** नामक पर्वत है। वहां देव भी नहीं जा सकते, उस जगह पर वह विद्याधर राजकन्या को ले गया है। वहां जाकर विद्याधर ने सैकड़ों मिष्ट वचनों के द्वारा उस कन्या की अनुनय की, पर दरिद्र की तरह उसके वचनों को राजकन्या ने स्वीकार नहीं किया। बल्कि उसने कहा कि जो मेरी प्रतिज्ञा को पूर्ण करेगा, उसे ही मैं अपना पति बनाऊँगी, अन्य किसी को भी नहीं।

उसके इन वचनों को सुनकर क्रोधित होते हुए विद्याधर ने उसे उसी भयंकर स्थान पर छोड़ दिया और स्वयं अपने नगर को लौट गया। दुष्ट के मन में दया को कहां स्थान? विद्याधर के मन में तो चल रहा था कि फिर कभी यहां आकर इसे समझाऊँगा और उसके

बाद इसके साथ विवाह कर लूंगा। इसे यहां से कोई ले न जाय, इसलिए उसकी रक्षा के लिए यमराज की पुत्री के समान भयंकर, गीध पक्षी के समान आकृति को धारण करनेवाली राक्षसी विद्या वहां रख छोड़ी है। वहां रही हुई वह गृध्री निरन्तर विविध प्रकार के शब्द करती है। कभी तो वह शुभ वचन बोलती है कि तुम्हारा कुशल हो और कभी किसी समय ऐसा बोलती है कि अरे! तुम यहां कैसे आये? क्या तुम पर यमराज कुपित है? यहां से भाग जाओ। भाग जाओ। इस प्रकार जब वह बोलती है, तो उसके वचनों को सुननेवाला मनुष्य मुख से रुधिर का वमन करते हुए पृथ्वीतल पर लुढ़क जाता है और दुष्ट सर्प से डसे हुए की तरह तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। ऐसे दुष्ट प्रभाव से युक्त वह मायावी राक्षसी निरन्तर कन्या के पास ही रहती है। पर अगर कोई शब्दवेधी बाणों से उसके मुख को भर दे, तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाने से वह तुरन्त निष्प्रभाव हो जायगी।''

कुमार के इन वचनों का श्रवण करके राजादि सर्व सभा विस्मय को प्राप्त हुई। ''अहो! इस कुमार का ज्ञान! अहो! इसकी बुद्धि!''–ऐसा कहकर सभी उसकी प्रशंसा करने लगे। फिर राजा ने कहा–''हे कुमार! तुमने राजकन्या का वृत्तान्त बताकर हमें प्रसन्न किया है। अब उसे वापस लाकर हमारे आनन्द में वृद्धि करो। समस्त कलाओं की निपुणता से शोभित तुम्हारे सिवाय अन्य कोई व्यक्ति उस कन्या को लाकर हमें खुशी देने में समर्थ नहीं है।''

यह सुनकर मानो स्वर्ग से विश्वकर्मा इस धरातल पर अवतरित हुए हों, वैसे उस कुमार ने अपनी शिल्पकला के द्वारा आकाशगामी अनेक गरुड़ बनाये। अन्य किसी से भी पराभव को न प्राप्त होनेवाले ऐसे एक मुख्य गरुड़ पर कुमार आरूढ़ हुआ और अन्य गरुड़ों पर दूसरे योद्धा विविध प्रकार के शस्त्र हाथ में लेकर आरूढ़ हुए। श्रेष्ठ सुभटों से परिवृत्त विष्णु की तरह बलवान वह कुमार उस पर्वत की दिशा में आकाशमार्ग से रवाना हुआ।

क्षण–भर में ही वह पर्वत पर पहुँच गया। वहां उसने उस राजकन्या को देखा। कसाईखाने में रखी गयी बकरी की तरह भय के कारण उसके नेत्र कम्पित हो रहे थे। उस समय उस गृध्री ने विपरीत शब्दों का उच्चारण किया। उन शब्दों के रंचमात्र श्रवण–योग से सभी सुभट मूर्च्छित हो गये। विशाल बुद्धि के स्वामी उस कुमार ने सर्व भाषा को जाननेवाली बुद्धि के द्वारा उस गृध्री के दुष्ट शब्दों के अभिप्राय को जान लिया। अतः उसके मुख खोलने के साथ ही शब्दवेध में निपुण कुमार ने एक क्षण भी गँवाये बिना उस राक्षसी के मुख को अपने बाणों की वर्षा से पूर्ण कर दिया और इसके साथ ही कन्या की प्रतिज्ञा को भी पूर्ण कर दिया। निरन्तर बाणों के प्रक्षेप से उसका मुख भर जाने के कारण उस राक्षसी का सारा प्रभाव क्षीण हो गया। उसके दुष्ट शब्दों को अल्प अंश ही श्रवण करने के कारण वे सुभट जल्दी ही चैतन्य होकर कुमार के पास आये। राक्षसी को निष्प्रभाव देखकर आश्चर्यचकित

सुभटों ने हर्षित होकर अपनी राजकुमारी से कहा–"हे कन्ये! इस कुमार ने आपकी सारी प्रतिज्ञाएँ पूर्ण की हैं। निमित्तज्ञान से आपकी सारी परिस्थिति का पता लगाया। सभी को आपकी स्थिति बताकर प्रसन्न किया। फिर काष्ठकला के माध्यम से काष्ठ के गरुड़ बनाकर उनके द्वारा यहां आये और धनुर्विद्या के द्वारा राक्षसी को शक्तिहीन करके उसके संकट को दूर किया है।

हे देवी! यह **रंगावती** नगरी के स्वामी **लक्ष्मीपति राजा** के सुपुत्र **मेघनाद कुमार** बुद्धि के निधान हैं। निश्चय ही आपका प्रबल भाग्योदय हुआ है, जिससे ये कुमार स्वयं ही आपके स्वयंवर महोत्सव में पहुँच गये।

हे चारुवदना! अगर ये कुमार आपके स्वयंवर में नहीं आये होते, तो इस उत्कट संकट में आपकी रक्षा कौन करता?"

सारा वृत्तान्त सुनकर राजकन्या अत्यन्त हर्षित हुई। विकस्वर नेत्रों से कुमार को देखते हुए मन ही मन उसका अपने पति के रूप में वरण कर लिया।

उसके बाद कुमार राजकन्या को साथ लेकर अत्यन्त हर्षित हुए सुभटों के साथ गरुड़ों पर आरूढ़ होकर निर्विघ्न रूप से चम्पापुरी में आया। कुमार को अपनी कन्या के साथ देखकर राजा अत्यन्त आनन्दित व विस्मित हुआ। उसने शीघ्र ही दोनों के विवाह की तैयारी करवायी। विस्मित नगरजनों ने भी कुमार की प्रशंसा करते हुए कहा–"अहो! निमित्त शास्त्र में इसकी कुशलता अनुपम है। अहो! इसकी शिल्पकला के आगे विश्वकर्मा भी नतमस्तक है। अहो! इसकी धनुर्विद्या तो अर्जुन को भी परस्त करती है। अहो! सम्पूर्ण भाषाएँ जानने में इसकी योग्यता अस्खलित है। अहो! इसका सर्वांग सौभाग्य जगत् में अद्‌भुत है। अहो! इसका अलौकिक पराक्रम सभी दिशाओं को जीतने में समर्थ है। अहो! इस **मदनसुन्दरी** ने जो–जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, वे सभी दुष्पूर होने पर भी इसने लीला–मात्र में पूर्ण कर दी।"

इस प्रकार पौरजनों द्वारा स्तुति किये जाते हुए उस कुमार का राजा ने विशाल महोत्सवपूर्वक अपनी कन्या के साथ परिणय–सम्बन्ध किया। हथलेवा छुड़ाते समय राजा ने कुमार को दास–दासी, वस्त्राभूषण, हाथी–घोड़े आदि अनेक वस्तुएँ विपुल मात्रा में दीं, क्योंकि जामाता सभी को प्रिय होता है।

उस कुमार की कलाओं से विस्मित अन्य आगत राजा लज्जा को प्राप्त हुए। राजा ने उन सब का भी सत्कार करके उन्हें विदा किया।

फिर राजा ने कुमार को आदरपूर्वक दूसरा महल रहने के लिए दिया। उसमें इन्द्राणी के साथ इन्द्र की तरह वह कुमार अपनी पत्नी मदनसुन्दरी के साथ मनोहर भोग भोगने लगा।

कितने ही दिनों के बाद कुमार राजा की आज्ञा लेकर सैन्य–सहित अपने नगर की और चला। अनुक्रम से चलते हुए उसी राक्षस की अटवी में पहुँचा। उस समय सूर्य स्वयं को जीतनेवाली कुमार की तेजलक्ष्मी को देखकर लज्जित होते हुए पश्चिमी समुद्र में डूब गया अर्थात् अस्त हो गया। कुमार ने उसी वन में पड़ाव डाल दिया। सभी लोग मार्ग के श्रम से श्रान्त होने के कारण निद्राधीन हो गये।

कुमार देवपूजादि सन्ध्या–विधि करने लगा, क्योंकि **'सत्पुरुष श्रान्त होने के बावजूद भी आवश्यक क्रियाओं को नहीं छोड़ते।' 'गुणीजन अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ते'**–यह कुमार को बताने के लिए मानो कमल मुरझा गये हों। हमारी लक्ष्मी का सर्वथा नाश करनेवाला सूर्य अस्ताचल की और चला गया है–ऐसा जानकर आनन्दित होती हुई कुमुदिनियाँ विकसित हो गयीं। चिरकाल तक भोगने के बाद दुर्दशा को प्राप्त कमलिनियों को छोड़कर भ्रमर पोयणीओ पर गुंजारव करने लगे। ऐसे चपल चित्त की वृत्तियों को धारण करनेवालों को धिक्कार है।

हे लोगों! कोलाहल करते हुए पक्षी मानो यह कह रहे थे कि यह सूर्य तेजस्वी होने के बावजूद भी पश्चिम दिशा रूपी स्त्री के संग में आसक्त हो गया है। कुलटा स्त्री की तरह पश्चिम दिशा का राग सन्ध्याकालीन बादलों के बहाने से क्षण–भर के लिए उत्पन्न होकर फिर सम्पूर्ण रूप से नाश को प्राप्त हो गया। सती–स्त्रियों को पति का वियोग प्राप्त होते ही दुःख होता है–यह योग्य ही है–इस प्रकार दिशाएँ भी मानो नवविवाहिता मदनसुन्दरी को कह रही हों–वैसे श्यामल बन गयी थीं। यह राजकुमार अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर सकेगा या नहीं–यह देखने के लिए मानो गगन तारे रूपी नेत्रों को विकस्वर करने लगा था। क्या यह ब्रह्माण्ड रूपी भाजन अंजन से परिपूर्ण हो गया है या अंजनगिरि के चूर्ण से भर गया है–इस प्रकार अन्धकार से परिपूर्ण वातावरण बन गया था।

उस समय प्रिया से शोभित वामांगवाला कुमार पंच नमस्कार का स्मरण करके सोने की तैयारी करने लगा, तभी उसे अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हुआ। वह विचार करने लगा–"मैं अभी राक्षस के पास जाकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करूं। पर इस नवविवाहिता पत्नी को एकदम से छोड़ देने पर यूथ से अलग हुई हरिणी की तरह इसकी क्या दशा बनेगी? मेरे आधीन अपने जीवन को सौंपनेवाली यह पतिव्रता मेरे वियोग से अवश्य ही तृणवत् अपने प्राणों का त्याग कर देगी। पर यह प्रिया चाहे अपनी इच्छानुरूप वर्त्तन करे, चाहे राज्यलक्ष्मी का नाश हो, चाहे मेरे प्राण प्रयाण करने में तत्पर बनें, पर मुझे अपनी कृत प्रतिज्ञा का पालन अवश्य ही करना चाहिए।

---

1. गोले के आकारवाला शस्त्र।

मनुष्य अपनी कृत प्रतिज्ञा को भूलकर जीवित रहे–यह जरा भी योग्य नहीं है। मैं अपनी पत्नी को कुछ भी अवगत कराये बिना जाऊँ–यह भी मेरे लिए योग्य नहीं है, क्योंकि विवाह की विधि में मैंने इसका दायाँ हाथ ग्रहण किया है। अतः उसको कहकर जाऊँगा, तो कदाचित् वह उतनी अधीर नहीं बनेगी। अतः यही ठीक रहेगा।''

इस प्रकार विचार करके कुमार ने अपनी प्रतिज्ञा अपनी पत्नी को बतायी। तब उसने कहा–''हे जीवन–नाथ! आपके द्वारा प्राणों का त्याग करना कैसे उचित है? आपके बिना मैं पतिव्रता मरी हुई ही हूं–आप ऐसा मानें। आपके माता–पिता भी आपके मरण–शोक रूपी दावानल में जलकर आपके मार्ग के ही पथिक बनेंगे। अतः अब आप विलम्ब न करें। जल्दी से जल्दी यहां से आगे प्रयाण करें। उस राक्षस को ज्ञात हो, उससे पहले ही हम इस अरण्य को पार कर लेंगे।''

यह सुनकर कुमार ने कहा–''हे प्रिया! मैं सत्यवादी हूं। अतः अपनी प्रतिज्ञा का लोप नहीं कर सकता। महान् पुरुष अपने प्राणान्त तक भी अपनी प्रतिज्ञा का लोप नहीं करते। सत्पुरुष अपने वचनों का पालन करने के लिए अग्नि में प्रवेश करते हैं, वनवास स्वीकार करते हैं, राज्य का त्याग करते हैं, लक्ष्मी का तिरस्कार करते हैं, प्राणों को तृणवत् समझते हैं अर्थात अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए वे क्या–क्या नहीं करते? प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए हरिश्चन्द्र राजा ने क्या दास बनकर चण्डाल के घर पानी नहीं भरा था? हे देवी! प्रचण्ड भुजबल से युक्त पाण्डवों ने वाणी रूपी बन्धन से बंधकर तेरह वर्ष तक वनवास को भोगा था। उत्तम पुरुष स्वाभाविक रूप से जिन वचनों का उच्चारण करते हैं, वे पत्थर में खुदे हुए अक्षरों की तरह कभी भी अन्यथा नहीं होते। अतः हे देवी! मुझे एक बार तो उस राक्षस के पास अवश्य जाना होगा।''

यह सुनकर कुमार की पत्नी ने कहा–''अगर ऐसा है, तो मैं भी आपके साथ चलूंगी। मेरा जीवन और मरण आपके साथ ही होगा। सम्पत्ति हो या विपत्ति, सती स्त्रियों की गति पति ही है।''

कुमार ने कहा–''मैं तो वचन से बंधा हुआ हूं, अतः राक्षस के पास जा रहा हूं। तुम धैर्य धारण करके यहीं पर ठहरो। हे प्रिये! मेरे जाने के बाद जो भी मुझ–विषयक समाचार तुम्हें मिले, उसके मुताबिक तुम आगे का कार्य करना।''

इस प्रकार प्रिया को समझा–बुझाकर कुमार बिना किसी को बताये चुपचाप राक्षस के भवन में पहुँचा। वहां जाकर उसने कहा–''हे राक्षसेन्द्र! मैंने आपके पास स्वयं को प्रतिज्ञा रूपी रस्सी के द्वारा बांधा था। अतः उसे पूर्ण करने के लिए मैं आपके पास आया हूं। आपकी कृपा से मेरा उस राजकन्या के साथ विवाह हो चुका है। अब आप अपनी इच्छा पूर्ण करें।''

इस प्रकार कहकर कुमार उसके समक्ष खड़ा रहा। उसे देखकर हर्षित, क्षुधातुर, दुर्बल कुक्षि से युक्त और निर्दयी राक्षस जैसे कटार हाथ में लेकर उसका छेदन करने के लिए तत्पर हुआ, वैसे ही मदनमंजरी ने, जो अपने पति के प्राणान्त की शंका के कारण हृदय के आकुल–व्याकुल होने से अपार दुःख को अनुभव करने से अपने स्थान में न रह सकने के कारण अपने पति के पीछे–2 वहां आ गयी थी, कहा–"हे पापी! ऐसा मत कर। मत कर।"

इस प्रकार बोलती हुई अपने पति व राक्षस के बीच में आकर खड़ी हो गयी। उसकी हिम्मत देखकर हर्षित होते हुए राक्षस ने कहा–"तुम कौन हो? यह पुरुष मेरा भक्ष्य है, पर तुम इसकी रक्षा क्यों कर रही हो?"

मदनमंजरी ने कहा–"ये मेरे जीवन–नाथ हैं और चार समुद्रों की मेखला से युक्त पृथ्वी के पालक हैं। इन महात्मा को तुम छोड़ दो और मुझे खाकर अपनी क्षुधा शान्त करो। मुझ जैसी अनेक स्त्रियाँ इन्हें मिल जायंगी, पर इन जैसा महापुरुष मिलना इस दुनिया में दुर्लभ है।"

राक्षस ने कहा–"हे सुन्दरी! स्त्रियों का वध करना हमारा आचार नहीं है, क्योंकि स्त्री, बालक और रोगी को अवध्य कहा गया है।"

रानी ने कहा–"आपने सत्य कहा है, पर आप इनका भक्षण करेंगे, तो मेरी मृत्यु तो निश्चित ही है, क्योंकि पति–रहित मेरा पिता के घर में या ससुराल में रहना द्वेषी पुरुष की तरह उभयलोक में कल्याणकारक नहीं है। साथ ही मुझे इसलोक में यह दुर्निवारक कलंक भी प्राप्त होगा कि इसी स्त्री ने अपने पति का राक्षस के द्वारा भक्षण करवाया। साथ ही चन्द्र के बिना कुमुदिनी की तरह पति के बिना मुझे योग और क्षेम की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। अरे! दुर्दैव से दग्ध मेरी अब कौनसी गति होगी?"

इस प्रकार विलाप में वाचाल वह तीव्र स्वर में रुदन करने लगी। उसे इस प्रकार रोते हुए देखकर राक्षस का हृदय दयार्द्र हो गया। वह उठकर महल के भीतरी भाग में गया और वहां से एक रत्नमय दिव्य कटौरा लाकर उस **मदनमंजरी** को दिया व कहा–"यह कटौरा एकमात्र नरमांस के सिवाय दूसरी सभी मनोवांछित वस्तुएँ मोती, माणक, वस्त्र, सुवर्ण आदि प्रदान करता है। इस कटौरे के लिए मैंने बारह वर्ष तक उग्र तपस्या की है और औंधे मस्तक रहकर निरन्तर मंत्रजाप किया है। इससे प्रसन्न होकर नागेन्द्र ने मुझे यह कटौरा प्रदान किया है। चिन्तामणि की तरह इससे सभी वांछित वस्तुएँ तत्काल प्राप्त की जा सकती हैं। पूर्वजन्म के अभाग्य के कारण कीचड़ में सूअर की तरह मुझे नरमांस खाने का बुरा व्यसन लग गया है। छः महीनों से मुझे मनुष्य का मांस प्राप्त नहीं हुआ है। अतः बढ़ती हुई क्षुधा मुझे गरीब की तरह अत्यन्त बाधित कर रही है। आज इस कोमल शरीरवाले मनुष्य को मैंने अपने पुण्य

से प्राप्त किया है। उसमें भी तुम योग और क्षेम की प्रार्थना के द्वारा विघ्न पैदा कर रही हो। पर तुम शील रूपी कवच से युक्त हो, अतः मैं तुम्हें हटाने में समर्थ नहीं हूं। सूर्य की किरणों से विकस्वर हुई कमलिनी को अन्धकार किस तरह उपद्रवित कर सकता है? मैं अधम जाति से युक्त हूं, फिर भी तेरी पतिभक्ति, शीलव्रत और सत्त्वादि गुणों से आश्चर्यचकित हूं। अतः तुझ पर दयाभाव उत्पन्न हुआ है। जैसे कोई दुर्मति पुरुष एक कौड़ी के निमित्त चिन्तामणि रत्न को हार देता है, वैसे ही मैं नरमांस के लोभ से यह दिव्य कटौरा तुम्हें दे रहा हूं। नागेन्द्र की कृपा से सर्व मनोवांछित देनेवाला यह दिव्य कटौरा तुझे जिन्दगी–भर योग–क्षेम देनेवाला बनेगा। मैं भी तेरे पति का भक्षण करके तृप्त बनूंगा। अतः तूं यह कटौरा लेकर स्वस्थान लौट जा। तुम्हारा मार्ग कल्याणकारी बने।''

यह सुनकर औत्पातिकी बुद्धि से युक्त वह वचस्विनी बोली–''हे मित्र राक्षेश्वर! तुमने मेरा बहुत बड़ा हित किया है। यह रत्नकटौरा मेरे सर्वार्थ की सिद्धि करेगा, क्योंकि देववाणी प्रमाण रूप होती है, उसमें कोई संशय नहीं होता। पर स्त्री–प्रकृति होने के कारण मैं मन में अत्यधिक अधीर हूं। अतः हे राक्षसेश्वर! आपके द्वारा दी गयी इस वस्तु की परीक्षा करके ही मैं इसे ग्रहण करूंगी, क्योंकि सुगन्धित वस्तु हो या महँगी वस्तु, उसकी परीक्षा करके ग्रहण करने पर लेनेवाला निन्दा का पात्र नहीं बनता। अगर आपकी मुझ पर कृपा हो, तो जब तक मैं इस वस्तु की परीक्षा न कर लूं, तब तक आप मेरे पति के प्राणों का हरण नहीं करेंगे।''

राक्षस ने खुशी–खुशी आज्ञा देते हुए कहा–''शीघ्र परीक्षा करो। मेरे वचन अन्यथा नहीं है। मैं तब तक तेरे पति को नहीं मारूंगा, जब तक तुम इस कटौरे की परीक्षा नहीं कर लेती।''

तब आनन्द से विकस्वर मुखवाली मदनमंजरी ने हाथ में वह रत्नजटित कटौरा लेकर भक्तिपूर्वक उसकी पूजा–अर्चना करके कहा–''भक्ति के वश हुए मनुष्यों के हित को करने में तत्पर हे नागेन्द्र! मुझ पर अपनी स्नेहभरी दृष्टि डालो। मुझे शीघ्र ही पति रूपी भिक्षा प्रदान करो।''

इस प्रकार तो मैं इसके वचनों से ठगा गया हूं–ऐसा विचार करके क्रोधित होता हुआ राक्षस कुमार को कटार से मारने के लिए उद्यत हुआ। तभी उन दोनों के पुण्य से जागृत / आकर्षित हुए नागेन्द्र ने प्रकट होकर राक्षस का आक्षेप–सहित तिरस्कार किया–''हे मूर्ख! हे अधम राक्षस! चावलों के पानी द्वारा वृद्ध बिल्ली की तरह तूं इस विचक्षणा स्त्री के द्वारा वाणी के प्रपंच से ठगा गया है। अब तूं स्वकृत पापों का फल यहीं भोग।''

यह कहकर उसको लात मारकर यमराज के मन्दिर में पहुँचा दिया। उसके बाद नागेन्द्र ने स्नेहपूर्वक उन दोनों से कहा–"मैं इस रत्न–कटौरे का स्वामी नागेन्द्र नामक देव हूं। इस पुरुष ने वन में रहकर फल का आहार किया, होम किया, ब्रह्मचर्य का पालन किया और जाप किया। इस प्रकार की अन्य भी दुष्कर तपस्याओं के द्वारा 12 वर्ष तक सम्यग् प्रकार से मेरी आराधना की। इसीलिए मैंने उसे यह रत्न–कटौरा प्रदान किया था। यह चिन्तामणि के समान होने से हर किसी को नहीं मिल सकता। पर पूर्वकृत अगण्य पुण्य के प्रभाव से चक्रवर्त्ती के चक्ररत्न की तरह यह रत्न–कटौरा तुम्हें बिना किसी तप के स्वतः ही प्राप्त हो गया है। मेरी कृपा से तीव्र तपस्या के बिना भी जीवन–पर्यन्त इसके द्वारा तुम्हारे सर्वार्थ की सिद्धि होगी। इस मनुष्य भव में भी तुम्हें अविच्छिन्न रूप से सर्व दिव्य भोगों की प्राप्ति होगी।"

यह कहकर नागराज अदृश्य हो गये। उसके बाद कुमार ने **मदनमंजरी** की प्रशंसा करते हुए कहा–"अहो! तेरा पराक्रम अद्भुत है! अहो! तेरी पतिभक्ति अकृत्रिम है! अहो! तेरे वचनों की चतुराई! अहो! तेरी बुद्धि की निपुणता! हे देवी! श्रेष्ठ काष्ठवाली नाव की तरह तेरी इस बुद्धि के द्वारा ही मैं इस दुस्तर कष्ट रूपी समुद्र को तैरकर पार कर पाया हूं। अगर तुम मेरे पीछे–2 यहां तक न आयी होती, तो मैं कैसे जीवित रह पाता? मेरा राज्य कहां होता? यह रत्न–कटौरा कहां से प्राप्त होता? चाहे कितनी भी राजकन्याएँ मेरी पत्नियाँ बन जाएँ, पर उन सब के मध्य तुम ही मेरी पटरानी रहोगी।"

इस प्रकार उसकी अत्यधिक प्रशंसा करके उसे तथा रत्नकटौरे को साथ में लेकर राजपुत्र अपने सैन्य के पास आकर सुखपूर्वक सो गया। प्रातःकाल होने पर उस कटौरे को देवगृह में स्थापित करके उस कुमार ने सैन्य–सहित अपने नगर की और प्रयाण किया। भोजन का वक्त होने तक वे सभी एलापुर के उपवन में पहुँच गये। अतः वहां सैन्य ने पड़ाव डाल दिया। फिर स्नान, दान, पूजादि मध्याह्न का कार्य करके वह कुमार भोजनशाला में गया। वहां भाषा और वेशादि में बिल्कुल एक समान–मानो एक साथ जन्मी हो, वैसी दो–दो मदनसुन्दरी को देखा। आश्चर्यचकित होते हुए वह कुमार विचार करने लगा–'क्या इसने मेरी दुगुनी भक्ति करने के लिए अपनी विद्या के प्रभाव से दो रूप धारण किये हैं? अथवा मुझे ठगने के लिए क्या किसी देव ने मेरी प्रिया के समान रूप को धारण किया है? अथवा तो दृष्टिभ्रम के कारण मैं दो चन्द्र की तरह अपनी दो प्रियाओं के रूप को देख रहा हूं।'

इस प्रकार विचार करते हुए कुमार सैकड़ों चिन्ताओं से व्याप्त हो गया। तत्त्व व अतत्त्व के विवेचन में निपुण बुद्धि से युक्त कुमार को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भी उन दोनों स्त्रियों में कोई भेद नजर नहीं आया, जिससे वह अपनी प्रिया को पहचान सके। तब उसने दोनों ही

स्त्रियों को अपनी सेवा करने से रोकते हुए स्वयं ही कुमार भोजनादि क्रियाओं में प्रवर्त्तित हुआ। बुद्धिमान मनुष्य को कौन ठग सकता है?

उधर योग्य अवसर पर जिनपूजा, आवश्यक क्रिया, दान, स्नान और मानादि जो–जो क्रियाएँ एक स्त्री करती, वही दूसरी स्त्री भी करती। निमित्त विद्या के द्वारा भी कुमार उन दोनों स्त्रियों का अन्तर नहीं जान सका, क्योंकि छद्मस्थों का ज्ञान विचित्र प्रकार का होता है। वह सर्व विषयों में अस्खलित नहीं होता। तब खेदखिन्न होते हुए कुमार ने नगर में यह उद्घोषणा करवायी कि "इन दोनों स्त्रियों के भेद को जो कोई बतायेगा, उसे मैं एक करोड़ स्वर्णमुद्रा दूंगा।"

यह सुनकर स्वयं को बुद्धिनिधान माननेवाले हजारों विद्वान स्वर्ण पाने की इच्छा से अहंपूर्वक वहां आये। उन्होंने प्रयत्नपूर्वक सैकड़ों उपाय किये, पर उनके सारे उपय अवकेशी नामक वन्ध्य वृक्ष की तरह निष्फल हुए। तब कुमार ने एक बार फिर से अपनी बुद्धि से उद्यम करना प्रारम्भ किया। छोटे–2 छिद्रोंवाली एक पेटी में उन दोनों को बन्द करके कहा कि "तुम दोनों को एक दिव्य करना है। जो असली मदनमंजरी है, वह सत्य के प्रभाव से उस पेटी में से बाहर आ जायगी और जो उसके अन्दर से बाहर नहीं निकल पायेगी, वह नकली है।"

यह सुनकर असली **मदनमंजरी** के नेत्र दुःखभरे अश्रुओं से व्याप्त हो गये। उसने गद्गद् स्वर में स्खलित वाणी से कहा–"हे स्वामी! इन सूक्ष्म छिद्रों से मैं मानवी **मदनमंजरी** कैसे बाहर निकल सकती हूं? यह शक्ति तो देवताओं की हो सकती है।"

माया–कपट के नाटक में निपुण उस नकली **मदनमंजरी** ने भी दुःख प्रकट करते हुए वही शब्द दोहराये। तब दयालू कुमार ने उन दोनों को ही पेटी से बाहर निकाल लिया, क्योंकि महापुरुषों को दुष्टों पर भी अत्यन्त करुणा–भाव होता है।

'मुझे परस्त्रीगमन का पाप न लगे–इस शंका को धारण करते हुए कुमार उन दोनों स्त्रियों से दूर रहने लगा।

पर वे दोनों स्त्रियाँ दिन–रात विलाप करने लगीं–"हे नाथ! मुझ अनाथ निरपराधी का आप क्यों त्याग करते हैं?"

उन दोनों के अन्तर को नहीं समझ सकने के कारण हृदय में खेद धारण करते हुए कुमार भी विचार करने लगा–'अपार पौरुष व तेज को धारण करनेवाले मुझपर यह कैसी विपत्ति आ पड़ी है? ऐसी विषम स्थिति में अगर मैं अपने माता–पिता के पास जाऊँगा, तो हर्ष तो बहुत दूर रहा, उनको दुःख ही ज्यादा होगा। पर यदि इसी अवस्था में मैं गाँव–2 नगर–2 पृथ्वी पर ही भ्रमण करता रहा, तो दुर्जन मेरा उपहास करेंगे कि इसको पृथ्वी पर

भ्रमण करते हुए ऐसा सुख प्राप्त हुआ है? एक तरफ मन में गुरुजनों से मिलने की उत्कण्ठा है, तो दूसरी तरफ ये दोनों स्त्रियाँ मुझे अत्यन्त उद्विग्न बना रही हैं। अतः मेरे लिए तो **'एक तरफ बाघ और दूसरी तरफ नदी का पूर'** की स्थिति है। अब मैं क्या करूं?''

सैकड़ों दुःखों से उस कुमार का अन्तःकरण व्याप्त हो गया हो, मानो उसके सर्वस्व का हरण हुआ हो, इस प्रकार वह वहीं अपना काल निर्गमन करने लगा। वियोग के कारण चक्रवाक के जोड़े की तरह दुःखी हुए उस दम्पति के छः युग की तरह छः मास व्यतीत हुए।

उसके बाद एक बार असली **मदनमंजरी** के मन में बुद्धि उत्पन्न हुई। उसने पुष्पादि के द्वारा उस रत्नकटौरे की पूजा करके कहा–''नम्र प्राणियों का कल्याण करने में जागृत हे नागेन्द्र! मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे इस पापिष्ठ राक्षसी से पीछा छुड़वाओ।''

ऐसा कहते ही **नागेन्द्र** तुरन्त प्रकट हुए। भृकुटि चढ़ाकर कपाल की विषमाकृति बनाते हुए नकली **मदनमंजरी** की तर्जना करते हुए कहा–''हे दुराचारिणी! हे ढ़ीठ! हे मूर्खा! तुझे अब मरना ही है, क्योंकि तुमने इस पुण्यवान दम्पति पर द्रोहभाव को धारण किया है।''

यह सुनकर भय से कम्पित होते हुए पलायन करने में असक्षम उस राक्षसी ने अपने असली रूप को धारण करते हुए दीन वाणी में **नागेन्द्र** से कहा–''हे नागराज! अपने वार से जिस राक्षस को तुमने मार डाला, मैं उसी राक्षस की बहिन **भ्रमरशीला** नामक राक्षसी हूं। मेरे भाई की मृत्यु से मुझे क्रोध उत्पन्न हुआ। तुम्हारा तो मैं कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती थी। अतः पत्नी–सहित इस **मेघनाद** का नाश करने के लिए मैं यहां आयी। पर चतुर्दिशा में प्रसृत इसके अगण्य लावण्य रस के द्वारा मेरी क्रोधाग्नि तत्काल शान्त हो गयी। मेरे चित्त रूपी पृथ्वी पर राग के अंकुर उत्पन्न हुए। उनमें से प्रीति रूपी लता उत्पन्न हुई। पर इस कुमार ने जन्म से ही परस्त्री से पराङ्मुख रहने की प्रतिज्ञा को धारण कर रखा है। अतः इसे ठगने के लिए मैंने **मदनमंजरी** का रूप धारण किया। फिर दो स्त्रियों की भ्रान्ति दूर करने के लिए असली **मदनमंजरी** को नकली साबित कर उसे दूर देश में भिजवाने के लिए मैंने अपनी शक्ति के अनुसार अनेक प्रयत्न किये, पर मैं उसे अपनी दुष्ट दृष्टि के द्वारा देखने में भी समर्थ न हुई, क्योंकि वह शील रूपी वज्रकवच के द्वारा आवृत और धर्मकार्य में कुशल है। उसके बाद भी मैंने विद्या द्वारा बहुत ही सुन्दर तरीके से हाव, भाव, विलासादि के द्वारा इस मेघनाद को मोहित करने का अत्यधिक प्रयत्न किया। पर इस कुशल पुरुष की आँख की भाँपण तक विचलित न हो पायी। क्या मेरुपर्वत का शिखर कल्पान्त काल की वायु के द्वारा भी भला विचलित हो सकता है? मैं मानती हूं कि इसका मन वज्र के परमाणुओं से निर्मित हुआ है, जिससे कि मेरे कटाक्ष रूपी बाण उसे भेदने में समर्थ नहीं है।''

इस प्रकार कहकर उस राक्षसी ने उस दम्पति से क्षमायाचना की और कुमार को **त्रैलोक्यविजय** नामक हार प्रदान किया। उसके बाद नागराज और वह राक्षसी अपने–2 स्थानों पर लौट गये।

राजकुमार **मेघनाद** और **मदनमंजरी** अपने शील की परीक्षा से प्रसन्न हुए। फिर स्वस्थ होकर कुमार ने अपनी नगरी की और प्रयाण किया तथा जल्दी–2 मार्ग तय करते हुए कुछ ही दिनों में अपनी नगरी के निकट पहुँच गया। उधर से गुजरते हुए पथिकों के द्वारा सारा वृत्तान्त श्रवणकर **लक्ष्मीपति राजा** अत्यन्त विस्मित व प्रसन्न हुए।

सम्पूर्ण नगर को दुल्हन की तरह सजा–सँवारकर अपने सम्पूण परिवार व ऋद्धि–सहित आनन्द के साथ राजकुमार के सन्मुख गया। जिसका शरीर खींचे गये धनुष्य की तरह नमा हो, इस प्रकार वह कुमार अपने दोनों हाथों से पिताश्री के चरणों को पकड़कर झुक गया। राजा ने भी अपने दोनों हाथों से उसे उठाकर इस प्रकार अपनी छाती से लगाया, मानो चिरकाल के वियोग से उत्पन्न दुःख का मर्दन करने के लिए उसे अपने हृदय में प्रवेश करा रहे हों। उसके बाद वे पिता–पुत्र उसी वन में क्षणभर के लिए मानो विरहाग्नि को बुझाने के लिए परस्पर कुशल–पृच्छा का अमृतपान करने लगे।

फिर विश्व को विस्मय उत्पन्न करनेवाले आडम्बरपूर्वक विशाल महोत्सव के साथ राजा कुमार को लेकर नगरी की तरफ चला। तभी कुमार ने अनेक नगरजनों को देखा, जो इस उत्सवमय मार्ग को भी नगण्य मानते हुए उस मार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग के द्वारा नगर से बाहर जा रहे थे। यह देखकर विस्मित होते हुए कुमार ने पिता से पूछा–"हे पिताजी! अपने–2 परिवार के साथ आनन्द से भरपूर ये नगरजन इस विशाल उत्सव को छोड़कर शीघ्रता के साथ किधर जा रहे हैं?"

राजा ने कहा–"हे वत्स! अन्धकार के समूह का नाश करने में दिनकर के समान **धर्मघोष** नामक मुनिवर आज उद्यान में पधारे हैं। उन मुनिराज को वन्दन करने की उत्कण्ठा से ये लोग उद्यान में जा रहे हैं। ऐसे गुरुदेव तो पूर्व पुण्य के उदय से ही प्राप्त होते हैं। मैंने तो आज बहू सहित तेरे आगमन का उत्सव किया है। अतः कल प्रातःकाल ऐसे सद्गुरु के चरण–कमलों में नमस्कार करूंगा।"

यह सुनकर हर्षान्वित होते हुए **मेघनाद** ने पिता से कहा–"हे तात! हम भी आज ही श्रीगुरुदेव को वंदन करने के लिए चलें। यह कार्य दूध में शर्करा मिलाने के समान होगा। एक उत्सव में दूसरा उत्सव हो जायगा, एक आनन्द में दूसरा आनन्द हो जायगा। नगर–प्रवेश करते हुए यह कार्य मंगल रूप बनेगा, क्योंकि साधु–दर्शन परम शुभ मंगल रूप

है। फिर गुरु–दर्शन का तो कहना ही क्या? पुण्यकार्य में शीघ्रता करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि एक रात्रि–मात्र का विलम्ब करनेवाले बाहुबलि को पिता की वन्दना नसीब नहीं हुई।''

यह सुनकर हर्षित राजा ने पुत्र–सहित उसी अद्‌भुत महाविभूतिपूर्वक उद्यान में जाकर महान भक्ति के साथ गुरुदेवश्री को प्रणाम किया। फिर **धर्मघोष मुनि** ने अमृतवाणी के द्वारा वैराग्यमय देशना प्रारम्भ कीः–

''इस संसार में सभी जीव एकमात्र सुख की ही अभिलाषा करते हैं। वह अभिलाषा मात्र धर्मकरणी के द्वारा ही पूर्ण हो सकती है। धर्म के अलावा अन्य पदार्थ–जैसे देह, स्त्री, स्वजन, धनादि सुख देनेवाले हैं–ऐसा मूढ़मति ही मानते हैं। पर तत्त्वज्ञानी तो इन्हें अन्यथा अर्थात् दुःखकारक मानते हैं। वह इस प्रकार है– शरीर तो सप्तधातुमय होने से अपवित्र ही है, मल–मूत्रादि से व्याप्त है, तो फिर वह मनुष्य के सुख के लिए कैसे हो सकता है? इस शरीर में कभी हाथ दुखता है, तो कभी हृदय, कभी मुख, तो कभी कान, कभी नेत्र, तो कभी कन्धे, कभी आँख, तो कभी गर्दन, कभी मस्तक, तो कभी ओष्ठ, कभी दाँत, तो कभी घुटने, कभी कमर–इस प्रकार कुछ न कुछ तो दुखता ही रहता है और आत्मा में अत्यन्त पीड़ा उत्पन्न करता है। अतः मोहरहित कौनसा पुरुष देह को सुखकारक मानता है? मेरे इस शरीर को क्षुधा बाधित न करे, तृषा पीड़ित न करे, इसी प्रकार शीत, उष्ण, सर्प, वात, पित्त और कफ से उत्पन्न व्याधियाँ, डांस–मच्छर, जल, अग्नि, भूतादि क्षुद्र देव, मलमूत्र और चोर–ये सभी मेरे शरीर को पीड़ा न करे–ऐसा मानकर उसके रक्षण के लिए अल्पबुद्धिवाले मनुष्य उन–2 सैकड़ों उपायों–प्रयासों को करते रहते हैं। जड़बुद्धियुक्त पुरुष इस शरीर के लिए अपार पापों को करके अन्त में अपार दुर्गति पाकर अनंत दुःखों को भोगते हैं। नरक को प्राप्त **शशि राजा** ने देवलोक से आये हुए अपने भाई से कहा था–''हे भाई! देह के लालन–पालन में ही सुख मानने के कारण मैं नरक में पैदा हुआ हूं। अतः मेरे उस पूर्वभव के शरीर को तूं पीड़ा दे।''

इसी कारण से आत्मसुख की वांछा करनेवाले तत्त्वज्ञानी शरीर का त्याग करने में उद्यमवन्त होकर दुष्कर तपों का आचरण करते हैं, जिससे अगर यह शरीर तपस्या आदि क्रियाओं के द्वारा धर्म में उपयोगी बने, तो वह **सनत्कुमार चक्रवर्ती** की तरह सुख के लिए उपयोगी बने।

स्त्रियाँ भी रुधिर, अस्थि, चर्बी और मांसादि अशुचि पदार्थों की मूर्त्ति–स्वरूप है। उन्हें भी तत्त्वज्ञानी सुख का हेतु नहीं मानते। स्त्रियों में आसक्त बने मूढ़ पुरुष इस भव में भी पग–2 पर अपवित्रता, चिन्ता और संताप की श्रेणियों को प्राप्त करते हैं। साथ ही स्त्रियों की आसक्ति के कारण ही मनुष्य को शरीर–कम्पन, ग्लानि, श्रम, पसीना और क्षयादि सभी प्राण

की हानि करनेवाली व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। बाहर से मनोहर दिखनेवाले उसके जिन–2 अवयवों को मूढ़ पुरुष सुख का हेतु मानते हैं, उन सभी अवयवों को तत्त्व दृष्टि से विचार करनेवाले पण्डित पुरुष दुःखकारक मानते हैं। उसमें भी अगर वह स्त्री पुरुष से विरक्त हो गयी हो, तो उस मनुष्य को क्या–2 आपत्ति नहीं आती? सुना है कि **सूर्यकान्ता महारानी** ने अपने धर्मनिष्ठ पति **प्रदेशी राजा** का विनाश किया था। यही स्त्रियाँ कदाचित् गृहस्थी को सहायता देने से धर्म के विषय में उपकार करनेवाली हों, तो **मदनरेखा** की तरह सुख देनेवाली भी बन सकती है।

पिता, भाई, माता, बहिन और पुत्रादि स्वजन भी अपने–2 कार्य में ही तत्पर होने से कैसे सुखकारक हो सकते हैं? जो रोगादि की आपत्ति में रक्षण नहीं कर सकते, जिन पर उपकार करने के बाद भी उनकी तरफ से प्रत्युपकार की आशा में संशय है और जिनका प्रेम स्वाभाविक नहीं है, उन स्वजनों से किस सुख की अभिलाषा रखना? उन स्वजनों के लिए सबसे पहले धनोपार्जन के कारणभूत शीत, आतपादि सैकड़ों प्रयासों अर्थात् दुःखों को प्राणी भोगता है और उसके बाद प्राप्त उस धन के विभाग करने में सैकड़ों क्लेशों का अनुभव करता है। कहा भी है कि :–

माया पिया य भाया, भज्जा पुत्ता य सुही अ नियगा य।
इह चेव बहुविहाइं, करंति भयवेमणस्साइं।।

अर्थः–*माता, पिता, भाई, भार्या, पुत्र, पुत्रवधू और स्वजन इस लोक में अनेक प्रकार के* भय और क्लेश उत्पन्न करते हैं।।

उन स्वजनादि के लिए किये हुए उन–2 महा–आरम्भों से उत्पन्न हुए पापों के द्वारा मनुष्य मरण प्राप्त करके दुरन्त दुर्गति को प्राप्त करता है। कदाचित् ये स्वजन परस्पर प्रीति रखनेवाले हों, पुण्यकार्य में सहायक हों, तो वे इसलोक और परलोक में सुखकारक होते हैं।

धन, धान्य और सुवर्णादि नौ प्रकार के अर्थ कहे गये हैं। ये भी उपार्जन करने में, रक्षण करने में और विनाशादि होने पर दुःख का ही एकमात्र कारण बनते हैं। ये अर्थ मृत्यु आदि आपत्ति को दूर नहीं कर सकते, बल्कि शत्रु के उपकारक भी बन सकते हैं, सर्पादि दुर्गति के भी प्रदाता बन जाते हैं। अतः कैसे सुखकारक हो सकते हैं? प्रत्युत धन के निमित्त से जो पाँच इन्द्रियों से सम्बन्धित विषय–सुख प्राप्त होते हैं, वे भी अनंत दुःखों के प्रदाता होने से पण्डित उन्हें दुःख रूप ही मानते हैं। भाई, मित्र, पिता, पुत्र और साथ में व्यापार करनेवाले अन्य गोत्रियों को यह अर्थ प्रायः करके प्राणान्त करनेवाले क्लेश को उत्पन्न करता है। कहा है किः–

छेओ भेओ वसणं, आयासकिलेसभयविवागो अ।
मरणं धम्मब्भंसो, अरई अत्थाउ सव्वाइं।।1।।

भावार्थ :–छेद, भेद, व्यसन (कष्ट), प्रयास, क्लेश, भय का विपाक, मरण, धर्मभ्रष्टता और अरति–ये सभी अर्थ से ही उत्पन्न होते हैं।

हे सभासदों! इस पर चार मित्रों का दृष्टान्त है, जिसे आप सभी श्रवण करें–

वसन्तपुर में **राजपुत्र, मंत्रीपुत्र, श्रेष्ठीपुत्र व कोतवाल का पुत्र**–ये चारों ही बचपन से ही मित्र थे। वे समग्र कलाओं में निष्णात थे। उद्यानादि स्थानों में साथ–साथ ही निरन्तर क्रीड़ा करने जाया करते थे। अनुक्रम से वे चारों शरीर की सुन्दरता को विकसित करनेवाली युवावस्था को प्राप्त हुए।

एक बार पृथ्वी पर होनेवाले विविध कौतुकों को देखने की इच्छा से उन्होंने परस्पर विचार करके देशान्तर की और प्रस्थान किया, क्योंकि कूपमण्डूक कभी भी विवेकवान नहीं होते अर्थात् कुएँ का मेढ़क कुएँ से बाहर नहीं निकलता, तो उसे बाहरी दुनिया का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। वह कुएँ जितनी ही दुनिया मानने लगता है। वैसे मनुष्य अगर देशाटन न करे, तो उसे बाहरी दुनिया का विस्तृत ज्ञान और अनुभव नहीं हो पाता।

अब राजपुत्र को अन्य तीन मित्रों ने अनुराग व भक्ति के वशीभूत होकर कहा–"हे देव! आप हमारे स्वामी हैं। हम आपके सेवक हैं। अतः हम तीनों बारी–बारी से अपनी–अपनी कलाओं के माध्यम से वित्तोपार्जन करके भोजन की व्यवस्था करेंगे। इस विषय में आप बिल्कुल निश्चिन्त रहें। सेवकों को स्वामी का रक्षण करना ही चाहिए, क्योंकि सेवक स्वामी के आधीन ही होते हैं। अगर तुम्ब अर्थात् गाड़ी के धुरी में पहिए के अवयव को धारण करनेवाला यन्त्र जीर्ण हो जाय, तो पहिए के आरे स्थिर नहीं रह सकते।"

इस प्रकार मंत्रणा करने के बाद वे चारों पहले दिन सायंकाल होने पर किसी ग्राम में पहुँचे। उस समय उस ग्राम में चोरों ने हमला किया। उस समय रक्षण करने में चतुर आरक्षक के पुत्र ने चोरों को बाणों की वृष्टि के द्वारा इस तरह भगाया, जैसे कोई सिंह मृगसमूह को भगा देता है। उसका पराक्रम देखकर ग्रामवासियों ने उन्हें रात्रि को वहीं रखा और सवेरे उन्हे सम्मानपूर्वक भोजन करवाया। कला का मान कहां नहीं होता?

उसके बाद आगे चलते हुए वे चारों **क्षेमपुर** नामक नगर में आये। तब भोजन की व्यवस्था करने के लिए श्रेष्ठीपुत्र नगर के भीतर गया। उसने अपनी मुद्रिका (अंगूठी) किसी श्रेष्ठी के पास गिरवी रखकर धन लेकर व्यापार में कुशल उसने वहां व्यापार शुरु किया। डेढ़ प्रहर तक व्यापार करते हुए उत्साहित उसने 500 स्वर्णमोहरों का उपार्जन किया। वास्तव

में व्यापार कल्पवृक्ष के समान है। फिर प्राप्त लाभ के द्वारा उसने अपने मित्रों को उत्तम आहार करवाया और मूल द्रव्य देकर अपनी मुद्रिका भी छुड़वायी।

वहां से आगे चलते हुए अब वे लोग **काम्पिल्य** नामक नगर में आये। अब भोजन करवाने की बारी मंत्री–पुत्र की थी। मंत्रीपुत्र राजमार्ग पर आया। वहां उसने एक पटह–उद्घोषणा सुनी। तब उसने वहां किसी व्यक्ति से पूछा–"यह पटह की आवाज किसलिए है?"

उस व्यक्ति ने बताया–"इस नगर में **सार्थपति** नामक महाधनिक रहता है। एक मूर्त्तिमान दम्भ के समान किसी धूर्त्त ने आज उससे कहा है कि मैंने तुम्हारे पास पूर्व में एक लाख रूपये थापण के रूप में रखे थे, वे मुझे वापस लौटाओ। श्रेष्ठी ने कहा कि इस बात का क्या साक्ष्य है? तब उसने कहा कि यह धरोहर रखने में मेरा साक्षी परमेश्वर है। इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए वे दोनों राजसभा में आये। राजा ने मंत्री को निर्णय करने की आज्ञा दी। मंत्री ने अत्यधिक प्रयत्न किया, पर इस बात का कोई निर्णय न हो सका। बुद्धिमान होने पर भी क्या कोई मनुष्य कभी किसी कार्य में मूढ़ नहीं बनता? उसके बाद राजा ने मंत्री पर कुपित होते हुए यह पटह बजवाया कि जो इस विवाद को खत्म करेगा, उसे मैं अपने मंत्रियों के पास से लाख रूपये दिलवाऊँगा।"

यह सुनकर उस विशाल बुद्धियुक्त मंत्रीपुत्र ने पटह का स्पर्श किया। तब राजा ने उस मंत्रीपुत्र, धूर्त्त, श्रेष्ठी व अन्य विशिष्ट नगरजनों को राजसभा में बुलवाया। राजा ने मंत्रीपुत्र को निर्णय करने के लिए कहा। तब मंत्रीपुत्र ने कहा–"हे भद्र! मैंने आज तुझको बहुत समय के पश्चात् देखा है। तुम्हें याद तो है ना, कि मैंने तेरे पास चार लाख रूपये धरोहर के रूप में रखे थे, जिसका ईश्वर साक्षी है? अतः अब तुम मुझे मेरे रूपये वापस करो।"

यह सुनकर उस धूर्त्त का मुख श्याम हो गया। वह एक शब्द भी नहीं बोल पाया। तब राजा ने क्रोध से उसका तिरस्कार करके उसे नगर से बाहर निकलवा दिया। दम्भयुक्त कार्य कभी शुभ हो ही नहीं सकता। फिर राजा की आज्ञा से सभी मंत्रियों ने उस मंत्रीपुत्र को एक–एक लाख रूपये दिये। बुद्धि किस–किस अर्थ को नहीं साधती? उस धन के द्वारा मंत्रीपुत्र ने अपने मित्रों की आवभगत की। उसके बल के द्वारा वे चारों विषम अटवी को भी पार कर गये। सायंकाल होते–होते वे किसी ग्राम की सीमा के पास पहुँचे। वहां किसी वटवृक्ष के नीचे मार्ग के श्रम को दूर करने के लिए सोने की इच्छा से रुक गये। जागृत को किसी बात का भय नहीं होता–ऐसा विचार करके उन्होंने बारी–बारी जागने का निर्णय किया। प्रथम प्रहर में राजपुत्र जागृत रहा। उस समय आकाश में बार–बार यह ध्वनि होने लगी–"मैं पडूं।"

तब राजपुत्र ने कहा–''शीघ्र पड़ो।''

फिर से वटवृक्ष के शिखर पर से वाणी ध्वनित हुई–''इसमें अत्यधिक अर्थ है, पर वह अनर्थ से युक्त है।''

तब राजपुत्र ने कहा–''अगर अर्थ हो, तो अनर्थ का नाश ही होता है। क्या सूर्य का उदय होने पर अन्धकार का नाश नहीं होता? फिर भी अर्थ के कारण अनर्थ होता हो, तो भले ही हो, क्योंकि कर्पूर चबाने से दाँत गिरते हों, तो भले गिरें।''

उसके बाद आकाश से तत्काल सुवर्ण–पुरुष नीचे गिरा। उसे देखकर राजपुत्र अत्यन्त हर्षित हुआ। लोभ के वशीभूत होकर उसने उस स्वर्णपुरुष को कहीं छिपा दिया।

इसी प्रकार अन्य मित्रों की बारी आने पर भी उसी प्रकार आकाशवाणी के द्वारा उन्हें भी स्वर्णपुरुष की प्राप्ति हुई। उन तीनों ने भी लोभ के प्रभाव से अपने–अपने स्वर्णपुरुष को एक–दूसरे से छिपा लिया। प्रातःकाल होने पर भिन्न हृदयवाले हुए वे चारों छिपाये हुए अर्थ को परस्पर कहने की इच्छावाले सहोदरों की तरह इधर–उधर घूमने लगे। उसके बाद एक जातिवाले होने के कारण राजपुत्र और आरक्षकपुत्र परस्पर इकट्ठे हुए और एक–दूसरे को आपबीती सुनाने लगे। उसी प्रकार मंत्रीपुत्र और श्रेष्ठीपुत्र ने भी परस्पर इकट्ठे मिलकर एक–दूसरे को अपना वृत्तान्त सुनाया।

इनमें से राजपुत्र और आरक्षकपुत्र परस्पर विचार करने लगे –''अनन्त पुण्यवानी से हमें यह स्वर्णपुरुष प्राप्त हुआ है। अतः उन दोनों मित्रों को इसे दिखाना ठीक नहीं होगा। उसका हिस्सा भी उन बनियों को देना उचित नहीं है। अगर कदाचित् उन्हें ज्ञात हो गया, तो मित्रता के कारण वे हमसे मांगने लगेंगे। नहीं देने पर क्लेश उत्पन्न होगा। अतः उन दोनों को पता न चले, इस प्रकार से हमें उन्हें खत्म कर देना चाहिए। अभी तो इन दोनों को भोजन लाने के लिए ग्राम में भेज देना चाहिए। ये लोग जब वापस भोजन लेकर लौटेंगे, तब वन में छिपकर अचानक खड्ग का वार करके उन्हें मार डालेंगे। उसके बाद घर जाकर उनके माता–पिता को भुलावे में डालकर हमलोग सुखपूर्वक अपने–अपने स्वर्णपुरुष का उपभोग करेंगे।''

इस प्रकार विचार करके उन दोनों ने उन वणिक–पुत्रों को ग्राम में भेज दिया। यह लोभ रूपी पिशाच बुद्धि की किस–किस विपरीतता को नहीं करवाता? ग्राम की और जाते हुए वे दोनों वणिकपुत्र भी परस्पर विचार करने लगे–''अनेक सुकृतों के कारण हमें ये स्वर्णपुरुष प्राप्त हुए हैं। पर वे दोनों क्षत्रिय हैं, हम उनसे जीत नहीं पायेंगे और वे हमसे स्वर्णपुरुष छीन लेंगे। अतः अच्छा होगा कि हम दोनों उन्हें विष देकर मार डालें।''

ऐसा विचार करके दोनों ने उनके भोजन में विष मिला दिया। वन में प्रवेश करते ही उन क्षत्रियों ने उन वणिकों को मार डाला। अहो! लोभ का कैसा विलास! उसके बाद उस विषमिश्रित भोजन को अनजानपने में खाने से वे दोनों क्षत्रिय भी मृत्यु को प्राप्त हुए। कुपात्र में रहा हुआ अर्थ किस–किस कदर्थना को नहीं करता?

उसी समय नन्दीश्वर द्वीप में रही हुई जिनप्रतिमा को वंदन करके वापस लौटते हुए कोई दो मुनि उनके समीप आये। उन चारों को मृत देखकर उन दोनों में से शिष्य–मुनि ने गुरु–मुनि से पूछा–''इन चारों ने किस कारण से एक साथ मरण को प्राप्त किया है?''

गुरुदेव ने उत्तर दिया–''**सुग्राम** नामक ग्राम में विचित्र और पवित्र स्थितिवाले चार क्षत्रिय राजा के सेवक थे। एक बार राजा ने अपनी आज्ञा का खण्डन करने के कारण क्रोधित होते हुए किसी ग्राम को जला डालने के लिए अपने उन चारों सेवकों को आदेश दिया। अतः वे सेवक सन्ध्या के समय उस ग्राम में पहुँचे। पर उनका हृदय दया से आर्द्र हो गया। अतः उन्होंने परस्पर विचार किया–''पशु, बालक, स्त्री, ब्राह्मण व तपस्वियों से युक्त इस ग्राम को अगर हम जलायेंगे, तो हमें नरक में जाने जितना पाप लगेगा और अगर नहीं जलायेंगे, तो राजाज्ञा का उल्लंघन होगा। अहो! एक तरफ बाघ और दूसरी तरफ नदी के समान कष्ट हम पर आ पड़ा है। जो अपनी उदर–पूर्त्ति के लिए पापकर्म करके अपनी आत्मा को नरक में ले जाते हैं, उन अधम भृत्यों को धिक्कार है! धिक्कार है! वे उस नरक में असंख्य वर्षों तक दुःसह दुःखों को सहन करते हैं और इस लोक में भी पग–पग पर अपकीर्त्ति और अकालमृत्यु आदि कष्टों को प्राप्त करते हैं। वन के फल खाकर अपनी आजीविका चलाना अच्छा है, धर्मिष्ठ व्यक्ति के यहां दास के रूप में कार्य करना भी अच्छा है, पर दुरन्त पाप के स्थान रूपी राजा की सेवा करना ठीक नहीं है।''

इस प्रकार विचार करके उन्होंने ग्राम की सीमा के पास धान के ढ़ेर और घास के पुलों का ढ़ेर करके उसमें आग लगा दी। प्रत्येक प्राणी को स्वकर्मानुसार लेश्या होती है। फिर ग्राम के दरवाजे पर जलाने का चिह्न बनाकर वे अपने–अपने घर चले गये। उस धान्य के ढ़ेर के भीतर कोई किसान भयभीत बनकर छिपा हुआ बैठा था। वह उस ढ़ेर के साथ जल गया और मरकर वहीं वटवृक्ष के ऊपर व्यन्तर देव के रूप में उत्पन्न हुआ। जो अग्नि आदि के कारण मरता है, प्रायः उसकी गति व्यन्तरादि देवों में होती है।

उधर वे चार क्षत्रिय राजसेवक करुणामय अध्यवसायों के कारण मरकर राजपुत्र, मंत्रीपुत्र, श्रेष्ठीपुत्र और आरक्षक पुत्र बने हैं। उन्हें इस वटवृक्ष के पास आया हुआ देखकर द्वेषबुद्धि से वह व्यन्तर अत्यन्त कुपित हुआ। वह विचार करने लगा–''इन व्यक्तियों ने मुझे पूर्वभव में बिना किसी कारण के जला कर मार डाला था। अतः ये सभी अपने आप ही मरण

को प्राप्त हो जायं, मैं ऐसा कुछ करुं।''

इस प्रकार दुष्ट बुद्धि से विचार करके वह व्यन्तर स्वयं स्वर्णपुरुष के रूप में प्रत्येक प्रहर में नीचे गिरा। इस व्यन्तर की मूर्खता को धिक्कार है! कि पूर्व में उन व्यक्तियों ने इस पर जरा भी द्रोह नहीं किया था, फिर भी इसने वृथा ही उन पर द्रोह किया। उन्होंने पूर्वभव में इसको जानबूझकर या द्वेषवश नहीं जलाया था। पर इस पिशाच की माया के कारण ये चारों कुमार लोभ रूपी महापिशाच के द्वारा व्याकुल चित्तवाले होकर परस्पर एक–दूसरे की घात कर बैठे। इस प्रकार बदला लेकर वह व्यन्तर प्रसन्न हो गया, क्योंकि मनुष्यों के तो प्राण जाते हैं और व्यन्तरों के लिए यह क्रीड़ा होती है। हे शिष्य! इस प्रकार सकल विश्व क्रोध, लोभादि के द्वारा क्लेश को प्राप्त होता है।''

इस प्रकार परस्पर शंका–समाधान करके वे दोनों मुनि आगे बढ़ गये।

हे राजा! इस प्रकार वैभव के लोभ में अन्धा हुआ प्राणी इस भव में मरणादि अनेक अनर्थों को प्राप्त होता है और मरण के बाद भी दुर्गति को ही प्राप्त करता है। अगर सन्तोष से तृप्त हुए पण्डित पुरुष विधि के अनुसार धन का धर्ममार्ग में उपयोग करते हैं, तो वह धन सुखकारक भी बन सकता है।

संक्षेप में कहा जाय, तो जिसके साथ धर्म का संबंध हो, वे सभी वस्तुएँ सुखदायक ही होती हैं और जिसके साथ धर्म का दूर–दूर तक नाता न हो, वे सभी कष्टदायक होती हैं। जिस प्रकार लता की वृद्धि का कारण वृष्टि है, उसी प्रकार यह धर्म ही [1]अन्वय और [2]व्यतिरेक रूप से सर्व सुख और समृद्धि का कारण है।

इस प्रकार गाय के दूध की तरह मधुर श्रीगुरुदेव की देशना का आस्वादन करके राजादि सर्वजनों का संताप दूर हुआ और सभी अत्यन्त आनंद को प्राप्त हुए। उसके बाद राजा ने श्रीगुरुदेव से पूछा–''हे प्रभु! उन चार सेवकों ने राजा की आज्ञा से अनजानपने में एक मनुष्य का घात किया और उन्हें जो इस प्रकार का फल प्राप्त हुआ, तो निरन्तर सैकड़ों निरपराधी प्राणियों का नाश करनेवाले हम जैसों की क्या गति होगी? हमें तो सातवीं नरक में भी जगह नहीं मिलेगी।''

गुरुदेव ने फरमाया–''हे राजन्! तुम्हारा कथन यथार्थ है। पूर्वोपार्जित कर्मों का ऐसा ही दुष्ट उदय होता है। वध, बंध, छेदादि द्वारा जो–जो कर्म पूर्व में उपार्जित किया हो, उसका विपाक जघन्य से भी दसगुणा ज्यादा होता है–ऐसा सिद्धान्त में कहा गया है। इस विषय

---

1. जिसके होने पर जो होता है, वह अन्वय कहलाता है। जैसे धूम के होने पर अग्नि का होना।
2. जिसके न होने पर जो न हो, वह व्यतिरेक कहलाता है। जैसे अग्नि न हो, तो धूम भी नहीं होता।

में कहा है कि:–

वहमारणअब्भक्खाणदाणपरधनविलोवणाईण।
सव्वजहन्नो उदओ दसगुणिओ इक्कसि कयाणं।।1।।
तिव्वयरे अ पओसे समगुणिओ सयसहस्सकोडिगुणो।
कोडाकोडिगुणो वा हुज्ज विवागो बहुतरो य।।2।।

भावार्थ :–वध, मारण, अभ्याख्यान देना और पर के धन का हरण करना–ये कर्म अगर एक भी बार किये हों, तो भी इनका विपाक जघन्य से जघन्य भी दसगुणा होता है। अगर यही कर्म द्वेष से किये हों, तो उसका विपाक सौगुणा, हजारगुणा, लाखगुणा, कोटिगुणा अथवा कोटाकोटि गुणा होता है अथवा इससे भी ज्यादा हो सकता है।

उफान पर आया हुआ समुद्र भी कदाचित् भुजाओं के द्वारा रोका जा सकता है, पर पूर्वोपार्जित कर्मों का उदय आय, तो उसे रोका नहीं जा सकता। फिर भी अगर सर्व आश्रव द्वारों का रुंधन करके तीव्र तपश्चर्या की जाय, तो मर्मस्थान का वेधन करनेवाले कर्मों का भी क्षय अवश्य ही होता है। इस विषय में कहा है कि :–

पुव्विं दुच्चिन्नाणं दुप्पडिक्कंताणं वेअइत्ता मुक्खो, नत्थि अवेअइत्ता तवसा वा झोसइत्ता''

पूर्वकृत दुष्ट आचरण के द्वारा अर्जित कर्मों का जिसने प्रतिक्रमण न किया हो, वे कर्म वेदन के द्वारा ही आत्मा से दूर होते हैं, उन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं है या फिर तपस्या द्वारा ही उन कर्मों को दूर किया जा सकता है।''

यह सुनकर विषयों से विरक्त हुए राजा ने कहा–''हे स्वामी! कर्म के मर्म का नाश करने के लिए मुझे प्रव्रज्या प्रदान करें।''

तब गुरुदेवश्री ने भी कहा–''इस कार्य में तुम विलम्ब मत करो, क्योंकि पुण्यकार्य में अत्यधिक विघ्न उपस्थित होते हैं। अतः उसमें प्रमाद करना उचित नहीं है।''

मेघनाद कुमार भी कर्म के विपाक से भयभीत हुआ। अतः उसने भी श्रीगुरुदेव के पास चारित्र की याचना की। कौन बुद्धिमान भव से भीरु नहीं होगा? फिर श्रीगुरुदेव ने फरमाया–''हे कुमार! तुम्हारे भोगफल से युक्त निकाचित कर्म अवशेष है। अतः अभी तुम्हारे द्वारा चारित्र ग्रहण कर पाना उचित नहीं है। उस कर्मविपाक के कारण देवों को भी दुर्लभ अविनाशी भोग तुम्हें एक लाख वर्ष तक अवश्य ही भोगना है।''

कुमार ने कहा–''विष के समान ऐसे भोग किस काम के हैं? कि जिनको भोगने से प्राणी परिणामस्वरूप विपत्ति को ही प्राप्त होते हैं।''

श्रीगुरुदेव ने फरमाया–"हे कुमार! तुम्हारा कथन यथार्थ है। पर जिस प्रकार अशुभ कर्म भोगे बिना क्षीण नहीं होता, उसी प्रकार शुभ कर्म भी भोगे बिना क्षीण नहीं होता। अशुभ कर्म लोहे की बेड़ी के समान है और शुभ कर्म स्वर्ण की बेड़ी के समान है। अतः ये दोनों ही बेड़ियाँ किसे मोक्ष में जाने से नहीं रोकती? एक लाख वर्ष के बाद कर्मक्षय होने से तुझे चारित्र की प्राप्ति होगी और तुम इसी भव में मोक्ष प्राप्त करोगे। उतने समय तक तुम यथायोग्य विधि के अनुसार श्रावक धर्म का पालन करो। इससे तुम्हारे कितने ही कर्मों की निर्जरा होगी।"

यह श्रवणकर हर्षित होते हुए कुमार ने अपनी पत्नियों के साथ बारह व्रत अंगीकार किये और विस्तारयुक्त श्राद्धधर्म ग्रहण किया। फिर चारित्र ग्रहण करने के लिए उत्सुक राजा नगर की तरफ चला। विशाल महोत्सवपूर्वक **मेघनाद कुमार** का नगर–प्रवेश करवाया। फिर शुभ बुद्धि से युक्त राजा ने कुमार को राज्यभार देकर स्वयं गुरुमुख से चारित्र ग्रहण किया और तपश्चर्या के द्वारा कर्मक्षय करते हुए अनुक्रम से सद्गति को प्राप्त हुए।

उसके बाद जैसे इन्द्र स्वर्ग के राज्य को भोगता है, वैसे ही **मेघनाद राजा** पृथ्वी पर पूर्व पुण्य के प्रभाव से प्राप्त साम्राज्य को भोगने लगा। चिन्तामणि रत्न की तरह वह रत्नकटौरा उसे हमेशा रत्न व सुवर्ण के बाजुबंध, कुंडलादि आभरण, उत्तम शय्या, आसन, रेशमी वस्त्रादि दिव्य पदार्थ इच्छानुसार देता था। वह राजा **मेघनाद मदनमंजरी** के साथ हमेशा उस कटौरे द्वारा प्रदत्त नये–नये दिव्य भोगों को **शालिभद्र** की तरह भोगने लगा। वह दातार सदा दीन–अनाथादि को दान देने में दस करोड़ स्वर्णमुद्रा का व्यय करता था। सत्पुरुषों की उदारता अद्भुत होती है। उस राजा ने पृथ्वी रूपी स्त्री के हार की तरह स्वर्ण, रजतादि के हजारों चैत्य बनवाये, क्योंकि इन्हीं कार्यों से लक्ष्मी सफल होती है। उन चैत्यों में उसने स्वर्णादि की करोड़ों जिनप्रतिमाएँ बनवाकर स्थापित करवायीं। जिनप्रतिमा करवाना सम्यक्त्व–प्राप्ति का मुख्य–बीज कारण है। फिर उन चैत्यों में वह विशाल महोत्सवपूर्वक स्नात्रादि पूजा करवाने लगा, क्योंकि शासन की प्रभावना सम्यक्त्व का महान भूषण–अलंकार है। वह राजा हर वर्ष तीर्थयात्रा और रथयात्रा आदि बड़े–बड़े अद्भुत उत्सव करता था। सत्पुरुषों को सत्कृत्यों में तृप्ति नहीं होती। इस राजा ने कर माफ कर दिया और इच्छित द्रव्य दान देने से कितने ही साधर्मिकों को लखपति व करोड़पति बना दिया। प्रतिमास वह राजा एक लाख साधर्मिकों को भोजन करवाता था और प्रतिवर्ष करोड़ों साधर्मिकों भोजन करवाता था। वास्तव में सत्पुरुषों को साधर्मिकों का पोषण करना चाहिए। उन सभी को भोजन करवाकर वह राजा हर्षित होकर सुन्दर वस्त्रादि भी उपहार में प्रदान करता था, क्योंकि साधर्मिकों का सत्कार करना परलोक का भाता है। वह हमेशा तीनों काल में अरिहंत

की पूजा करता था, क्योंकि पूजा कल्याणकारक मोक्षलक्ष्मी की विश्रामभूमि है। हमेशा दोनों समय हजारों राजाओं सहित वह आवश्यक क्रिया करता था, क्योंकि यह क्रिया अनेक पापों का हनन करनेवाली है। वह पर्वदिवसों पर तीन हजार राजाओं सहित पौषधव्रत ग्रहण करता था। सत्पुरुषों को पर्वकृत्य का त्याग करना उचित नहीं है। इस प्रकार धर्माराधन करने से उसका राज्य अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त हुआ। धर्म वृष्टि के समान ऋद्धि रूपी लता की वृद्धि के लिए ही है। इन्द्र के सामानिक देवों की तरह हजार से भी ज्यादा **मुकुटबद्ध** राजा **मेघनाद** राजा की सेवा में रहते थे। वह 50 करोड़ ग्रामों के आधिपत्य को भोगता था। 32 हजार नगरों का वह स्वामी था। उसके पास 20 लाख हाथी, 20 लाख घोड़े व 20 लाख रथ थे। 40 करोड़ पदाति सेना का वह स्वामी था। इस प्रकार एक लाख वर्ष उसने निष्कंटक रूप से राज्य किया। जहां पुण्य रक्षा करनेवाला हो, वहां कौन विघ्न उपस्थित कर सकता है?

एक बार **पार्श्वदेव** नामक ज्ञानी गुरु महाराज वहां पधारे। राजा ने परिवार सहित जाकर उन्हें भक्तिपूर्वक वन्दन नमस्कार किया। उसके बाद उनकी अमृतमयी देशना सुनकर राजा हृष्ट–पुष्ट हुआ। निर्मल बुद्धि से युक्त उस राजा ने गुरुदेव से पूछा–"हे पूज्य! पूर्वजन्म में मैंने ऐसा कौनसा पुण्य किया था, जिससे इस प्रकार की राज्यलक्ष्मी और चिन्तामणि रत्न के समान मनोवांछित प्रदान करनेवाला रत्नकटौरा मुझे प्राप्त हुआ?"

तब मुनीश्वर ने कहा–"**भरतक्षेत्र** के भूषण रूप **शौर्यपुर** में **भीम** नामक एक वणिक रहता था। वह बोझा ढोने का कार्य करता था और कृपण पुरुषों का नायक था। गृहस्थों के सामान को इधर से उधर ढोते हुए वह कुछ–कुछ धनोपार्जन कर लेता था। मनुष्यों की उदरपूर्त्ति दुःखपूर्वक ही होती है। वह तुच्छबुद्धियुक्त था, अतः धनसंचय की लालसा से थोड़ा भोजन ही पकाता था। वह तेल और अनाज का भोजन दिन में एक बार ही करता था। उसकी कृपणता का ज्यादा वर्णन क्या किया जाय? संक्षेप में कहा जाय, तो एक–एक मोटे वस्त्र से वह पाँच–पाँच वर्ष तक निर्वाह कर लेता था। अपने कुटुम्ब का भी वह इसी तरह पोषण करता था। वह कृपण अपने स्वजनों के छोटे से छोटे उत्सव में भी नहीं जाता था। लोभी मनुष्य में उचितता कहां से हो? धनोपार्जन में व्यग्रता और खर्च के भय से वह कभी भी धर्म का श्रवण भी नहीं करता था, तो फिर धर्म के अनुष्ठान का तो कहना ही क्या? निरन्तर त्रास को प्राप्त वह कभी भी देव–मन्दिर या धर्म–मन्दिर में उसी प्रकार प्रवेश नहीं करता था, जैसे वन का पशु नगर में प्रवेश नहीं करता। केवल भारवहन आदि कुकर्म ही वह किया करता था। इस प्रकार करते हुए उसने एक लाख रूपयों का उपार्जन किया। अहो! लक्ष्मी प्राप्त करने की निपुणता को धिक्कार है!

उस भीम के अपने ही गुणों के सदृश एक पुत्र हुआ। कार्य कारण के अनुकूल ही होता है। अतः वह पुत्र भी पिता के समान प्रकृति को ही प्राप्त था। उसकी प्रवृत्ति अपने मनोनुकूल देखकर भीम अत्यन्त उल्लसित होता था। प्रायः अपने समान गुणों को अपनी सन्तान में देखकर माता–पिता आनन्दित ही होते हैं।

एक बार अपने अन्तिम समय को प्राप्त होने पर पिता ने पुत्र से कहा–"हे पुत्र! भारवहनादि महान क्लेश करके मैंने लाख रूपये इकट्ठे किये हैं। उन्हें निधान के रूप में स्थापित करके मेरी तरह आजीविका में तुम तत्पर रहना। तूं स्वयं भी नवीन द्रव्य उपार्जित करके उसका [1]योग–[2]क्षेम करना।"

उसके बाद भीम की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र भी भारवहन का कार्य करने लगा। उसकी कृपणता पिता की अपेक्षा थोड़ी–बहुत भी कम नहीं थी। उसने भी अनुक्रम से लक्ष द्रव्य का उपार्जन किया। अपनी मृत्यु के समय उसने भी अपने पुत्र को वही शिक्षा दी, जो उसे उसके पिता ने दी थी। वह पुत्र भी अपने पिता से दुगुना कृपण था, अतः उसने अपने पिता को लज्जित नहीं किया। शुभ लक्षण रहित उसने भी उसी प्रकार एक लाख द्रव्य का उपार्जन किया। तीन लाख द्रव्य निधान में छोड़कर वह भी समयानुसार मरण को प्राप्त हुआ। उसके **धनराज** नामक पुत्र था। वह भी अपने पूर्वजों से ज्यादा कृपण था। अतः वह भी अपने कुलाचार में तत्पर हुआ।

उसके प्रशस्त गुणवाली **धन्या** नामक पत्नी थी। वह धर्म व उदारता के गुणों से शोभित थी। बगुले के पास राजहँस की तरह, कांच के पास नीलमणि की तरह और निर्भागी के पास लक्ष्मी की तरह उस **धनराज** के पास वह धन्या शोभित होती थी। अहो! विधाता की कितनी निःसीम अविवेकिता! कि जिसने ऐसे अधम पुरुष के साथ ऐसी उत्तम स्त्री का समागम करवाया अथवा तो इस **धनराज** का पूर्वकृत सौभाग्य उदय में आया था, जिससे कि उसके घर को अलंकृत करनेवाली ऐसी सन्नारी रूपी गृहिणी मिली थी।

वह **धनराज** तीन लाख सोनैया का स्वामी होने के बावजूद भी स्वयं निर्धन की तरह निरन्तर निन्दित कार्य (मजूरी) किया करता था। धनिक के उस धन को धिक्कार है! साधु, बंधु, गुरु व देव वर्ग की और तो वह देखता भी नहीं था, तो उनका सत्कार करना तो बहुत दूर की बात थी। कुकर्म करने में सजग और धर्म से पराङ्मुख अपने पति को देखकर वह पतिभक्ता सन्नारी धन्या अत्यन्त खिन्न होती थी।

---

1. अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति योग कहलाती है।
2. प्राप्त वस्तु का रक्षण करना क्षेम कहलाता है।

एक बार किसी अवसर पर विशाल बुद्धि से युक्त धन्या ने अपने पति से कहा–"हे स्वामी! रंक मनुष्य की तरह ऐसे कुकर्म करते हुए आपको लज्जा नहीं आती? लोभ के कारण आपकी बुद्धि अंधी हो गयी है, जिससे कि भारवहन करते हुए आपको रात और दिन का पता ही नहीं चलता। हमारे घर में आपके द्वारा और आपके पूर्वजों द्वारा उपार्जित पुष्कल धन है, उसमें से भोग के लिए या दान के लिए आप जरा भी खर्च नहीं करते और इतना कष्ट उठाते हैं, वह किसलिए? तृष्णा से पीड़ित आपके सभी पूर्वज महाकष्ट से धन कमाकर और निधान में स्थापित करके उस धन को यहीं छोड़कर परलोक में चले गये। उन्हें क्या मिला? आप भी थोड़े ही दिनों में उन्हीं की स्थिति को प्राप्त करके उनके ही मार्ग पर जानेवाले हैं। अतः आपके इस धन और इस जीवन को धिक्कार है! और हे प्रिय! आज आपके मुख पर अचानक यह श्यामत्व क्यों दिखायी देता है? आप बार–बार उष्ण व दीर्घ निःश्वासें क्यों छोड़ रहे हैं? क्या आपको कोई व्याधि बाधित कर रही है? या आपके कार्य में कोई हानि हुई है? या आपके निधान में लक्ष्मी का नाश हुआ है? या आपका कहीं कोई अपमान हुआ है?"

यह सुनकर **धनराज** ने कहा–"हे प्रिये! तुमने जो कुछ भी कहा है, उनमें से कोई भी बात मेरे दुःख का कारण नहीं है। पर आज तुमने ब्राह्मण को जो एक मुट्ठी चने दिये हैं, उसे देखकर मैं वज्र से आहत की तरह पीड़ित हुआ हूं, क्योंकि धन का व्यय मुझे दुःखित करता है। इतना दुःख तो मुझे मेरी मृत्यु समीप आने पर भी नहीं होगा। धन ही मनुष्य की बुद्धि है, धन ही सिद्धि है, धन ही रक्षक है, धन ही गति है, धन ही कीर्त्ति है, धन ही स्फूर्त्ति–उत्साह है और धन ही मनुष्यों का जीवन है। हे मुग्धे! तुम इस प्रकार धन का वृथा उपयोग करोगी, तो जैसे ईलि धान्य का नाश करती है, वैसे ही तुम भी एक दिन पूर्वजों द्वारा संचित इस धन का सर्वनाश कर दोगी।"

अपने पति के इस प्रकार के वचनों का श्रवण करके उसकी अमाप कृपणता को जानते हुए पति के चित्त का अनुसरण करनेवाली उस चतुर सन्नारी ने अपने पति से कहा–"हे स्वामी! आज के बाद मैं इस प्रकार का कोई खर्च नहीं करूंगी, जिससे आपको किसी भी प्रकार की पीड़ा हो। पतिव्रता पत्नी तो पति को जो इष्ट हो, वही कार्य करती है। पर जिसमें कुछ भी खर्च न हो, ऐसा कोई सुकृत आप करें, जिससे आपको इस भव में विशाल कीर्त्ति और परभव में अच्छी गति प्राप्त हो। आप जिनेश्वर को नमस्कार करें, साधुओं–गुरुओं को नमस्कार करें, उनके मुख से धर्म का श्रवण करें। ऐसे धर्मकार्यों में जरा भी धन का व्यय नहीं करना पड़ता।"

यह सुनकर उस नीच बुद्धियुक्त धनराज ने कहा–"अगर मैं मुनियों को वंदन करूंगा, तो वे वाचाल मुनि परिचित हो जाने से मुझे ठगने लगेंगे। वे कहेंगे कि जिनेश्वर के चैत्य

बनवाओ, उनमें जिनेश्वरों की प्रतिमा की स्थापना करवाओ, चार प्रकार के संघ की पूजा करो, जिनप्रतिमा की पूजा करो, मुनियों को आहारादि के द्वारा प्रतिलाभित करो, दीनों को दान दो, तीर्थयात्रा करना, पुस्तकें लिखवाओ, ऐसे कार्यों में खर्च किया हुआ धन इस भव में कीर्त्ति आदि का कारण होता है और परभव में स्वर्ग तथा मोक्ष की लक्ष्मी प्राप्त करने में कारणभूत होता है। इस प्रकार ठगने में कुशल वे मुनि चतुर वचनों के द्वारा मुझे ठगकर मुझसे खर्च करवायेंगे और थोड़े ही समय में मेरा धन खत्म करवा देंगे। पर जिनेश्वर देव को वंदन करने से वे कुछ भी पंचायती नहीं करेंगे। अतः तेरे वचनों का मान रखते हुए मैं हमेशा चैत्य में जिनेश्वरों को नमस्कार करके बाद में भोजन करूंगा। यह मेरा जिन्दगी–भर का प्रण है, जो मेरे लिए कल्याण रूप बने। इसमें धन का कोई व्यय नहीं है और तुम भी खुश हो जाओगी।''

यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होते हुए धन्या ने कहा–''इस सम्यग् धर्म के कारण आपको तत्काल अद्‌भुत सम्पत्ति की प्राप्ति होगी।''

इस प्रकार वचनों के द्वारा उत्साहित करने के कारण वह धनराज भी अपने नियम का दृढ़ता के साथ पालन करने लगा। **जिसका कल्याण निकट भविष्य में हो, उसकी ही धर्म में दृढ़ मति उत्पन्न होती है।** धन्या भी अपने पति की सहमति द्वारा धर्म–कर्म करने लगी। जो स्त्री पति के चित्त का अनुसरण करती है, वही पतिव्रता कहलाती है। इस प्रकार उन दोनों पति–पत्नी का कितना ही समय सुखपूर्वक व्यतीत हुआ, क्योंकि परस्पर चित्त का अनुसरण करनेवाले दम्पति ही सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

एक बार मध्याह्न के समय मस्तक पर से भार उतारकर तुरन्त ही पानी के व्यय से भी भयभीत होता हुआ धनराज हाथ–पैर धोये बिना ही भोजन करने के लिए बैठ गया। भूख के कारण जिसका उदर अत्यन्त कृश प्रतीत होता था, उसे उसकी पत्नी धन्या ने कृपणता की मूरत के समान बनते हुए उसे तेल–सहित खिचड़ी परोसी। वह जब अपने हाथ से खिचड़ी को मिलाते हुए कौर लेने लगा, तभी उसे अपने नियम की याद आयी। अतः उसने अपनी प्रिया से कहा–''हे प्रिये! मैंने आज जिनेश्वर को नमन नहीं किया। अतः पहले मैं उन्हें नमन करने के लिए जाता हूं, क्योंकि यह तो मेरा नियम है। पर मेरे इस हाथ को तूं वस्त्र के द्वारा ढ़क दे, जिससे मुझे लज्जा न आये। अगर मैं हाथ को धोकर जाऊँगा, तो इसमें लगी हुई इतनी खिचड़ी बेकार हो जायगी।''

यह सुनकर धन्या ने हर्षित होते हुए विचार किया–''अहो! मेरे पति को जिनेश्वर के प्रति कैसी निष्काम भक्ति है! जिससे कि क्षुधातुर होते हुए भी परोसी हुई थाली को छोड़कर भी जिनेश्वर को याद किया है। पर इसके साथ ही पूर्वकर्म से प्राप्त इनकी यह कृपणता भी

सीमातीत है, कि हाथ में लगे हुए जरा से अन्न के नाश से भी भय को प्राप्त होते हैं। फिर भी नियम रूपी डोरे से बंधे हुए मेरे पति इस अवस्था (खिचड़ी से सड़े हुए हाथों के साथ) में भी अगर जिनालय जायंगे, तो जिनेश्वर की भक्ति से अभिभूत चैत्य का अधिष्ठायक देव कदाचित् इन पर खुश हो जाय, क्योंकि आज मैंने स्वप्न में उस अधिष्ठायक देव को अत्यन्त प्रसन्न रूप में देखा है। जिनेश्वर देव को किया हुआ एक बार का नमन भी सर्व अर्थ की सिद्धि करनेवाला होता है, भक्तिपूर्वक किया हुआ नियमित नमस्कार वांछित की सिद्धि करे, तो इसमें कैसा आश्चर्य? अतः भले ही मेरे पति इसी रूप में क्यों न जायं?''

इस प्रकार का निश्चय करके सत्य बुद्धियुक्त उस धन्या ने मानो कृपणता को ढ़कने का प्रयास किया हो, इस प्रकार उसके हाथ को वस्त्र से ढ़क दिया। फिर कहा–''अगर चैत्य में कोई आपसे कुछ भी कहे, तो आप मुझे पूछकर ही उत्तर देना।''

उसने भी कहा–''बहुत अच्छा।''

ऐसा कहकर उसी अवस्था में चैत्य में जाकर जिनेश्वर को नमन किया और अपने अशुभ कर्मों को भी नमाया अर्थात् उनका नाश किया। नमन करके जब वह वापस लौटने लगा, तभी उसकी भक्ति से चमत्कृत होते हुए उस चैत्य की रक्षा करनेवाले देव ने प्रकट होकर कहा–''मैं इस चैत्य का अधिष्ठायक देव हूं। तुम्हारे नियम की दृढ़ता से मैं तुझ पर प्रसन्न हुआ हूं। तुझे जो मांगना हो, मांग लो।''

धनराज ने कहा–''मैं अपनी प्रिया से पूछकर आता हूं, तब तक तुम यहीं रहना।''

देव ने कहा–''हे वत्स! तुम जाओ। पर वापस जल्दी आना। तुम्हारे वापस लौटने तक मैं यहीं रहूंगा।''

तब धनराज प्रसन्न होता हुआ जल्दी से घर पहुँचा और अपनी प्रिया से कहा–''हे प्रिये! आज जिनराज मुझ पर प्रसन्न हुए हैं। अतः उनके पास क्या मांगूं?''

यह सुनकर धन्या ने कहा–''हे नाथ! हमारे सर्व मनोरथ सिद्ध हो गये हैं। स्पष्ट रूप से आठों सिद्धियाँ आपकी इस प्रतिज्ञा के द्वारा आपके वश में हो गयी हैं। आपने तीनों लोकों के ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया है और यह भी समझ लें कि मोक्ष लक्ष्मी भी हमारे हाथ में आ गयी है। अब आप शीघ्र ही जाकर उनसे यह वरदान मांगें कि हे प्रभु! मेरे पाप रूपी अन्धकार को दूर करें, जिससे मैं निरन्तर विवेक से युक्त बनूं, क्योंकि एकमात्र विवेक ही समस्त गुणों का नायक है और इस भव व परभव में लौकिक सम्पदा के संकेत का स्थान रूप है।''

यह सुनकर धनराज वापस चैत्य में लौटा और देव से वैसा ही वर मांगा। **जिसका**

भविष्य उज्ज्वल व शुभ बननेवाला हो, वही दूसरों की कही हुई हितशिक्षा को मानता है।

"आज से तेरे पाप रूपी यामिक दूर हुए"–यह कहकर देव अदृश्य हो गया। उसके बाद वह अपने घर आया। तुरन्त ही अन्न की अशुचि से युक्त हाथ को देखकर विवेक जागृत हो जाने के कारण मन ही मन उस गन्दगी की निन्दा करते हुए वह अपनी पत्नी से कहने लगा–"गर्म पानी लेकर आ, ताकि मैं अपने हाथ को धो सकूं। ऐसे हाथ को देखकर मेरे मन में दुगुंछा उत्पन्न होती है।"

यह सुनकर पत्नी ने विचार किया–"अब इनके विवेक रूपी सूर्य का उदय होनेवाला ही है, क्योंकि इनके प्रकाश का अरुणोदय हो चुका है। आज इन्हें हाथ धोना उचित लग रहा है, जो पूर्व में कभी भी इन्हें उचित नहीं लगा। निश्चित ही इनके पाप रूपी यामिकों का जल्दी ही नाश हो रहा है, क्योंकि अगर वे हाजिर होते, तो कभी भी ऐसी बुद्धि इनमें प्रकट नहीं हो सकती थी।"

इस प्रकार सोचकर उल्लसित होते हुए उसने अपने पति को हाथ धोने के लिए गरम पानी दिया। हाथ धोकर धर्मबुद्धि को प्राप्त वह धनराज भोजन करने के लिए बैठा। केवल भोजन करके ही वह तृप्त नहीं हुआ, बल्कि धन की तृष्णा शान्त हो जाने से सन्तोष रूपी अमृत के द्वारा भी वह तृप्त हुआ। फिर उसने विचार किया–"अहो! दान और भोग के बिना मेरा धन इतने दिनों तक वनमालती के पुष्पों की तरह निष्फल ही हुआ।"

ऐसा विचार करते हुए रात्रि हो जाने से वह सो गया। प्रातःकाल द्रव्य और भाव से जागृत उस धनराज ने अरिहन्त व गुरुदेवादि को प्रणामादि करने का प्रभात–कृत्य किया। मध्याह्न होने पर उसने गर्म सुगन्धित जल के द्वारा मानो कृपणता से प्राप्त अपयश को दूर करने के लिए स्नान किया। फिर पुण्य की वासना से युक्त अन्तःकरण में उदय को प्राप्त सद्बोध रूपी चन्द्र से प्रसृत किरणें हों, इस प्रकार से धोये हुए उज्ज्वल वस्त्र धारण किये। मोक्षपुरी में जाने के लिए मानो प्रस्थान साधता हो, उस प्रकार से हाथ में पूजा की सामग्री लेकर जिनचैत्य में गया। उदार बुद्धि व अत्यन्त हर्ष से युक्त उत्तम सुगन्धित कपूर व चन्दन को घिसने लगा। मानो अपने पाप को ही घिस रहा हो, इस प्रकार शोभित होने लगा। स्नात्र करने की इच्छा से उसने जिनेश्वर के अंग पर रहे हुए निर्माल्य को दूर किया और साथ ही अपने शरीर में रहे हुए दुर्भाग्य को भी दूर किया। शुद्ध जल के द्वारा केवल जिनेश्वर भगवन्त को ही स्नान नहीं करवाया, बल्कि पाप रूपी पंक को दूर करने के लिए अपनी आत्मा को भी स्नान करवाया। फिर जिनेश्वर के शरीर को सूक्ष्म वस्त्र के द्वारा कोरा किया और अपने चित्त को प्रकट भक्तिरस के द्वारा आर्द्र किया। भक्तिपूर्वक सुगन्धित चन्दन के द्वारा केवल

मात्र जिनेश्वर का ही तिलक नहीं किया, बल्कि अपने वंश को भी यश रूपी तिलक लगाया। अरिहंत के गले में उसने अनुपम, निर्मल और नवीन कुसुमों की माला का आरोपण करके मानो अपने हृदय में गुणों की माला की स्थापना की। मणिरचित सारभूत अलंकारों के समूह द्वारा जिनेश्वर देव का शृंगार करके मानो उसने अपनी आत्मा का उज्ज्वल विवेक के द्वारा शृंगार किया। उसने जिनेश्वर के पास देदीप्यमान उत्तम रत्नमय दीपक को प्रज्ज्वलित करके मानो अपने हृदय में ज्ञान रूपी दीप को प्रकट किया। पुण्य की खेती करने के लिए मानो बीज बो रहा हो, इस प्रकार उसने जिनेश्वर के पास चावल बिखेरे। उसने अरिहन्त को उत्कृष्ट स्वादिष्ट फल भेंट करके अपनी आत्मा को स्वर्ग–मोक्षादि फल भेंट किये। निर्मल बुद्धियुक्त उसने तुरन्त का निर्मित मनोहर और स्वादिष्ट नैवेद्य स्थापित किया और उसके साथ अपनी आत्मा में सम्यक्त्व को स्थापित किया। उसने कालागुरु की धूप के द्वारा जिनगृह को सुवासित करके अपनी कीर्त्ति रूपी कपूर के समूह से चारों तरफ पृथ्वीतल को सुवासित किया। जन्म के साथ ही जिसने पूजा की विधि जान ली हो, इस प्रकार निष्कपट बुद्धि से युक्त उसने जिनराज की आरती उतारी और अपने वंश को शोभित किया। फिर उसने कल्याणमय मंगल दीपक उतारकर मानो अपनी आत्मा को भवसागर से पार उतारा। भक्तिरस से युक्त स्तोत्रों द्वारा भावपूर्वक उसने जिनस्तुति की और उसके गुणों से अनुरंजित चित्तवाले सभी पुरजनों ने उसकी स्तुति की। इस प्रकार विचारवान वह जिनेश्वर की पूजा करके घर पर आया और विवेकीजनों की पंक्ति में अग्रिम स्थान को हासिल किया। फिर उसने अतिथियों का उत्तम आतिथ्य किया, क्योंकि विवेकीजन अतिथि– संविभाग के बिना भोजन नहीं करते। फिर वृद्धजनों की सारादि करते हुए स्वयं भोजन करने के लिए बैठा, क्योंकि सत्पुरुष भोजन के समय केवल पेट भरनेवाले ही नहीं होते। उसके दानान्तराय, भोगान्तरायादि पाप–यामिक देव की कृपा से दूर हो चुके थे, इसी कारण से दान और भोग के विषय में उसकी ऐसी शुद्ध बुद्धि उत्पन्न हुई थी। जब तक रात्रि का घोर अन्धकार हो, तब तक प्रकाश कैसे प्रकट हो सकता है?

उसकी प्रिया ने विचार किया–"अहो! जन्म से लेकर आज तक जिसे विवेक का जरा भी अभ्यास न था, उसे आज इतनी जल्दी और अद्‌भुत विवेक प्राप्त हुआ है। निश्चय ही अब हमारा भाग्य पुण्य के शिखर पर पहुँच गया प्रतीत होता है। उसी का यह फल प्राप्त हुआ है।"

इस विचार से आनन्दित होते हुए उसकी प्रिया ने उसे उत्तम भोजन परोसा, जिसे उसने व उसके पूर्वजों ने कभी चखा ही नहीं था। चपलता–रहित व मौनपूर्वक उसने रुचि के अनुसार परिमित भोजन किया। विवेकी पुरुष ही सम्यग् प्रकार से भोजन करने का उद्यम

करते हैं। फिर जल के आचमन द्वारा उसने अच्छी तरह से बाह्य शुद्धि की और क्रोधादिक दोष रूपी मल के त्याग के द्वारा आभ्यान्तर शुद्धि भी की। उसने ताम्बूलादि के द्वारा ही अपने मुख को शोभित नहीं किया, बल्कि विस्तृत, अनेक रसों से युक्त व शोभित सूक्तियों के द्वारा भी अपने मुख यानि वाणी को शोभित किया। निरन्तर भारवहनादि कार्यों को करने से मानो अत्यधिक थकान का अनुभव कर रहा हो, इस प्रकार उदार मन से वह क्षणवार सुखशय्या में विश्रान्ति लेने लगा। फिर उसने मात्र न्याययुक्त व्यापार द्वारा ही धन का चिंतवन किया और इसी के साथ उसने सद्बुद्धि के साथ धर्मशास्त्रों के रहस्यों का भी चिंतवन किया। फिर उसने प्रतिक्रमणादि सन्ध्या–कृत्य भी किये। समयोचित कार्य करने से विवेक उत्कृष्टता को प्राप्त होता है। फिर रात्रि में सोते समय नमस्कारादि का स्मरण भी किया। इस प्रकार की शयन–विधि करने से इस भव में विघ्नों का नाश होता है और परभव में दुर्गति का नाश होता है। समय होने पर उसने द्रव्यनिद्रा तो अल्प ही ली, पर भाव से वह सदैव दिन–रात अत्यन्त जागृत रहा। श्रेष्ठबुद्धियुक्त भी अधिकतर मैथुन–सेवन का त्याग करता था। **कामक्रीड़ा के विषय में अनासक्ति दोनों लोक में कल्याणकारी है।**

इस प्रकार वह हमेशा सत्कार्य में तत्पर रहने लगा। इससे वह लोक में अत्यन्त प्रतिष्ठित हुआ। **सदाचार सत्पुरुष का अलंकार है।** मानो सद्बुद्धि रूपी गाय के दुहे हुए यश रूपी दूध को रखने के समान उसने पानी भरने के लिए ताम्बे व पीतल के पात्र बनवाये। पूर्व में तो कृपणता के कारण घर में तुम्बड़े के ही पात्र थे। विशुद्ध होने से उसने परम श्रद्धा व हर्ष के साथ वे पात्र मुनियों को बहरा दिये। नवविवाहिता पुण्य लक्ष्मी को निवास करवाना हो, इस प्रकार कपटरहित उसने जिनेश्वर के चैत्य करवाये। उनमें अत्यधिक देदीप्यमान अनेक जिनबिम्ब बनवाये। वे ऐसे शोभित होते थे, मानो आत्मा में न समाने से बाहर पिण्ड रूप किये हुए पुण्य ही हों। मोक्ष रूपी लक्ष्मी को खरीदने के लिए मानो अग्रिम जमानत दे रहे हों, इस प्रकार उसने कल्याणकारक ज्ञान की पुस्तकें लिखवा–लिखवाकर हर्ष से ज्ञानी गुरुओं को भेंट की। मृत्युभय से पीड़ा को प्राप्त और कारागृह के बंधनादि में पड़े हुए प्राणियों को वह अत्यन्त द्रव्यादि खर्च करके अभयदान दिलवाता था। इस प्रकार उसने अपने पूर्वजों द्वारा संचित तीन लाख द्रव्य पुण्यकार्यों में खर्च कर डाला। एकमात्र पात्रदान ही धन की शुभ गति है, बाकी सभी तो विपत्ति रूप ही है। स्वयं के द्वारा उपार्जित धन द्वारा ही वह अपने परिवार का पोषण करने लगा। **उत्तम पुरुष दूसरों के द्वारा उपार्जित धन का उपभोग नहीं करते।** इस प्रकार जिनधर्म की आराधना करते हुए अन्त समय अन्तक्रिया का साधन करते हुए मरकर **धनराज** का जीव तो **मेघनाद कुमार** के रूप में उत्पन्न हुआ। धन्या भी न्याय–वृत्ति के द्वारा अगण्य पुण्य करके अन्त में मरण प्राप्त करके तुम्हारी पत्नी

मदनसुन्दरी बनी है। तुम्हें जो यह स्वर्ग के राज्य को जीतनेवाली राजलक्ष्मी प्राप्त हुई है तथा समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करनेवाला यह रत्नकटौरा प्राप्त हुआ है, वह सब पुण्य के उद्‌गम को प्राप्त दानपुण्य रूपी कल्पवृक्ष का विलास है। वह वृक्ष थोड़े समय में परिपक्व होकर तुम्हें अक्षय सिद्धिसुख रूपी फल प्रदान करेगा, क्योंकि मनुष्यभव की और देवभव की संपत्ति जिनधर्म रूपी वृक्ष के फूल हैं और मुक्ति इसका फल है।

इस प्रकार अपने पूर्वभव को श्रवणकर राजा और रानी के मन में संवेग भाव उत्पन्न हुआ। उन्होंने विशाल अष्टाह्निका महोत्सव करके पुत्र को राज्य पर स्थापित करके चारित्र ग्रहण किया। कलंक रहित आचरण के द्वारा उन दोनों ने चिरकाल तक तपस्या करके समग्र कर्मों का उन्मूलन करके श्रीकेवलज्ञान रूपी सूर्य की किरणों के द्वारा भुवन को प्रकाशित करते हुए अनुक्रम से मोक्षलक्ष्मी का वरण किया।

हे बुद्धिमान भव्यों! निर्मल दानमय दृष्टान्त से युक्त अद्‌भुत **श्री मेघनाद राजा** का चरित्र सुनकर निष्कपट दानविधि में अगर प्रवर्त्तन किया जाय, जिससे मोक्षलक्ष्मी स्वयं ही आकर आपका वरण करे।

इस प्रकार साधारण दानधर्म को प्रकाशित करनेवाला यह प्रथम प्रकाश पूर्ण हुआ।

।। इति प्रथम प्रकाश।।

द्वितीय प्रकाश

दान के भेद

नवीन अग्नि के समान **सुधर्मास्वामी** लक्ष्मीरूप बनें। उनका विनाश रहित और अंजन रहित श्रुत रूपी दीपक आज तक विश्रांति–रहित निरन्तर तत्त्वमार्ग का प्रकाशन कर रहा है। अब मैं दान रूपी कल्पवृक्ष की भेद रूपी शाखाओं को कहता हूं। उन शाखाओं पर आरूढ़ प्राणी विशाल मनोवांछित फलों को प्राप्त करते हैं। दान के तीन भेद हैं :–ज्ञान, अभय और उपष्टम्भ। ज्ञानियों ने प्रथम ज्ञान दान के पाँच भेद बताये हैं–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल। इनमें से पण्डित पुरुषों ने श्रुतज्ञान की मुख्यता बतायी है, क्योंकि श्रुतज्ञान दीपक की

तरह स्व और पर–दोनों को ही प्रकाशित करने में समर्थ है। शेष चार ज्ञान मूक की तरह मात्र स्व–प्रकाशक ही होते हैं। श्रुतज्ञान के द्वारा ही शेष सभी ज्ञानों की सम्यग् प्ररूपणा की जा सकती है। प्रायः श्रुतज्ञान का अभ्यास करने से ही दूसरे ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जा सकता है, उसी प्रकार एक श्रुतज्ञान दूसरों के हृदय में ज्ञानों को प्रकट करता है और स्वयं भी निरन्तर प्रकाशमान रहता है। जिसमें श्रुतज्ञान होता है, वह मनुष्य अन्य अनेक मनुष्यों को भी श्रुतज्ञान देने में समर्थ होता है। पर श्रुतज्ञान के अलावा अन्य चारों ज्ञान उसमें हों, तो वह उन्हें अन्य को देने में समर्थ नहीं बन सकता। अतः सभी ज्ञानों के मध्य श्रुतज्ञान की प्रमुखता योग्य प्रतीत होती है। जो श्रुतज्ञान जिनेश्वरों द्वारा प्ररूपित है, वही सत्य है और उसका अनुसरण करनेवाला अन्य का वचन भी श्रुत कहलाता है। साथ ही सम्यक्त्व–दृष्टि की बुद्धि के द्वारा पवित्र हो, तो अन्य शास्त्र भी श्रुत कहलाता है। यह श्रुत अन्य जनों को देना **ज्ञानदान** कहलाता है।

मृत्यु से भय–प्राप्त प्राणियों को अभय देना **अभयदान** कहलाता है। यह अभयदान सर्व–सम्पत्ति का कारण है।

धर्म के उपष्टम्भ की पुष्टि के लिए पात्र को जो दान दिया जाता है, उसे जिनेश्वरों ने **उपष्टम्भ दान** कहा है।

दान के ये तीन भेद ही वास्तव में धर्मयुक्त हैं, क्योंकि यह तीनों प्रकार का दान अक्षय मोक्ष सुख का अद्वितीय कारण है। अन्य भी दान के अनेक भेद हैं। जैसे–दयादान, उचितदान, कीर्त्तिदान आदि कहे जाते हैं। ये भेद अगर मार्गगामी हों अर्थात् सुपात्र को दिये जाते हों, तो इनका भी ऊपर के तीनों भेदों में समावेश हो जाता है। जैसे अपने मार्ग पर बहती हुई नदियाँ समुद्र को प्राप्त करके अक्षय बन जाती हैं और अगर मार्ग को छोड़कर अन्यत्र प्रवर्त्तित होती हैं, तो जहां–तहां विनाश को ही प्राप्त होती हैं। उसी प्रकार दया आदि दान अगर सन्मार्ग में किया जाय, तो मुख्य दानों में समाविष्ट होकर अक्षयता को प्राप्त होते हैं और अगर कुपात्रादि में किया जाय, तो अन्य–अन्य फल देकर विनाश को प्राप्त होते हैं।

इन तीन मुख्य दानों में भी ज्ञानदान का ही चक्रवर्त्तित्त्व है अर्थात् श्रेष्ठता है–ऐसा कहा जाता है, क्योंकि ज्ञानपूर्वक ही अन्य दानों में प्रवृत्ति की जा सकती है। जैसे नेत्र सूक्ष्म लघु होने पर भी लोक में गौरव का कारण है, उसी प्रकार अल्प भी ज्ञानदान इस भव में और परभव में प्राणियों के लिए गौरव का कारण है। ज्ञानदान देते हुए ही वह स्वयं के लिए और अन्य के लिए वृद्धि का कारण बनता है। ज्ञान न देने से वह क्षय को प्राप्त होता जाता है। अतः ज्ञान का दान करने में कौन उद्यम नहीं करता। पृथ्वी पर रहे हुए जल की तरह धनादि का अल्पकाल में ही क्षय हो जाता है, पर ज्ञान तो वट वृक्ष की तरह देने से दिन–दिन वृद्धि

को ही प्राप्त होता है। साधुओं ने **शय्यंभव** नामक ब्राह्मण को मात्र आधा श्लोक ही सिखाया था, पर वही श्लोक उसके लिए द्वादशांगी के रूप में वृद्धि को प्राप्त हुआ था–ऐसा आगमों में सुना जाता है। अतः जिसको ऐसा दुर्लभ सद्ज्ञान का दान दिया हो, उसे स्वर्ग और मोक्ष का सुख दिया है–ऐसा मानना चाहिए। अनेक कुकर्म–पाप को करनेवाले **चिलातिपुत्र** को साधु महाराज ने तीन ही पद देकर देवऋद्धि प्राप्त करवा दी थी। सम्यग्ज्ञान के द्वारा मनुष्य पुण्य व पाप को जान सकता है और उस ज्ञान के द्वारा वह पाप से निवृत्ति और पुण्य में प्रवृत्ति करके अनुक्रम से मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। अन्य दानों में एकमात्र दातार ही सम्पत्ति, ऋद्धि आदि प्राप्त करता है, पर ज्ञानदान करने से तो ग्रहणकर्त्ता व दाता–दोनों ही सम्पत्ति प्राप्त करते हैं। धनादि का दान सुपात्र को दिया जाय, तो ही वह वृद्धि को प्राप्त होता है, पर ज्ञानदान तो थोड़ा–सा भी और किसी भी पात्र को दिया जाय, वह शीघ्रता से वृद्धि को ही प्राप्त होता है, क्योंकि जिनेश्वरों ने गणधरों को त्रिपदी दी, तो वह अन्तर्मुहूर्त्त में ही द्वादशांगी के रूप में विस्तार को प्राप्त हुई। सूर्य से अन्धकार की तरह ज्ञान से रागादि समूह का नाश होता है। अतः ज्ञानदान के अलावा अन्य कोई उत्कृष्ट उपकार नहीं है। जो मनुष्य ज्ञान का दान देकर उसकी आराधना करता है, वह पूज्यता को प्राप्त होता है और अगर ज्ञान का दान नहीं करता, तो उसकी विराधना ही करता है व अपूज्यता को प्राप्त होता है। इस विषय में **विजय राजा** की कथा है, जो इस प्रकार है :–

भरतक्षेत्र का आभूषण रूप और पुण्यलक्ष्मी का निवास रूप मगध नामक देश था। उसमें राजगृह नामक नगर था। उस नगर में उत्तम पुरुष अपनी लक्ष्मी को पवित्र करने के लिए सुपात्रदान किया करते थे। उसी नगर में अपने पराक्रम से शत्रु का पराभव करनेवाले **जयन्त** नामक राजा थे। उन्होंने नीतिसहित पृथ्वी को [1]अनीति से युक्त किया था। [2]सुदर्शन के द्वारा शोभित और [3]पुरुषोत्तमता को धारण करनेवाले विष्णु की तरह उस राजा के लक्ष्मी के समान **कमलावती** नामक रानी थी। उसकी कुक्षि से उत्पन्न अन्याय–रहित और राज्य को धारण करने में धुरन्धर **विजय** और **चन्द्रसेन** नामक दो पुत्र थे। वे दोनों कुमार सदाचार–युक्त, माता–पिता की भक्ति में तत्पर, निःसीम पराक्रमवाले, महान प्रभावशाली और यशस्वी थे। पर पूर्वकर्म के दोष के कारण वे परस्पर एक–दूसरे की समृद्धि को देख नहीं सकते थे। अतः वे परस्पर ईर्ष्यालू थे। **जो सहोदर होने पर भी एक–दूसरे की समृद्धि को देख नहीं सकते और जिनका मन कषाय से मलिन हो, वैसे मनुष्यों का जन्म निष्फल है।**

---

1. ईति रूपी उपद्रव से रहित।
2. सुदर्षन चक्र। राजा के पक्ष में समकित दर्षन।
3. विश्णु का दूसरा नाम पुरुषोत्तम है व अन्य पक्ष में मनुष्यों के बीच श्रेष्ठता।

चतुर पुरुषों में अग्रसर राजा तराजू के दो पलड़ों की तरह उन दोनों को समान दृष्टि से देखता था। एक बार प्रातःकाल राजा राजसभा में बैठा हुआ था। उसी समय प्रतिहार ने आकर विज्ञप्ति की–"कोई दूत द्वार के पास खड़ा है। वह आपके दर्शन करना चाहता है।"

राजा ने उसे आने की अनुमति दी। प्रतिहार उस दूत को लेकर सभा में आया। उस दूत ने राजा को प्रणाम करके उनके हाथों में पत्र दिया। राजा ने उसे खोलकर इस प्रकार पढ़ा–"कल्याण व लक्ष्मी के स्थानरूप और स्वर्गनगरी के समान राजगृही नगरी में राजाओं के झुके हुए मस्तकों की माला द्वारा जिनके चरण–कमल पूजित हैं, ऐसे श्री **जयन्त** नामक पृथ्वीपति को गंगा के समीपस्थ देश में रहनेवाले सीमाड़ा की रक्षा करने में तत्पर **कुरुदेवक** नामक सेवक प्रणामपूर्वक मस्तक पर दोनों हाथ जोड़कर विज्ञप्ति करता है कि यहां आपके श्रीचरणों के प्रसाद से सब कुशल है। पर सीमाड़ा में **सेवाल** नामक राजा यमराज के समान भयंकर है। वह समृद्धि से मनोहर गाँवों में धाड़ मारकर लूटपाट कर रहा है। मदोन्मत्त हाथी जैसे वन में उपद्रव करता है, वैसे ही वह इस देश में उपद्रव कर रहा है। मैं अल्प बल व अल्प सैन्य से युक्त होने के कारण उसे रोकने में समर्थ नहीं हूं। अतः आप ही इस विषय में कोई उपाय करें।"

इस प्रकार का लेख पढ़कर क्रोध से लाल नेत्रोंयुक्त राजा ने भृकुटि चढ़ाकर भयंकर मुख बनाते हुए सामन्त राजाओं से कहा–"हे सामन्तों! देखो! यह सोते हुए शेर को जगा रहा है, जो कि यह दुष्टबुद्धिवाला मेरे साथ विरोध कर रहा है। हे सुभटों! इसका निग्रह करने के लिए शीघ्र तैयार हो जाओ। व्याधि की तरह द्वेषी की भी क्षणमात्र भी उपेक्षा करना योग्य नहीं है।"

इस प्रकार वेग से बोलते हुए और क्रोध से लाल हुए राजा को देखकर रणकुशल दोनों कुमारों ने राजा को प्रणाम करते हुए एक साथ कहा–"हे स्वामी! हमारे रहते हुए आपको इस युद्ध की तैयारी करने की क्या जरुरत है? सेवक के रहते हुए स्वामी को स्वयं प्रयास करना योग्य प्रतीत नहीं होता। [1]जड़ की संगति से गर्विष्ठ बनी **शैवाल** पर आपके समान [2]राजहँस को चढ़ाई करना योग्य नहीं है। अतः हे देव! उसका निग्रह करने के लिए हमें आज्ञा प्रदान कीजिए, जिससे उसके इस महान दुस्साहस को हम तत्काल खण्डित कर सकें।"

यह सुनकर राजा ने मुख्य प्रधान पर दृष्टि डाली। तब निपुण प्रधान ने कहा–"राजपुत्रों का कथन यथार्थ है। ऐसे समयोचित वचन अन्य कौन कह सकता है?"

यह सुनकर राजा ने उसका निग्रह करने के लिए ज्येष्ठ पुत्र को आज्ञा प्रदान की।

---

1. इसका दूसरा अर्थ जल है।
2. इसका दूसरा अर्थ पानी पर होनवाली शैवाल यानि लीलन–फूलन है।

इससे स्वयं को अपमानित मानकर क्रोध से धमधमायमान **चन्द्रसेन कुमार** सभा से बाहर जाने के लिए तत्काल खड़ा हुआ। उसे इस तरह देखकर सारी सभा क्षोभ को प्राप्त हुई। तब राजा ने उसका हाथ पकड़कर प्रेमपूर्वक अपने पास बिठाते हुए प्रेमयुक्त शब्दों में कहा–"हे वत्स! बिना कारण तुम क्यों क्रोधित होते हो? क्या तुम राज्य की रीति– नीति नहीं जानते कि बड़े भाई के हाजिर रहते हुए छोटे भाई को आदेश देना योग्य नहीं? यह तो कौनसा बड़ा कारण है? बल्कि पितातुल्य बड़े भाई के हाजिर रहते हुए भी कदाचित् छोटे भाई को राज्य दिया जाय, तो कुलवान छोटे पुत्र उस राज्य की वांछा ही नहीं करते। कोई अज्ञात मनुष्य कदाचित् क्रमविरुद्ध मान दे भी, तो समझदार पुरुष उसे अपना अपमान मानते हैं। निर्मल चित्तवाले किसी भी मनुष्य पर ईर्ष्या करना उचित नहीं है। तो फिर उत्कृष्ट गुणयुक्त और पितृतुल्य बड़े भाई पर तो कैसे मत्सर भाव धारण किया जा सकता है? अतः हे वत्स! मात्सर्य भाव छोड़कर तुम मन से स्वस्थ बनो, जिससे कि लोक में कुन्द पुष्प की तरह उज्ज्वल कीर्त्ति को प्राप्त कर सको।"

इस प्रकार समझाने पर भी उसे शांति प्राप्त नहीं हुई। तब राजा के कथन से [1]सामभेद में निपुण प्रधान ने कहा–"हे कुमार! आप स्वामी के वचनों को बार–बार प्रतिकूल क्यों मानते हैं? माता–पिता की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला क्या पुत्र कहलाता है? तुम अपनी आत्मा को अविनय रूपी कर्दम से क्यों मलिन बनाते हो? विनय के द्वारा ही निर्मल कीर्त्ति स्फुरित होती है। कीर्त्ति ही पुरुष का जीवन है। प्राण को तो मात्र व्यवहार से ही जीवन कहा जाता है। दुष्कीर्त्ति रूपी दुःख से दग्ध प्राणियों का तो मर जाना ही श्रेष्ठ है। सर्वत्र राजपुत्रों को तो विनय की खान ही कहा जाता है। अतः अगर राजपुत्र ही विनय का त्याग कर देंगे, तो विनय की गति क्या होगी? उसका आधार कौन होगा? उस–उस शुद्धि को प्राप्त विनयवान पुत्र स्वर्ण की तरह सभी का अलंकार रूप बन जाता है।"

इस प्रकार मीठी, हितकारी शिक्षा के द्वारा मंत्री ने कुमार के क्रोध रूपी संताप को दूर करके उसे स्वस्थ बनाया।

उसके बाद विजय प्राप्त करने के लिए उत्सुक बना विजय कुमार वाद्यन्त्रों के द्वारा दिशाओं को ध्वनित करता हुआ चतुरंगिणी सेना के साथ शत्रु की तरफ चला। अनुक्रम से चलते–चलते राजपुत्र ने अपने देश की सीमा के पास सैन्य का पड़ाव डाला। फिर दूत को अपना अभिप्राय बताकर सेवाल राजा के पास भेजा। उस दूत ने सेवाल राजा के पास जाकर अपने स्वामी का संदेश सुनाया–"**बल का विचार किये बिना युद्ध का आरम्भ करना**

---

1. समझाने में।

आपत्ति का स्थान है और अधिक बलवान के सामने नम जाना स्वयं की विशेष संपत्ति का कारण है। ऐसा विचार करके आपको जो उचित प्रतीत होता हो, वही करें।''

यह सुनकर **सेवाल** राजा ने कहा–''हे दूत! जो रण में कायर होता है, वही राजा नीतिमार्ग का आश्रय लेकर विचार करता है, पर जिसकी भुजाओं में रणसंग्राम की खुजाल चलती हो, उसे नीति के प्रति कुछ भी प्रीति नहीं होती। मदोन्मत्त हाथियों के समूह का नाश करने के लिए क्या सिंह को भी किसी नीति के विचार की जरुरत है? शीघ्र ही युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। रणक्षेत्र में मेरी ये भुजाएँ स्वयं ही बल की अधिकता या न्यूनता बता देगीं।''

इस प्रकार कहकर बलशाली **सेवाल** राजा ने उस दूत को तत्काल विदा किया। दूत ने आकर कुमार को सारी बात बतायी। यह सुनकर **विजय कुमार** ने भी युद्ध की भेरी बजवा दी। सम्पूर्ण सैन्य तुरन्त ही तैयारी के साथ रणभूमि में पहुँचा। सेवाल नामक शत्रु राजा ने भी सम्पूर्ण तैयारी के साथ सैन्य को युद्धभूमि में उतारा और स्वयं भी शस्त्रों से सज्ज होकर कुमार के सन्मुख आया। सबसे पहले सैन्यों के गर्व से उद्धत हुए सुभट [1]अहंपूर्विका द्वारा द्वन्द्व युद्ध करने लगे। रथिक रथिकों के साथ, [2]सादी सादियों के साथ, [3]यंता यंताओं के साथ और [4]पदाति पदातियों के साथ युद्ध करने लगे। कितने ही योद्धा भालों के साथ, कितने ही योद्धा खड्ग के साथ और कितने ही योद्धा बाणों के साथ युद्ध करने लगे। उग्र सुभटों के भुजदण्डों की खुजाल को मिटाने में कुशल व कायर पुरुषों के लिए देखने में भी अत्यधिक कष्टदायक महा–भयंकर संग्राम हुआ।

उसके बाद भी दैवयोग राजपुत्र की सेना पराजय प्राप्त करके भागने लगी, क्योंकि पराजित हो जाने के बाद पलायन के सिवाय दूसरा कोई बल नहीं है। पर फिर भी महापराक्रमी कुमार युद्ध करता ही रहा। प्रधानों ने न चाहते हुए भी उसे जबरन वापस मोड़ा। पर लज्जा के कारण वह वापस अपने नगर की तरफ नहीं गया। मन में अत्यन्त दुःखित होते हुए वह वहीं कहीं जंगल में ही रह गया।

उधर अपने मन में अपने आपको [5]जितकाशी मानते हुए शत्रु राजा सेवाल निर्भयतापूर्वक अपने स्थान पर आया।

सारा वृत्तान्त सुनकर दुःखित राजा ने बुद्धिनिधान प्रधानों को भेजकर किसी तरह समझा–बूझाकर पुत्र को तत्काल नगर में बुलवाया। फिर राजा ने स्वयं शत्रु को परास्त करने

---

1. मैं पहले–मैं पहले–ऐसी उतावली के द्वारा।
2. घुड़सवार।
3. हाथी पर सवार।
4. पैदल सेना।

के लिए जाने का निर्णय किया। यह ज्ञात करके चन्द्रसेन कुमार ने राजा के पास नमस्कारपूर्वक विज्ञप्ति की–"हे स्वामी! मुझ पर प्रसन्न होते हुए शत्रु के विनाश के लिए मुझे जाने की अनुमति प्रदान करें। मैं छोटा हूं, असमर्थ हूं–इस प्रकार चित्त में शंका को स्थान न दें, क्योंकि छोटा होते हुए भी वज्र क्या बड़े–बड़े पर्वतों को नहीं भेदता? छोटा होते हुए भी सिंह–शिशु क्या मदोन्मत्त हाथी को वश में नहीं करता?"

प्रधानों ने भी राजा से कहा–"पहले कुमार को हमने जबरन रोका था। अतः अब इसके उत्साह को नष्ट करना योग्य नहीं है। इसे भी ज्यादा शक्तिशाली सेना के साथ भेजना चाहिए। इसका पराक्रम अलौकिक जान पड़ता है। अतः यह अवश्य ही विजयलक्ष्मी का वरण करेगा।"

यह सुनकर राजा ने आज्ञा प्रदान की। तब संग्राम के लिए उत्सुक **चन्द्रसेन** विशाल सेना के साथ देश की सीमा पर पहुँचा। वहां सेना का पड़ाव डालकर एक विचक्षण दूत को संदेश देकर **सेवाल** राजा के पास भेजा। उस दूत ने भी **सेवाल** राजा के पास जाकर उसे प्रणाम करते हुए कहा–"किसी समय दैव के दुष्ट योग से मृगों के साथ युद्ध करते हुए प्रमाद के कारण केसरी सिंह कदाचित् भग्न होकर पलायन कर जाय, तो क्या इतने मात्र से वे बिचारे मृग सिंह को जीतनेवाले कहे जा सकते हैं? इसी प्रकार प्रमादवश कदाचित् मेरे बड़े भाई तुमसे पराजित हो गये, तो इतने मात्र से तुम अपने–आपको जितकाशी न मानो। जो जल जाज्ज्वल्यमान अग्नि को शान्त कर देता है, उस जल को भी देख लो कि वह समुद्र में वड़वानल को शान्त नहीं कर पाता है। वास्तव में तुमने प्रपंच के द्वारा ही ऋजु प्रकृतिवाले मेरे ज्येष्ठ भाई का पराभव किया है, क्योंकि पराक्रम के द्वारा तो उन्हें इन्द्र भी जीत नहीं सकता। अतः अगर वास्तव में तुझमें कोई युद्धकला है, तो मेरे साथ युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हो जाओ। मैं छल के द्वारा जीता गया हूं–ऐसा भी किसी के सामने मत बोलना, क्योंकि हम कुलीन होने के कारण पराक्रम के द्वारा ही जीतने की इच्छा रखते हैं।"

यह सुनकर **सेवाल** ने कहा–"हे दूत! तेरे स्वामी के लड़के प्रतिबन्ध रहित और वाचाल हैं। इसी कारण अनाप–शनाप उद्धतायुक्त वचन बोल रहे हैं। उनके बराबर के वचन बोलना मुझ–जैसे बुजुर्ग के लिए कदापि योग्य नहीं है। बालक ही बालक की बराबरी करता है। पर इसमें बालक का भी क्या दोष है? दोष तो उसके पिता का है, जिसने बुद्धि–रहित बनकर ऐसे भयंकर रण–संग्राम में बालकों को भेजा है। बल्कि ये कुमार वाचाल, विनय–रहित, दुष्ट और विपरीत–शिक्षा को प्राप्त हैं–ऐसा मानकर इनके पिता ने युद्ध के बहाने से इन्हें शिक्षा देने के लिए ही मेरे पास भेजा है, ऐसा जान पड़ता है। अतः हे दूत! तुम वापस जाओ और जाकर अपने स्वामी से कहो कि मैं उसे आसानी से जीत लूंगा। अतः मुझे कौन–सी युद्ध की तैयारी करनी है? मृगशावकों को मारने के लिए सिंह को किस तैयारी की जरुरत होती है?

कमलनाल को छेदने के लिए क्या कुल्हाड़ी की धार तीक्ष्ण करनी पड़ती है? पर इसके पहले कुमार को अपने पिता के साथ ही युद्ध करना चाहिए, जिन्होंने जान–बूझकर द्वेषी की तरह उसे यहां भेजा है।''

यह सुनकर दूत तुरन्त राजपुत्र के पास पहुँचा और प्रणाम करके एकान्त में सारा वृत्तान्त राजा को सुनाया। यह सब सुनकर **चन्द्रसेन** विस्मित होते हुए विचार करने लगा–''अहो! उसका गम्भीरतायुक्त कथन कितना सुन्दर है! मैंने अपनी प्रशंसा दूत के माध्यम से उसके पास करवायी। यह मैंने ठीक नहीं किया, क्योंकि सत्पुरुषों के द्वारा आत्म–प्रशंसा करना महान लज्जा का स्थान है। सज्जन व्यक्ति वचनों से कम बोलते हैं और कार्य ज्यादा करते हैं। जैसे वर्षाऋतु के बादल गर्जना के आडम्बर से रहित होते हैं। पर यौवन से उद्धत मनयुक्त हमारे जैसे मुग्धजन शरद्ऋतु के बादलों की तरह वाणी की ही शूरता का आश्रय लेते हैं। वह **सेवाल** शत्रु है, पर मुझे लगता है कि वह गम्भीरता आदि गुण–लक्ष्मी का भण्डार है, क्योंकि उसकी कथन–शैली कितनी सुन्दर है! अतः इसके साथ जैसे–तैसे बिना विचारे युद्ध करना योग्य नहीं है, क्योंकि बिना विचारे कुछ भी करना विपत्ति का स्थान है।''

इस प्रकार विचार करके उसने अपने प्रधान मंत्रियों को एकान्त में बुलवाकर अपना अभिप्राय उनके सामने रखा। उन्होंने भी परस्पर विचार करके कहा–''हे स्वामी! आपने जैसा कहा है, हमें भी वैसा ही लग रहा है। अतः हमें अपने चर–पुरुषों को गुप्त रूप से वहां भेजना चाहिए। वहां जाकर वे शत्रु के बल–अबल का पता लगा सकेंगे। उसके सामन्त उसके भक्त हैं कि अभक्त–यह भी पता लग जायगा। साथ ही किले के मार्गों का निर्गम व प्रवेश भी जान लेंगे। उसके बाद वे सारा वृत्तान्त हमें बता देंगे। तभी हमारा विजय देने योग्य सामभेदादि उपाय करना युक्तियुक्त होगा।''

इस प्रकार मंत्रियों के विचारों को मान देते हुए कुमार ने चार निपुण चरों को अलग–अलग वेश में तैयार करवाकर नगर की तरफ भेजा। उसमें से पहला चर सामवेद को जानता था। अतः उसने **सेवाल** राजा के पुरोहित का आश्रय ग्रहण किया। दूसरा बुद्धि का धनी था, अतः उसने वहां के महामंत्री का आश्रय लिया। तीसरा निमित्तज्ञ था, अतः उसने सेनापति का आश्रय ग्रहण किया। चौथा ज्योतिष का जानकार था, अतः वह राजा की सेवा करने लगा। परदेशी के रूप में प्रख्यात वे चारों अपनी–अपनी विद्या में पूर्ण निपुण थे, उस–उस कार्य में अग्रसर थे, अवसर के जानकार थे तथा प्रिय वचन बोलनेवाले थे। बुद्धिनिधान उन पुरुषों के अन्तर्हृदय को निपुण पुरुष भी जानने में शक्य नहीं थे। वे अपने–अपने अधिकार में उद्यमपूर्वक व सावधानी से प्रवर्त्तित थे। इस तरह थोड़े ही दिनों में

वे राजादि के इतने विश्वासपात्र बन गये, मानो वंश–परम्परा से उनके ही सेवक रहे हों।

फिर वे वहां की प्रत्येक घटना की जानकारी अपने स्वामी चन्द्रसेन कुमार को देने लगे। अहो! दंभ रूपी राजा की कपट–नाटक में कैसी चतुराई!

कुछ समय बाद चन्द्रसेन कुमार को उसके मंत्रियों ने कहा–"अपना और शत्रु का सैन्य–बल समान हो या अपना सैन्य–बल ज्यादा हो, तो ही युद्ध करना योग्य होता है। पर अभी शत्रु–सैन्य–सम्पदा हमारे सैन्यबल से ज्यादा है। अतः उनके साथ युद्ध करने का अभी अवसर नहीं है। हे देव! हमें अभी उनके देश में कुछ उपद्रव करना चाहिए। ऐसा करने से उस–उस देश के राजा भय के कारण आपका स्वामित्व अंगीकार कर लेंगे। फिर शत्रु–सैन्य कृष्ण पक्ष के चन्द्र की तरह हानि को प्राप्त होगा और आपका सैन्य शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरह वृद्धि को प्राप्त होगा।"

यह सुनकर **चन्द्रसेन** कुमार वेगयुक्त अश्वों आदि की सेना के साथ शत्रु–देशों का विनाश करने लगा। यह जानकर भृकुटि चढ़ाने से भयंकर बने कपालवाले उस **सेवाल** राजा ने चन्द्रसेन कुमार के साथ युद्ध करने के लिए अपने सैन्य को सज्जित किया। प्रयाण करने की इच्छा से उसने पण्डित को बुलवाकर उसके पास मुहूर्त्त दिखाया। आगन्तुक ज्योतिष के उत्तर की प्रतीक्षा में उस पर उत्सुकता के साथ दृष्टिपात किया। तब उस कपटी ज्योतिषी ने कहा–"इन सभी ज्योतिषियों ने जो लग्न–मुहूर्त्त आपको दिया है, उसे मैं कैसे दोषयुक्त बता सकता हूं? पर आपके प्रति मेरी सच्ची भक्ति ही मुझे बोलने के लिए विवश कर रही है। अगर सच्चा भक्त अप्रिय लगने पर भी हितकारी वचन न कहे, तो वह कुभक्त होता है। अतः मैं आपको कहना चाहता हूं कि यह लग्न स्थिर राशि से शोभित है, अतः इस लग्न के बल से आपको सहीं अपने स्थान पर रहते हुए ही विजयलक्ष्मी की प्राप्ति होगी। ऐसा मेरा ज्ञान कहता है।"

यह सुनकर अपने आपको पण्डित माननेवाले अन्य ज्योतिषी ने कहा–"अपने देश का नाश हो जाने पर क्या विजय मिलेगी?"

तब उस कपटी ज्योतिषी ने कहा–"अगर मेरे वचनों पर विश्वास न हो, तो हे स्वामी! पाँच–छः दिन तक आप इन्तजार करें। इससे आपको प्रतीति हो जायगी।"

यह सुनकर राजा ने उसके वचनों को स्वीकार कर लिया। तब उस कपटी ज्योतिषी ने **चन्द्रसेन** कुमार को अपने चर–पुरुष भेजकर यह कहलाया–"हे स्वामी! यहां का सारा वृत्तान्त आपको चर–पुरुष द्वारा ज्ञात हो ही जायगा। आगे समाचार यह है कि आपके **वज्रसिंह** आदि कितने ही सामन्तों को पहले आप अपना अभिप्राय बताकर कपट–रीति से

कृत्रिम क्लेश करके तिरस्कारपूर्वक उन्हें सैन्य से निकालने की कृपा करें और उन्हें **सेवाल** का सेवक बना देवें।''

इस प्रकार सारे समाचार जानकर **चन्द्रसेन कुमार** ने वैसा ही किया। इस प्रकार वे सामन्त बनावटी क्रोध करके शत्रु राजा की तरह उसके सैन्य से बाहर निकल गये। फिर उन्होंने पत्र लिखकर **सेवाल** राजा से विज्ञप्ति की–''इस नादान बालक ने हमारा तिरस्कार किया है। इससे बदला लेने के लिए हम आपकी सेवा में रहना चाहते हैं।''

इस प्रकार के पत्र को पढ़कर **सेवाल** राजा ने महामंत्री को बुलवाकर पूछा–''शत्रु के सामन्त यहां आना चाहते हैं। कैसे क्या करना चाहिए? क्या वे वास्तव में शत्रु राजा के विरुद्ध हैं?''

तब महामंत्री ने कहा–''हे देव! आज वहां से हमारे चर–पुरुष आनेवाले हैं। उनके द्वारा हकीकत सुनकर ही हम योग्य निर्णय करेंगे।''

यह कहकर मंत्री अपने घर गया। तभी वह कपटी सेवक, जो कि सर्व कार्यों में अपने–आपको विश्वासी चर प्रमाणित कर चुका था, उससे सारा वृत्तान्त मंत्री ने कहा। तब उस दम्भी सेवक ने भी कहा–''अगर वज्रसेनादि सामन्त हमारी अधीनता स्वीकार करते हैं, तो चन्द्रसेन कुमार भी हमारा सेवक बन गया–ऐसा मानना चाहिए, क्योंकि उन्हीं सामन्तों के कारण वह अब तक रणसंग्राम में कुशल माना जाता था।''

उसी समय कुमार की सेना में गये हुए चरपुरुष वापस लौटे। उन्होंने शत्रु का सारा हाल मंत्री को बताया। उन चरों को साथ लेकर मंत्री राजसभा में आया। राजा के पूछने पर उन्होंने शत्रु का सारा वृत्तान्त बताया–''**वज्रसिंहादि** सामन्तों का राजा के साथ झगड़ा हो जाने पर राजा ने हमारे सामने ही उन्हें अपने सैन्य से निकाल दिया है।''

यह सुनकर **सेवाल** राजा ने मंत्री से पूछा–''अब हमें क्या करना योग्य है?''

प्रधान ने कहा–''हे देव! आपको शीघ्र ही उन सामन्तों को सम्मानपूर्वक बुलवा लेना चाहिए।''

तब **सेवाल** राजा ने उन सामन्तों को आदरपूर्वक बुलवाकर उनका सम्मान किया। उस ज्योतिषी के वचन सत्य सिद्ध होने के कारण उसका भी वस्त्रादि प्रदानपूर्वक बहुमान किया। अपने स्वामी के कार्य में तत्पर वे सामन्त **सेवाल** को पराजित करने की इच्छा को मन में रखते हुए भी बाहर से दिखावा करते हुए उसी प्रकार **सेवाल** की सेवा करने लगे, जैसे साधु शरीर की सेवा करता है।

अब तीसरा व्यक्ति, जो नैमित्तिक के रूप में सेनापति के पास रहा हुआ था, उसने भी

किसी खोयी हुई वस्तु को वापस प्राप्त करवाना आदि कार्यों के द्वारा सेनापति के दिल का विश्वास हासिल कर लिया था। उसने भी राजा के द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर ठगने में चतुर वाणी के द्वारा कहा–"हे स्वामी! मेरे ज्ञान के द्वारा यही सिद्ध होता है कि आपके यहीं रहते हुए विजय निश्चित है।"

ज्योतिषी के वचनों के समान उस निमित्तज्ञ के वचन जानकर राजा मन ही मन में बड़ा खुश हुआ और उसका भी सत्कार किया।

उधर एक बार राजपुरोहित ने कपटी सामवेदी से कहा–"तुम कुछ भी शांतिकर्म करो, जिससे हमारे स्वामी की विजय हो।"

तब उस मायावी ने कहा–"अगर वेद के पवित्र मंत्रों द्वारा पवित्र होम करवाया जाय, तो राजा की अवश्य विजय होगी।"

यह सुनकर पुरोहित ने राजा की आज्ञा लेकर उसे ही उस होम को करने में होता के रूप में नियुक्त किया, क्योंकि पुरोहित उसे अपना विश्वासपात्र मानता था। फिर उसने अभिचारना मंत्र पढ़कर होम किया, जिससे सेवाल की ही सेना में मृत्यु देनेवाले रोग उत्पन्न हुए।

उधर **चन्द्रसेन** कुमार ने निर्विघ्न रूप से शत्रु के देशों को साधा और उसके कितने ही सामन्तों को अपनी आज्ञा में लिया। उस समय **चन्द्रसेन** कुमार की सेना शुक्लपक्ष के चन्द्र की ज्योत्स्ना की तरह और **सेवाल** राजा की सेना कृष्णपक्ष के चन्द्र की ज्योत्स्ना की तरह शोभित होने लगी। फिर उन चारों गुप्तचरों ने गुप्त रूप से कुमार को कहलवाया–"हे देव! अब सेवाल के साथ युद्ध करने का उत्तम अवसर है।"

यह सुनकर युद्धरसिक चतुरंगिणी सेना के साथ चन्द्रसेन कुमार ने शीघ्र ही आकर शत्रु के सम्पूर्ण नगर को घेर लिया। यह देखकर शूरवीरों में अग्रसर **सेवाल** राजा भी अपनी सेना के साथ दुर्ग से उसी तरह बाहर निकला, जैसे सिंह अपनी गुफा से बाहर आता है। वाद्यन्त्र के शब्दों द्वारा सूर्य के अश्वों को भी त्रस्त बनाते हुए दोनों के सैन्य निःशंक रूप से युद्ध करने के लिए आमने–सामने आये। दोनों और के शूरवीरों में भयंकर संग्राम हुआ। उन दोनों सैन्यों से भयभीत जयलक्ष्मी एक बारगी तो किसी के पास भी जाने को उद्धत नहीं हुई। पर कुछ समय बाद **सेवाल** राजा की सेना परास्त होकर भागने लगी। तब यह देखकर व्याकुल होते हुए राजा ने जैसे ही दुर्ग में प्रवेश करने का उपक्रम किया, उसी समय **वज्रसिंह** आदि सामन्त राजा उसके सम्मुख आकर वचन–चातुर्य द्वारा उससे कहने लगे–"हे देव! क्षणभर आप स्थिरमति बनें। हम सेवकों का भुजबल तो देखें। यह बिचारा बालक हमारे साथ क्या

युद्ध करेगा?''

इस प्रकार **सेवाल** राजा को उत्साहित करके उन्हें आगे करके स्वयं कुमार के साथ कृत्रिम क्रोध के साथ युद्ध करने लगे। उसके बाद संकेत किये हुए वे और कुमार के सैनिक **सेवाल** को बीच में करके उसी पर प्रहार करने लगे। निरन्तर प्रहार के द्वारा उसे शस्त्र–समूह से ढ़क दिया। उसके छत्र का छेदन कर दिया। यह देखकर उसके सैनिक त्रस्त हो गये। वे निराधार व त्राणरहित हो गये।

सेवाल राजा को इस स्थिति में देखकर पहले से ही उसके शौर्यादि गुणों से मोहित कुमार ने अपने सैनिकों से संभ्रमपूर्वक कहा–''हे सुभटों! सुनो। जो कोई भी इस राजा पर प्रहार करेगा, उसने मेरे पिता की आज्ञा का लोप किया है, ऐसा मैं मानूंगा। अतः उसे कुछ भी नुकसान पहुँचाये बिना जीवितावस्था में ही मेरे पास लाओ।''

यह सुनकर सभी सामन्तों ने उसे अपनी भुजाओं रूपी पिंजरे में पकड़कर कुमार के सामने उपस्थित किया। उस समय **सेवाल** राजा लज्जा से नम्र मुखवाला बन गया। यह देख उदार बुद्धियुक्त कुमार ने समयोचित वचनों के द्वारा कहा–''हे शूरवीर शिरोमणि! मुझे एक बालक ने जीत लिया है–ऐसा सोचकर आप लज्जित न बनें। हे महाभाग्यवान! मैंने आपको प्रपंच के द्वारा ही जीता है। आपको अपने पराक्रम द्वारा जीतने में कौन समर्थ है?''

इस प्रकार **सेवाल** को आश्वासन देकर सप्तांग संपदा व विशाल सेना के साथ **चन्द्रसेन** कुमार अपनी नगरी की तरफ चला। मार्ग में आनेवाले उन–उन देश के स्वामियों ने **चन्द्रसेन** कुमार को गज–अश्वादि बड़े–बड़े उपहार भेंट में दिये। उन सब से वृद्धि को प्राप्त माहात्म्य–युक्त कुमार अपनी नगरी के समीप पहुँचा। उसका सर्व वृत्तान्त जानकर हर्ष से अत्यन्त उल्लसित राजा ने महा–पराक्रमी कुमार को भव्य नगर–प्रवेश अत्यन्त उत्सवपूर्वक करवाया। रास्ते में केले के स्तम्भों द्वारा मनोहर तोरणों की रचना करवायी और उन पर सुन्दर–सुन्दर वस्त्र लपेटवाकर अद्‌भुत रचना करवायी। घर–घर में बड़ी–बड़ी जय–पताकाएँ फहरायी गयीं। पग–पग पर चित्त को हरनेवाले नृत्यों का आयोजन किया गया।

इस प्रकार राजा के आदेश से विशाल उत्सवमय नगर के भीतर कुमार का प्रवेश हुआ। उस समय कुमार ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो स्वयं जय रूपी यश के अवतार में अवतरित हो। श्वेत छत्र से शोभित, राज्यलक्ष्मी की क्रीड़ा के लिए मानो उज्ज्वल कमल हों, इस प्रकार के चामरों से दोनों भुजाओं की तरफ वींझित था। स्नेहयुक्त वारांगनाओं के समूह द्वारा विविध प्रकार के गायनों से आकाश और दिशाएँ वाचालित थीं। इस प्रकार समृद्धि से दैदीप्यमान राजमहल में कुमार ने प्रवेश किया। फिर पिता को प्रणाम करके उन्हें **सेवाल** राजा सौंप

दिया और विज्ञप्ति की–"हे पिताश्री! यह शत्रु होने पर भी अत्युत्तम मनुष्य है। धैर्य, पराक्रम, गांभीर्य आदि गुणों का आधार है। अतः आप इन पर अपनी प्रसन्न दृष्टि रखें।"

यह सुनकर राजा ने उसे सत्कारपूर्वक उसकी पूर्वस्थिति में अर्थात् राजा के रूप में नियुक्त किया। **महापुरुष घर आये हुए शत्रु पर भी अनुग्रह ही करते हैं।**

फिर राजा ने वय से लघु **चन्द्रसेन** कुमार को बुद्धि, पराक्रमादि गुणों द्वारा ज्येष्ठ मानते हुए उसे युवराज पद प्रदान किया। साथ ही उसे विशाल चतुरंगिणी सेना भी प्रदान की। **योग्य पुत्र पर कौन पिता प्रसन्न न होगा?**

छोटे भाई पर पिता का अत्यधिक सम्मान–भाव देखकर अपना अपमान महसूस करते हुए बड़े भाई **विजय** ने खेदपूर्वक विचार किया–"मेरे रहते हुए पिता की राज्यलक्ष्मी अगर छोटा भाई भोगे, तो यह तो मेरे मान को जलांजलि ही है। मेरा सम्मान तो खत्म हो गया। ऐसे भाई को, जिसका छोटा भाई उसीका मान खण्डित करे, उसका जन्म ही निरर्थक है। उसका तो मर जाना ही बेहतर है। **मनस्वी पुरुषों के लिए तो उनका मान ही जीवन है।** अगर उनका मान खण्डित होता है, तो वे जीवित रहते हुए भी मरे हुए के समान हैं। मान खण्डित हो जाने के बाद भी जो कायरता के कारण घर या शरीर का त्याग नहीं करते, वे मनुष्य कुत्ते के समान हैं। पर दोनों लोक का अहित करनेवाला देहत्याग स्त्रियों की तरह करना योग्य नहीं है। जीवित मनुष्य सैकड़ों कल्याणों को देख सकता है–यह बात लोक में प्रसिद्ध है। अतः मुझे इस समय अपने घर का ही त्याग कर देना चाहिए। सूर्य भी तो जब निस्तेज होता है, तो अपने स्थान का त्याग कर देता है।"

इस प्रकार विचार करके **विजय** बिना किसी को बताये हाथ में खड्ग लेकर अकेला ही वहां से प्रयाण कर गया। अनुक्रम से चलते–चलते वह पिता के राज्य का उल्लंघन करके **उड्डियाण** नामक देश में आया। वहां एक उद्यान में रहे हुए योग–धुरन्धर **कीर्त्तिधर** नामक मुनीश्वर को देखा। ध्यान में लीन होने के कारण वे अपनी दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर स्थिर करके एकाग्र चित्त से ध्यान में समाधिस्थ थे। उन्हें देखकर विजय विचार करने लगा–"अहो! इन महात्मा का शरीर एकमात्र शांति के परमाणुओं से निर्मित है। अहो! इनकी आकृति समग्र विश्व के प्राणियों को विश्वास उत्पन्न करानेवाली है। ये ही उत्कृष्ट तीर्थ हैं, ये ही उत्तम मंगल हैं, ये ही बन्धुरहितों के बन्धु हैं और ये ही सभी के वास्तविक बन्धु हैं। वास्तव में इन तपस्वी के दर्शन से प्राणियों की सभी आपत्तियाँ इस प्रकार दूर भागती हैं, जिस प्रकार सिंह को देखते ही सियाल भाग जाते हैं। जो इनको नमस्कार करते हैं या इनकी पूजा करते हैं, उनके हस्तकमल में तत्काल सर्व अर्थ की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अतः

इन महात्मा को प्रणाम करके मैं मेरा जन्म सफल करुं।''

इस प्रकार विचार करके विशुद्ध बुद्धि व भक्तिपूर्वक उसने मुनिराज को नमन किया। उस समय मुनि ने ध्यान पूर्ण करके पुण्य को पुष्ट करनेवाली और पापसमूह को दग्ध करनेवाली धर्मलाभ रूपी आशीष देकर उसे प्रसन्न किया। कहा भी है कि :–

देवस्य दर्शनात्तुष्टिराशीर्वादाद्गुरोः पुनः।
प्रभोस्तु दानसंमानात्कस्यापि किमपीष्यते।।

भावार्थ :–मनुष्य देवदर्शन से प्रसन्न होता है, गुरु के आशीर्वाद से प्रसन्न होता है और स्वामी के दान–सन्मान से प्रसन्न होता है। हर किसी के प्रसन्न होने का कोई न कोई कारण अवश्य होता है।।

नमस्कार करके पास बैठे हुए **विजय** को मुनि ने धर्मोपदेश दिया, क्योंकि साधु के पास अन्यों को देने के लिए यही एक वस्तु होती है। सर्वज्ञों के द्वारा संसार सागर को पार करने के लिए नाव के समान एकमात्र धर्म ही साधन कहा गया है। आत्महित को चाहनेवाले के लिए सभी अवस्थाओं में धर्म ही सेवन के योग्य है। धर्म ही दुष्ट कर्म रूपी वृक्ष को भस्म करने में दावाग्नि के समान है। सभी प्रकार के सुख रूपी उद्यान को प्रफुल्लित करने में वर्षाऋतु के मेघ के समान है। धर्म पिता की तरह प्राणियों का पोषण करता है, माता की तरह रक्षण करता है, भ्राता की तरह सहायता करता है, मित्र की तरह स्नेह करता है। उस धर्म को पण्डित–पुरुषों ने श्राद्धधर्म और साधुधर्म के रूप में दो प्रकार का बताया है। उनमें से पहले प्रकार का श्राद्धधर्म देश से पाप–व्यापार का त्याग करनेवाले गृहस्थाश्रमियों के लिए कहा गया है। उस धर्म का सेवन सन्तोषी और धनिक पुरुष सुखपूर्वक कर सकते हैं। पर असन्तोषी और निर्धन पुरुष उसका सेवन दुःखपूर्वक करते हैं। यह धर्म बीच–बीच में देवादि भव को प्राप्त करवाकर अनुक्रम से मुक्ति–लाभ को प्राप्त करवाता है। दूसरे प्रकार का धर्म सर्व पाप का त्याग करनेवाले साधु–पुरुषों को होता है। उस प्रकार की कालादि सामग्री के योग से वह धर्म उसी भव में मोक्ष को प्राप्त करवा सकता है। अगर वैसी सामग्री का अभाव हो, तो इन्द्र तथा चक्रवर्त्ती आदि की ऋद्धि भी प्राप्त करवाता है। इस साधुधर्म के द्वारा ऐश्वर्यादि से रहित होने पर भी राजादि के द्वारा पूज्य होता है। इसी कारण से सर्वज्ञों ने इसे प्रधान धर्म कहा है। समुद्र के समान अपार इस संसार को जो तैरना चाहता है, उसे नौका के समान इस सर्वविरति धर्म को अंगीकार करना चाहिए। चक्रवर्त्ती भी छः खण्ड की ऋद्धि–समृद्धि का तृणवत् त्याग करके दीक्षा को अंगीकार करते हैं, तो इस दीक्षा की तुलना किसके साथ की जा सकती है? यह साधुधर्म शुरुआत में तो नीम की औषधि की तरह

कड़वा लगता है, पर बाद में इसका परिणाम अनंत सुख का साधन बनता है।''

इस प्रकार गुरुमुख से निःसृत वचनामृत के द्वारा उसके मोह रूपी महाविष का नाश हुआ और शुद्ध वैराग्य प्रकट हुआ। अतः विजय ने तत्काल दीक्षा ग्रहण कर ली। गुरुदेव ने उसे दीक्षा प्रदान करके उत्तम शिक्षाओं से उसे अलंकृत किया–''हे महानुभाव! मैंने तुझे ये पंच महाव्रत दिये हैं। इसका पालन करने में तुम निरन्तर सावधान रहना, जिससे अतिचार रूपी तस्कर कभी उपद्रव पैदा न करे। शिष्य–प्रशिष्यादि उत्तम क्षेत्र में इन महाव्रतों का रोपण करने से **रोहिणी** के पाँच शालिकणों की तरह विशाल वृद्धि प्राप्त होगी।''

यह सुनकर विजय साधु ने पूछा–''हे पूज्य! **रोहिणी** कौन थी?''

तब गुरुदेव ने इस प्रकार उसकी कथा सुनायी :–

राजगृह नगर में **धन** नामक श्रेष्ठी रहता था। उसके **भद्रा** नामक भार्या थी। उसके चार पुत्र थे। उन पुत्रों के सुकुलोत्पन्न चार बहुएँ थीं। बहुओं को योग्य कार्य में जोड़ने के लिए बुद्धिमान धन श्रेष्ठी ने परीक्षा लेने की सोची, क्योंकि बुद्धि द्वारा किया गया कार्य कीर्ति के लिए होता है। उसके बाद उस श्रेष्ठी ने चारों बहुओं के बन्धुजनों को अपने घर आमन्त्रित करवाकर उनका भोजनादि के द्वारा श्रेष्ठ सत्कार करके सभी को यथायोग्य आसन पर बिठाया। उन सबके सामने चारों बहुओं को बुलवाकर पाँच–2 ब्रीहि के दाने देकर उनसे कहा–''हे पुत्रियों! इन कणों को सम्भालकर रखना। जब मैं मांगूं, तब तुम इन्हें मुझे वापस लौटा देना।''

इस प्रकार श्रेष्ठी ने सभी को विदा कर दिया। वे सभी अपने मन में तर्क–वितर्क करते हुए अपने–2 स्थानों पर लौट गये।

इधर उन कणों को लेकर सबसे **बड़ी बहू** अपनी स्थूल बुद्धि से विचार करने लगी–''मेरे वृद्ध ससुर सठिया गये जान पड़ते हैं, क्योंकि उसने इस प्रकार सबको बुलाकर धन का निरर्थक व्यय किया है। हमें मात्र ब्रीहि के पाँच दाने देकर हमारा अपमान किया है।''

इस प्रकार विचार करके क्रोधित होकर उसने उन कणों को फेंक दिया।

दूसरी बहू ने विचार किया–''ये कण पूज्य ससुरजी ने दिये हैं, अतः ये फेंकने योग्य तो नहीं हो सकते। पर चिरकाल तक इनका रक्षण भी नहीं किया जा सकता।''

अतः वह उन दानों को खा गयी। मनुष्यों को कर्मानुसारिणी बुद्धि होती है।

तीसरी बहू ने शुद्ध बुद्धि से ''पूज्य का आदेश शुभ के लिए ही होता है''– ऐसा विचार करके उन दानों को एक वस्त्र के छोर में बांधकर उन्हें निधान की भांति सुरक्षित रख दिया।

चौथी बहू ने चतुराईपूर्वक मन में विचार किया–''मेरे ससुर उचित व्यवहार में बृहस्पति

का भी तिरस्कार करते हैं अर्थात् अतुल बुद्धि–वैभव से सम्पन्न हैं। अतः अवश्य ही किसी गूढ़ अभिप्राय से से दाने हमें दिये हैं, क्योंकि बुद्धिमान की कोई भी प्रवृत्ति बिना अभिप्राय के नहीं होती।''

ऐसा विचार करके निपुण बुद्धियुक्त उस बहू ने अपने भाई को वे दाने अलग से खेत में बोने के लिए दे दिये। भाई ने भी उन दानों को प्रतिवर्ष बोते हुए अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त करवाये।

पाँच वर्ष बाद धन श्रेष्ठी ने पहले की तरह बहुओं के बन्धुजनों को निमन्त्रित किया। उनका भोजनादि द्वारा सत्कार करके योग्य आसनों पर बिठाकर बहुओं को बुलवाया और उनको पूर्व में दिये गये ब्रीहि के दाने वापस मांगे।

दोनों बड़ी बहुओं के पास तो दाने नहीं थे, अतः वे खिन्न होकर मौन खड़ी रहीं। **बिना विचारे कार्य करनेवाले का पराभव सुलभ ही है।** श्रेष्ठी ने फिर से पूछा। तब दोनों बहुओं ने हकीकत बता दी। तीसरी बहू ने थापण की तरह रखे हुए वे ही सुरक्षित कण वापस लौटा दिये। चौथी बहू ने कहा–''हे पूज्य! अगर आपको वे कण वापस चाहिए, तो उन्हें मंगाने के लिए कई गाड़े आपको मेरे पीहर भेजने होंगे।''

श्रेष्ठी ने पूछा–''इसका क्या कारण है?''

तब उसने सारी हकीकत कही। सुनकर श्रेष्ठी अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने सभी बहुओं के बन्धुजनों से कहा–''इन बहुओं को अपने–2 कर्म के अनुसार ही मति उत्पन्न हुई है। अतः उसी का अनुसरण करते हुए ही मैं उन्हें अपने–2 कार्य में जोड़ रहा हूं। आपलोग किसी भी प्रकार का रोष न करें।''

ऐसा कहकर उन्होंने पहली बहू का नाम **उज्झिका** रखा और उसे राख, छाणे, बासी आदि निकालने का काम सौंपा। दूसरी बहू का नाम **भक्षिका** रखकर उसे रसोई का काम सौंपा। तीसरी बहू का नाम **रक्षिका** रखकर उसे भाण्डागार का काम सौंपा। चौथी बहू का नाम **रोहिणी** रखकर उसे सन्मानपूर्वक घर का स्वामित्व सौंपा।

हे **विजय** साधु! इस कथा का उपनय सुनो–

श्रेष्ठी के स्थान पर श्रीगुरुदेव, बंधुजनों के स्थान पर श्रीसंघ, ब्रीहि के स्थान पर पाँच महाव्रत और बहुओं के स्थान पर भव्य प्राणियों को जानो। जैसे यथार्थ नामवाली उज्झिका को भस्मादि फेंकने में नियुक्त किया, क्योंकि वह निन्दा का पात्र बनी और दुःखी हुई। उसी प्रकार श्रीगुरुदेव द्वारा श्रीसंघ के समक्ष दिये गये पंच महाव्रतों का जो कोई मूढ़ बुद्धिवाला मदोन्मत्त साधु प्रमाद के कारण परित्याग करता है, वह इस भव में निरन्तर दुर्वार निन्दा के

स्थान को प्राप्त करता है तथा परभव में कुगति को प्राप्त करके असंख्य दुःखों का स्थानरूप बनता है।

दूसरी यथार्थ नामवाली भक्षिका, जो कि इच्छानुसार भोजन करती थी, तो भी [1]अन्नदासी की तरह दुःख का निवास–स्थान बनी। इसी प्रकार पंच महाव्रत की धुरा को छोड़कर आहारादि में लोलुप हुआ जो साधु निरन्तर आजीविका के लिए ही व्रतों का उपयोग करता है, वह वेष के कारण यथेष्ट प्रकार का आहारादि प्राप्त करता है, परन्तु वह विद्वानों द्वारा मान्य नहीं बनता और परभव में भी अत्यन्त दुःखी बनता है।

जिस प्रकार तीसरी बहू रक्षिका कोष का रक्षण करने में निपुण, सुखी, व लोकमान्य बनी, उसी प्रकार जो साधु पाँच व्रतों का निरतिचार रूप से समग्र प्रमाद को छोड़कर अच्छी तरह पालन करता है, वह आत्महित में ही रुचिवान होने से इसलोक में तो प्रशंसापात्र बनता ही है, परलोक में भी असंख्य सुखों को और कालक्रम से अक्षय मोक्ष को भी प्राप्त करता है।

जिस प्रकार चौथी बहु रोहिणी की बुद्धि वृद्धि को प्राप्त थी, जिससे उसने व्रीहि के दानों की वृद्धि की थी, इसी कारण से वह सबसे छोटी होते हुए भी सबकी स्वामिनी बनी और अत्यन्त प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई। उसी प्रकार यतना में तत्पर जो साधु इन पंच महाव्रतों को पालता है, सर्व सिद्धान्तों को पढ़कर दूसरों को भी पढ़ाता है, वह गौतमस्वामीजी की तरह सर्वसंघ में प्रधानता प्राप्त करते हुए स्व–पर–उपकारिणी प्रधान सम्पदा को प्राप्त करता है। जगत का पूजनीय बनकर तीर्थ की उन्नति करते हुए तथा परतीर्थियों का पराभव करते हुए अनुक्रम से मोक्षपुरी में जाता है। अतः तुम भी पंच महाव्रतों को वृद्धि प्राप्त करवाओ, जिससे रोहिणी की तरह उत्कृष्ट गौरव को प्राप्त कर पाओ।''

इस प्रकार श्रीगुरुदेव के वचनामृत का पान करके विजय मुनि ने चित्त में आनन्द प्राप्त किया और प्रयत्नपूर्वक संयम का पालन करने लगे। उन्होंने श्रीगुरुदेव के पास प्रयत्नपूर्वक शास्त्रों का अभ्यास किया, क्योंकि सत्कर्म का अनुष्ठान सम्यग्ज्ञान के आधीन है। अनुक्रम से उन्हें योग्य जानकर श्रीगुरुदेव ने अपने स्थान पर स्थापित किया। गुरु योग्य शिष्य को विशेष उन्नति प्राप्त करवाते हैं। फिर श्रीगुरुदेव ने उनको शिक्षा प्रदान करते हुए कहा–''यह आचार्य पद गौतमादि गणधरों के द्वारा वहन किया हुआ है। यह सिद्धि रूपी महल का प्रतिष्ठान है और सर्व पदों के मध्य सर्वश्रेष्ठ पद है। अतः हे वत्स! प्रमाद का त्याग करके शिष्यों की सारणादि करके उन्हें वाचनादि देने में उद्यमवन्त रहना। सुख़शील बनकर मन में

---

1. भोजन के मेहनताने पर रखी हुई दासी।

जरा भी खेद धारण मत करना। ऐसा आचरण करने से ही तुम आचार्य पद संबंधी ऋण से मुक्त हो पाओगे और शासन भी विशाल वृद्धि को प्राप्त होगा।''

यह कहकर श्रीगुरुदेव सम्मेतशिखर पर जाकर सावधान चित्त से एक मास की अनशन रूपी निःसरणी पर चढ़कर सिद्धि रूपी महल को प्राप्त हुए।

उसके बाद विजयाचार्य वाचनादि में प्रमाद–रहित बनकर पृथ्वी को पवित्र करते हुए अत्यधिक उन्नति को प्राप्त हुए। [1]अपूर्व श्रुत को ग्रहण करने की इच्छा करते हुए साधुजन [2]अहंपूर्विकापूर्वक जैसे दातार को याचक घेर लेते हैं, उसी प्रकार विजयाचार्य को घेर लेते थे। अन्य [3]प्रतीच्छक साधु भी उनके पास ज्ञान श्रवण करने की पिपासा लिए हुए आते थे। रत्नाकर समीप हो, तो कौन रत्नों को ग्रहण करने की इच्छा नहीं करेगा? जैसे व्यापार की दलाली करनेवाला क्षणभर भी विश्रान्ति नहीं लेता, वैसे ही पूरे दिन साधुओं को वाचना देते हुए आचार्य कभी भी क्षणमात्र भी विश्रान्ति प्राप्त नहीं कर पाते थे। रात्रि में भी साधुओं द्वारा किये जानेवाले सूत्रार्थ का चिंतवन, प्रश्न–उत्तरादि के कारण कभी भी सुखनिद्रा नहीं ले पाते थे।

इस प्रकार एक बार कर्मोदय के कारण वे वाचनादि देते हुए खिन्नता को प्राप्त हो गये। अपने शरीर की छाया की तरह कर्म के विपाक का उल्लंघन करने में कौन समर्थ हो सकता है? अतः उन्होंने मन में विचार किया–''ये मूर्ख यति श्रेष्ठ हैं, जो पढ़ने–पढ़ाने की क्रिया से विमुख होने के कारण सुखपूर्वक रहते हैं। कहा भी है कि :–

मूर्खत्वं हि सखे ममाभिरुचितं तस्मिन् यदष्टौ गुणा,
निश्चिन्तो बहुभोजनोऽत्रपमना रात्रिंदिवाशायकः।
कार्याकार्यविचारणान्धबधिरो मानापमाने समः,
प्रायेणामयवर्जितो दृढ़वपुर्मूर्खः सुखं जीवति।।1।।

अर्थ :–हे मित्र! मुझे मूर्खता बहुत अच्छी लगती है, क्योंकि उसमें आठ गुण रहे हुए हैं–1.मूर्ख मनुष्य चिन्ता रहित होते हैं, 2. अधिक भोजन करते हैं, 3. लज्जारहित होते हैं, 4. कार्याकार्य के विचार में अंध व बधिर के समान होते हैं, 5. मानापमान में समभावी होते हैं, 6. प्रायः रोगरहित होते हैं, 7. मजबूत शरीरवाले होते हैं और 8. इन्हीं कारणों से उनका जीवन सुखी होता है।

---

1. नवीन / पहले नहीं पढ़े हुए।
2. मैं पहले–मैं पहले इस प्रकार त्वरापूर्वक।
3. दूसरे समुदाय के साथु अध्ययन हेतु आये हुए।

मैं तो इस शरीर के भीतर रहे हुए वैरी की तरह ज्ञान के द्वारा कैसी दुर्दशा को प्राप्त हो गया हूं? यह ज्ञान कदाचित् गुण रूप भी हो, पर वह प्रयासों का कारण होने से मैं तो इसके द्वारा जकड़ा जा चुका हूं। अगर कपूर से दाँतों का विनाश होता हो, तो ऐसे कपूर से तो दूर रहना ही बेहतर है, भले ही वह कपूर गुणयुक्त ही क्यों न हो। लेनदारों की तरह ये साधु मुझे देनदार मानकर पठनादि के द्वारा मेरी कितनी कदर्थना करते हैं। कीर्त्ति का जरिया होने पर भी इस ज्ञानदान से अब बस! जिससे कानों में छेद होता हो, ऐसे स्वर्णादि आभूषणों से क्या कार्य सिद्ध हो सकता है? तोता–मैना की तरह ये निरपराध प्राणी ज्ञान के वशीभूत होकर ही दिन–रात बन्धन को प्राप्त होते रहते हैं।''

इस प्रकार के हीन विचारों से युक्त मूर्ख शिरोमणि व मन्दबुद्धि से युक्त होकर वह विजयाचार्य ज्ञान पर अपने द्वेष को पुष्ट करके साधुओं को पढ़ाने में प्रमाद करने लगा। यह देखकर स्थविर साधुओं ने उसे वाचनादि देने के लिए प्रेरणा की। तब उसने कहा–''एकमात्र कण्ठ का शोषण रूप ही होने से इस ज्ञानदान व पठन–पाठन से अब बस! एकमात्र क्रिया में ही पुरुषार्थ करना चाहिए। क्रिया ही फल प्राप्त करने का साधन है, श्रुतज्ञान नहीं। श्रुतज्ञान न होने पर भी माषतुषादि मुनि सिद्ध हुए हैं। चौदह पूर्व का अध्ययन करने के बाद भी क्रिया के बिना अनंत जनों ने भवभ्रमण करके दुःखों को प्राप्त किया है–ऐसा शास्त्रों में सुना जाता है। लोक में भी किसी भी स्थान पर मात्र ज्ञान के द्वारा फल की सिद्धि नहीं देखी जाती है। समीप में रखी हुई स्वादिष्ट भोज्य–सामग्री को देखने मात्र से कुछ भी तृप्ति हासिल नहीं होती। नाटक में कुशलता को प्राप्त होशियार नटी भी उस नाटक का प्रयोग किये बिना कभी भी लोगों के पास से इनाम प्राप्त नहीं कर सकती। अतः अगर मोक्ष की अभिलाषा है, तो सम्यग् प्रकार से क्रिया का सेवन करो। क्या आपलोगों ने नहीं सुना? जो क्रियावान् होता है, वही पण्डित है।''

इस प्रकार उत्सूत्र का आलाप करने पर स्थविरों ने उसकी अवगणना की, तिरस्कार किया। **विवेकशील पुरुष उन्मार्ग में प्रवर्त्तित अपने गुरु का भी आदर नहीं करते।** मर्मस्थान का छेदन करनेवाले और आत्मा को अन्धा करनेवाले ऐसे कुकर्म को धिक्कार है! क्योंकि यह कर्म जिनागम के ज्ञाता को भी उन्मार्ग पर ले जाता है।

उसके बाद **विजय सूरि** उस अतिचार की आलोचना किये बिना ही मरण प्राप्त करके संयम के प्रभाव से सौधर्म देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुए। वहां असंख्यात वर्षों तक सुखों का उपभोग किया। आयुष्य पूर्ण होने पर पके हुए पत्ते की तरह वे देवलोक से च्युत होकर **पद्मखण्ड** नामक नगर में **धन** नामक श्रेष्ठी की **शिवा** नामक प्रिया की कुक्षि से **धनशर्मा** नामक पूर्ण सुन्दरता से युक्त पुत्र के रूप में पैदा हुए। पहले कोई भी सन्तान न

होने के कारण इस पुत्र की प्राप्ति से वह दम्पति अत्यन्त हर्षित हुआ। चिरकाल के बाद इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने से कौन प्रसन्न नहीं होगा?

जब वह **आठ वर्ष** का हुआ, तो पिता ने हर्षपूर्वक शुभ मुहूर्त्त में महोत्सव के साथ उसे पढ़ने के लिए लेखशाला में भेजा। उपाध्याय ने भी प्रयत्नपूर्वक उसे पढ़ाने का प्रयास किया। पर उस समय ज्ञान की अवज्ञा से बांधा हुआ पूर्वजन्म का कर्म उदय में आया। अतः उपाध्याय उसे कुछ भी नहीं पढ़ा सके। गाँठवाली लकड़ी को क्या कोई तोड़ सकता है? बारहखड़ी को सीखना भी उसके लिए महाभाष्य की तरह विषम हो गया। अपंग मनुष्य के लिए घर की देहरी भी ऊँचे गढ़ के समान प्रतीत होती है। फिर उद्विग्न होकर उपाध्याय ने उसका त्याग कर दिया। कौनसा बुद्धिमान पुरुष अयोग्य स्थान पर अपना पुरुषार्थ व्यय करेगा? एक–एक करके उसे पाँचसौ उपाध्यायों के पास उसे भेजा गया, पर सभी ने उसका परीक्षण करके जौहरी जैसे खोटे मणि को छोड़ देता है, उसी तरह उसका त्याग कर दिया। जड़बुद्धि युक्त उसके वज्रहृदय में एक अक्षर का भी प्रवेश न हो सका। तब उसके पिता अत्यन्त खिन्न होकर विचार करने लगे–"अहो! यह पुत्र तो पत्थर निकला। अब मैं क्या करूं? इस पुत्र को पढ़ाने पर भी यह किसी भी कुशलता को प्राप्त नहीं होता है। ऐसा पुत्र जन्मता ही नहीं, तो अच्छा होता। अगर जन्मता भी, तो उसका जीवन न होता, तो अच्छा होता। कहा भी है कि :–

अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम्।
यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीवं जडः पुनः।।

भावार्थ :–नहीं उत्पन्न हुआ, मरा हुआ और मूर्ख– इन तीन प्रकार के पुत्रों में से नहीं उत्पन्न हुआ व मृत पुत्र–ये दोनों ही श्रेष्ठ है, क्योंकि ये अल्प दुःखदायक होते हैं। पर मूर्ख पुत्र तो जिन्दगी–भर ही दुःख के लिए होता है। अतः मूर्ख पुत्र का होना श्रेष्ठ नहीं है।।"

इन विचारों से पीड़ित धन श्रेष्ठी अनेक देवों की पूजा–मन्नतें आदि करने लगा। विविध प्रकार की औषध, मंत्र–तंत्राादि करवाने लगा। पर किसी भी उपाय के द्वारा पुत्र को कोई भी लाभ नहीं हुआ। रोग का कारण जाने बिना किसी भी रोग की कोई चिकित्सा नहीं हो सकती।

एक बार उस नगर के उद्यान में कोई ज्ञानी मुनि पधारे। उन्हें वंदन करने के लिए बुद्धि रूपी धन से युक्त **धन श्रेष्ठी** अपने पुत्र को साथ में लेकर गया। अन्य पुरजन भी मुनि को भक्तियुक्त वंदन करने के लिए आये। सभी वंदन करके मुनि के समीप बैठ गये। सभी को धर्मलाभ रूपी आशीष से संतुष्ट करके मुनि ने ज्यों ही पाप का शमन करनेवाली धर्म–

देशना का प्रारम्भ किया, **धन श्रेष्ठी** ने प्रणामपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर कहा–"हे पूज्य! किस कर्म के उदय से मेरा यह पुत्र मूर्ख–शिरोमणि हुआ है? आप कृपया इसी विषय पर धर्मदेशना प्रदान करें, क्योंकि वक्ता की प्रवृत्ति श्रोता के आधीन ही होती है।"

तब मुनि ने पूर्वभव में उसके अपमानित होकर गृह–त्याग करके दीक्षा अंगीकार करने के साथ ज्ञान की विराधना की सर्व हकीकत विस्तृत रूप में बतायी। फिर उन्होंने कहा–"ज्ञान की अवज्ञा के कारण ही यह मूर्ख–शिरोमणि बना है। ज्ञान की आशातना करने से ज्ञान परभव में प्राप्त नहीं होता। जो बुद्धिमान बहुमानपूर्वक अन्य जनों को ज्ञान का दान करता है, वह परभव में श्रेष्ठ बुद्धिवैभव से सम्पन्न होकर अनेक शास्त्रों का पारगामी बनता है तथा जो अज्ञानतावश ज्ञान और ज्ञानी की अवज्ञा करता है, वह परभव में बुद्धिरहित पुरुषों के मध्य शिरोमणि बनता है। इस विषय में **सुबुद्धि और दुर्बुद्धि की कथा** सुनो :–

पृथ्वी के अलंकार के समान **क्षितिप्रतिष्ठित** नामक एक नगर था। उसमें गुणों के समुदाय से शोभित **चन्द्रयशा** नामक राजा था। उसने चन्द्र के समान उज्ज्वल यश के द्वारा अपना नाम सार्थक किया था। उसके सभी मंत्रियों में मुख्य **मतिसार** नामक मंत्री था। उस मंत्री के जगत के लोगों को आनन्द प्राप्त करानेवाला **सुबुद्धि** नामक पुत्र था। वह विशिष्ट बुद्धिवैभव से संपन्न होने के कारण गुरु की साक्षी–मात्र से थोड़े ही समय में संपूर्ण कलाओं को सीख गया था। प्राप्त विषम कार्यों को सिद्ध करनेवाली औत्पत्तिकी आदि चार शुद्ध बुद्धियाँ उसे [1]पतिंवरा स्त्रियों की तरह शीघ्र ही प्राप्त हो गयी थी। देखने मात्र से उसकी बुद्धि में न समाये, ऐसा कोई शास्त्र, तंत्र, विद्या या कला नहीं थी। सभी निर्मल विद्याओं में उसकी इतनी कुशलता थी कि बृहस्पति भी उनको अपने कलाचार्य मान बैठते। चारों तरफ से विकास को प्राप्त उसके शुद्ध विचार वर्षाऋतु के मेघों की तरह सर्व लोगों के उपकारक कारणों को पुष्ट करते थे। उस मतिसार मंत्री के एक अन्य भी पुत्र था, जो दुष्कर्म के योग से मूर्ख था, अतः उसका **दुर्बुद्धि** नामक सार्थक नाम लोक में प्रसिद्ध हुआ था। वह मन्दबुद्धि किसी उपाध्याय के पास पढ़ने लगा। पर चार महिनों में वह बारहाक्षरी भी सीख नहीं पाया। अभवी को उपदेश देने की तरह तथा बंजर भूमि में बोये हुए बीज की तरह उस दुर्बुद्धि को पढ़ाने में कलाचार्यों द्वारा किये गये सर्व उद्यम निष्फल हो गये। बुद्धि के भण्डार और सर्व शास्त्रों में कुशलता को प्राप्त ज्येष्ठ पुत्र **सुबुद्धि** को और उससे विपरीत कनिष्ठ पुत्र **दुर्बुद्धि** को देखकर कौन ऐसा होगा, जो कि विस्मय को प्राप्त न होगा?

उसी नगर में **धन** नामक श्रेष्ठ और सम्पदा में कुबेरवत् श्रेष्ठी थे। उनके विनयशील व श्रेष्ठ नीतियुक्त **देहड़, बाहड़, भावड़ और सावड़** नामक चार पुत्र थे। वे अनुक्रम से यौवन को प्राप्त हुए। अतः पिता ने उनका विवाह कुलीन कन्याओं के साथ कर दिया। फिर उनकी

योग्यतानुसार उन्हें व्यापार में जोड़ दिया। वे पुत्र भी विविध प्रकार के व्यापार को करने लगे।

एक बार **धनश्रेष्ठी** वृद्धावस्था के कारण व्याधियों से अत्यन्त पीड़ित हुआ। वृद्धावस्था ज्वरादि रोगों की संकेतिक दूतिका है। अतः उस चतुर श्रेष्ठी ने अपने चारों पुत्रों को बुलवाया और द्राक्षा के समान मिष्ट वचनों के द्वारा उन्हें शिक्षा प्रदान की–"हे निर्मल अंतःकरणयुक्त पुत्रों! वैसे तो तुम स्वयं ही विवेकी हो, फिर भी कुछ शिक्षाएँ मैं तुम्हें दे रहा हूं, जिन्हें तुम ध्यानपूर्वक सुनना। तीन लोक के विशाल साम्राज्य को भोगनेवाले धर्म रूपी राजा के पास ये सभी लक्ष्मियाँ दासी के रूप में रही हुई हैं। धर्म समग्र दुष्कर्म रूपी वृक्षों का उन्मूलन करने में मदोन्मत्त हाथी के समान है। अतुल कल्याण रूपी वल्ली को पवित्र करने में मेघ के समान है। जब जीव परलोक की ओर प्रस्थान करता है, उस समय धन, मित्र, बंधु आदि सब कुछ यहीं पर रह जाता है। मात्र धर्म ही उसके साथ जाता है। जिस प्रकार शरीर में जीवन की प्रधानता है, गृहस्थाश्रम में धन की प्रधानता है, उसी प्रकार पुण्य के सर्व कार्यों के मध्य एकमात्र दया की ही प्रधानता है। वास्तव में सत्यवचन ही पुरुष के लिए कामधेनु के समान है। उसी से धर्म रूपी दूध झरता है और अभीष्ट फल की प्राप्ति करवाता है।

सदा व्यापार की शुद्धि के लिए ही प्रयत्न करना, क्योंकि शुद्ध व्यापार के बिना धन, आहार, शरीर और धर्म–ये सभी मलीन होते हैं।

स्वदारा–सन्तोष नामक विद्या तीनों लोक में अद्‌भुत है, क्योंकि उसी विद्या के द्वारा श्रेष्ठ भाग्य और श्रेष्ठ भावना से युक्त हुआ पुरुष ही सभी सिद्धियों को वरता है। संतोष अमृत–रस से भी अधिक उत्तम रस है, जिसका पान करने पर अजर–अमर रूपी पद से युक्त मोक्ष को वरा जा सकता है।

सहसाकार से किसी भी कार्य को नहीं करना चाहिए, क्योंकि विचारपूर्वक कार्य करनेवाले को समुद्र की तरह सम्पत्तियाँ रूपी सभी नदियाँ आकर वर लेती हैं। धन का नाश हो जाता है, शरीर क्लेशित हो जाता है, अन्त में जीवन का भी नाश हो जाता है, पर यश रूपी धनयुक्त सत्पुरुष अंगीकार किये हुए को कतई नहीं छोड़ते।

भयंकर नाग के समान दुर्जनों का दूर से ही त्याग करना चाहिए, क्योंकि वे अपनी संगति से दूसरों के गुण रूपी जीवन का हरण करते हैं। बुद्धिमान पुरुषों को सदा सत्पुरुषों की संगति करनी चाहिए, क्योंकि शरद् ऋतु के योग में जैसे जल निर्मल बनता है, वैसे ही सत्संगति के योग से जीव निर्मल बनता है। **विवेक, स्वजनों पर प्रीति, यथाशक्ति दान, व्यसनों का त्याग और व्यवहार की शुद्धि–ये पाँच बातें लक्ष्मी की प्राप्ति में साक्षी रूप हैं।** पुरुष गाम्भीर्य और विनयादि गुणों के द्वारा जिस प्रकार की शोभा को धारण करता

है, वैसी शोभा श्रेष्ठ मणि व सुवर्ण के आभूषणों से भी प्राप्त नहीं होती।

इस प्रकार चित्त में [1]हेय व [2]उपादेय का अच्छी तरह से निश्चय करके उसके कर्त्तव्य–कर्म में सर्वदा तुमलोग राजहँस की तरह बनना। मेरे परलोक–गमन के बाद तुम सभी परस्पर स्नेहयुक्त होकर एक साथ ही रहना। उसी से लोक में प्रतिष्ठा की वृद्धि होती है। परस्पर अपने–अपने औचित्य का कभी भी उल्लंघन मत करना, क्योंकि उससे लम्बे समय से अर्जित स्नेह का भी नाश हो जाता है। कभी भी स्त्रियों की क्लेशयुक्त वाणी पर विश्वास करके अपने भाइयों पर विद्वेष भाव मत लाना, क्योंकि स्त्रियों के वैसे वचन भाइयों के परस्पर स्नेह रूपी दूध का नाश करने में [3]कांजी के समान होते हैं। इन सब के अलावा भी कदाचित् अन्य किसी कारण से तुम भाइयों में परस्पर मतभेद पैदा हो जाय, तुम्हें अलग होना पड़े, तो भी धन को लेकर लेशमात्र भी क्लेश मत करना। भाइयों में परस्पर वृद्धि को प्राप्त क्लेश स्वयं के घर में विषवृक्ष के समान व शत्रुओं के घर में कल्पवृक्ष के समान वृद्धि को प्राप्त होता है। तुम्हारे परस्पर क्लेश के निवारण के लिए मैंने हमारे घर की चारों दिशाओं में अनुक्रम से तुम चारों के लिए चार निधान स्थापित किये हैं। जब भी तुमलोगों में अलगाव की स्थिति पैदा हो, तभी तुम अपने–अपने नाम से अंकित उस निधान को ग्रहण कर लेना।''

इस प्रकार उन पुत्रों को शिक्षा देने के कुछ समय बाद श्रेष्ठी परलोक के लिए प्रयाण कर गये। चारों भाई पिता की मरणक्रिया करके पिता की दी हुई सीख को स्मृति में रखकर चिरकाल तक प्रेमपूर्वक एक साथ रहे। अनुक्रम से उनके पुत्र–पौत्रादि संतति भी प्राप्त हुई। एक वृक्ष से सैकड़ों शाखाओं का प्रादुर्भाव होता है। कालान्तर में पुत्र–पौत्रादि के कारणों को लेकर स्त्रियों में परस्पर विग्रह होने लगा। उनके पतियों ने उन्हें बहुत समझाया, पर वे अपने क्लेश को नहीं छोड़ सकीं। किनारों को तोड़नेवाली नदियों को रोकने में कौन समर्थ होता है?

तब उन भाइयों ने प्रीतिपूर्वक विचार करके स्वयं ही अलग–अलग होने का निर्णय किया और अलग हो भी गये, क्योंकि **बुद्धिमान मनुष्य समय के अनुसार निर्णय लेने में माहिर होते हैं।** उसके बाद वे भाई एक–दूसरे की साक्षी रखकर हृदय में रहे हुए पिता के आदेश की तरह अपनी–अपनी निधि को हर्षपूर्वक भूमि में से निकालने लगे। प्रथम भाई के घड़े में घोड़े–बैलादि पशुओं के बाल निकले, द्वितीय भाई के घड़े में से मिट्टी निकली? तृतीय

1. छोड़ने योग्य।
2. ग्रहण करने योग्य।
3. छाछादि खटाईयुक्त वस्तुएँ।

भाई के घड़े में से कागज निकले और चतुर्थ भाई के घड़े में से स्वर्ण–मणियों का ढ़ेर निकला। तीनों बड़े भाई यह सब देखकर अत्यन्त खेद को प्राप्त हुए। चौथा छोटा भाई अपने निधान को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। **मनुष्यों की बुद्धि प्रायः बाहरी रूप को देखकर उसके तथ्य का निर्णय कर लेती है।** अत्यन्त दुःखित होते हुए तीनों ज्येष्ठ भाइयों ने कहा–"सभी समान रूप से पुत्र होने के बाद भी हमारे पिता ने हमारे साथ भेदभाव किया है। हमारे घड़ों में केशादि तुच्छ वस्तुएँ रखीं और लघु भाई के घड़े में स्वर्ण–मुक्तादि रखे। इससे तो यही सिद्ध होता है कि यह पिता को सबसे ज्यादा प्यारा था। अरे! लघु पुत्र पर प्रेम के कारण मलिन हृदय से युक्त उन्होंने हम सभी को कैसे ठगा है! रत्नबुद्धि से कांच की तरह और स्वर्णबुद्धि से पीतल की तरह भ्रान्ति को प्राप्त हमने गुरुबुद्धि से उनकी व्यर्थ ही सेवा की। पर उस वृद्ध के द्वारा की हुई व्यवस्था अब हमे स्वीकार नहीं है, क्योंकि **किसी समझदार मध्यस्थ पुरुष की वाणी ही प्रमाणभूत मानी जाती है।** अतः हमें भी लघु भाई के कलश में से अपना–अपना हिस्सा मिलना चाहिए और हमारे कलशों में से उस छोटे भाई को अपना हिस्सा ग्रहण करना चाहिए।"

यह सुनकर छोटे भाई ने कहा–"तुमलोग भाग्यहीनों में शिरोमणि हो, क्योंकि तुम्हारे निधान इस रूप में बदल गये हैं। हमारे पिता तो सर्वलोक के लिए हितकारी थे। उन्होंने कभी दूसरे को भी धोखा नहीं दिया, तो हमें क्या धोखा देंगे? पिताश्री की निन्दा करके क्यों अपनी आत्मा को मलिन करते हो? गुरुजनों की निन्दा दोनों लोकों के लिए दुःखकारी है।

और तुमलोग सुन लो कि मैं अपने भाग का थोड़ा भी स्वर्णादि तुमलोगों को नहीं देनेवाला हूं। तुमलोग भी पिताश्री द्वारा प्रदत्त इस धन को लेने का जरा भी प्रयास मत करना। अन्य द्वारा कृत व्यवस्था अन्यथा नहीं हो सकती, तो हमारे परम हितैषी पिताश्री द्वारा कृत यह व्यवस्था अन्यथा कैसे हो सकती है?"

इस प्रकार विरुद्ध मानसयुक्त वे भाई परस्पर कलह करने लगे। इसी कारण से सत्पुरुषों ने द्रव्य को अनर्थ का मूल कहा है। उनके कलह को रोकने के लिए उनके स्वजन बुद्धिमान होने पर भी मानो मूढ़ के समान हो गये। गुप्त अर्थ में कौन मूढ़ नहीं होता?

उसके बाद विवाद अत्यधिक बढ़ जाने से वे लोग राजसभा में गये। राजा को प्रणाम करने के बाद उन्होंने सारा वृत्तान्त कहा। सुनकर विस्मित होते हुए राजा ने उनका निर्णय करने के लिए मतिसार आदि मन्त्रियों को आज्ञा प्रदान की। सभी मंत्री अपनी–अपनी बुद्धि के अनुसार उनके समाधान के लिए चिरकाल तक विचार–विमर्श करने के उपरान्त किसी भी नतीजे तक नहीं पहुँच पाये। यह ज्ञातकर राजा अत्यन्त चिन्तातुर हुआ, क्योंकि यह राजा

की इज्जत का सवाल था।

तभी बुद्धि का भण्डार मंत्रीपुत्र सुबुद्धि राजसभा में आया। राजा को नमस्कार करके अपने आसन पर आसीन हुआ। सभी को चिन्तित जानकर उसने पूछा–"हे स्वामी! आज समग्र सभा चिन्तातुर क्यों दिखायी दे रही है?"

राजा ने कहा–"इस चिन्ता के निवारण में तुम्हारी वाणी ही सफल हो सकती है।"

यह कहकर राजा ने प्रधानमंत्री को संकेत किया और प्रधानमंत्री ने अपने पुत्र को उन चारों भाइयों का वृत्तान्त और उनके पिताश्री द्वारा किये गये बँटवारे के बारे में बताया। यह सुनकर औत्पत्तिकी बुद्धि से युक्त कुमार सुबुद्धि ने शीघ्रता से उस सभी घटना को हृदय में धारण किया और क्षणभर का विचार करने के बाद उसका रहस्य जान लिया। फिर उसने राजा से कहा–"हे स्वामी! अगर आप आज्ञा प्रदान करें, तो मैं इस विवाद का शीघ्र ही निर्णय करुं।"

यह सुनकर राजा ने कहा–"शीघ्र ही इस विवाद को निपटाओ।"

तब बुद्धि में बृहस्पति–तुल्य उस मंत्रीपुत्र सुबुद्धि कुमार ने चारों भाइयों को एकान्त में बुलवाकर कहा–"तुम्हारे दीर्घदर्शी पिताश्री युक्त–अयुक्त के ज्ञाता व तुम सब के एकान्त हितचिन्तक थे। अतः उन्होंने तुम्हारे साथ कोई धोखा नहीं किया। तुम्हारे हित के लिए उन्होंने वक्रतारहित होकर तुम्हारे क्लेश–निवारण के लिए यह व्यवस्था की है–ऐसा जान पड़ता है। यह बँटवारा इस प्रकार है–अश्व, ऊँट, बैलादि के क्रय–विक्रय में प्रथम पुत्र की कुशलता है। अतः उसके हिस्से में सभी पशु आये हैं। दूसरे पुत्र की कुशलता खेती के सभी कार्यों में अतुल्य है, अतः उसके भाग में घर, खेत, अनाजादि दिया है। तीसरा पुत्र दुकान के कार्यों में अति कुशल है, अतः उसके भाग में बीज, किरियाणा, उधारादि के लेख प्रदान किये हैं। इसी अर्थ को बताने के लिए तुम्हारे पिता ने अनुक्रम से तुम सब के घड़ों में केश, मिट्टी और कागजादि डाले हैं। चौथा पुत्र उस समय छोटा होने से किसी भी कार्य में कुशल नहीं था। अतः उसके निधान में सुवर्णादि रखा है। अब मैं तुमलोगों से पूछता हूं कि उसके स्वर्ण–मुक्तादि निधान का कितना–प्रमाण धन है?"

सुबुद्धि के द्वारा पूछे जाने पर भाइयों ने कहा–"लगभग एक लाख द्रव्य है।"

तब सुबुद्धि ने कहा–"अगर तुम गहराई से विचार करोगे, तो तुम सभी के भाग में भी लगभग इतने ही द्रव्य का निधान होगा। यही तुम्हारे विवाद का निर्णय है। जो वस्तु जिसको फलदायक थी, तुम्हारे पिताश्री ने दीर्घदृष्टि से विचार करके उसके भाग में वही वस्तु दी है, जिस प्रकार कि कोई वैद्य औषधि देता है। अतः स्वच्छ बुद्धि से युक्त अपने पिताश्री पर और लघु

भ्राता के ऊपर तुम व्यर्थ ही क्यों ईर्ष्याभाव रखते हो? ज्ञानी फरमाते हैं कि सभी पर ईर्ष्याभाव का त्याग करना चाहिए, तो फिर अधिक गुणों से युक्त अपने आप्तजनों पर तो विशेष रूप से ईर्ष्या का त्याग करना चाहिए। अतः अब तुम अपने पिताश्री की आज्ञा को शिरोधार्य करके अपने–अपने कार्य में उद्यम करो, जिससे तुम्हारा सुख, कीर्त्ति और प्रतिष्ठा निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो।''

इस प्रकार सुबुद्धि के सदुपदेश रूपी जल द्वारा शुद्ध हुई बुद्धि से उन्होंने अपने–अपने भाग में आया हुआ लक्ष द्रव्य जानकर आनन्द प्राप्त किया और कहा–''अहो! हमारे पिताश्री की उचितता अद्‌भुत है। वास्तव में सच्चे हितकारक की तरह उन्होंने हमारी आजीविका के लिए यथायोग्य उपाय बताया है। अहो! आपकी बुद्धि भी असीम है! ज्ञानी की तरह आपने अति गूढ़ अभिप्राय को जान लिया। अहो! आप ही हमारे पिताश्री हैं। आप ही हमारे जीवन–प्रदाता हैं। आपने ही सर्व प्रकार के दुःखों को देनेवाले इस भयंकर कलह रूपी राक्षस से हमें मुक्त किया है।''

इस प्रकार कहकर उन्होंने कुमार के वचनों को अंगीकार किया। उन्मार्ग में गिरा हुआ कौनसा मनुष्य दूसरों द्वारा बताये गये सन्मार्ग का आश्रय नहीं लेगा?

फिर कार्यकुशल सुबुद्धि उन्हें अपने साथ लेकर राजसभा में आया। राजा के सामने उसने अपनी बुद्धि के विकास को प्रकाशित किया। सारा वृत्तान्त सुनकर राजा ने विस्मित होते हुए कहा–''तुम्हारा सुबुद्धि नाम सार्थक है, क्योंकि तुमने ऐसे विवाद को खत्म किया है, जिसे कोई न कर सका। अहो! तुम्हारी अस्खलित बुद्धि सर्वत्र गतियुक्त है। बुद्धि से न जाना जाय, ऐसे भावों को भी तुम्हारी बुद्धि वज्र के समान भेद लेती है। पृथ्वी, आकाश, समुद्रादि सभी पदार्थ सीमायुक्त है, पर बुद्धिमान व्यक्ति की बुद्धि किसी भी सीमा में आबद्ध नहीं हो सकती।''

उसके बाद वे चारों भाई अपने–अपने कार्य में सावधान होकर कुमार की प्रशंसा करते हुए परस्पर प्रीतियुक्त बने। कुमार भी अपनी बुद्धि के द्वारा राजा व प्रजा–सभी को विस्मय प्राप्त कराते हुए अपने यश–समूह का विस्तार करने लगा।

मंत्री का दूसरा पुत्र दुर्बुद्धि भी यथा नाम तथा गुण था। वह मानो माता–पिता का मूर्त्तिमान उद्वेग ही हो, इस प्रकार युवावस्था को प्राप्त हुआ। वह शास्त्रों का जानकार नहीं था। इतना ही नहीं, लोक–व्यवहार को भी नहीं जानता था। अतः वह लोक में उपहास का ही पात्र बनता था। मूर्त्तिमान पुण्य की तरह ज्येष्ठ पुत्र को और उसके विपरीत कनिष्ठ पुत्र को देखकर मंत्री हर्ष व खेद का अनुभव करता था।

एक बार नगर के उद्यान को आकाश में चन्द्रमा की तरह विद्याओं के एकस्थान रूप किन्हीं ज्ञानी मुनि ने अलंकृत किया। उनके आगमन का श्रवण करके राजा, मंत्री व सुबुद्धि आदि ने वहां जाकर मुनि को वंदना की और समक्ष बैठ गये। मुनि ने उनको पाप–नाशक देशना प्रदान की। चन्द्रिका का पान करके चकोर पक्षी की तरह देशना रूपी अमृत का पान करके वे सभी परम प्रीतियुक्त बने। उसके बाद अवसर प्राप्त करके मतिसार मंत्री ने मुनि से पूछा–"मेरे दो पुत्रों में से एक अच्छी बुद्धि से युक्त है और दूसरा बुद्धि–रहित है। इसका क्या कारण है?"

तब मुनिश्री ने फरमाया–"पूर्व समय में इसी नगर में एक वणिक के विमल व अचल नामक दो पुत्र थे। उनमें बड़ा भाई विमल प्रिय वाणी से युक्त, दातार, विनयवंत, सरल और पुण्य कमाने में निपुण था। दूसरा भाई अचल उससे विपरीत गुणावाला था। एक ही समुद्र में रहे हुए अमृत और विष के समान एक ही वंश में भिन्न–भिन्न स्वभाव से युक्त वे दोनों भाई थे। एक बार विमल साधुओं को वन्दन करने के लिए गया। उसकी योग्यता देखकर गुरुदेव ने उसे धर्मदेशना प्रदान की–इस दुर्लभ मनुष्य भव को पाकर सम्यग् प्रकार से धर्म करना चाहिए, क्योंकि वह धर्म ही आगे जाकर धर्म, सुख व सम्पत्ति का कारण बनता है। वह धर्म सम्यग् ज्ञान व सम्यग् क्रिया रूप है और वही मोक्ष का भी कारण रूप है। शुद्ध कारण के बिना कार्य सिद्धि नहीं होती। यही बात ज्ञान और क्रिया के विषय में भी है। ज्ञान को भी मोक्ष का मुख्य कारण माना गया है, क्योंकि सम्यग् ज्ञान के बिना क्रिया की सफलता सिद्ध नहीं होती। अतः सुख की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों को ज्ञान का दान करना चाहिए। पढ़ना, पढ़ाना, पढ़नेवाले को सहायता करना, ज्ञान और ज्ञानी का बहुमान करना–आदि उपायों के द्वारा ज्ञान की सम्यग् आराधना करनी चाहिए। जो पुरुष निर्मल चित्त के द्वारा अन्यों को श्रेष्ठ ज्ञान का दान करता है, वह पुरुष उसे व स्वयं को भी विघ्नरहित केवलज्ञान प्राप्त करवाता है–ऐसा मानना चाहिए। महासागर के समान विशाल व अगाध जिनागम में जो प्रवेश करता है, वह पुरुषोत्तमता को प्राप्त करके अद्‌भुत मोक्ष रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है। जो बुद्धिमान पुरुष ज्ञानी को पुस्तक, भोजन व निवास– स्थानादि प्रदान करके उसकी सहायता करता है, वह अपनी आत्मा को सिद्धि के समीप लाता है। जो व्यक्ति ज्ञान और ज्ञानी का बहुमान करता है, अद्‌भुत ज्ञानलक्ष्मी उसका प्रत्येक भव में वरण करती है।

इस प्रकार धर्मगुरु की वाणी, जो कि पुण्य रूपी उद्यान में सिंचन के समान थी, उस वाणी ने विमल के हृदय में ज्ञान की भक्ति रूपी लता को नव–पल्लवित किया। फिर मुक्तिमार्ग को प्रकाशित करने के लिए दीप के समान कल्याण की वांछा से उसने पुस्तकों का निर्माण करवाया। वह ज्ञानियों को निर्दोष अन्न, औषध व उपाश्रयादि का दान करने लगा।

इस प्रकार ज्ञान की आराधना में उद्यमवंत उसे एक बार छोटे भाई ने कहा–"हे भाई! इस प्रकार तूं अपने धन और जीवन का व्यर्थ ही व्यय क्यों कर रहा है? ज्ञान की आराधना देवों की तरह कुछ भी मनोवांछित प्रदान करनेवाली नहीं है। प्रसन्न हुए राजा की तरह यह ज्ञान–आराधना किसी देश या प्रान्त को दिलानेवाली भी नहीं है। मोदक तो पेट को तृप्त करता है, पर ज्ञान से कुछ भी तृप्ति नहीं होती। शीतल जल की तरह वह तृषा को भी शान्त नहीं कर पाता। व्यापार की तरह ज्ञानाराधना प्राणियों को स्वर्ण, [1]दुर्वर्ण, रत्न या गोधन आदि प्रदान नहीं करती। स्वभाव से ही लक्ष्मी सरस्वती की दुश्मन होती है। अतः सुख की इच्छा रखनेवाला कौनसा व्यक्ति उस सरस्वती की सेवा करेगा?

अतः हे भ्राता! मूर्त्तिमान दम्भ की तरह किसी धूर्त्त ने आपको यह सब कहकर ठग लिया है। आप क्यों वृथा ही धन और जीवन को गँवा रहे हैं?"

छोटे भाई द्वारा कही हुई कुयुक्तियों से विमल जरा भी चलित नहीं हुआ। पर इसके विपरीत वह कहने लगा–"हे प्राज्ञ! ज्ञान सभी पुरुषार्थों की सिद्धि करने में समर्थ है और विश्वमान्य है। उसकी निन्दा करना किसी भी प्रकार से योग्य नहीं है। हे वत्स! जल से परिपूर्ण घट में कतक का चूर्ण डालने से जैसे मलिन पानी भी स्वच्छ बनता है, वैसे ही आभ्यन्तर मल से मलिन आत्मा भी सम्यग् ज्ञान के द्वारा निर्मल बनती है। ज्ञान नित्य उदय को प्राप्त सूर्य के समान है, ज्ञान अकृत्रिम मित्र है, ज्ञान न बुझनेवाला दीप है और ज्ञान ही अंतरंग चक्षु है। प्राणियों का मन रूपी घोड़ा स्वभाव से ही चपल होने से मार्ग से उन्मार्ग में जब गति करता है, तब उसे वापस सन्मार्ग पर लाने के लिए ज्ञान ही लगाम का कार्य करता है। जो अज्ञानी पुरुष ज्ञान और ज्ञानी की अवज्ञा करता है, उसे दुर्गति, मूर्खता आदि विपत्तियाँ पग–पग पर प्राप्त होती रहती हैं। अतः हे बंधु! अपमान करके तुम ज्ञान की आशातना मत करो, क्योंकि ज्ञान की आशातना प्राणियों के अनंत संसार बढ़ने का कारण बनती है।"

बड़े भाई द्वारा वचनों की युक्ति से समझाने के बाद भी वह लघु भाई ज्ञान की अवज्ञा करने से पीछे नहीं हटा। कौए को दूध से स्नान करवाने के बाद भी क्या वह अपनी श्यामता का त्याग करता है? नीम के वृक्ष को शक्कर के पानी से सिंचा जाय, तो भी क्या वह कटुता का त्याग करता है? अपनी लार के द्वारा मकड़ी की तरह ज्ञान की निन्दा से उत्पन्न महान अशुभ कर्मों के द्वारा उसने अपनी आत्मा को चारों तरफ से लपेट लिया।

एक बार निर्मल चित्तयुक्त **विमल** ने विचार किया–"अपार कार्यसमूह द्वारा व्यग्र हुए व

---

1. रजत या चांदी।

कामक्रीड़ा में आसक्त गृहस्थाश्रमी को जैसे द्रव्योपार्जन नहीं हो सकता, वैसे ही ज्ञान का आराधन भी कदापि नहीं हो सकता। जो पठन–पाठन के द्वारा निरन्तर श्रुतज्ञान का सम्यग् आराधन करते हैं, उनका जन्म और जीवन पवित्र है।''

इस प्रकार विचार करके संवेग की भावना से युक्त होते हुए उसने चारित्र अंगीकार कर लिया। तत्त्वज्ञ पुरुष धर्मकार्यों में कदापि तृप्ति का अनुभव नहीं करते। वह श्रीगुरुदेव के पास यत्नपूर्वक सिद्धान्त पढ़ने लगा। थोड़े समय में ही उसने ग्यारह अंगों का ज्ञान कर लिया। साथ ही वह हर्षपूर्वक गुरु–भगवन्तों की यथाशक्ति भक्ति आदि कार्य करने लगा, क्योंकि **विद्या का प्रथम बीज भक्ति ही है**–ऐसा विद्वान कहते हैं। वह कभी भी तपस्या आदि में प्रमाद नहीं करता था, क्योंकि जो क्रिया में यत्न करता है, उसी का ज्ञान सफल है। फिर अनुक्रम से गुरु–भगवन्तों ने विमल को आचार्य पद पर स्थापित किया। योग्य पुत्र हो या शिष्य, गुरुजन उसे धनलक्ष्मी या ज्ञानलक्ष्मी प्राप्त करवाते ही हैं। जैसे मेघ जलधारा को विस्तृत बनाता है, वैसे ही **विमलाचार्य** पुण्य रूपी अंकुरों को उत्पन्न करनेवाली शुद्ध देशना का चारों तरफ विस्तार करने लगे। जैसे कलाचार्य राजकुमारों को कलाएँ सिखाते हैं, वैसे ही वे आदरपूर्वक शिष्यों को निर्मल विद्या सिखाते थे। जिनके भुजदण्डों पर युद्ध की खुजली चलती हो, वैसे पुरुष संग्राम के कार्य में थकान का अनुभव नहीं करते। ठीक वैसे ही विमलाचार्य भी वाचनादि कार्यों में कभी भी थकान का अनुभव नहीं करते थे। इस प्रकार ज्ञान की प्रकृष्ट आराधना के द्वारा आयु पूर्ण होने पर अनशन करके **विमलाचार्य** ईशान देवलोक में ईशानेन्द्र के सामानिक देव हुए। स्वर्ग से च्यवकर वह **विमल देव** तुम्हारा **सुबुद्धि** नामक पुत्र बना है। पूर्वभव में ज्ञान की उत्कृष्ट आराधना के द्वारा उसकी बुद्धि का चतुर्मुखी विकास हुआ है। उसका भाई **अचल** तो मर्मवेधी ज्ञाननिन्दा रूपी दुष्कर्म को जीवन–पर्यन्त करने के द्वारा मरण प्राप्त करके दूसरी नरक में उत्पन्न हुआ। वहां से निकलकर यह तुम्हारे **दुर्बुद्धि** नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है। वह ज्ञान की आशातना रूपी पापों को करने के कारण मूर्ख–शिरोमणि बना है।''

इस प्रकार का विवरण सुनकर राजा, मंत्री, **सुबुद्धि** आदि अत्यन्त हर्षित हुए और ज्ञान की आराधना में अपने जीवन को जोड़ने का शुभ संकल्प किया। कार्यकुशल **सुबुद्धि** ने अपने पिता के साथ श्रावकधर्म अंगीकार किया। उसके बाद सभी ने गुरुदेव को नमन किया और अपने–अपने स्थान को लौट गये। जैसे सूर्य अपनी किरणों के द्वारा आकाश को शोभित करता है, वैसे ही सुबुद्धि ने अपनी शुद्ध बुद्धि के द्वारा जैनधर्म और अपने वंश को शोभित किया। अनुक्रम से दीक्षा ग्रहण करके अनेक प्रकार के ज्ञान का आराधन करके विधिपूर्वक मरण प्राप्त करके ब्रह्मदेवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ। वहां से च्यवकर मनुष्य जन्म प्राप्त

करके दीक्षा लेकर तपस्या के द्वारा समग्र कर्मों का क्षय करके मोक्षपद को प्राप्त किया।

पर **दुर्बुद्धि** दुष्कर्म–युक्त होने से मुनिवरों के उपदेश रूपी निर्मल जलधारा को प्राप्त करके भी चिकने मलिन वस्त्रों की तरह निर्मलता को प्राप्त नहीं हुआ। प्रत्युत वह ज्ञानियों की निन्दा करने लगा–"अहो! ये साधु कपोल–कल्पना के द्वारा कैसा कथन करते हैं?"

ऐसे कर्मों से उत्पन्न अपार पाप–समूह के द्वारा भारी होकर वह अनंत संसार में अनंत समय तक दुःखी अवस्था में भ्रमण करता रहेगा।

हे **धन श्रेष्ठी!** तुम्हारे इस धनशर्मा नामक पुत्र ने भी पूर्वजन्म में **अचल** की तरह मूर्खतावश ज्ञान की निन्दा की थी। उन्हीं कर्मों के कारण वह बुद्धिरहित पैदा हुआ है। मनुष्य जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल पाता है।"

इस प्रकार गुरुमुख से श्रवण करके **धनशर्मा** सद्बुद्धि से विचार करने लगा–"अहो! ज्ञान की आशातना प्राणियों के लिए कैसी दुःखदायक है!"

इस प्रकार गहराई से विचार करने पर उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने हर्षित होते हुए मुनिश्री से कहा–"हे स्वामी! आपका वचन सत्य है। मुझे अब इस अपार संसार में भ्रमण करने से डर लगता है। अतः आपश्री मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे बतायें कि मेरा ज्ञानावरणीय कर्म किस प्रकार क्षय को प्राप्त हो?"

मुनिश्री ने फरमाया–"ज्ञानदान करने से ज्ञानावरणीय कर्म क्षय को प्राप्त होता है। पर अभी तो तुम साक्षात् ज्ञान का दान करने में समर्थ नहीं हो। अतः अभी तो तुम ज्ञान और ज्ञानी का बहुमान करो और ज्ञानियों की अन्न, जल, वस्त्र, पुस्तकादि से सहायता करो।"

इस प्रकार गुरु–वचनों को अंगीकार करके और उनके मुख से श्रावकधर्म को स्वीकार करके पिता और पुत्र हर्षित होते हुए अपने घर की और लौटे।

जिस प्रकार लकड़ी को छील–छीलकर पतला किया जाता है, उसी प्रकार **धनशर्मा** ने आत्म–कल्याण के लिए अपने दुष्कर्मों की निन्दा कर–करके अपने ज्ञानावरणीय कर्म को पतला किया अर्थात् हल्का किया। मोक्ष रूपी माल को खरीदने के लिए धन के समान पुस्तकों को लिखवा–लिखवाकर हर्षपूर्वक उसने ज्ञानियों को प्रदान कीं। विशिष्ट बुद्धियुक्त बनकर उसने निर्दोष वस्त्र, औषध, भोजनादि के द्वारा ज्ञानियों को बहुमानपूर्वक सहायता प्रदान की। इस प्रकार मन, वचन, काया की शुद्धि के द्वारा ज्ञानाराधना करके वृद्धियुक्त शुभ भावना द्वारा स्थिर बुद्धियुक्त वह मरकर सौधर्म देवलोक में देव बना।

विजय का जीव **धनशर्मा** देव सौधर्म देवलोक से च्यवकर **साकेत** नामक नगर में जिनधर्म में तत्पर, बुद्धिमान और व्यापारियों में अग्रसर **धनमित्र** नामक व्यापारी बना। विशेष

उद्यम करके पढ़ने पर भी पूर्वभवों के कर्म अवशिष्ट रहने के कारण किसी भी कला को सीखने में समर्थ न बन पाया। फिर भी उसने पुरुषार्थ करना नहीं छोड़ा, क्योंकि उद्यम ही बुद्धि रूपी लता को वृद्धि प्राप्त करवाने में नवीन मेघ के समान है। एक बार निष्पाप जिनागम का अभ्यास करते हुए शुभध्यान में आरोहण करने से उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। पूर्वभव की तरह वह इस भव में भी ज्ञान व ज्ञानियों का बहुमान आदि करने लगा, उनकी सहायता करने लगा। क्रमप्राप्त वैराग्य से भावित होते हुए उसने चारित्र ग्रहण किया। जिस प्रकार प्रबल वायु के द्वारा मेघमण्डल क्षय को प्राप्त होता है, वैसे ही निरन्तर श्रुत के अभ्यास द्वारा उसका ज्ञानावरणीय कर्म क्षय को प्राप्त हुआ। अंगोपांग सहित समस्त श्रुत का अभ्यास करके पूर्वभव के दुष्कृत्यों का स्मरण करते हुए चिरकाल तक वह ज्ञानदान करने में सतत प्रयत्नशील रहा। अनुक्रम से ध्यान रूपी परशु के द्वारा चारों घाती कर्मों का क्षय करके ज्ञानदान के प्रभाव से कैवल्य लक्ष्मी को प्राप्त किया। देव–दुन्दुभि के नाद से आकाश को संपूरित करते हुए देवताओं ने पुष्पवृष्टिपूर्वक स्वर्णमय कमल की विकुर्वणा की। उस कमल पर विराजकर उन ज्ञानी ने इस प्रकार की धर्मदेशना दी–"इस जगत में सभी प्राणी सुख की वांछा करते हैं। वह सुख उत्तम चारित्र लेने से ही प्राप्त हो सकता है और चारित्र ज्ञान से प्राप्त होता है। ज्ञान का सम्यग् प्रकार से दान करने पर ही ज्ञानियों को आगे भी ज्ञान की ही प्राप्ति होती है। अतः हे पण्डितों! विधिपूर्वक ज्ञान का दान करने में ही उद्यम करना चाहिए। ऐसा करने से स्व–पर को अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। उस ज्ञान का दान दो प्रकार से हो सकता है–प्रथम तो सूत्र व अर्थ की वाचना देने से तथा पढ़ने से प्राप्त हो सकता है और द्वितीय ज्ञानियों को ज्ञान के उपकरण व अन्नादि देकर सहायता करने से भी प्राप्त हो सकता है। ज्ञान की आराधना के इच्छुक पुरुषों को ज्ञान के आदान–प्रदान में आठ प्रकार के कालादि आचार का प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए। इस विषय में आगमों में कहा है :–

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तहा अनिन्हवणे।
वंजण अत्थ तदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो।।

अर्थ :–काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय–ये आठ ज्ञान के आचार हैं।

काल–जिन अंगोपांग का जो काल जिनेश्वरों ने कहा है, उन्हें उसी काल में पढ़ने से बुद्धिमान पुरुष श्रुत का आराधक कहलाता है। कृषि व औषधादि की तरह योग्य काल में श्रुत का सेवन–अध्ययन किया जाय, तो वह समस्त रूप में फल–प्रदाता बनता है अन्यथा विपरीत फल को देनेवाला बनता है। अयोग्य काल में श्रुत का अभ्यास करने पर न केवल फल का अभाव होता है, बल्कि जिनेश्वरों की आज्ञा का लोप होने से इहलोक व परलोक

में कष्ट प्राप्त होता है। इस विषय पर एक दृष्टान्त है, जो इस प्रकार है–

किसी एक स्वच्छ गच्छ में कोई मुनि कालिक श्रुत को सन्ध्या के समय पढ़ रहे थे। रात्रि की पौरुषी व्यतीत हो जाने पर भी विस्मृति के कारण उन्होंने श्रुताभ्यास से विराम नहीं लिया। **शास्त्र–रस उसे ही कहा जाता है, जिसमें अन्य रस का पता ही न चले।** उन मुनि को इस प्रकार अभ्यास करते देखकर किसी सम्यग्दृष्टि देवी ने विचार किया–"इस साधु को प्रमादी देखकर कोई क्षुद्र देवता इसे छलेगा। अतः मैं इसको सजग करुं।"

ऐसा विचार करके उसने ग्वालन का रूप बनाया और सिर पर छाछ की मटकी रखकर "छाछ ले लो–छाछ ले लो"–इस प्रकार उच्च स्वर में चिल्लाने लगी। मुनि के उपाश्रय के पास–पास ही वह गमनागमन करने लगी। उसके उच्च स्वर के कारण मुनि का श्रुताभ्यास स्खलना को प्राप्त हुआ। अतः उन्होंने उस ग्वालन से कहा–"हे मूर्खा! क्या यह छाछ बेचने का समय है?"

उस ग्वालन रूपी देवी ने कहा–"क्या यह आपके कालिक श्रुत का समय है?"

यह सुनते ही मुनि ने उपयोगपूर्वक विचार किया–"यह सामान्य स्त्री नहीं है।"

फिर मध्यरात्रि के समय का निश्चय करके मुनि ने मिथ्यादुष्कृत्य दिया। उस समय देवी ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा–"हे मुनि! आगे से ऐसा कभी मत करना, क्योंकि क्षुद्र देवता प्रमादी साधु को छलते हैं।"

इस प्रकार साधु को शिक्षा देकर वह निपुण देवी अदृश्य हो गयी। फिर योग्य समय में श्रुत का अभ्यास करते हुए मुनि ने अनुक्रम से सद्गति को प्राप्त किया।

अतः प्रत्येक बुद्धिमान को योग्य समय पर श्रुत का अभ्यास करना चाहिए, जिससे इस भव में विघ्नरहित जीवन जी सके और परभव में भी सम्पदा की प्राप्ति हो।

विनय–श्रुतज्ञान ग्रहण करनेवाले शिष्य को **निष्कपट भाव से गुरु का विनय करना चाहिए।** विनय से ही ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। चाहे पुत्र हो या शिष्य, विनय से ही वह समग्र सम्पदा, समस्त ज्ञान और समस्त कलाओं का स्वामी बन सकता है। विनययुक्त तिर्यंचों को भी उनके विवेकी स्वामी विविध आश्चर्यकारक कलाएँ सिखाते हैं, जिससे वे अद्भुत शोभा को प्राप्त होते हैं। प्रायः करके प्राणियों के सभी कार्य विनय से ही सिद्ध होते हैं, तो फिर दोनों लोकों का हित साधनेवाली विद्या के लिए तो कहना ही क्या? जैसे धान्य–संपत्ति अच्छी तरह रक्षण करने के बाद भी अनुकूल वायु के बिना फलवाली नहीं होती–पकती नहीं, वैसे ही विद्या भी अच्छी तरह अभ्यास करने के बाद भी विनय के बिना फलीभूत नहीं होती। गुरु के आसन को ऊपर रखना, उनके पैर धोना, उनका शरीर दबाना,

स्वयं का आसन नीचा रखना आदि अनेक प्रकार के विनय कहे गये हैं। इस लोक से संबंधित विद्या भी अगर विनय के बिना ग्रहण की जाती है, वह सफल नहीं होती, तो फिर परलोक–संबंधी विद्या किस प्रकार सफल हो सकती है? इसके ऊपर एक दृष्टान्त कहा जाता है–

राजगृह नामक नगर में **श्रेणिक** नामक राजा रहता था। उसके **चेलना** नामक पट्टरानी थी। राजा कभी भी उसके वचनों का उल्लंघन नहीं करता था। एक बार उसने राजा से कहा–"हे स्वामी! मेरे लिए एक स्तम्भ का प्रासाद करवाइए।"

यह सुनकर राजा ने सुथारों को आज्ञा प्रदान की। वे लोग काष्ठ लाने के लिए वन में गये। **अभयकुमार** भी उनके साथ था। वे लोग चारों तरफ वन में घूमने लगे। तभी उन्हें एक विशाल दिव्य वृक्ष दिखायी दिया। उन्होंने धूप, पुष्पादि द्वारा वृक्ष की पूजा करके वृक्ष से कहा–"जिन देवों ने इस वृक्ष को अधिष्ठित किया हुआ है, वे प्रकट हों। अगर किसी भी देव ने इस वृक्ष का आश्रय लिया हुआ है, तो हम इस वृक्ष का छेदन नहीं करेंगे। अगर यहां कोई भी देव नहीं है, तो हम इस वृक्ष का छेदन करेंगे।"

यह सुनकर वहां रहा हुआ एक यक्ष प्रकट होकर बोला–"यह मेरा वृक्ष है। तुम इसका छेदन मत करना। मैं तुम्हें सर्व ऋतुओं के उद्यान से युक्त ऊँची वेदिकावाला एक–स्तम्भयुक्त प्रासाद अपनी दिव्य शक्ति से बनाकर दे दूंगा।"

यह सुनकर वे सभी हर्षित होते हुए नगर में गये और सारा वृत्तान्त राजा को बताया। यक्ष ने भी क्षणभर में अपने कथनानुसार वैसा एक प्रासाद बनाकर दे दिया। उस प्रासाद में रहकर **चेलना राजा श्रेणिक** के साथ दिव्य भोगों को भोगने लगी। अपने कर्म अनुकूल हो, तो कौनसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती?

एक बार उस नगर में एक चण्डालिन को अकाल में आम खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। उसने अपने पति से कहा। उसके पति को पता था कि ऋतु न होने से इस समय आम कहीं भी प्राप्त नहीं होगा। अतः वह चोरी करने की नीयत से रानी चेलना के एक स्तम्भवाले महल के सर्वऋतुयुक्त उद्यान के पास पहुँचा। उद्यान के बाहर रहकर ही अवनामिनी विद्या के द्वारा आम्रवृक्ष की डाली को नमाकर उसमें से हाथों द्वारा आमों को तोड़कर वापस उन्नामिनी विद्या के द्वारा शाखा को ऊपर करके अपने घर लौट आया। **स्त्री के पाश में बंधा हुआ पुरुष क्या–क्या प्रयास नहीं करता?** प्रभात होने पर राजा जब उद्यान में आया, तो उस डाली को फल–रहित देखकर आश्चर्यचकित रह गया। आस–पास किसी के भी आने–जाने के पदचिह्न दिखायी नहीं दिये। राजा ने चकित होते हुए विचार किया–"ऐसा कौनसा चोर

होगा, जिसमें ऐसी अद्‌भुत शक्ति है? ऐसा व्यक्ति तो अंतःपुर में भी उपद्रव कर सकता है।''

इस आशंका से व्याकुल होते हुए राजा ने तुरन्त **अभयकुमार** को बुलाकर कहा–''रात्रि के समय इन दिव्य आम्रफलों को हरण करनेवाले चोर को तूं शीघ्र ही पकड़कर ला।''

यह सुनकर **अभयकुमार** स्वयं उस चोर की तलाश में उद्यम करते हुए नगर के बाहर के कुएँ, तालाब, उद्यानादि में घूमने लगा। पर किसी भी स्थान पर चोर का पता न लगा। उसकी तलाश फिर भी जारी थी।

एक बार उसने अर्धरात्रि के समय किसी चौक पर नाटक देखने के लिए एकत्रित जनसमूह को देखा। वहां उसने लोगों से कहा–''हे लोगों! जब तक नट नाटक की तैयारी करते हैं, तब तक मैं तुमलोगों को एक कथा सुनाता हूं। तुम सावधान होकर सुनो–

किसी नगर में **गोवर्धन** नामक एक वणिक निर्धनों में शिरोमणि था। उसके यथा नाम तथा गुणयुक्त एक **रूपवती** नामक कन्या थी। पिता की गरीबी के कारण योग्य वर प्राप्त न होने के कारण वह उम्र में काफी बड़ी हो चुकी थी। अतः उसका नाम **वृद्धकुमारी** पड़ गया था। योग्य वर को प्राप्त करने के लिए वह सदैव कामदेव की पूजा किया करती थी और पूजा के लिए किसी उद्यान में से हमेशा पुष्पों की चोरी किया करती थी।

एक बार उद्यानपालक ने उसे चोरी करते हुए देख लिया और पकड़कर उस पर मोहित होते हुए उससे काम की याचना करने लगा। तब उस कन्या ने कहा–''हे महाशय! मेरी कुमारावस्था का तूं विनाश मत कर।''

यह सुनकर उद्यानपालक ने कहा–''हे सुंदरी! अगर तूं विवाह करने के बाद अपने पति के साथ भोग भोगने से पहले मेरे पास आने का वचन दे, तो मैं तुझे छोड़ सकता हूं। अन्यथा मैं तुझे किसी भी प्रकार से छोड़नेवाला नहीं हूं।''

यह सुनकर कन्या ने उसके वचनों को स्वीकार कर लिया और वहां से मुक्त होकर अपने घर लौट गयी। कुछ समय बाद किसी योग्य श्रेष्ठीपुत्र के साथ उसका विवाह हुआ। रात्रि के समय वस्त्र और अलंकारों से शोभित होकर वह शयनकक्ष में गयी और सत्य–प्रतिज्ञ उस कन्या ने अपनी प्रतिज्ञा अपने पति को बतायी। उसकी वाणी में निश्चलता और निश्छलता देखकर उसके पति को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। अतः उसने उसे उद्यान में जाने की अनुमति दे दी। वह कन्या भी उसी अर्धरात्रि में उद्यान की और चल पड़ी। मार्ग में उसे चोर मिले। उसने सारी घटना बताकर वापस लौट आने का वादा किया। चोरों को भी अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उन्होंने भी उसे वापस आने का कहकर छोड़ दिया। आगे जाते हुए उसे छः मास का क्षुधातुर राक्षस मिला। उसको भी उसी प्रकार वापस आने का वादा करके वह आगे

बढ़ी। निर्विघ्न रूप से वह उद्यानरक्षक के पास पहुँची। उसे देखकर संभ्रम होते हुए उद्यानरक्षक ने कहा–"हे भाग्यवंती! तुम अभी इस समय कैसे आयी?"

उसने जवाब दिया–"मैंने तुम्हारे पास प्रतिज्ञा की थी। अतः वचन रूपी पाश से बंधी हुई मैं तुम्हारे पास आयी हूं।"

यह सुनकर विस्मित होते हुए उसने पूछा–"तेरे पति ने तुझे कैसे आने दिया?"

उसने शुरु से अंत तक व मार्ग की सारी बात बता दी। वृत्तान्त सुनकर उसने विचार किया कि अहो! यह स्त्री होते हुए भी अपनी की हुई प्रतिज्ञा में कितनी दृढ़ है! इसने अपने वचन–पालन के लिए कैसा दुष्कर कार्य साधा है! इसके पति, चोरों व राक्षस ने शक्तिमान होते हुए भी इसे मेरे पास आने की अनुमति प्रदान की, तो फिर मैं निर्मल गुणों से श्रेष्ठ व अनिन्द्य इस नारीरत्न का शील कैसे भंग कर सकता हूं? इस प्रकार विचार करके उसके चारित्रगुण से चमत्कृत होते हुए उस उद्यानपालक ने उसे बहन बनाकर उसे वापस घर जाने की अनुमति प्रदान की। वापस लौटते हुए राक्षस व चोरों ने भी उसी प्रकार विचार करते हुए उसे छोड़ दिया। अतः वह बाहरी व आन्तरिक शुद्धि के साथ पुनः घर लौट आयी। उसका सारा वृत्तान्त सुनकर उसका पति भी अत्यन्त हर्षित हुआ और उसे घर की स्वामिनी बना दिया। गुणों के प्रति किसको आदरभाव नहीं होता? अर्थात् होता ही है।

इस प्रकार की कथा सुनाकर अभयकुमार ने कहा–"अब मैं आप सभी से पूछता हूं कि उसके पति, चोर, राक्षस व उद्यानपालक में से किसने दुष्कर कार्य किया? बताओ।"

यह सुनकर जो स्त्री पर इर्ष्याभाव धारण करते थे, उन्होंने पति को, क्षुधातुरों ने राक्षस को, कामियों ने माली को और उस चाण्डाल ने चोर को दुष्कर कार्य करनेवाला बताया। जवाब सुनकर अभय पहचान गया कि यही चोर है, जिसने आम्रवृक्ष की डाली से आम चुराये हैं। उसने चाण्डाल को पकड़कर राजा को सौंप दिया। राजा ने चोर को धमकाकर सारा वृत्तान्त पूछा और चोर ने सारी हकीकत राजा के समक्ष बयान कर दी। राजा ने उससे कहा–"अगर तुम मुझे ये दोनों विद्याएँ सिखाओगे, तो मैं तुम्हें अभयदान दे दूंगा।"

चोर ने सहमति में सिर हिलाया।

राजा उससे विद्याा सीखने लगा। बार–बार बताने के बावजूद भी विद्या राजा के दिमाग में नहीं बैठी। राजा ने क्रोधित होते हुए चोर से कहा–"मुझे ये विद्याएँ क्यों नहीं चढ़ती?"

मातंग (चण्डाल) ने कहा–"हे राजन्! आप विनय के बिना विद्या सीख रहे हैं। आप उच्च आसन पर विराजमान हो और मैं नीचे हूं।"

यह सुनते ही राजा को अपनी गलती का एहसास हुआ। तुरन्त अपने आसन से नीचे उतरकर चाण्डाल को वहां बैठाया और स्वयं नीचे बैठे। फिर विद्या सीखने लगा। तुरन्त ही दोनों विद्याएँ राजा के मस्तिष्क में स्थिरता को प्राप्त हुई।

अतः मैं कहता हूं कि विनय ही सर्व विद्याओं का स्थान है। विनयपूर्वक पढ़ी हुई विद्याएँ थोड़े समय में सिद्ध हो जाती हैं।

बहुमान–श्रुतज्ञान ग्रहण करनेवाले शिष्य को गुरु का बहुमान करना चाहिए। पण्डित पुरुषों ने हृदय के भक्तिभाव को बहुमान कहा है। गुरु का बहुमान करते हुए ग्रहण किया गया श्रुतज्ञान शिष्यों को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट फल–सम्पत्ति प्राप्त करवाता है। विनय व बहुमान के चार भांगे होते हैं–1. किसी शिष्य में विनय व बहुमान दोनों होते हैं, 2. किसी में केवल विनय होता है, 3. किसी में केवल बहुमान होता है और 4. किसी में दोनों ही नहीं होते। बहुमान के बिना अकेला विनय निष्फल होता है, क्योंकि बाह्य विधि की अपेक्षा अन्तरंग विधि बलवान होती है। इस विषय में एक दृष्टान्त है–

किसी पर्वत की गुफा में **शिव** नामक यक्ष की प्रतिमा थी। वह प्रभावी होने से लोक में प्रसिद्ध थी। उस मूर्त्ति को हमेशा एक ब्राह्मण व एक भील पूजते थे। बहुमान न होने पर भी ब्राह्मण बाह्य रूप से अत्यधिक विनय करता था। वह स्नान द्वारा शरीर स्वच्छ करके, धोये हुए वस्त्र पहनकर, निर्मल जल से मूर्त्ति को स्नान करवाकर अनेक प्रकार के पुष्पों से पूजा करके नयी–नयी स्तुतियों के द्वारा स्तुति करता था। पर वह भील शुद्ध भाव से (बहुमानपूर्वक) शिव की पूजा करता था। वह हमेशा प्रातःकाल होते ही मुँह में पानी भरकर शिव–मन्दिर में आकर शिव को नमस्कार करके मुख में भरे हुए पानी के द्वारा शिव को स्नान करवाता था। पर उसकी भक्ति अकृत्रिम थी। अतः उससे प्रसन्न होकर शिव एकान्त में उसके सुख–दुःखादि की बातें किया करता था। उसको इस प्रकार की बातें करते हुए देखकर ब्राह्मण को उस पर द्वेष हुआ। अगले दिन हमेशा की तरह वह यक्ष की पूजा करके उस पर क्रोध करते हुए तिरस्कारपूर्वक कहने लगा–"हे यक्ष! तेरा सेवक भील जैसा नीच है, वैसा ही तूं भी है, क्योंकि भक्तिमान व उच्च जातियुक्त मुझ ब्राह्मण को छोड़कर तूं उससे बातें करता है।"

तब यक्ष ने उससे कहा–"जितना बहुमान वह मेरा करता है, उतना बहुमान तुझमें मेरे प्रति नहीं है। इस विषय में तेरा और उसका अन्तर तूं कल सुबह जानेगा।"

यह सुनकर यक्ष की वाणी की अवज्ञा करते हुए ब्राह्मण अपने घर चला गया। अब यक्ष ने उन दोनों की परीक्षा करने के लिए रात्रि के समय अपना एक नेत्र उखाड़ लिया।

प्रातःकाल नियमानुसार ब्राह्मण शय्या से उठकर हमेशा की तरह स्नानादि करके पूजा की सामग्री हाथ में लेकर यक्ष के मन्दिर में आया। यक्ष को एक नेत्रवाला देखकर वह दुःखी हुआ और बार–बार विलाप करने लगा। थोड़ी देर बाद अनन्य भक्तियुक्त वह भील भी वहां पर आया। वह भी यक्ष को एक नेत्रवाला देखकर दुःखी हुआ और खेद करने लगा। फिर कुछ समय बाद अत्यन्त भक्तियुक्त होकर उसने अपने बाण से अपना एक नेत्र निकाल लिया और यक्ष की मूर्त्ति की उस आँख की जगह लगा दिया। भक्तिमान पूरुष के लिए कौनसा कार्य मुश्किल है?

उसके बाद "अरे ब्राह्मण! तुमने स्वयं की और उसकी भक्ति का अन्तर देखा?"–ऐसा कहकर यक्ष ने भील के दोनों नेत्र ठीक कर दिये और कहा–"हे वत्स! इस निर्णीत तेरी भक्ति से मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूं, अतः मेरी कृपा से तुझे अक्षय लक्ष्मी की प्राप्ति होगी।"

फिर उस यक्ष की कृपा से भील ने उत्कृष्ट सम्पदा प्राप्त की और सुखी बना। सम्यग् प्रकार की भक्ति कैसे फलदायक नहीं होगी? अतः **शास्त्रों का अभ्यास करनेवाले बुद्धिमान शिष्य को कपट–रहित बहुमानपूर्वक विशेष रूप से गुरु का विनय करना चाहिए।**

उपधान–जिसके द्वारा श्रुत की सम्यग् आराधना से आत्मा के समीप जाया जाय, उसे उपधान अर्थात् विविध प्रकार की तपस्या कहा जाता है। गणधरों ने जिस शास्त्र के अध्ययन के लिए जिस तपस्या को करने के लिए कहा है, उस तपस्यापूर्वक ही उसका अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि वैसा करने से ही ज्ञान सफल होता है। इसलोक–संबंधी मंत्र भी तप के बिना सफल नहीं होते, तो फिर परलोक को साधनेवाले जिनागम तप के बिना कैसे सिद्ध हो सकते हैं? तप करने से पूर्व के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है और उसका क्षय होने पर सुखपूर्वक अल्प प्रयास के द्वारा ही श्रुतज्ञान प्राप्त होता है। इस पर दृष्टान्त है–

गंगा नदी के किनारे किसी ग्राम में पुण्यकर्म के प्रति आदरयुक्त दो भाई रहते थे। उन्होंने निर्मल हृदय से किसी विशाल गच्छ में दीक्षा ग्रहण की। वहां मुख्य मुनि शीघ्रता से उन दोनों को ग्रहण और आसेवन शिक्षा सिखाने लगे। सभी के लिए सीखना श्रेयस्कर है। बड़ा भाई निपुण बुद्धियुक्त होने से श्रुतज्ञान में पारंगामी हो गया, जिससे उसे आचार्य पदवी प्राप्त हुई। विद्या संपत्ति का स्थान है। छोटा भाई अल्पबुद्धियुक्त होने से अल्प शास्त्र ही सीख पाया। सरस्वती भी लक्ष्मी की तरह पूर्वकृत कर्मों के अनुसार अनुसरण करती है। फिर जैसे क्षयतिथि में याचकों को भोजन देनेवाला दाता कभी विश्रान्ति को प्राप्त नहीं होता, उसी तरह वह आचार्य भी शिष्यों को श्रुतज्ञान देने में कभी भी विश्रान्ति को प्राप्त नहीं होता था। शिष्यों द्वारा किये गये सूत्रार्थ के चिन्तन और प्रश्नादि के द्वारा वह रात्रि में भी सुखपूर्वक शयन नहीं

कर पाता था। इसके विपरीत शरीरादि से पुष्ट उसका छोटा भाई स्वेच्छापूर्वक निरन्तर सुख से आहार करता था, सुख से सोता था और सुखपूर्वक ही अपना जीवन व्यतीत करता था। उसे देखकर सुबुद्धि–रहित होकर आचार्य विचार करने लगा–"अहो! मेरे इस लघु भ्राता को धन्य है! दिन–रात सुखपूर्वक रहता है। मैं तो अजाकृपाण न्याय से ज्ञान रूपी बंधन में जकड़ा हुआ कैसे दुःख को प्राप्त हो रहा हूं!"

इस प्रकार ज्ञान पर द्वेषभाव आने से आचार्य वाचनादि कार्यों में उद्वेग को प्राप्त होने लगा। स्वाध्याय का अवसर होने पर भी वह अपने शिष्यों को कहता कि आज तो अस्वाध्याय है। इस तरह ज्ञान की आशातना करने से उस दुर्बुद्धि ने ज्ञानघातक कर्मों का बंध किया। प्रमादी मनुष्य कौनसा दुष्कर्म नहीं करता? इस प्रकार के ज्ञान के कृत अतिचारों की आलोचना किये बिना ही चारित्र धर्म की आराधना के कारण वह मरकर सौधर्म देवलोक में देव बना। वहां से च्यवकर किसी ग्राम में ग्वाले का पुत्र बना। युवा होने पर उसका किसी योग्य कन्या के साथ लग्न किया गया। कालान्तर में उसे सार्थक नामवाली **सुरूपा** कन्या प्राप्त हुई। वह कन्या कामदेव रूपी हाथी की मस्त क्रीड़ा करने के लिए वन के समान युवावस्था को प्राप्त हुई। एक बार वह पिता **सुरूपा** को गाड़ा हांकने के स्थान पर बिठाकर घी बेचने के लिए नगर की और चला। उसके रूप से मोहित कई ग्वाल पुत्र भी घी बेचने के बहाने से उसके साथ गाड़े ले–लेकर चलने लगे। मार्ग में आगे चलते हुए गाड़े पर बैठी हुई उस कन्या को वे लोग एकाग्र चित्त से देखने लगे, जिससे उनके गाड़े व मन उन्मार्ग में प्रवर्त्तित होने लगे। परस्पर भिड़ते हुए उनके गाड़े विनाश को प्राप्त हुए। अजितेन्द्रियता मनुष्य को क्या–क्या नहीं दिखाती? क्रुद्ध होकर उन सभी ने मिलकर उन दोनों का **अशकटा** और **अशकटापिता** नाम से पुकारना शुरु कर दिया। यह सब देखकर सुरूपा के पिता को निश्चय में सच्चा वैराग्य उत्पन्न हुआ। लघुकर्मियों को अल्प निमित्त से भी वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। अतः उसने किसी ग्वाल पुत्र के साथ धनसहित अपनी कन्या का विवाह कर दिया। स्वयं ने किसी विशाल गच्छ में प्रव्रज्या अंगीकार की। उद्यमपूर्वक योगवहन व क्लेश सहन करते हुए वह श्रुत पढ़ने लगा। अनुक्रम से श्री उत्तराध्ययन के तीन अध्ययन सीख लिये। चौथे अध्ययन को सीखते हुए पूर्वबद्ध ज्ञान की अवज्ञा के कर्म उदय में आये, क्योंकि कृत कर्मों का भोगे बिना छुटकारा नहीं है। उसके बाद आयम्बिल करके दो दिन तक प्रयत्न करते हुए भी उसके हृदय में एक भी पद स्थिर नहीं हुआ। तब गुरुदेव ने उससे कहा–"हे वत्स! जब तक तूं यह पढ़ नहीं लेता, तब तक तुझे इसकी अनुज्ञा नही दी जा सकती और तब तक तुझे आयम्बिल ही करना होगा।"

यह सुनकर उसने कहा–"ठीक है, मैं भी आयम्बिल ही करूंगा।"

इस प्रकार गुरु–वचनों को अंगीकार करके वह उद्यमवंत आयम्बिल में तत्पर बनकर उसका पहला पद याद करने लगा। रात–दिन बिना विश्रान्ति के वह उच्च स्वर में रटने लगा। पर जैसे हाथ में पारद (पारा द्रव्य) नहीं टिकता, वैसे ही एक भी पद उसके हृदय में नहीं टिका। उसके रटने के तीव्र घोष को सुनकर अन्य अनेक लघु मुनियों को वह पद याद हो गया, पर उसे याद नहीं हुआ। अतः वे लोग उसकी हँसी उड़ाने लगे। अत्यन्त भूलने के उसके स्वभाव के कारण गुरु उसे बार–बार याद करवाते, पर फिर भी वह अशुद्ध पद का ही उच्चारण करता। गुरु भी उसे पढ़ा–पढ़कर उद्विग्न हो गये। फिर गुरुदेव ने उसे शिक्षा दी–"हे वत्स! अक्षरों के अशुद्ध उच्चारण से श्रुत में दोष लगता है। अतः तेरे द्वारा श्रुत की आशातना होती है। न्यूनाधिक और विपरीत वर्णों का उच्चारण करने से श्रुत की आशातना करता हुआ प्राणी अनेक दुःखों को प्राप्त करता है। अतः हे वत्स! तूं श्रुत का अभ्यास छोड़ दे और जिनागम में तत्त्वभूत **'मा रुस मा तुस'** इन दो पदों का ही रटन कर।"

तब वह उन दो पदों को ही रटने लगा, क्योंकि **विनयवंत की सभी प्रवृत्तियाँ गुरु के आधीन ही होती हैं।** ये दोनों पद प्राकृत भाषा में होने के कारण गोखते–गोखते मन्दबुद्धियुक्त वह एक–एक शब्द भूल जाने से **'मास तुस'** पदों का उच्चारण करने लगा। तब लोग उसे मासतुस मुनि के नाम से पुकारने लगे। अशुद्ध बोलने के बावजूद भी उन्होंने दोनों पदों का अर्थ कभी वृथा नहीं किया। अर्थात् कोई उसकी प्रशंसा करता, तो वह हर्ष को प्राप्त नहीं होता था और कोई निन्दा करता, तो वह कुपित नहीं होता था। इस प्रकार तीव्र अध्यवसायों के साथ आयम्बिल तप करते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गये। तब उसका ज्ञानावरणीय कर्म जीर्ण रज्जु की तरह टूट गया। फिर विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होने से उसने चौथे अध्ययन का अभ्यास किया। फिर अनुक्रम से समस्त श्रुत में पारगामी बना। फिर घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करके कर्मरहित बनकर मोक्ष को प्राप्त किया। अतः बुद्धिमान पुरुष को उपधान सहित जिनागमों का अभ्यास करना चाहिए। जिससे जिनागम इस भव और परभव में भी सुखपूर्वक प्राप्त हो सके।

अनिह्नव–विवेकी मनुष्य को गुरु के पास से श्रुत ग्रहण करके उस गुरु का निह्नव नहीं बनना चाहिए। पर जिसके पास जिस ज्ञान का अभ्यास किया हो, उस विषय में उसी का नाम स्पष्ट रीति से बताना चाहिए। दूसरों का झूठा नाम बताने से स्वयं का चित्त मलिन बनता है और इस कारण से यत्नपूर्वक सीखी गयी विद्या भी फलदायक नहीं बनती। इस विषय पर दृष्टान्त का श्रवण करो–

स्तम्भपुर नामक नगर में एक **नाई** रहता था। उसके औजारों की कोथली विद्या के बल से सदैव आकाश में निराधार रहती थी। अतः वह अत्यधिक प्रसिद्धि को प्राप्त था। यह

देखकर किसी एक **परिव्राजक** ने उसके पास विधियुक्त आकाश का अवलम्बन करेनवाली विद्या ग्रहण की। क्या कला नीच से ग्रहण नहीं की जा सकती? फिर वह परिव्राजक **चम्पानगरी** में गया। वहां अपने त्रिदंड को आकाश–मण्डल में अलंकृत करने से वहां के महापुरुष उसकी पूजा करने लगे। उसकी प्रसिद्धि का श्रवण करके राजा ने भी उसका बहुमान किया।

एक बार राजा ने उससे पूछा–"हे पूज्य! क्या यह तुम्हारे तप की शक्ति है या किसी विद्या की शक्ति है?"

उसने कहा–"हे राजन! यह मेरी विद्या की शक्ति है।"

राजा ने कहा–"तुम्हे विद्या सिखानेवाला गुरु कौन है और वह कहां है?"

तब परिव्राजक ने लज्जावश अपने नापित गुरु का नाम नहीं बताया। कपोल–कल्पना के द्वारा राजा से कहा–"हिमालय के महातीर्थ में रहनेवाला तपस्वी **विमुक्ति देव** नामक मेरे विद्यागुरु थे।"

इस प्रकार गुरु के नाम को छिपाने से निह्नवपने के पाप से दूषित उस पर क्रोधित होते हुए किसी देव ने उसका त्रिदण्ड खड़खड़ करते हुए पृथ्वी पर गिरा दिया और आकाशवाणी के द्वारा उसके पाप को जगजाहिर किया। यह सुनकर राजादि सर्व जनों ने उस त्रिदण्डी की निन्दा की।

अतः अगर दोनों लोक में विद्या के शुभ फल की वांछा हो, तो बुद्धिमान मनुष्य को सर्वथा प्रकार से गुरु का निह्नव नहीं होना चाहिए।

व्यंजन–व्यंजन, अर्थ और तदुभय के द्वारा श्रुत को शुद्ध रीति से पढ़ना चाहिए। अगर अशुद्ध रीति से पढ़ा जाय, तो श्रुत की अवश्य ही आशातना होती है। व्यंजन अक्षर को कहा जाता है। अगर अक्षरों को न्यूनाधिक करके पढ़ा जाय, तो अवश्य ही उभयलोक में कष्ट की प्राप्ति होती है, अक्षरों के न्यूनाधिक होने से अर्थ में भी न्यूनाधिकता आती है। अर्थभेद से क्रिया में भेद होता है। क्रियाभेद से इच्छित अर्थ का नाश और अनर्थ की प्राप्ति होती है। यहां वर्ण को बढ़ाने पर कुणाल की कथा कही जाती है, जिसे सुनो–

इस भरतक्षेत्र में **पाटलिपुर** नामक नगर था। वहां मौर्य वंश रूपी समुद्र में उल्लास करने में चन्द्र के समान और बिन्दुसार राजा का पुत्र **अशोकश्री** नामक पवित्र चरित्रयुक्त राजा राज्य करता था। उसे किसी रानी से उत्पन्न **कुणाल** नामक पुत्र था। उस पर अत्यन्त स्नेह होने के कारण राजा ने उसकी बाल्यावस्था में ही उसे **उज्जयिनी** नगरी प्रदान की थी। राजा के आदेश से सुभट उसके जीवन की रक्षा करते थे। फिर जब वह आठ वर्ष का हुआ, तो सुभटों

ने राजा को बताया कि कुणाल आठ वर्ष का हो गया है। यह जानकर राजा ने विचार किया–"अब कुमार अभ्यास करने की योग्य वय को प्राप्त हो गया है। अतः अब उसे विद्याभ्यास करवाना चाहिए, क्योंकि कुमारों को अगर बाल्यावस्था से कलाओं का अभ्यास करवाया जाय, तो वे वंश के अलंकार रूप सिद्ध होते हैं।"

इस प्रकार विचार करके राजा ने स्वयं लेख लिखते हुए सुखपूर्वक समझा जा सके–इस प्रकार प्राकृत भाषा में लिख–**"अधीयउ कुमारं"** अर्थात् कुमार को पढ़ाया जाय।

लेख पूर्ण करके उसे मुद्रित किये बिना ही राजा देहचिन्ता निवारण के लिए चला गया। उस समय कुमार की एक विमाता वहां आयी। उसने लेख को पढ़ लिया। उसने विचार किया–"जब तक सर्व गुणों का आश्रयरूप यह कुमार पूर्णांगी है, तब तक मेरे पुत्र को राज्य कैसे मिल सकता है?"

ऐसा विचार करके औत्पातिक बुद्धि से उस रानी ने अ पर एक बिंदु लगाकर **'अधीयउ'** की जगह **'अंधीयउ'** कर दिया। मलिन हृदययुक्त व्यक्तियों का मन दुष्ट बुद्धि से युक्त होता है।

उसके बाद राजा देहचिंता से निपटकर आया और उसने प्रमादवश पत्र को पुनः पढ़े बिना ही मुद्रित कर दिया व तुरन्त ही उज्जयिनी के लिए रवाना कर दिया। पिताश्री के हाथ से लिखे हुए अक्षरों को देखकर कुमार हर्षित हुआ। दोनों हाथों से उस पत्र को ग्रहण करके अपने मस्तक पर लगाया। फिर अपने पास रहे हुए सचिव को वह पत्र पढ़ने के लिए दिया। सचिव उस पत्र को पढ़कर अत्यन्त खिन्न हुआ। उसके नेत्र अश्रुओं से व्याप्त हो गये। उस लेख के अर्थ को कहने में वह समर्थ न हो सका। तब कुमार ने उसके हाथ से जबरन वह लेख ले लिया और स्वयं उसे पढ़ने लगा। पढ़ते हुए 'अंधीयउ' शब्द को देखकर उसने मन में विचार किया–"अवश्य मैंने कोई अविनय किया होगा, जिससे पिताश्री ने ऐसा आदेश दिया है। इस मौर्यवंश में पहले किसी भी व्यक्ति ने गुरुजनों की आज्ञा का लोप नहीं किया। अतः चाहे कुछ भी हो, मुझे इस आज्ञा का लोप नहीं करना चाहिए।"

ऐसा विचार करके उस धैर्यशाली कुमार ने सभी के मना करने के बावजूद भी तपी हुई लौह की सलाइयों द्वारा अपने दोनों नेत्र बाहर निकाल दिये।

जब इस वृत्तान्त का राजा अशोकश्री को पता चला, तो वे अत्यन्त शोक–विह्वल हो गये। विचार करने लगे–"मेरा दैव ही मुझसे रूठ गया है। मैं हीनभागी हूं, जिसके प्रमाद के कारण आज मेरे प्राणप्रिय पुत्र की यह दुर्दशा हुई है। मैं पहले कुमार को युवराज पद देकर फिर साम्राज्य प्रदान करूंगा। मेरा यह मनोरथ मन में ही रह गया।"

उसके बाद राजा ने कुणाल को समृद्धियुक्त दूसरा नगर भेंट किया और विमाता के पुत्र को उज्जयिनी नगरी प्रदान की। कुमार के सचिवों ने किसी तरह से पता लगा लिया कि उसे अंधा बनाने में कुणाल की विमाता का ही हाथ है, क्योंकि विष्ठा और दुष्ट चेष्टा लम्बे समय के बाद भी दुर्गंध दिये बिना नहीं रहती अर्थात् गुप्त नहीं रहती।

काफी समय बाद कुणाल को **शरदश्री** नामक पत्नी के द्वारा मनोहर लक्षणों से युक्त व कुल को शोभित करनेवाला पुत्र उत्पन्न हुआ। बधाई देनेवाली दासी को कुणाल ने अपार प्रीतिदान दिया। फिर पुत्रजन्म का विशाल महोत्सव किया। फिर विमाता के मनोरथ को व्यर्थ करने के लिए कुणाल अपना राज्य पुनः प्राप्त करने की इच्छा से पाटलिपुत्र नगर में आया। वहां अपूर्व संगीतकला के द्वारा पौरजनों को मुग्ध करते हुए राजपथ पर स्वेच्छा से विचरण करने लगा। वाणी की मधुरता के द्वारा तुम्बरु नामक देव को भी पराजित करनेवाला कुणाल जैसे–जैसे गायन गाता, मृगों की तरह वश में किये हुए लोग उसके पीछे चलने लगते। उसकी प्रशंसा सुनकर राजा ने उसे राजसभा में बुलाया। नेत्ररहित होने के कारण उसे पर्दे में बिठाकर उसे गाने की आज्ञा प्रदान की। योग्य स्थान पर किये हुए मन्द, मध्य और उच्च षड्जादि स्वरों के द्वारा उसने संगीत बजाया। उसे सुनकर सभासद चित्रलिखित रह गये। उसके अद्भुत संगीत से आश्चर्यचकित हुए राजा ने उससे कहा–"हे गायक! वरदान माँगो।"

उसने तत्काल कहा–"चन्द्रगुप्त का प्रपौत्र, बिन्दुसार का पौत्र अशोकश्री राजा को अंधा पुत्र काकिणी माँगता है।"

यह सुनकर उसे अपने पुत्र के रूप में पहचानकर राजा ने हर्ष और शोकमिश्रित आँसुओं के साथ तुरन्त परदा हटाकर उसे खींचकर गले लगा लिया और कहा–"हे वत्स! तुमने काकिणी जैसी तुच्छ वस्तु क्यों माँगी?"

यह सुनकर कुणाल चुप रहा। तब बुद्धिमान मंत्री ने कहा–"हे राजन! राजकुमारों की काकिणी राज्य को कहा जाता है।"

तब राजा ने कहा–"हे वत्स! इस अवस्था में तुझे राज्य कैसे दिया जा सकता है?"

कुणाल ने कहा–"हे पिताश्री! मेरे पुत्र हुआ है। उसका राज्याभिषेक करें। मैं आपको पौत्रजन्म की बधाई देता हूं।"

राजा ने उससे पूछा–"तुम्हें पुत्र कब हुआ?"

हाथ जोड़कर कुणाल ने कहा–"**सम्प्रति** अर्थात् अभी ही।"

यह जानकर राजा ने अपने पौत्र को तुरन्त वहां बुलवाया। उसका **सम्प्रति** नाम रखकर

उसका जन्मोत्सव किया। उसके बाद अपनी सफल वाणी के द्वारा **अशोकश्री राजा** ने स्नेह व उत्कण्ठावश दस दिवस के पश्चात् उस दुग्धकण्ठी बालक को अपने राज्य पर स्थापित किया। फिर अनुक्रम से वह **सम्प्रति** राजा शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा के समान समृद्धि, बुद्धि, वय और तेज के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ। इस सम्प्रति राजा ने पूर्वभव में मात्र एक दिन अव्यक्त सामायिक (दीक्षा) की आराधना की थी। उस पुण्य के फलस्वरूप उसने अपनी अखण्ड आज्ञा तीन खण्डयुक्त अर्द्ध भरत पर प्राप्त की। फिर **आचार्य सुहस्ति** के योग से जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त करके श्राद्धधर्म अंगीकार करके उत्कृष्ट आर्हत (श्रावक) बना। उसने रथयात्रा आदि पुण्यकार्य करके जैनधर्म का उद्योत किया और भरतार्ध को जिनमन्दिरों से अलंकृत किया।

हे सभ्यों! इस कथा का तात्पर्य यह है कि **अशोकश्री** राजा के लेख में एक बिन्दु बढ़ाने से **कुणाल** के अध्ययन में ही व्याघात उत्पन्न नहीं हुआ, बल्कि नेत्रनाश, राज्यरहितता आदि अन्य भी अनेक कष्ट प्राप्त हुए। अतः जिनेश्वर भगवान के कहे गये वर्णादिक में अधिक अक्षर जोड़कर पढ़ा जाय, तो कार्य की अत्यन्त असिद्धि होती है और आशातना के कारण अनेक कष्ट उत्पन्न होते हैं। अतः जिन्हें शुभ की वांछा हो, उन्हें जिनागम में वर्णादि की अधिकता कभी भी नहीं करनी चाहिए।

अब वर्णादि की न्यूनता के विषय में विद्याधर का दृष्टान्त है–

एक बार श्रमण भगवान महावीर स्वामी राजगृह नगरी में पधारे। **राजा श्रेणिक** उन्हें वंदन करने के लिए गया और उत्कण्ठापूर्वक उनकी देशना का श्रवणकर आनन्दित हुआ। वापस लौटते समय उन्होंने एक **विद्याधर** को कटे हुए पंखवाले पक्षी की तरह आकाश में उड़कर वापस पृथ्वी पर गिरते देखा। यह देखकर अत्यन्त आश्चर्यान्वित होते हुए राजा ने वापस लौटकर प्रभु के पास आकर उनसे विद्याधर का वृत्तान्त पूछा, तब प्रभु ने फरमाया–"वह विद्याधर प्रमादवश आकाशगामिनी विद्या का एक अक्षर भूल गया है, अतः सम्पूर्ण विद्या का स्मरण नहीं होने से उसकी विद्या सफल नहीं हो पा रही है। वह कोशिश करता है, पर एक अक्षर की कमी होने से वह वापस नीचे गिर जाता है।"

यह सुनकर **अभयकुमार** ने उस विद्याधर के पास जाकर कहा–"अगर आप मुझे विद्या प्रदान करें, तो मैं आपकी विद्या को सफल बना सकता हूं।"

यह सुनकर विद्याधर ने अपनी सहमति प्रदान की और जो विद्या वह उड़ने के लिए प्रयुक्त कर रहा था, वह विद्या अभयकुमार को बता दी। पदानुसारी बुद्धियुक्त अभयकुमार ने अक्षर की कमी जान ली और उसे वह अक्षर बता दिया, जिससे विद्या सफल हो गयी। हर्षित होते हुए विद्याधर ने तुरन्त वह विद्या अभयकुमार को विधिपूर्वक सिखायी। फिर वह आकाश

में उड़ गया। जैसे एक अक्षर से हीन विद्या सफल नहीं हो पायी, वैसे ही प्रमाण में हीन वर्णादिवाला श्रुत भी इष्ट–सिद्धि प्रदान नहीं कर सकता। अतः बुद्धिधन से युक्त पुरुषों को श्रुत का अभ्यास करना चाहिए और वह वर्णादि की अपेक्षा शुद्ध होना चाहिए, क्योंकि औषधादि की तरह न्यूनाधिकता से रहित श्रुत पथ्य रूप होता है अर्थात् हितकारी होता है।

अर्थ–विवेकी पुरुष को श्रुत का अर्थ यथार्थ रूप से करना चाहिए। अगर श्रुत की व्याख्या अन्यथा की गयी, तो वह असंख्य दुःखों की प्रदाता होती है। असत्य व्याख्या करनेवाला मात्र अपना ही भवभ्रमण नहीं बढ़ाता, बल्कि अपनी संतति अर्थात् पुत्र –पौत्रादि अथवा शिष्यों–प्रशिष्यों को भी अनंत भवभ्रमण करवाने का कारण बनता है। कहा भी है–

जह सरणमुवगयाणं, जीवाण निकिंतई सिरे जो उ।
एवं आयरिओऽविहु, उस्सुत्तं पन्नविंतो अ।।

अर्थ–जैसे कोई पुरुष अपनी शरण में आये हुए जीव के मस्तक का छेद करता है, तो उसे जितना पाप लगता है, उतना ही उत्सूत्र की प्ररूपणा करनेवाले आचार्य को भी लगता है। वह अपनी शरण में आये हुए जीवों–साधुओं को गलत उपदेश देकर उनकी दुर्गति का हेतु बनता है।

जो गुरु सिद्धान्तों के अर्थ का अन्यथा कथन करता है, उसका जप, तप, ज्ञान, सत्क्रियादि सभी निष्फल बनते हैं। शास्त्रों में सुना जाता है कि जमालि सत्क्रिया और सद्ज्ञान से युक्त था। फिर भी अरिहन्त भगवन्त के एक ही वचन की मिथ्या प्ररूपणा के द्वारा वह दुर्गति को प्राप्त हुआ। दूसरों के वचनों का मिथ्या अर्थ करने से भी नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होती है, तो जगत को पवित्र करनेवाले जिनेश्वर भगवान के वचनों का अन्यथा अर्थ करने से तो दुर्गति की प्राप्ति का कहना ही क्या? इस विषय में **वसु और पर्वत** की कथा सुनो–

इस भरतक्षेत्र में लक्ष्मी द्वारा समृद्धिशाली **शुक्तिमती** नामक नगरी थी। उसमें **अभिचन्द्र** नामक राजा राज्य करता था। वह युद्धकार्य में आलस–रहित था और उसके चरणों में सभी राजा भक्तिनत होकर नमस्कार करते थे। उस राजा के **वसु** नामक महा–बुद्धिमान पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बाल्यावस्था से ही सत्य वचन बोला करता था।

उसी नगरी में सर्व विद्या से संपन्न निर्मल बुद्धियुक्त **क्षीरकदम्बक** नामक उपाध्याय थे। उनके **पर्वतक** नामक पुत्र था। उन उपाध्याय के पास **वसु, पर्वतक और एक विदेशी नारद** नामक छात्र–तीनों शुद्ध मन से उत्कण्ठापूर्वक विद्याभ्यास करते थे।

एक रात्रि को भवन के ऊपरी भाग में वे तीनों अध्ययन कर रहे थे। अध्ययन

करते–करते थक जाने से वे क्षणभर में ही निद्रा को प्राप्त हो गये। उपाध्याय जाग रहे थे। उस समय आकाश में से दो चारण मुनि जा रहे थे। एक ही गुरु के उन तीन शिष्यों को भिन्न–भिन्न गति में जानेवाले जानकर व देखकर वे परस्पर कहने लगे–"इन तीनों में से एक स्वर्ग में जायगा और अन्य दो नरक में जायंगे। प्राणियों की गति अपने–अपने कर्म के अनुसार भिन्न–भिन्न होती है।"

यह सुनकर **क्षीरकदम्बक** आचार्य मन में खिन्न होते हुए विचार करने लगे–"अहो! मेरे द्वारा पढ़ाये गये दो शिष्य नरक में जायंगे? यह तो बहुत ही खेद की बात है।"

प्रातःकाल होने पर उपाध्याय ने विचार किया कि इन तीनों में से कौन स्वर्ग में जायगा और कौन नरक में जायंगे–इसकी परीक्षा करनी चाहिए। उन्होंने तीनों शिष्यों को एक साथ बुलाकर उन्हें एक–एक आटे का बना हुआ मुर्गा देकर कहा–"तुमलोग इसे ऐसे स्थान पर ले जाकर मारना, जहां कोई न देखता हो।"

वसु और **पर्वत** ने एकान्त स्थान में जाकर अपने–अपने मुर्गे का हनन कर दिया। इसी के साथ उन्होंने अपनी सद्गति का भी हनन कर दिया। उधर **नारद** नगर से अत्यधिक दूर निर्जन प्रदेश में जाकर भी चारों दिशाओं में देखता हुआ विचार करने लगा–"पूज्य गुरुदेव ने यह आज्ञा दी है कि जहां कोई न देखता हो, वहां मारना है। पर मैं तो हर जगह देख रहा हूं। फिर सभी पक्षी भी देख रहे हैं, लोकपाल देवता देख रहे हैं और ज्ञानी पुरुष भी अपने ज्ञान में देख ही रहे हैं। अतः त्रिजगत में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां कोई न देखता हो। अतः गुरु–वचनों का तात्पर्य यह है कि यह मुर्गा हनने–योग्य ही नहीं है। करुणा में तत्पर गुरु–महाराज तो हमेशा हिंसा से दूर ही रहते हैं। अतः ऐसा आदेश तो हमारी करुणा की परीक्षा लेने के लिए ही दिया है–ऐसा जान पड़ता है।"

इस प्रकार विचार करके वह मुर्गे को मारे बिना ही वापस लौट आया। उसे न मारने का कारण आकर गुरु–महाराज को बताया। गुरु महाराज को पता चल गया कि यह शिष्य निश्चय ही स्वर्ग जायगा। अतः प्रसन्न होकर उसका आलिंगन किया। महान पुरुष किसी भी कार्य में स्व–पर का भेद नहीं करते, बल्कि जिनमें गुण होते हैं, उसी पर प्रीति रखते हैं।

उधर **वसु** और **पर्वत** भी वापस आये और कहा कि जहां कोई न था, वहां हमने मुर्गे को मार डाला।

यह सुनकर गुरु ने आक्रोश करते हुए उन दोनों से कहा–"हे पापियों! तुम दोनों तो अपने–आपको देख रहे थे। पक्षी आदि भी तो देख रहे थे। फिर तुम दोनों ने कैसे मुर्गे को मार डाला?"

फिर उपाध्याय का चित्त पढाने के कार्य से उद्विग्नता को प्राप्त हो गया। वे विचार करने लगे–"मेरे ज्ञान को धिक्कार है! मेरी बुद्धि को धिक्कार है! मेरे उपदेश देने की चतुराई को भी धिक्कार है! अभवी को दिये गये उपदेश की तरह, बंजर जमीन में बोये गये बीज की तरह, बहरे मनुष्य के सामने गाये गये गीत की तरह और अरण्य में विलाप करने के तुल्य **वसु** और **पर्वतक** को मैंने इतने लम्बे समय तक दिन–रात पढ़ाने का जो परिश्रम किया, वह सब व्यर्थ गया। पर्वतक पुत्र मुझे अत्यन्त प्रिय है और राजकुमार वसु तो मुझे अपने पुत्र से भी ज्यादा प्रिय है। मैंने उन दोनों को जो विद्या प्रदान की, वह सर्प को दूध पिलाने के समान साबित हुई। गुरु की वाणी का परिणाम पात्र की योग्यता के अनुसार ही होता है, क्योंकि मेघ का जल स्थानभेद से मोती भी बन सकता है और नमक भी बन सकता है। अगर मेरा ज्ञानदान इन दोनों के लिए नरक–प्रदाता है, तो पाप के निवास रूप इस गृहस्थवास से अब बस!"

इस प्रकार वैराग्य प्रकट हो जाने से उपाध्याय ने तत्काल दीक्षा ग्रहण कर ली। सत्पुरुषों का उद्वेग विशेष पुण्य की प्राप्ति के लिए ही होता है।

नारद उन गुरुदेव की विशेष कृपा से सर्व विद्याओं और कलाओं में निपुण होकर शरद् ऋतु के चन्द्र के समान निर्मल बुद्धियुक्त होकर अपने घर लौट गया। कितने ही समय बाद **अभिचन्द्र** राजा ने भी संयम ग्रहण किया। जो अवसर आने पर योग्य कार्य करते हैं, वे ही कुशल कहलाते हैं। उनके स्थान पर **वसुराजा** पृथ्वी पर शासन करने लगे। सत्यवादिता के कारण लोक में उनका यश विस्तार को प्राप्त हुआ। अपने यश के रक्षण के लिए उन्होंने कभी झूठ को आश्रय नहीं दिया। जिसकी जैसी प्रसिद्धि होती है वह प्रायः करके वैसी लेश्यावाला ही होता है।

एक बार कोई एक शिकारी वन में शिकार करने के लिए गया। उसने किसी एक मृग पर बाण छोड़ा। वह बाण विंध्याचल पर्वत की पृथ्वी में बीच में ही स्खलित हो गया। उसका कारण जानने के लिए वह वहां गया, तो हाथ का स्पर्श करने पर यह ज्ञात हुआ कि यह तो कोई स्फटिक की शिला है। उसने विचार किया–"चारों तरफ मुखवाले दर्पण में आये हुए चित्र की तरह इस शिला में प्रतिबिम्बित हुए दूर से जाते हुए मृगों को देखकर ही मैंने बाण छोड़ा था। हाथ से स्पर्श किये बिना यह ज्ञात ही नहीं हो सकता कि यह शिला है। अतः रत्नरूप यह शिला तो **वसु राजा** के लायक है।"

इस प्रकार विचार करके उस शिकारी ने राजा को एकान्त में लेजाकर शिलावाली बात बतायी। यह सुनकर अत्यन्त हर्षित होकर राजा ने उसे अत्यधिक धन–सम्पत्ति देकर रवाना किया और गुप्त रूप से वह शिला अपने महलों में मँगवायी। कारीगरों के पास उस शिला

से अपने सिंहासन की वेदिका बनवायी और फिर कारीगरों को मार डाला। वास्तव में राजा निर्दयी ही होते हैं। उस वेदिका के ऊपर राजा ने अपना सिंहासन स्थापित किया। लोगों को ऐसा लगने लगा कि राजा की सत्यवादिता के कारण यह सिंहासन अधर में रहता है। "अहो! इनके सत्य से तुष्ट देवता इनकी सेवा में रहते हैं"–इस प्रकार सर्वत्र राजा की प्रसिद्धि ने दिशाओं को वाचाल बना दिया। सीमा से लगे हुए राज्यों के राजा भयभीत होकर वसु राजा की सेवा करने लगे। मनुष्यों की ख्याति सत्य हो या असत्य, जयप्रदाता तो होती ही है।

एक बार **नारद** उस **शुक्तिमती** नगरी में आया। **वसुराजा** और **पर्वतक**–दोनों ने प्रीतिपूर्वक उसका सत्कार किया, क्योंकि वे तीनों परस्पर गुरुभ्राता जो थे। उस समय बुद्धिसंपन्न प्रवर्त्तक अपने बुद्धिमान शिष्यों को यजुर्वेद का व्याख्यान दे रहे थे–पढ़ा रहे थे। उसमें **'अजैर्यष्टव्यं'** वाक्य आया। बकरों द्वारा यज्ञ करना चाहिए–ऐसा अर्थ पर्वतक ने किया। उस समय नारद ने कहा–"हे बन्धु! भ्रान्तिवश आप गलत अर्थ क्यों कर रहे हैं? गुरुदेव ने तो हमें ऐसा अर्थ बताया था कि जिसमें पुनः उगने की क्षमता न हो, ऐसा तीन वर्ष पुराना धान्य अज कहलाता है। क्या आप यह अर्थ भूल गये हैं?"

यह सुनकर पर्वत के समान गर्वोन्नत **पर्वतक** ने कहा–"गुरुदेव ने तो अज का अर्थ बकरा ही बताया था, तीन वर्ष पुराना धान्य नहीं। तुम ही मिथ्या अर्थ कर रहे हो। श्रेष्ठ मुनियों के शब्दकोष में भी अज का अर्थ मेष अर्थात् बकरा लिखा हुआ है।"

तब **नारद** ने कहा–"शब्द का अर्थ दो प्रकार से होता है–मुख्य व गौण। गुरुदेव ने गौणवृत्ति से यह अर्थ कहा था। श्रुति (वेदवाणी) धर्म का प्रतिपादन करनेवाली ही होती है और गुरु करुणायुक्त होते हैं। अतः इन दोनों में से कोई भी जीव–हिंसा का उपदेश कर ही नहीं सकते। अतः इस प्रकार के कदाग्रह के कारण गलत अर्थ बता करके वेद और गुरु की आशातना करके तूं नरकगामी न बन।"

यह सुनकर **पर्वतक** ने आक्षेपपूर्वक कहा–"गुरुदेव ने अज का अर्थ बकरा साक्षात् रूप में किया था। अतः गुरु–कथन के विपरीत व्याख्यान करके क्या तूं स्वर्ग में जायगा? अगर मेरे वचन अन्यथा हों, तो मैं मेरी जिह्वा के छेदन की प्रतिज्ञा करता हूं। अगर तेरे हृदय में दृढ़ता है, तो तूं भी यही प्रतिज्ञा कर। इस विषय में हमारे सहपाठी बन्धु **वसु राजा** हमारे लिए प्रमाण रूप हों। सत्यवाद को स्वीकार करने के लिए मुझे किसी के प्रति भी कोई शंका नहीं है।"

यह सुनकर "भविष्य में यह कुमार्ग प्रचलित न हो जाय और मैं तो सत्य ही कह रहा हूं"–इस प्रकार का विचार करके **नारद** ने निःशंक रूप से वही प्रतिज्ञा स्वीकार कर ली। फिर एकान्त में **पर्वतक** की माता ने उससे कहा–"मैं घर के कार्यों में व्यस्त थी, फिर भी **नारद** के द्वारा कथित अर्थ ही मैंने तुम्हारे पिताश्री के मुख से श्रवण किया है। अतः तुमने

जो जिह्वा–छेद का प्रण किया है, वह अयोग्य है। अतः अब भी यह वाद–विवाद छोड़ दे। इससे तुझे अनर्थ ही प्राप्त होगा।''

तब **पर्वतक** ने कहा–''हे माता! मैंने तो अब प्रतिज्ञा कर ली है। अब तो मेरा मान खण्डित हो जायगा। अतः प्राणान्त तक मैं यह वाद छोड़नेवाला नहीं हूं।''

पुत्र का इस प्रकार का निश्चय जानकर उसके कष्ट का नाश करने के लिए उसकी माता **राजा वसु** से एकान्त में मिलने गयी। सन्तान के लिए इन्सान क्या–क्या नहीं करता? राजा भी गुरु–पत्नी को देखकर प्रसन्न हुआ और उठकर उन्हें आसन प्रदान करके माता की तरह सम्मान देते हुए गौरवपूर्वक कहा–''हे माता! आज आपको यहां देखकर मुझे क्षीरकदम्बक उपाध्याय के दर्शन करने जितना आनंद प्राप्त हुआ है। आप आदेश करें कि मैं आपके किस काम आ सकता हूं? आप दुःखी क्यों दिखायी पड़ रही हैं?''

तब **पर्वतक** की माता ने कहा–''हे राजन्! मुझे पुत्र की भिक्षा प्रदान करें। पुत्र के बिना अगणित सुवर्णादि से मेरा क्या प्रयोजन?''

यह सुनकर राजा ने कहा–''हे माता! आप यह क्या कह रही हैं? गुरुपुत्र **पर्वतक** मेरे लिए गुरु के समान ही पूज्य और पालन करने लायक है। आज अकाल में भयंकर क्रोधवाले यमराज ने किसके ऊपर कटाक्ष किया है? मेरे भाई का द्रोही कौन है? हे माता! कहो। इतनी आतुर क्यों दिखायी दे रही हो?''

यह सुनकर माता ने **नारद** व अपने पुत्र का विवाद, जिह्वा–छेद की प्रतिज्ञा और दोनों द्वारा स्वीकार की गयी राजा वसु की साक्षी–आदि सर्व वृत्तान्त बताया। फिर प्रार्थना की–''हे राजन! तुम्हारे भाई को जीवनदान देने के लिए अज का अर्थ बकरा ही मानना। गुरुपुत्र का रक्षण करने के कारण तुम्हें असत्य वचन का पाप नही लगेगा। सत्पुरुष प्राणियों के जीवन की रक्षा के लिए असत्य भी बोलते हैं। तो गुरु रूप में अंगीकार किये गये गुरुपुत्र के रक्षण के लिए असत्य भी बोलना पड़े, तो कैसा आश्चर्य?''

यह सब सुनकर **राजा वसु** ने कहा–''हे माता! जन्म के प्रारम्भ से पाला हुआ सत्यव्रत मुझे मेरे जीवन से भी ज्यादा प्रिय है। उसका मैं आज कैसे लोप करुं? पापभीरु मनुष्य को अन्य भी असत्य वचन नहीं बोलने चाहिए, तो फिर गुरुकथित वेदार्थ की झूठी साक्षी मैं कैसे दे सकता हूं? यह तो बहुत बड़ी बात है।''

यह सुनकर माता ने कहा–''तेरी जैसी मर्जी। चाहे तो तूं अपने भाई की रक्षा कर और चाहे तो सत्यव्रत के कदाग्रह का पालन कर।''

इस प्रकार उसने क्रोधपूर्वक कहा, तो परवश होकर राजा ने उसके वचनों को अंगीकार

कर लिया। तब वह हर्षित होती हुई अपने घर लौट गयी। राजा के साथ हुई बातचीत उसने **पर्वतक** को बतायी। यह सुनकर दुगुने उत्साह के साथ गर्व से अकड़ता हुआ **पर्वतक नारद** के साथ वाद करने के लिए **वसु राजा** की राजसभा में आया। वहां सत्य रूपी दूध और असत्य रूपी जल का भेद करने में हँस–चोंच के समान बुद्धि को धारण करनेवाले अनेक सभासद मौजूद थे। जैसे गगन रूपी आंगन को दिनकर अलंकृत करता है, उसी प्रकार स्फटिक शिला की वेदिका पर रहे हुए सिंहासन को **वसु राजा** ने अलंकृत किया। फिर **नारद** और **पर्वतक** ने अपना–अपना पक्ष रखते हुए राजा से निवेदन किया कि आप जो सत्य है, वह हमें कहें। उस समय वहां रहे हुए वृद्ध सभासदों ने भी कहा–"हे स्वामी! इस विवाद का निर्णय अब आपके ऊपर निर्भर है। जैसे आकाश और पृथ्वी का साक्षी सूर्य है, वैसे ही इन दोनों के एकमात्र साक्षी आप हैं। हे स्वामी! अग्नि आदि दिव्य सत्य से ही होते हैं, सत्य के कारण ही मेघ वृष्टि करते हैं, सत्य से ही देव तुष्ट होते हैं, आधार–रहित यह पृथ्वी भी सत्य से ही स्थिर है और ये सभी लौकिक और लोकोत्तर धर्म भी सत्य से ही प्रवर्त्तित होते हैं। मंत्र से स्तम्भित की तरह जो यह आपका सिंहासन आकाश में बिना किसी अवलम्बन के स्थिर रहा हुआ है, वह सत्य के प्रभाव से ही है। इस जगत् में एकमात्र सत्य ही निश्चल है, अन्य सब नश्वर है। जगत में आपकी ख्याति भी सत्यवादी के रूप में ही है। हे पृथ्वीपति! आप ही सर्व प्रजाजनों को सत्य के मार्ग पर स्थापित करते हैं। अतः अब हम आपसे ज्यादा क्या कहें? आपके सत्यव्रत के लिए जो उचित हो, वही निर्णय करें। विद्वानों के मध्य श्रेष्ठ हे राजन्! सिद्ध, गन्धर्व, राज्य के अधिष्ठायक देव और सभी लोकपाल देव अदृश्य रहकर सुन रहे हैं। अतः आप सत्य वचन कहें।"

उनके इस प्रकार के वचनों को अनसुना करके अपनी प्रसिद्धि की भी अवगणना करके राजा ने असत्य साक्षी देते हुए कहा–"गुरुदेव ने **अज** शब्द का अर्थ **बकरा** किया था।"

उसके असत्य वचनों से क्रोधित होते हुए राज्य की अधिष्ठायिका देवियों ने उस स्फटिक शिला की वेदिका को चूर–चूर कर दिया। जिससे **वसु राजा** पाप से भारी हो गया हो और नरक में जाने के लिए प्रस्थान कर रहा हो, इस प्रकार तत्काल पृथ्वी पर गिर गया।

गुरुदेव की व्याख्या को असत्य रूप से प्रकट करने रूप पाप से मलिन यह **वसु** न तो **राजा** के लिए, न तो राज्य के लिए योग्य है, न जीने के योग्य है"–इस प्रकार उच्च स्वर में बोलते हुए देवों ने उसे गिरा दिया और मरकर अपने पापों के फलस्वरूप वह नरक में गया।

उस अपराधी के राजसिंहासन पर उस **वसु राजा** का जो–जो पुत्र बैठा, क्रुद्ध देवों ने उन सभी को मार डाला। इस प्रकार उसके आठ पुत्र मृत्यु को प्राप्त हुए।

उधर मृषा अर्थ करने से जो असंख्य पापों का भागी बना, उस **पर्वतक** को देवों ने नही मारा, बल्कि लोगों का तिरस्कार सहन करने के लिए जीवित रखा।

फिर "सभी अनर्थों का कारण यह **पर्वतक** ही है, इसे धिक्कार है, इसकी विद्वत्ता को धिक्कार है और इसके बुद्धि विलास को भी धिक्कार है"– इस प्रकार उसे धिक्कारते हुए लोगों ने उसका मुँह काला करके उसे गधे पर बिठाया, असत्य अर्थ करने रूपी पाप से लेपाया हो–इस प्रकार उसके शरीर पर कीचड़ का लेप किया, ऊँची सद्गति में जाने का गमन रोका हो–इस प्रकार उसके मस्तक पर सूपड़े का छत्र बनाया, उसके अपयश की दुर्घोषणा होती हो–इस प्रकार काहलादि अशुभ वाजिंत्रों का घोष किया और दुर्गति रूपी कन्या ने प्रसन्न होकर उसके गले में वरमाला का आरोपण किया हो–इस प्रकार कपालों की माला उसके गले में पहनायी। इस प्रकार से उसका शृंगार करके उसे पूरे नगर में घुमा–घुमाकर पग–पग पर उसकी ताड़ना–तर्जना करके चाण्डाल की तरह उस पापी को नगर से निकाल दिया।

उसके बाद **पर्वतक** ने **महाकाल** नामक दैत्य की आराधना करके उसकी सहायता से वेद–श्रुतियों को अन्यथा करके दुर्गति–प्रदाता होमादि कुमार्गों की स्थापना की। इस प्रकार असत्य अर्थादि करनेवाले कार्यों से उत्पन्न पापकर्म के द्वारा वह मरकर घोर नरक में गया और वहां से निकलकर अनंतकाल तक भवभ्रमण करेगा।

यथार्थ अर्थ करने से **नारद** सर्वत्र उत्कृष्ट पूजा को प्राप्त हुआ और अनुक्रम से मोक्ष को प्राप्त किया। इस प्रकार सत्य अर्थ कथन और मिथ्या अर्थ कथन के फल का श्रवण करके हे बुद्धिमान भव्यों! किसी भी वचन की असत्य व्याख्या नहीं करनी चाहिए। उसमें भी जिनेश्वरों के कथन को तो लेशमात्र भी अन्यथा नहीं करना चाहिए।

व्यंजन और अर्थ–जो बुद्धिमान पुरुष इष्ट अर्थ की सिद्धि चाहता हो, उसे श्रुत के व्यंजन व अर्थ को यथार्थ रीति से पढ़ना चाहिए। उसे थोड़ा–सा भी अन्यथा प्रकार से नहीं पढ़ना चाहिए और न ही कहना चाहिए। व्यंजन व अर्थ को थोड़ा भी अन्यथा प्रकार से पढ़ने में अलग–अलग दोष बताये हैं, उन्हीं को यहां विशेष रूप से जानना चाहिए, क्योंकि एक–एक में जो दोष हैं, उन्हें इकट्ठा करने से वे दुगुने हो जाते हैं। श्रुत के विषय में उन दोनों को विपरीत करने से मनुष्य **रोहगुप्त** की तरह इस भव में अपकीर्त्ति आदि प्राप्त करता है तथा परभव में कुगति को प्राप्त करता है। उसकी कथा सुनो :–

इस भरतक्षेत्र में स्वर्ग के अभिमान को तोड़नेवाली **अंतरंजिका** नामक नगरी थी। उसमें **बलश्री** के नाम से प्रसिद्ध राजा राज्य करता था। उस नगरी में **भूतगुहा** नामक उद्यान था, जिसमे विद्याओं की क्रीड़ास्थली रूप, तीन गुप्तियों से गुप्त और इन्द्रिय–विजेता **श्रीगुप्त**

नामक आचार्य विराज रहे थे। उनके **रोहगुप्त** नामक एक शिष्य था। वह इसी नगरी के समीप के किसी छोटे ग्राम में रहता था। उसके वचन दूषणमुक्त थे और सभी प्रकार के शास्त्रों में उसकी बुद्धि अस्खलित थी। बृहस्पति भी उसके साथ वाद करने में अपने पराभव की संभावना को देखते हुए भयभ्रान्त होकर निरन्तर आकाश में भ्रमण करता था। अपने गुरु को वन्दन करने के लिए वह प्रायः हमेशा ही अपने ग्राम से उस नगरी में आया करता था। शिष्य को गुरु के प्रति निःसीम प्रीति होती है।

एक बार उस नगरी में तीक्ष्ण बुद्धि से संपन्न कोई परिव्राजक वादी आया। वह अपने ज्ञान के सामने सभी को नगण्य मानता था।

"न समाय, ऐसी विद्याओं के द्वारा यह मेरा पेट फट जाने को व्याकुल है"–इस प्रकार कहते हुए वह अपने पेट पर लोहे का बड़ा–सा पट्टा बांधकर घूमता था।

"पूरे जम्बूद्वीप में विद्या के द्वारा मेरी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है"–ऐसा बताने के लिए वह हाथ में जम्बूवृक्ष की डाली रखता था। ऐसा करने के कारण वह सर्वत्र **पोट्टशाल** नाम से प्रख्यात हो गया था। जो जैसी चेष्टा करता है, उसे लोग प्रायः करके उसी नाम से पुकारते हैं। उसने आते ही उस नगरी में पटह बजवाया कि "क्या इस नगरी में कोई ऐसा वादी है, जो मेरे साथ वाद कर सके?"

यह सुनकर रोहगुप्त मुनि ने उस पटह का निषेध किया और कहा कि सिंह की तरह उस हाथी को जीतने में मैं समर्थ हूं। फिर उसने गुरु के पास आकर सर्व वृत्तान्त बताया। तब श्रीगुरु ने फरमाया–"हे वत्स! तुमने यह ठीक नहीं किया, क्योंकि वह विद्याओं के कारण अत्यधिक बलवान है। वह वादी अपनी विद्याओं के द्वारा सैकड़ों महा–भयंकर बिच्छु, सर्प, चूहे, हरिण, शूकर, कौए व चकली आदि उत्पन्न कर सकता है।"

यह सुनकर शिष्य ने गुरु से कहा–"अब पीछे हटने का कोई उपाय नहीं है।"

अन्य कोई उपाय न देखकर गुरु ने रोहगुप्त से कहा–"हे वत्स! दुष्ट वादी के द्वारा उपद्रव किये जाने पर उन्हें नष्ट करने के लिए तूं कार्यसाधक इन सात पाठसिद्ध विद्याओं को ग्रहण कर–मोर, नेवला, बिलाव, बाघ, सिंह, उल्लू और बाज। इन सात विद्याओं के द्वारा शत्रु की विद्या का नाश करने के लिए सैकड़ों मयूरादि उत्पन्न होंगे। कदाचित् इन सात विद्याओं के अलावा वह और कोई विकुर्वणा करे, तो यह रजोहरण तूं अपने मस्तक पर घुमा लेना। इससे तूं इन्द्र के द्वारा भी नहीं जीता जा सकेगा। सर्वत्र तेरी विजय होगी।"

उसके बाद रोहगुप्त उन सातों विद्याओं को व रजोहरण को ग्रहण करके मानो पुरुष रूप में सरस्वती देवी ही हो, इस प्रकार राजसभा में आया। उस प्रतिवादी को आक्षेपपूर्वक

कहा–"हे पण्डित! तूं अपनी इच्छानुसार पूर्वपक्ष को अंगीकार कर। मैं इस सभा के समक्ष प्रतिज्ञा करता हूं कि यह वादी जो कुछ भी कहेगा, उसे मैं अन्यथा प्रकार से स्थापित करुंगा।"

इस प्रकार आक्षेप करने पर वह वादी तत्काल शंकाग्रस्त हो गया। जिसे शास्त्रों का सम्यग् प्रकार से समुचित ज्ञान न हो, उसे सर्वत्र शंका ही बनी रहती है।

"जैन मत के वादियों में निर्दोष प्रमाण की निपुणता कही जाती है। अतः यह साधु भी अगर अपने मत में रहेगा, तो मैं इसे जीत नहीं पाऊंगा। अतः मैं जैनमत के पक्ष में ही पूर्वपक्ष करुं, जिससे यह अपने ही मत का खण्डन न कर सकने के कारण पराजित हो जायगा"–ऐसा विचार करके उसने जैनमत के पक्ष में कहा–"इस जगत में जीव और अजीव–ये दो ही राशियाँ हैं, क्योंकि इनके सिवाय कोई तीसरा पदार्थ उपलब्ध नहीं है।"

यह सुनकर गर्विष्ठ बने **रोहगुप्त** ने कहा–"हे मातृशासित! अरिहन्त के मत को तूं अच्छी तरह से नहीं जानता है, क्योंकि हमारे मत में जीव, अजीव और नो–जीव–ये तीन राशियाँ हैं। जो चेतनायुक्त है, वह जीव है। उसके विपरीत जो अचेतन है, वह अजीव है। धनुष से छोड़े हुए बाणादि सत्क्रिया करने से नोजीव है, क्योंकि उनमें चेतना न होने से उन्हें जीव नहीं कहा जा सकता और गमनादि क्रिया से युक्त होने के कारण उन्हें अजीव भी नहीं कहा जा सकता। अतः परिशेषता के कारण दो राशियों में से किसी में भी समावेश न हो सकने के कारण वे नोजीव की राशि में माने जाते हैं। स्वर्ग, मृत्यु और पाताल–ये तीन लोक माने जाते हैं। स्त्री, पुरुष और नपुंसक–ये तीन वेद माने जाते हैं। स्थिति, उत्पत्ति और विनाश–ये तीन प्रकार पदार्थ के धर्म हैं। सत्त्व, तम और रज–ये तीन गुण माने जाते हैं। जैसे आदि, अन्त और मध्य–ये तीन विभाग हैं, उसी प्रकार राशि भी तीन प्रकार की है। संसार में जो भी वस्तुएँ हैं, वे सभी तीन–तीन के भेदवाली हैं, अतः राशि भी तीन है।"

इस प्रकार उसने अद्‌भुत वचन–युक्तियों द्वारा उस वादी को निरुत्तर कर दिया। वह तत्काल कुछ भी जवाब नहीं दे पाया। फिर पराभव को प्राप्त उस वादी ने बिच्छु आदि अनेक विद्याओं की विकुर्वणा की। तब रोहगुप्त ने उन विद्याओं का नाश करने के लिए गुरु–प्रदत्त मयूरादि विद्याओं का प्रयोग किया और उसकी विद्याओं को पराजित कर दिया। अन्त में वादी ने एक विकराल गधी की विकुर्वणा की, जिसे देखकर उससे बचने के लिए रोहगुप्त ने अपने मस्तक पर रजोहरण घुमाया, जिससे उसका पराभव करने में अशक्त हुई वह गधी क्रोधित होती हुई वादी के मस्तक पर ही मूत्र व विष्ठा करके आकाश में उड़ गयी। यह सब देखकर वह परिव्राजक मानो भूमि में गड़ गया हो, इस प्रकार शर्मिन्दगी के एहसास से आँखे व मुख नीचे झुकाकर खड़ा रह गया। स्याह मुख से युक्त उस परिव्राजक को नगरी से बाहर

निकाल दिया गया। कान्तियुक्त रोहगुप्त की राजा व लोगों ने अत्यधिक व बार–बार स्तुति की। गर्वित होते हुए रोहगुप्त ने गुरु के पास जाकर वन्दन–नमस्कार किया और सर्व वृत्तान्त निवेदन किया। तब गुरुदेव ने फरमाया–"तुमने आगम के विपरीत प्ररूपणा की है। पण्डित पुरुषों का आगम के विरुद्ध बोलना युक्तियुक्त नहीं है, तो राजसभा में सभी के समक्ष आगम विरुद्ध स्थापना करना कैसे युक्तियुक्त हो सकता है? अतः हे वत्स! शीघ्रता से राजसभा में जाकर अपनी बात का मिथ्या दुष्कृत देकर आ। अन्यथा अपार दुर्गति में तेरा पतन होगा।"

तब रोहगुप्त ने कहा–"मिथ्यादुष्कृत करने में मुझे अत्यन्त पीड़ाकारी लज्जा होगी। जिस बात का मैंने युक्तियों के साथ राजसभा में स्थापन कर दिया, वह मिथ्या कैसे हो सकती है?"

गुरुदेव ने उसे बार–बार समझाया, पर उसने गुरु–वचनों को अंगीकार नहीं किया। जिसकी बुद्धि गर्वान्ध हो गयी हो, वह सही बात को कैसे स्वीकार कर सकता है? तब गुरुदेव ने राजसभा में जाकर स्पष्ट रूप से कहा–"मेरे शिष्य ने अभिमानवश आगम–विरुद्ध प्रतिपादन किया है, क्योंकि जिनेश्वरों के शासन में जीव और अजीव–ये दो ही राशियाँ हैं। आकाश कुसुम की तरह तीसरी राशि का कोई अस्तित्व नहीं है।"

तब रोहगुप्त ने अपनी लघुता होती देखकर गुरुदेव पर द्रोहभाव धारण करके राजा की साक्षी में गुरुदेव के साथ वाद का प्रारम्भ किया। राजा के सामने छः माह तक गुरु–शिष्य का वाद चलता रहा। वितण्डावाद का कदाग्रह कैसे छोड़ा जा सकता है? राजकार्य में विघ्न आने से राजा भी उस वाद से खिन्न होने लगा। तब वाद का अन्त लाने के लिए राजा, गुरु व शिष्य–तीनों कुत्रिका की दूकान में गये। वह दूकान देवकृत होती है। अतः दैवीय प्रभाव के कारण तीन ही लोक में पाये जानेवाले सभी पदार्थ उस दूकान में विद्यमान होते हैं–ऐसा शास्त्रों में प्रसिद्ध है। वहां गुरुदेव ने जीव की याचना की, तब देव ने अदृश्य रूप में रहते हुए कुकुरादि जीव प्रदान किये। अजीव मांगने पर मिट्टी का ढेलादि दिया। नो जीव और नो अजीव की याचना करने पर उन्हीं दोनों पदार्थों को विपरीत रूप में प्रदान किया अर्थात् नो जीव मांगने पर मिट्टी का ढ़ेला और नो अजीव मांगने पर कुकुर प्रदान किया। नौ द्रव्य, सतरह गुण, पाँच कर्म, तीन समवाय, एक सामान्य और एक विशेष–ये छत्तीस पदार्थ अन्यधर्मियों द्वारा कल्पित हैं। इन्हीं में से प्रत्येक के चार–चार भेद करके 144 भेद होते हैं। उतने यानि 144 प्रश्न करके वे–वे वस्तुएँ मांगी। तब देवता ने उन्हीं दो पदार्थों को अलग–अलग रूप में हाजिर किया। इनके सिवाय अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं–यह कहकर देव ने उस कुशिष्य का तिरस्कार किया। तब गुरुदेव ने भी श्लेष्म डालने की राख की कुण्डी उसके मस्तक पर फोड़ी। **अविनीत शिष्य शांत गुरु को भी उग्र–क्रोधी बना देते हैं।**

लोगों ने भी उसकी अत्यन्त निन्दा की। राजा ने उसे देश से बाहर निकलवा दिया, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों का देश में रहना किसी भी प्रकार से हितकर नहीं हो सकता। राजा ने सम्पूर्ण नगरी में उद्घोषण करवा दी–''पृथ्वी पर जैन शासन ही विजयवन्त है, क्योंकि सर्व विद्याओं के निधान रूप ऐसे गुरु धर्मशासन करते हैं।''

फिर वह रोहगुप्त इस भव में निन्दा–तिरस्कारादि दुःखों को सहन करते हुए मरण प्राप्त करके दुर्गति में गया। वहां वह अनंतकाल तक संसार में भ्रमण करेगा। अतः आत्महित की वांछा करनेवालों को आगम–सूत्रों का आदान–प्रदान करते समय सूत्र व अर्थ की विपरीत प्ररूपणा नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार आठ आचारों से व्याप्त श्रुत का जो बुद्धिमान पठन करता है, केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी स्वयं ही आकर उसका वरण करती है और बुद्धिरहित जो पुरुष श्रुत की अवज्ञा, प्रमाद आदि के द्वारा विराधना करता है, वह मेरी तरह अपार दुःख का वरण करता है।''

यह सुनकर सभा में बैठे हुए मनुष्यों और देवों ने मुनीश्वर **(धनमित्र नामक केवली)** से पूछा, तब उन्होंने अपने पूर्व के चार भवों का स्पष्ट वृत्तान्त बताया।

इस प्रकार उन केवली भगवान के उपदेश का श्रवण करके अनेक जनों का मन सम्यग् बोध को प्राप्त हुआ और उनकी लेश्या विशुद्ध हुई। अतः उन्होंने विधिपूर्वक ज्ञान की आराधना करके अनुक्रम से मोक्ष पद को प्राप्त किया और मुनिवर ने तो उसी भव में ही मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार **धनमित्र** केवली ने ज्ञान का दान करके स्व–पर का दुःखसमूह से छुटकारा किया। उनका वह ज्ञान चिरकाल तक स्थिर रहा। अतः सभी दानों में ज्ञान का दान ही प्रधान है। ज्ञानदान के फलवर्णन के द्वारा सुन्दर इस धनमित्र का पावन चरित्र सुनकर हे भव्यजनों! ज्ञानदान में अत्यन्त उद्यमशील बनना चाहिए, जिससे मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त हो सके।

।। इति द्वितीय प्रकाश।।

तृतीय प्रकाश

अभयदान का माहात्म्य

जिनके अभयदान का पटह आज भी जगत को अद्वैत शब्दमय करता है, चक्रवर्त्ती की लक्ष्मी के स्वामी वे जिनेश्वर श्री शांतिनाथ भगवान भविक प्राणियों को अद्भुत लक्ष्मी प्रदान

करें।

अब मैं अभयदान के अद्‌भुत माहात्म्य को कहता हूं–अभय दो प्रकार का है–देश से और सर्व से। मन, वचन और काया रूपी तीनों योगों के द्वारा करना, करवाना और अनुमोदन करना रूप तीन करण के द्वारा त्रस व स्थावर–सभी जीवों के वध से विरत होना सर्वथा अभयदान कहलाता है। यह सर्व से अभयदान सर्व–संग का त्याग करनेवाले मुनियों को ही संभव है, क्योंकि वे ही छः काया के जीवों के प्राणों के रक्षण का व्रत ग्रहण किये हुए होते हैं। केवल निरपराधी त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा करने में दो करण–तीन योगादि भेदों से विरति ग्रहण की हो, तो वह देश से अभयदान कहलाता है। शुद्ध सम्यक्त्वधारी गृहस्थ ही इस भेद के अधिकारी होते हैं, क्योंकि वे स्थूल प्राणियों की हिंसा का त्याग करते हैं। जो अभयदान अक्षय सुख–सम्पत्ति (मोक्ष–सुख की प्राप्ति) का साक्षात् कारण है, उस अभयदान को देने में कौनसा बुद्धिमान पुरुष उद्यम नहीं करेगा?

दुर्भाग्यशीलता, अंगविकलता, दुर्गति और कुष्ठादि रोगों का होना हिंसा का ही परिणाम है। यह जानकर कौन पापभीरु पुरुष उस हिंसा का आदर करेगा? मोक्ष की वांछा रखनेवाले पुरुष को कभी भी प्रयोजन के बिना स्थावर जीव की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए, तो फिर त्रस की हिंसा तो कैसे योग्य हो सकती है? मृत्यु को सामने देखने के बाद अगर किसी प्राणी को जीवनदान मिलता है, तो उसे जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी प्रसन्नता विशाल राज्य मिलने के बाद भी संभव नहीं है। एक चींटी से लेकर राजा–महाराजा तक भी सभी जीव जीने की इच्छा करते हैं। मरना कोई नहीं चाहता। अतः बुद्धिमानों के लिए अभयदान से श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं हो सकता। इस विषय में **आचारांग सूत्र** में भी कहा है–सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं–मैं तुम्हे कहता हूं कि जो अरिहंत भगवंत अतीतकाल में हो गये हैं, जो वर्त्तमानकाल में विद्यमान हैं और जो आगामीकाल में उत्पन्न होंगे, वे सभी इस प्रकार कहते हैं, कहते थे, कहेंगे, प्ररूपणा करते हैं, करते थे, करेंगे, प्रतिपादन करते हैं, करते थे, करेंगे, उपदेश करते हैं, करते थे, करेंगे कि सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व हिंसा करने के योग्य नहीं है, संघट्टे के योग्य नहीं है और उपद्रव करने के योग्य नहीं है। यही धर्म ध्रुव, नियत और शाश्वत है। ऐसा लोकालोक के ज्ञाता सर्वज्ञ कहते हैं।

पुराण, स्मृति, वेदादि अन्य शास्त्र भी विसंवाद के बिना ही अभयदान की मुख्यता स्पष्ट रूप से कहते हैं। **कपिल** नामक ऋषि ने भी एक लाख श्लोक–प्रमाण धर्मशास्त्र के ग्रंथ का मंथन करके राजा के सामने **"सर्व धर्मों में दयाधर्म ही प्रधान है"**–इस प्रकार श्लोक के एक ही पाद द्वारा धर्म का स्वरूप दर्शाया था। इस विषय में **आवश्यक निर्युक्ति** में कहा है कि :–

जिन्ने भोयणमत्तेओ, कविलो पाणिणं दया।
विहस्सई अविस्सासो, पंचालो थीसु मद्दवम्।।

भावार्थ :–आत्रेय ऋषि वैद्यक शास्त्र का सार बताते हुए कहते हैं–पूर्व में भोजन किया हुआ अन्न जीर्ण हो जाय, तब भोजन करना चाहिए। **धर्मशास्त्र** का सार बताते हुए **कपिल ऋषि** कहते हैं–प्राणियों पर दया रखनी चाहिए। **राजनीति शास्त्र** का सार बताते हुए **बृहस्पति** कहते हैं–किसी पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए। **कामशास्त्र** का सार बताते हुए **पांचाल ऋषि** कहते हैं–स्त्री पर कोमलता रखनी चाहिए।

श्रीशांतिनाथ जिनेश्वर ने पूर्वभव में एक **कबूतर की रक्षा** के लिए **बाज पक्षी** को अपनी जांघ का मांस काट–काटकर दिया था। अहो! अश्व की रक्षा करने के लिए **श्रीमुनिसुव्रतस्वामी प्रतिष्ठान नगरी** से विहार करके **60 योजन** दूर स्थित **भरुच** एक ही रात्रि में आये थे। **श्रीमहावीरस्वामी** ने भी लोगों को अभयदान देने के लिए ही सम्पूर्ण रात्रि **शूलपाणि यक्ष** द्वारा की गयी विशाल अगणित व्यथाओं को सहन किया था। इस प्रकार अभयदान के लिए तीर्थंकरों ने भी यत्न किया था। अतः यथाशक्ति अन्य मनुष्यों को भी अभयदान में उद्यम करना चाहिए। दीर्घ आयुष्य, स्थिरता, नीरोगता, सौभाग्य, मधुर वाणी और प्रशंसा आदि सभी दया रूपी कल्पवृक्ष के फल हैं। जिसके रग–रग में अभयदान बसा हुआ है, वह अगर मात्र एक प्राणी को भी अभयदान प्रदान करता है, उसे तत्काल मोक्ष रूपी लक्ष्मी आलिंगन कर लेती है। जैसे–**श्रेणिक राजा** के लिए जिनपूजा के निमित्त से स्वर्णकार ने सुवर्ण के 108 यव बनाये थे। उस समय **मेतार्य मुनि** उस स्वर्णकार के घर पर गोचरी के लिए पधारे। उन्हें प्रतिलाभित करने के लिए वह अपने घर के भीतर गया। तभी एक **क्रौंच पक्षी** उन यवों को खा गया। मुनि ने उसे देख लिया था। पर स्वर्णकार द्वारा पूछे जाने पर भी मुनि ने कोई जवाब नहीं दिया। मुनि पर शक हो जाने के कारण स्वर्णकार ने उनकी दुर्दशा कर डाली। पर फिर भी क्रौंच पक्षी पर दयाभाव धारण करके अभयदान देने की भावना से मुनि ने एक शब्द भी नहीं कहा और उसी समय मोक्ष लक्ष्मी का वरण किया।

कड़वे तुम्बे का साग परठने के लिए गये **धर्मरुचि अणगार** ने चींटियों को अभयदान देने के लिए स्वयं ही उस साग का भक्षण कर लिया और सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए।

कुमारपाल राजा भी अत्यन्त प्रशंसा के पात्र हैं, जिन्होंने सर्व जीवों के अभयदान रूप अमारी का पटह अठारह देशों में बजवाया था, जिससे दो भवों के बाद ही वे मुक्तिगामी बनेंगे।

अभयदान सम्पदा का हेतु है और उसका अदान आपत्ति का कारण है। इस पर **शंख**

श्रावक और उसके तीन मित्रों की कथा है, जो इस प्रकार है–

लक्ष्मी से भरपूर और इस जम्बूद्वीप के तिलक रूप भरतक्षेत्र में **विजयवर्धन** नामक नगर मुक्ताफल की शोभा को धारण करता था। उस नगर में रहनेवाली स्त्रियों व लक्ष्मी ने चंचलता का त्याग किया था, जिससे आधारहीन बनी चंचलता ने चैत्यों के शिखरों पर रही हुई ध्वजाओं का आश्रय ले लिया था। उस नगर में अत्यन्त भुजबल से युक्त **जयसुन्दर** नामक राजा राज्य करता था। उसने शत्रुओं को दास बनाकर चारों तरफ विजयलक्ष्मी का वरण किया था। उस राजा के चार श्रेष्ठ प्रधान थे। वे राजा की कीर्त्ति रूपी लता की क्यारी के समान शोभित होते थे। उस राजा के **विजयवती** नामक सद्गुणयुक्त सती पत्नी थी। उसने अपनी कांति के द्वारा अप्सराओं को जीतकर अपना नाम सार्थक कर लिया था। उसके अतुल पराक्रमी **भुवनचन्द्र** नामक पुत्र था। उसने युवावस्था प्राप्त होने के पूर्व ही युवराज पद को प्राप्त कर लिया था। उस कुमार के बाल्यावस्था से ही सेनापति का पुत्र **सोम**, श्रेष्ठीपुत्र **शंख** और पुरोहित का पुत्र **अर्जुन**–ये तीन मित्र थे। युवावस्था से उन्मत्त बना कुमार क्रीड़ा–उद्यान में मित्रों के साथ हस्ती–शिशुओं के संग हस्ती–बालक की तरह इच्छानुसार क्रीड़ा किया करता था। वसन्त ऋतु के संबंध से लता की तरह उनकी प्रीति निरन्तर एक साथ आहार–विहार आदि संबंधों से अत्यन्त विकसित हुई। उन चारों के मध्य बाह्य वृत्ति से राजकुमार की मुख्यता प्रतीत होती थी। पर आन्तरिक रूप से तत्त्व की दृष्टि से दाक्षिण्य व सद्बुद्धि आदि गुणों के कारण शंख की मुख्यता थी। शंख वय में लघु था, पर उसकी कीर्त्ति लोक में विशेष थी, क्योंकि बाह्य विधि की अपेक्षा अंतरंग विधि बलवान होती है।

एक बार नगर के उद्यान में विनोद की विद्या प्राप्त करने की इच्छा से कोई **ज्ञानकरंडक** नामक परिव्राजक आया। उस उद्यान में मित्रों सहित क्रीड़ा करने के लिए पहले से आये हुए कुमार ने उस परिव्राजक को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। परिव्राजक ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा–"हे राजपुत्र! तूं पाताल–कन्याओं को स्वामी बनेगा।"

यह सुनकर हर्षित राजपुत्र उसके पास बैठा और कहा–"हे पूज्य! इस मृत्युलोक में पाताल–कन्याएँ कैसे संभव हैं? उनकी प्राप्ति किस प्रकार होगी? आप कृपा करके मुझे बतायें।"

तब योगी ने कहा–" **विंध्याचल पर्वत** की तलेटी में क्रीड़ा का स्थानभूत **कुण्डगविजय** नामक वन है। उसके भीतर **सुवेल** नामक यक्ष का मन्दिर है। उसके पास की दक्षिण दिशा की तरफ कमल के आकारवाली एक शिला है। उस शिला को वहां से हटाने पर उसके नीचे **केयुर** नामक गुफा है। उस गुफा में एक कोश आगे जाने पर पाताल–कन्याओं की निवास भूमि आती है। वहां अपने नयनों की शोभा के द्वारा त्रस्त मृगी के नयनों की शोभा को

तिरस्कृत करनेवाली, अपने मुख की सुन्दरता द्वारा पूर्णिमा के चन्द्र को भी दासता प्राप्त करानेवाली, सर्वांगसुन्दरी, युवा–पुरुषों के चित्त को मोहित करनेवाली मोहनवल्ली के समान और अपने लावण्य के द्वारा विमानवासी देवांगनाओं को तिरस्कृत करनेवाली वे पातालकन्याएँ रहती हैं। वे कन्याएँ पराक्रम से जयलक्ष्मी का वरण करनेवाले, अपने उद्धत भुजदण्ड के पराक्रम से समग्र शत्रुओं का नाश करने में सक्षम, सर्वांग में सौभाग्य को धारण करनेवाले और श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त तुमको देखते ही तुम्हारे पुण्य से आकर्षित होकर स्वयं ही तुम्हारा वरणा करेंगी।''

यह सुनकर कुमार आश्चर्यचकित रह गया। उन पाताल–कन्याओं को देखने के लिए उसका चित्त लालायित हो उठा। पर गम्भीरता के कारण अपनी उत्कण्ठा को छिपाते हुए अन्य बातों द्वारा समय बिताते हुए कुमार ने अपने घर की और प्रस्थान किया। घर पर भी उसका मन उन कन्याओं को देखने की जिज्ञासा रूपी राक्षसी के द्वारा ग्रसित हुआ। अतः भोजनादि कार्यों में उसका चित्त शून्य बना रहा। उसकी ऐसी दशा देखकर उसके मित्रों ने पूछा–''हे मित्र! आज तुम इतने चिन्तातुर क्यों दिखायी देते हो? हमें ऐसा क्यों लगता है कि उस योगी के द्वारा कहे गये वृत्तान्त को सुनकर तुम अत्यन्त उद्विग्न हो गये हो? पर ऐसे व्यक्तियों के प्रलाप से तुम्हारा मन आकर्षित होता है–यह आश्चर्य की बात है। ऐसे पाखण्डी पुरुष मुख पर तो अमृत बरसाते हैं, पर अन्दर विष को धारण करनेवाले होते हैं। अतः उन–जैसों की वाणी पर विश्वास धारण करना सत्पुरुषों के योग्य नहीं है।''

यह सुनकर कुमार ने कहा–''हे मित्रों! निर्दोष जिन्दगी गुजारनेवाले उन पूज्य को हमारे पास से क्या स्वार्थ सिद्ध हो सकता है, जिससे कि वे उस प्रकार का असत्य भाषण करेंगे? वैभवादि में लुब्ध बने मनुष्यों को ही असत्य भाषण संभव है। संतोष रूपी अमृत से तृप्त योगीजन तो मृषा भाषा का दूर से ही परित्याग करते हैं। अहो! कितने पुरुष तो ऐसी मुग्ध बुद्धि से युक्त होते हैं कि दूसरों द्वारा प्रत्यक्ष देखी गयी बात को सुनकर भी उसमें कल्पित वचनों द्वारा संशय उत्पन्न करते हैं।''

इस प्रकार कुमार के वचनों को सुनकर तीनों मित्रों ने उसके हृदय के अभिप्राय को जान लिया। अतः उन्होंने मौन धारण कर लिया। प्रायः निपुण मित्र एक–दूसरे की इच्छा का अनुसरण करनेवाले होते हैं। दूसरे दिन राजपुत्र अकेला ही उस योगी के पास गया। वहां उन दोनों ने परस्पर अमृत–वृष्टि के समान वाणी के द्वारा बातचीत की। फिर कुमार ने उससे पूछा–''हे पूज्य! उस गुफा में कैसे जाया जा सकता है? कैसे पाताल–कन्याओं को पाया जा सकता है? इन आश्चर्य रूपी विशाल तरंगों के द्वारा मेरा मन आकुल–व्याकुल बन गया है। अतः मेरे मन में जरा–भी शांति नहीं है।''

यह सुनकर योगी ने कहा–"हे राजकुमार! ज्यादा कहने से क्या फायदा! अगर मैं तुम्हारे कार्य को सफल न बना पाऊँ, तो मेरा **ज्ञानकरण्डक** नाम वृथा ही होगा। पर **'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'**–शुभकार्य में अनेक विघ्न आते हैं। अतः बिना किसी विलम्ब के तुम तैयार होकर मेरे पास आओ। फिर से उस विषय में अब प्रश्न करने की जरुरत नहीं है।"

यह सुनकर "ठीक है"–ऐसा कहकर राजपुत्र घर गया और एकान्त में अपने तीनों मित्रों को बुलाकर कहा–"हे कुशल मित्रों! योगी के वचनों पर क्यों व्यर्थ ही अविश्वास करते हो? समस्त शंकाओं का त्याग करके मेरे सहयोगी बनो। मैं अभी ही पाताल की और जाने को तैयार हुआ हूं।"

यह सुनकर अत्यन्त दाक्षिण्यता से युक्त उन तीनों मित्रों ने उसकी इच्छा को स्वीकार किया। अगर मैत्री में एक–दूसरे की इच्छा को स्वीकार न किया जाय, तो ऐसी मैत्री किस काम की? उसके बाद वे चारों मित्र वेश बदलकर गुप्त रीति से अपने–अपने परिवार को बताये बिना ही रात्रि में योगी के साथ चल पड़े। उस समय मार्ग में जाते हुए उन्हें मार्ग में आनेवाली आपत्ति को बतानेवाले अपशकुन मिलने लगे। उनके आयुष्य की स्खलना को सूचित करनेवाला उनका पैर समतल भूमि पर भी स्खलना को प्राप्त हुआ। मानों स्पष्ट रूप से दैव की प्रतिकूलता का निवेदन कर रहा हो, इस प्रकार से उनका बायां नेत्र बार–बार स्फुरित होने लगा। उनके दाहिनी तरफ गधे का शब्द हुआ, जो मानो उनके जाने का निषेध कर रहा हो। उनके प्रयाण का निषेध करती हुई प्रतिकूल वायु सामने से बहने लगी। शुभ दैव ने उनके प्रयाण को रोकने के लिए आड़ी अर्गला की हो, इस प्रकार से उनके सामने से काला सर्प आड़ा उतारा। उस योगी के मन की मलिनता को दर्शाती हुई दिशाएँ चारों तरफ से धूल से व्याप्त होती हुई मलिन बन गयीं।

यह देखकर तीनों मित्रों ने राजकुमार से कहा–"ये अपशकुन हमें एक कदम भी आगे जाने की अनुमति प्रदान नहीं कर रहे। अतः अभी हमारा प्रयाण करना किसी भी दशा में उचित जान नहीं पड़ता। शकुनों की अनुमति के बिना किसी भी कार्य का प्रारम्भ शुभ के लिए नहीं होता।"

यह सुनकर योगी ने कहा–"तुमलोग क्यों व्याकुल होते हो? तुमलोग स्थूल बुद्धि से युक्त होने के कारण परमार्थ को नहीं जानते हो। पाताल की यात्रा करने में तो ऐसे शकुन ही शुभकारक होते हैं। कार्य को आश्रित करके ही शकुन के फल का विचार करना चाहिए। ऐसा होने पर भी कदाचित् तुम्हारी शंका दूर न होती हो, तो उन शकुनों का दुष्फल मुझे ही प्राप्त होगा। तुमलोग निर्भयतापूर्वक चले आओ।"

इस प्रकार उस योगी ने मानो सत्य वाणी के द्वारा कुमार को विश्वास दिलाया। अतः कुमार योगी के पीछे–पीछे चलने लगा। इस कारण से उसके मित्र भी उसके पीछे–पीछे चलने लगे। अनुक्रम से चलते–चलते वे विन्ध्याचल पर्वत के समीप रहे हुए कुडंगविजय नामक वन में पहुँचे। वह वन मानो यमराज का सहोदर हो, इस प्रकार के (चमुरु जाति के) मृग, चीते, बाघ, सिंह और अष्टापद मृगों आदि क्रूर जानवरों से युक्त भयंकर प्रतीत होता था। मानों यमराज की क्रीड़ास्थली हो, इस प्रकार से उसमें सूर्य के दर्शन भी नहीं होते थे। वहां उन्होंने परिव्राजक के द्वारा बताया गया यक्ष का मन्दिर भी देखा। फिर उन सभी ने पवित्र होकर चम्पकादि के पुष्पों के द्वारा हर्षपूर्वक उस यक्ष की पूजा की। उसके बाद योगी सायंकाल होने पर किसी गोकुल से चार बकरे लेकर आया। पूजादि की सर्व सामग्री तैयार की। फिर उस योगी ने बकरों सहित उन चारों को स्वयं स्नान करवाया। फिर यमराज के कटाक्ष के समान अशुभ चंदनादि के द्वारा उन सभी को भूषित किया। फिर योगी ने उन चारों से कहा–"तुमलोग एक–एक बकरे को मारो, जिससे बलि चढ़ाकर उस द्वार का उद्घाटन किया जाय।"

यह सुनकर शंख को छोड़कर शेष तीनों ने योगी के अभिप्राय को न जानते हुए अपनी आपत्ति का विचार किये बिना प्रतिकूल दैव से अनजान बनकर योगी के कथनानुसार किया। पर श्रेष्ठीपुत्र पुण्यशाली था। उसके मन में अपार करुणा का परिणाम पैदा होने के कारण उसने हिंसा के उस कार्य को नहीं किया। योगी ने फिर से उसे आज्ञा दी, पर उसने योगी के वचनों को मान्य नहीं किया। महापुरुष अन्यों के प्राणों को अपने ही प्राणों के समान मानते हैं। फिर बकरों के वध से प्राप्त छल के द्वारा उन तीनों को उस पापी योगी ने अपने मंत्र की सिद्धि के लिए मार डाला। अहो! कपट की कुशलता को धिक्कार है! फिर योगी ने उनके मस्तकों रूपी कमलों के द्वारा उस यक्ष की पूजा की। क्षुद्र देवता ऐसी पूजाओं से संतुष्ट होते हैं। उसके बाद यमराज के लघु भ्राता के समान उस योगी ने बिना किसी छल के उस शंख को भी मारने की कोशिश की। दुष्ट मनुष्यों के लिए कुछ भी अकार्य नहीं है। इस अवसर पर उस यक्ष ने प्रत्यक्ष होते हुए उस योगी से कहा–" हे अधम! हे पापिष्ठ! ऐसा दुष्ट कार्य क्यों करता है? बकरे के घात को नहीं करने के कारण छल को नहीं प्राप्त इस पुरुष का अगर तूं घात करेगा, तो तूं होते हुए भी नहीं होने के समान बन जायगा अर्थात् मरण को प्राप्त हो जायगा।"

यह सुनकर जैसे सिंहनाद को सुनकर भयभीत होते हुए बाघ मृग को छोड़ देता है, उसी प्रकार मन में भय को प्राप्त करते हुए उस योगी ने तुरन्त शंख को छोड़ दिया। उसके बाद अपने मित्रों के मरण से संतप्त शंख विलाप करने लगा–"हे मित्रों! गुणों के द्वारा

प्रशंसनीय और सर्व जनों का प्रिय करनेवाले तुम सब को इस पापी योगी ने कैसी दुर्दशा प्राप्त करवायी है? तुम्हारे बिना मैं अकेला इस दुर्गम मार्ग में कैसे जा पाऊँगा? तुम्हारे विरह में मैं कैसे काल का निर्गमन करूंगा?''

इस पर अपने करुण विलाप के द्वारा वन के भयंकर पशुओं को भी रुलाते हुए शंख साक्षात् यमराज के समान भयंकर उस वन में से किसी तरह बाहर निकला। मानो नया जन्म प्राप्त किया हो–इस प्रकार मानते हुए और अपने मित्रों का स्मरण करते हुए शंख किसी ग्राम में पहुँचा। शल्य के समान अत्यन्त शोक से विह्वल व पीड़ित वह वहां दो–तीन दिन तक रहा और मित्रों की उत्तरक्रिया/मरणक्रिया की। फिर उसने विचार किया कि अगर मैं अभी मेरे नगर में जाऊँगा, तो मित्रों के पितादि और पुरजनों को क्या मुँह दिखाऊँगा। अतः ऐसा विचार करके अत्यन्त दुःखित वह अन्य दिशा में गमन करने लगा, क्योंकि महापुरुष अल्प अकार्य में भी शंका को प्राप्त होते हैं।

मार्ग में चलते हुए उसे **सुमेघ** नामक श्रावक मिला, जो चारित्र ग्रहण करने के लिए किसी सद्गुरु के पास जा रहा था। स्नेह रूपी वृक्ष के अंकुरों के समान उन दोनों में परस्पर स्नेह–वार्त्तालाप हमेशा ही होने लगा, जिससे उन्हें मार्ग भी छोटा लगता। थोड़े ही समय में उन दोनों में भाइयों के समान प्रीति हो गयी। शुद्ध अंतःकरणवालों की प्रीति सुखपूर्वक साध्य होती है। उनका कोई निरोध नहीं कर सकता।

एक दिन सुमेघ श्रावक ने उससे पूछा–''हे बंधु! तुम खेदयुक्त क्यों दिखायी देते हो? अगर अकथनीय न हो, तो मुझे जरूर बताओ।''

यह सुनकर शंख के नेत्रों में आँसू आ गये। उसने आदि से अन्त तक का सारा वृत्तान्त उसे बताया। मित्रादि के सामने दुःख का कथन करने से थोड़े समय के लिए ही सही, दुःख कम पड़ जाता है। सारी बात सुनकर आश्चर्य को प्राप्त सुमेघ ने कहा–''अहो! प्राणियों का रक्षण करने में तत्पर तुम्हारी बुद्धि प्रशंसनीय है। अहो! तुम्हारा साहस कैसा आश्चर्यकारक है! जो कि प्राणों के संदेह में भी नष्ट नहीं हुआ। तुम्हारे इस पवित्र चरित्र को सुनकर कौन प्रसन्न नहीं होगा? तूं पण्डित है। अतः मित्रों के लिए शोक करना उचित नहीं है। प्राणियों का घात करके उन्होंने स्वयं ही अपनी मौत को निमंत्रण दिया है, क्योंकि जीवहिंसा सर्व आपत्तियों का स्थान है, समग्र सुखों का नाश करने में राक्षसी के समान है। लँगड़ा बनना, अंग की विकलता होना, कुष्ठादि व्याधियाँ होना, लूला होना आदि अन्य भी अनेक प्रकार की आपत्तियाँ इस लोक में हिंसा रूपी विषलता के प्रत्यक्ष फल हैं। अहिंसा ही संसार रूपी समुद्र को तैरकर पार करने के लिए विशाल जहाज के समान है। सर्व दुःख रूपी दावानल को बुझाने के लिए आषाढ़ मास के मेघ के समान है। तुम्हें तो इसी भव में अभयदान रूपी

कल्पवृक्ष फलीभूत हुआ है, क्योंकि ऐसे भयंकर कष्ट से भी तुम बिना किसी प्रयत्न के मुक्त हो गये हो। सर्व दानों में जीवनदान को ही पण्डित पुरुषों ने प्रधान बताया है, क्योंकि जीवन हो, तभी सर्व सुन्दर लगता है। प्राणियों के प्राणान्त के समय जीवनदान जैसा सुख देता है, वैसा षट्रसयुक्त भोजन भी नहीं दे सकता। इसी प्रकार मनोहर संगीत, विकस्वर नेत्रोंवाली स्त्रियों का हास्य, स्वर्णाभूषण, मनोहर शय्या, उष्ण जल से स्नान, सुन्दर वस्त्र, शरीर पर सुगन्धित द्रव्यों का लेप तथा विशाल साम्राज्य भी सुख नहीं दे सकता। इस विषय पर विचक्षण पुरुष चोर का दृष्टान्त देते हैं।''

शंख ने पूछा–''वह चोर का दृष्टान्त क्या है?''

तब सुमेघ कहने लगा–''**श्रीवसंतपुर** नामक नगर में **जितशत्रु** नामक राजा राज्य करता था। उसके **प्रियंकरा** नामक रानी थी, जो पाँचसौ रानियों में मुख्य थी। एक बार राजा अपनी प्रिया के साथ महल के गवाक्ष में बैठा था। उसी समय आरक्षकों ने किसी ग्राम से एक चोर को माल–सहित पकड़कर राजा के समक्ष उपस्थित किया। राजा ने उसके चोरी के कार्य के कारण क्रूरतापूर्ण तथा उसके सुन्दर रूप के कारण प्रसन्नतापूर्ण दृष्टि के द्वारा निहारते हुए उससे हास्यपूर्वक कहा–''तुम कौन हो? सभी पुरुषार्थों को साधने में समर्थ तथा पवित्र लावण्यतायुक्त ऐसी यौवनवय में ऐसा निन्दित कार्य क्यों करते हो?''

राजा की वाणी को सुनकर चोर के मन में कुछ विश्वास जागृत हुआ। उसने गद्गद् स्वर में कहा–''हे देव! **विंध्यपुर** नामक नगर में **विंध्य** नामक राजा राज्य करता है। उस नगर में प्रीति से शोभित **वसुदत्त** नामक श्रेष्ठी है। मैं उसी श्रेष्ठी का **वसंतक** नामक पुत्र हूं। माता–पिता के लालन–पालन द्वारा मैं वृद्धि को प्राप्त हुआ। मेरे पिता ने मेरा विवाह किया और मैं सुखपूर्वक रहने लगा। पर मेरे दुर्दैव के कारण मेरे सर्व गुणों रूपी लक्ष्मी को नष्ट करने का द्वार रूप द्यूत का व्यसन मुझे लग गया। स्वजनों द्वारा निषेध किये जाने पर भी, आपत्ति समीप आनेवाली हो, तो मरण के सन्मुख हुआ इन्सान जैसे अपथ्य का त्याग नहीं करता, उसी प्रकार मैंने द्यूतक्रीड़ा नहीं छोड़ी। मैं पिता की नजरों से छिपकर सारा धन धीरे–धीरे घर से बाहर ले जाने लगा, मानो स्वयं के घर से निकलने की तैयारी कर रहा होऊँ। यह सब जानकर पिता ने अत्यन्त क्रोधित होते हुए राजा को मेरी हकीकत बताकर मुझे दुष्ट सेवक की तरह अपने घर से बाहर निकाल दिया। अतः स्वेच्छा से घूमते हुए मैं यहां आया हूं। यहां के लोगों को भोग–विलास में सुखी देखकर मुझे भी भोग की अत्यन्त इच्छा हुई। पर धन के बिना तो वह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती थी। अतः अन्य कोई उपाय न होने के कारण मैं चोरी के कार्य में प्रवृत्त हो गया और तभी इन आरक्षकों ने मुझे पकड़ लिया। हे स्वामी! मैंने अपनी सारी बातें आपको सत्य ही कही है। अब आप अपनी इच्छानुसार

कीजिए।''

यह सुनकर राजा के हृदय में दया उत्पन्न हुई, पर 'चोर को नहीं छोड़ना चाहिए'–ऐसी नीति होने के कारण राजा ने कोतवाल को आज्ञा दी–''इसे शूली पर चढ़ाओ।''

तब राजा के पास बैठी प्रियंकरा रानी ने विचार किया कि यह बिचारा दया का पात्र है। अपनी भोगाशा को पूर्ण किये बिना ही मरण को प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार मन में दया उत्पन्न होने के कारण रानी ने राजा से विनति की–''हे स्वामी! इस चोर को केवल आज के लिए मुझे सौंप दें, जिससे मैं इसे इसका मनवांछित सुखोपभोग करवा सकूं। इस बिचारे को एक दिन के लिए तो अपनी इच्छा पूर्ण करने दें। हे प्रजानाथ! एक दिन बाद आपको जो उचित लगे, वह करें।''

यह सुनकर राजा ने पट्टरानी के मान की रक्षा के लिए उसे अनुज्ञा दे दी। तब रानी उसे महल में ले गयी। सबसे पहले उसने सेवकों के द्वारा शतपाक तेल से उसके बदन की मालिश करवायी, फिर सुगन्धित चूर्णादि के द्वारा उसका उबटन करवाया। फिर दासियों के द्वारा उसे सुगन्धित जल से स्नान करवाया। उसके बाद कोमल वस्त्र से उसका शरीर पोंछने के बाद उसे नये व सुन्दर व बहूमूल्य वस्त्र पहनवाये। उसके केशों को पुष्पमाला के साथ सुन्दर रीति से गूंथवाया। चन्दनादि के लेप द्वारा उसके शरीर को सुगन्धित किया। मुकुट व अलंकारों के द्वारा उसके शरीर को शृंगारित किया। फिर अमृत को भी तिरस्कृत करनेवाली सरस रसवती (रसोई) स्वर्णपात्र में परोसकर सेवकों द्वारा पंखा करवाते हुए आनंदपूर्वक उसे जिमाया। फिर कपूरमिश्रित नागरवल्ली के पान का बीड़ा देकर पलंग पर बिठाकर उसे नाटकादि दिखाकर उसका विनोद करवाया। शाम के समय उसे श्रेष्ठ अश्व पर बिठाकर सिर पर मयुरपिच्छ का छत्र धारण करवाकर आगे–आगे संगीत बजाते हुए सिपाहियों के परिवार के साथ उसे राजसभा में भेजा। उत्सवपूर्वक आये हुए उसने राजसभा में राजा को प्रणाम किया। सभासद उसे देखकर तरह–तरह की बातें करने लगे। रात्रि में रानी ने उसे उत्तम महल की श्रेष्ठ स्वर्णशय्या पर सुलाया। वेश्याएँ उसकी सेवा में हाजिर थीं। इस प्रकार उसने रात्रि व्यतीत की। प्रातःकाल होने पर उसे पूर्व का चोरवेश पहनाकर रानी ने राजा के पास भेजा। उस रानी ने उसके एक दिन के भोग के लिए पाँचसौ स्वर्णमुद्राएँ खर्च कीं।

तब दूसरी रानी ने भी राजा के पास उसी प्रकार प्रार्थना की और स्पर्धा की भावना से चोर के भोग के लिए पहली रानी से भी ज्यादा खर्च किया।

इस प्रकार अन्य–अन्य रानियों ने भी ईर्ष्याभाव के कारण पूर्व की अपेक्षा ज्यादा खर्च

करके उसको सुखोपभोग प्रदान किया। इस प्रकार उस चोर के लिए अत्यन्त उत्सव करके रानियों ने अपने–अपने चित्त का कौतुक पूर्ण किया। पर उस चोर का मन लेशमात्र भी खुश नहीं हुआ।

उस राजा की अन्तिम व सबसे छोटी रानी **शीलवती** थी। राजा ने उसके साथ विवाह करने के बाद कभी उसे देखा तक नहीं था। अतः उसके पास अत्यल्प समृद्धि थी। पर दृढ़ शीलव्रत का पालन करने के कारण वह अत्यन्त पवित्र थी। उसने भी राजा से विज्ञप्ति करवायी–"हे जीवितेश! आपको याद है कि मैं **जितारि** राजा की पुत्री हूं। मेरे साथ विवाह करके आपने तुरन्त ही मुझको भुला दिया। पर फिर भी सन्तोष रूपी अमृत से तृप्त होकर मैं अपने महल मे रह रही हूं। एकमात्र शील रूपी वैभव से समृद्ध होकर मैं समय का निर्गमन कर रही हूं। मैं पुण्यहीना हूं, अतः दूसरी रानियों के साथ स्पर्धा करने की मेरी कतई भावना नहीं है। पर फिर भी रानियों की कतार में होने के कारण अगर मैं इस कार्य को अंजाम न दूं, तो आपकी रानियों के मध्य मेरी गिनती नहीं होगी। अतः मैं आपसे प्रार्थना करती हूं कि इस चोर को मुझे भी एक दिन के लिए प्रदान करें।"

उसके इस प्रकार कहलाने पर राजा की स्मृति में वह रानी आयी और उसके अज्ञात गुणों से राजा का मन आकर्षित हुआ। राजा ने उसे भी अनुज्ञा प्रदान की। तब शीलवती ने उसे अपने महल में बुलवाया और कहा–"मेरे पास ऐसा कोई वैभव नहीं है, जो मैं तुम्हे दे सकूं।"

ऐसा कहकर उसकी यथाशक्ति आवभगत की और उसे अभयदान प्रदान करते हुए कहा–"मैं आज से तुम्हे धर्मपुत्र के रूप में स्वीकार करती हूं। अतः तुम्हारी रक्षा करने के लिए मैं भरपूर प्रयत्न करूंगी। तुम निश्चिन्त रहो।"

यह सुनकर उस चोर ने मानो जगत की सम्पूर्ण लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया हो, इस प्रकार से हर्षित हुआ। इससे उस रानी के स्वल्प उपचार को भी उसने कोटिगुणा माना। प्रातःकाल होने पर उस श्रेष्ठबुद्धिवाली शीलवती ने अपने धर्मपुत्र को साथ लिया और राजसभा में आयी। उस समय उस वसंत चोर को मुख हर्ष से प्रफुल्लित था, उसके नेत्र विकस्वर थे, उसके गाल फूले हुए थे, उसके दोनों खंधे उछल रहे थे। यह सब देखकर सभासद उसकी तरफ आकर्षित हो रहे थे और आश्चर्यचकित भी हो रहे थे। विकस्वर नेत्रों से उसी की और देख रहे थे। अन्य रानियाँ भी उसे देखकर ईर्ष्यापूर्वक विचार कर रही थीं कि आज शीलवती राजा के पास क्या माँगनेवाली है? तभी राजा ने उस चोर को अत्यन्त हर्षित देखकर पूछा–"अन्य सभी रानियों ने तेरा अत्यन्त स्वागत किया, सुखोपभोग दिया, पर तुझे देखकर ऐसा लगता था कि मानो तेरा सब कुछ हरण कर लिया गया है। पर आज

इस रानी ने अत्यन्त अल्प रूप में तेरा स्वागत–सत्कारादि किया, फिर भी मानो तुझे राज्य मिल गया हो, इस प्रकार से तूं प्रसन्न दिखायी दे रहा है। मुझे अत्यन्त आश्चर्य हो रहा है। तूं इसका कारण मुझे बता।''

यह सुनकर वसंत चोर ने शीलवती द्वारा दिये गये आश्वासन से प्राप्त धैर्यपूर्वक कहा–''हे स्वामी! आपने मुझे शूली पर चढ़ाने के जो वचन कहे थे, वे यमराज के संदेश की तरह मेरे कर्णों में कंटकों के समान वेदना उत्पन्न कर रहे थे। इससे मेरा मन भयभीत बना हुआ रहता था। उत्तम भोजन भी मुझे गाय के गोबर के समान प्रतीत होता था। स्वादिष्ट जल मुझे नीम के रस के समान कटुक प्रतीत होता था। उत्तम अश्व मुझे गधे के समान प्रतीत होता था। क्रीड़ाघर श्मशान के समान प्रतीत होता था। पुष्पमाला सर्प के समान प्रतीत होती थी। सुगन्धित चन्दन का लेप विष्ठा के लेप के समान प्रतीत होता था। पलंग पर कांटों की चुभन होती थी। मयूरपिच्छ का छत्र सूपड़े के समान प्रतीत होता था। स्वर्णाभूषण बेड़ियों के भार की तरह प्रतीत होते थे। सुन्दर वस्त्र यमराज के वस्त्रों की तरह प्रतीत होते थे। सुन्दर गीत रुदन जैसा प्रतीत होता था। वाद्यन्त्र के शब्द वज्र के प्रहार के समान प्रतीत होते थे। मनोहर स्त्रियाँ डाकिनियों के समान प्रतीत होती थीं। सिपाही यमराज के दूत के समान प्रतीत होते थे।

हे स्वामी! अधिक क्या कहूं? सामने रही हुई मृत्यु को देखकर मेरा मन आकुल–व्याकुल रहता था। एकमात्र शूली का ध्यान ही मनोमस्तिष्क में रहने से मुझे सारा जगत शूलीमय प्रतीत होता था। पर आज तो मानो त्रिभुवन को पवित्र करनेवाली गंगा ही धरा पर उतर आयी हो, इस प्रकार माता के सदृश इस शीलवती रानी ने मुझे अभयदान प्रदान किया है। अतः आज मेरा मन स्वस्थ बन चुका है। मेरे मन में अत्यन्त आनंद व्याप्त हो गया है। मुझे पुनर्जन्म मिल गया है। अतः मैं सारे जगत को सुन्दरतायुक्त देख रहा हूं। अतः इनका थोड़ासा भी उपचार मुझे अलौकिक दैवीय सुखों के तुल्य लग रहा है, क्योंकि जीवनदान देनेवाला एक तृण भी चिन्तामणि रत्न के तुल्य ही है। मेरुपर्वत और सरसों के दाने में जितना भेद है, स्वर्ण और पीतल में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर अन्य रानियों के उपकार व शीलवती रानी के उपकार में है।''

यह सुनकर राजा ने अत्यन्त हर्षित होते हुए शीलवती के मुखकमल की और निहारा। तब शीलवती रानी ने कहा–''हे स्वामी! आप अपने मुखकमल से इसे अभयदान प्रदान करें–यह मेरी विज्ञप्ति है।''

राजा ने कहा–''अभयदान तो मैंने दे ही दिया है। पर तुम भी कुछ भी मन–इच्छित माँगो।''

रानी ने कहा–"आपकी कृपा से मुझे कुछ भी कमी नहीं है। अतः और क्या माँगूं?"

यह सुनकर राजा ने विचार किया–"अहो! इसकी गंभीरता! अहो! इसका धैर्य! अहो! इसकी दया! अहो! इसका पवित्र शीलव्रत! अहो! इसकी सत्यता! अहो! इसका निष्पृह चित्त! अहो! इसके सभी गुण आश्चर्यकारक है!"

इस प्रकार उसके गुणों से आकर्षित होते हुए राजा ने प्रसन्न होकर उसे पट्टरानी के पद पर स्थापित किया। दयाधर्म के प्रभाव से रानी की सद्गति हुई। वसंत भी शीलवती के पुत्र के रूप में प्रसिद्ध हुआ। राजा की भी उस पर पूर्ण कृपा रही। वह भी दयाधर्म का पालन करके अनुक्रम से स्वर्ग में गया।

अतः हे भद्र! अभयदान के सिवाय अन्य कुछ भी कल्याणकारक नहीं है। तुमने भी इसका प्रत्यक्ष फल देखा है। अतः दयाधर्म में ही सम्यग् प्रकार से उद्यम करना चाहिए।"

सुमेघ के इस प्रकार कहने पर व दृष्टान्त सुनकर शंख हर्षित हुआ। उसके हृदय में संवेग रस का प्रसार हुआ। उसने जीवदया के धर्म को अंगीकार किया। योग्य क्षेत्र में वृष्टि की तरह सत्पात्र में दी गयी धर्मदेशना निष्फल नहीं जाती।

फिर एक बार सुमेघ ने शंख को कल्याण का विस्तार करनेवाला पंच परमेष्ठि का नमस्कार मंत्र सिखाया। फिर उसे उपदेश देते हुए कहा–"हे दक्ष! यह नवकार मंत्र सर्व आपत्तियों का नाश करनेवाला है और सर्व संपत्तियों को प्राप्त करानेवाला है। जिस प्राणी के कण्ठों में यह नवकार मंत्र रहा हुआ है, उसे भूत–प्रेत भयभीत नहीं कर सकते, व्यन्तर उसे विघ्न में नहीं डाल सकते, यक्ष उसकी रक्षा करते हैं, विविध व्याधियाँ उसे बाधित नहीं करती हैं, अग्नि–जल–विषादि से उत्पन्न भयंकर उपसर्ग उसका कुछ भी अपकार नहीं कर सकते। अतः इस मंत्र को श्रेष्ठ हार की तरह निरन्तर गले में धारण करना चाहिए। ऐसा करने से तूं समग्र सुख–लक्ष्मी का भाजन बनेगा।"

यह सुनकर शंख ने उसके उपदेश को अत्यन्त हर्षपूर्वक अंगीकार किया। कौनसा सुज्ञ सचेतन प्राणी दूसरों द्वारा किये गये हितोपदेश को स्वीकार नहीं करता? इस प्रकार पुण्यमय आलाप–संलाप के द्वारा उनका दीर्घ मार्ग भी सुखपूर्वक उल्लंघन करने लायक बन गया। कुछ दिनों बाद अपने गंतव्य का मार्ग अलग दिशा में होने से बंधु की तरह इष्ट शंख की अनुमति लेकर सुमेघ श्रावक आनन्दपूर्वक अपने पापों का नाश करने के लिए इच्छित स्थान की और चला। शंख भी निरन्तर नमस्कार मंत्र का स्मरण करते हुए किसी सार्थ के साथ स्वस्थ होते हुए अपने नगर की और चला। मार्ग में जाते हुए किसी अटवी में धनुषदण्ड पर बाण चढ़ाकर यमराज के किंकरों की तरह कितने ही भील वहां आये और 'पकड़ो–पकड़ो' कहकर

बाज पक्षी की तरह सार्थ के बीच में घुस गये और लूटपाट करने लगे। उनमें से शंख सहित दस जनों को पकड़कर व बांधकर पल्ली में ले जाकर अपने पल्लीपति को सौंपा। उन दस जनों को देखकर पल्लीपति **मेघनाद** ने कहा–"जब तक ऐसा ही 11वां मनुष्य न मिले, तब तक इन दसों को सुरक्षित स्थान पर रखो, क्योंकि भूत के द्वारा उपद्रव को प्राप्त मेरे ज्येष्ठ पुत्र की नीरोगता के लिए मैंने चण्डीदेवी के आगे 11 मनुष्यों के बलिदान की मनौती मानी है।"

उसके बाद भीलों ने उन दसों को पशुओं की तरह पिंजरे में बन्द कर दिया। कुछ समय बाद भील 11वें मनुष्य को भी पकड़कर ले आये। फिर उन सभी को स्नान करवाया, श्वेत वस्त्र पहनाये और यमराज के घर के समान चण्डिका देवी के मन्दिर में ले गये। पल्लीपति भी वहां आया और उसने कहा–"हे मनुष्यों! तुम्हें जिस किसी का स्मरण करना है, कर लो। आज मैं इस देवी के सामने तुम सभी की बलि चढ़ाऊँगा।"

ऐसा कहकर उनको मारने की भावना से जैसे ही उसने तलवार हाथ में ली, तभी किसी सेवक ने आकर कहा–"हे स्वामी! जल्दी आइए। आपका पुत्र भूत के द्वारा अत्यन्त पीड़ित हो रहा है।"

यह सुनकर पल्लीपति उन सभी को वहीं छोड़कर तुरन्त अपने पुत्र के पास गया। उस पल्लीपति ने अपने पुत्र की स्वस्थता के लिए जो–जो औषधि की, उसका गुण होना तो दूर रहा, ईंधन डालने पर अग्नि के भभकने की तरह उसकी व्याधि और ज्यादा वृद्धि को प्राप्त हो रही थी। वह उपाय कर–करके थक गया। अब क्या होगा? इस आशंका से उसका हृदय चिन्तित हो उठा।

उधर चण्डी के मन्दिर में रहे हुए शंख ने अतुल्य महिमायुक्त नवकार मंत्र का स्मरण करते हुए पल्लीपति के किसी प्रधान पुरुष को कहा–"अगर तुम मुझे मालिक के पुत्र के पास ले जाओ, तो शायद मैं कुछ चमत्कार दिखा सकूं।"

यह सुनकर उसने तुरन्त पल्लीपति को संदेश भिजवाया। पल्लीपति ने तुरन्त उसे बुलवाया और कहा–"हे भद्र! तुम्हारी सौम्य आकृति ही तुम्हारी कला–कुशलता को दर्शा रही है। मणि की बाह्य आकृति क्या उसके मूल्य का दिग्दर्शन नहीं कराती? हे महापुरुष! मेरे पुत्र को स्वस्थ कर दो। यहां किसी चीज की कोई कमी नहीं है। तुम्हे हवनादि के लिए कस्तूंरी आदि जो कुछ भी चाहिए, वह सब तुम्हें मिल जायगा।"

तब शंख ने कहा–"कोई उतावली मत करें। बाह्य वस्तुएँ इस व्याधि को शमित नहीं कर सकतीं।"

ऐसा कहकर शंख ने अपार महिमा के सागर रूप नमस्कार मंत्र का पवित्र मन द्वारा

सम्यग् प्रकार से जाप करने लगा। उस समय उसने अपनी दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर स्थिर कर लिया था। उसका मन रूपी हँस नाभि–कमल पर रमण कर रहा था। मंत्र के एक–एक अक्षर में से झरते अमृत के प्रवाह द्वारा उस पुत्र का महान् दोषों रूपी विष का वेग शांत हो रहा था। इस प्रकार योगी की तरह शंख ने निर्भयता से पाप को दूर करनेवाले और दैदीप्यमान प्रभावयुक्त नवकार मंत्र का तीन बार जाप किया। तब अत्यन्त भयभीत बना हुआ दुष्ट आशयवाला पिशाच जोर से चिल्लाता हुआ वहां से भाग गया। पिशाच से मुक्त हो जाने के कारण पल्लीपति के पुत्र का शरीर सर्वांग से स्वस्थ हो गया। अंधकार का नाश करने से चन्द्र की तरह मानो नव जन्म प्राप्त किया हो, इस प्रकार से शोभायमान होने लगा। पुत्र की उस अवस्था को देखकर पल्लीपति अत्यन्त हर्षित हुआ। उसके नेत्र हर्षाश्रुओं से सराबोर हो गये। फिर उसने शंख से कहा–"अहो! तुम्हारी अद्‌भुत शक्तियों की तुलना किसी के साथ नहीं हो सकती। तुम्हारी समस्त कलाएँ परोपकार के कार्य में ही तत्पर हैं। जैसे मृग संगीत के द्वारा वश में होता है, उसी प्रकार तुम्हारे पावन आश्चर्यकारक चरित्र ने मुझे वश में कर लिया है। अतः तुम मनवांछित वरदान माँगो।"

शंख ने कहा–"हे पल्लीराज! अगर तुम वास्तव में मुझ पर तुष्ट हो, तो इन दसों मनुष्यों को मुक्त करो, इन्हें जीवनदान दो और इनका स्वजनों की तरह सम्मान करके अपने–अपने घर के लिए विदा करो।"

यह सुनकर पल्लीपति ने 'बहुत अच्छा' कहकर उसके वचनों को अंगीकार किया। उनके साथ भाता देकर बंधुओं की तरह सम्मान करके उन्हें विदा किया। पर अत्यन्त आग्रह करके शंख को कितने ही दिनों तक निष्कपट भाव से अपने ही पास रखा और उसकी अत्यन्त भक्ति की। अनुक्रम से दोनों में अत्यन्त प्रीति उत्पन्न हुई। तब एक बार शंख ने उसे उपदेश दिया–"सर्व पापों के स्थान रूप प्राणघात तुम क्यों करते हो? निर्दय मनुष्य हाथ में शस्त्र लेकर निःशस्त्र, निरपराधी और शरणरहित प्राणियों का हरण करते हैं, जो महापाप है। एक कांटा चुभ जाने पर हमें स्वयं असह्य कष्ट का अनुभव होता है, ऐसा जानने के बाद कौन बुद्धिमान तीक्ष्ण शस्त्रों के द्वारा प्राणिघात करेगा? हे राजा! दीर्घायुष्य का प्राप्त होना, शरीर की निरोगता रहना, सौभाग्य प्राप्त होना और विश्वमान्य होना–ये सभी अहिंसा के ही फल जगत में दिखायी देते हैं। जो मनुष्य मृत्यु के भय से भयभीत बने प्राणियों को अभयदान देता है, वह **अभयसिंह** की तरह निर्भयता को प्राप्त होता है।"

तब पल्लीपति ने पूछा–"हे भद्र! वह अभयसिंह कौन था? उसकी कथा मुझे सुनाओ।"

तब श्रेष्ठीपुत्र शंख ने उसे कथा सुनाना प्रारम्भ किया–"इस भरतक्षेत्र में उद्यानों से मनोहर **कुशस्थल** नामक एक ग्राम है। उस ग्राम में नाम व स्वभाव से भद्र **भद्रक** नामक

एक कुलपुत्र रहता था। एक बार वहां मनुष्यों का विनाश करनेवाला महाभयंकर दुष्काल प्रवृत्त हुआ। अतः अन्न के अभाव में अत्यन्त खिन्न होते हुए उसने विचार किया–"अरण्य में रहनेवाले मृगादि को मारकर मैं मेरा जीवन चलाऊँ।"

जिसका चित्त धर्म से विमुख हो, उसकी बुद्धि सन्मार्ग का अनुसरण करनेवाली कैसे हो सकती है? वह पापी भद्रक [1]मुद्गर लेकर वन में गया। वहां उसने निःशंक होकर एक निर्दोष खरगोश पर मुद्गर फेंका। उस मुद्गर को आता देखकर वह शशक मृत्यु के भय से तुरन्त वहां से भाग गया। उसने फिर उसके पीछे से निशाना साधकर मुद्गर फेंका, पर फिर भी वह शशक जी–जान लगाकर भाग रहा था। इस प्रकार बार–बार मुद्गर के वार से बचते–बचते वह खरगोश अन्य कोई शरण न मिलने से प्रतिमाधारी किसी मुनि के चरणों में जाकर छिप गया। उस समय मुनि के तप के प्रभाव से प्रसन्न वनदेवताओं ने उस शशक के आड़े एक स्फटिक की भींत की विकुर्वणा कर दी। उस भद्रक ने फिर से मुद्गर फेंका, तब वह उस स्फटिक की दिवार से टकराकर वापस लौटकर भद्रक के कपाल में वज्र की तरह टकराया। उसके घात से वह व्यथा को प्राप्त हुआ। उसका सम्पूर्ण शरीर रक्त की धाराओं से व्याप्त हो गया। वायु के प्रबल आघात से उक्षड़े हुए वृक्ष की तरह वह मूर्च्छित होकर धराशायी हो गया। फिर मित्र की तरह वन की शीतल वायु के उपचार से चैतन्य होकर उसने आँखें खोलीं, तो अपने सन्मुख मुनि को देखा। उनके शांत स्वरूप को देखकर उसकी दुष्ट बुद्धि का विनाश हुआ। उसने विचार किया–"हा! हा! मेरे दुष्ट कर्मों का फल मुझे इसी भव में दुःखदायी रूप में मिल गया है। मेरे अभी भी कुछ पुण्यों का उदय है कि किसी ने अदृश्य रहकर इन मुनि की मेरे मुद्गर से रक्षा की। अन्यथा प्रतिमा में रहे हुए मुनि की घात हो जाती। उससे मुझे इतना पाप लगता कि सातवीं नरक में भी मुझे स्थान नहीं मिलता।"

इसके बाद कृपानिधान मुनिवर ने प्रतिमा पारकर कहा–"हे भद्र! सर्व आपत्तियों के स्थान रूप प्राणिघात को तूं क्यों करता है? कुबुद्धियुक्त जो मनुष्य मांस का लोलुपी बनकर प्राणी की हिंसा करता है, वह विविध दुर्गतियों में दुःखों का स्थान बनता है और सद्बुद्धियुक्त जो पुरुष सर्व प्राणियों पर दयाभाव धारण करता है, वह सर्व आपत्तियों का नाश करके संपत्ति को प्राप्त करता है।"

यह सुनकर भद्रक को विवेक प्राप्त हुआ। उसने कहा–"हे प्रभु! मैं आज से जीवन–पर्यन्त जीवहिंसा नहीं करूंगा।"

तब मुनि ने निःसंग होते हुए भी उसे धर्म में दृढ़ करते हुए कहा–"हे भद्र! तूं धन्यवाद

---

1. गोले के आकारवाला शस्त्र।

का पात्र है। तूं आज मुनियों के द्वारा भी मान्य हो गया है, क्योंकि तुमने आज धर्मवृक्ष के बीज रूपी जीवदया को पाया है। इस जीवदया के द्वारा ही तुझे सर्व संपत्तियाँ सुलभ होंगी।''

भद्रक ने भक्तिपूर्वक मुनि को नमन किया और दयाधर्म की प्राप्ति होने से अपनी आत्मा को धन्य मानता हुआ अपने ग्राम में लौट गया। सम्यग् धर्म के प्रभाव से वह शुद्ध व्यवसाय करने लगा, जिससे उसकी व उसके परिवार की आजीविका का निर्वाह सुखपूर्वक होने लगा। जीवन–पर्यन्त दयाधर्म का अचरण करते हुए वह भद्रक अन्त में विधिपूर्वक मरण प्राप्त करके वह कहां उत्पन्न हुआ और कैसी समृद्धि उसने पायी? यह मैं आगे बताता हूं। तुम सुनो।''

''इस भरतक्षेत्र में **श्वेताम्बिका** नामक नगरी है। वहां सज्जन और दुर्जन–सभी सदाचार का पालन करते हैं। उस नगरी में अत्यधिक विशाल सेना का स्वामी **वीरसेन** नामक राजा राज्य करता था। उसकी खड्ग रूपी शय्या में जय रूपी लक्ष्मी सुखपूर्वक विश्राम करती थी। उस राजा के **वप्रा** नामक प्रिया थी। उसके हृदय में सदैव पुण्य रूपी तरंगें उछला करती थीं।उसका शील सुकृत रूपी लक्ष्मी का रक्षण करने में किले के समान था।

भद्रक का जीव उसकी कोख में सिंह के स्वप्न के द्वारा सूचना करता हुआ पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। वह तेजराशि सूर्य के समान लक्ष्मी का स्थान रूप शोभित होता था। वह पुत्र एक माह की उम्रवाला हुआ। उस समय वीरसेन राजा पर उसके शत्रु **मानभंग** राजा ने आक्रमण कर दिया। बड़े–बड़े अश्वों के पैरों की खुर से उड़ी हुई धूल दिन को भी रात्रि बना रही थी। मदोन्मत्त हाथियों के समूह की मदवारि का प्रवाह वर्षाऋतु के बिना भी समग्र मार्ग को कीचड़युक्त बना रहा था। योद्धाओं की चमकती तलवारें चारों तरफ आकाश में बिजली–सी चमक पैदा कर रही थी। वह मानभंग राजा अगणित सैनिक–समूहों के साथ श्वेताम्बिका नगरी की सीमा में पहुँचा। यह जानकर वीरसेन राजा भी अपने विशाल सैन्य के साथ उसी तरह चला, जिस तरह गजेन्द्र के सामने सिंह जाता है। दोनों की सेनाओं के मध्य उग्र युद्ध हुआ। कहीं भालों के द्वारा, कहीं तलवार के द्वारा और कहीं बाणों के द्वारा युद्ध होने लगा। उस युद्ध में महाबलवान वीरसेन राजा के सेनापति ने मानभंग राजा के सेनापति को पृथ्वीपीठ पर कटे वृक्ष की तरह गिरा दिया। यह देखकर मान रूपी धन से युक्त मानभंग राजा क्रोध से रक्तमुखवाला होकर वीरसेन राजा के साथ युद्ध करने के लिए दौड़ा। सुर–असुर को त्रास पैदा करनेवाला उन दोनों का भयंकर युद्ध देखकर मानो विजयलक्ष्मी भी सहम गयी हो–इस प्रकार एक बारगी तो उसने दोनों को ही नहीं वरा। अन्त में दैवयोग से वीरसेन राजा देवगति को प्राप्त हुआ। उसका राज्य मानभंग राजा ने अपने वश में कर लिया। यह देखकर शील के लोप के भय से व्याकुल बनी वप्रा महारानी भय से कांपने लगी। पुण्य की क्यारी रूप उस एक मास के बालक को लेकर वहां से भाग गयी। भयभ्रान्त

लोचनों से युक्त वह रानी वन में इधर–उधर घूमने लगी। तभी हरिणी को शिकारी की तरह उसे भी किसी सैनिक ने देख लिया। सैनिक ने उसे देखते ही मन में विचार किया कि–"मेरा पुण्य अगण्य है, क्योंकि आज रूप–सौंदर्य से अप्सरा को भी मात देनेवाली प्रिया मुझे प्राप्त हुई है। अतः सबसे पहले मेरे स्नेह में बाधक बननेवाले सर्प के समान इस बालक का त्याग करवाऊँ, तो यह मुझ पर अत्यन्त प्रीति धारण करेगी।"

ऐसा विचार करके सैनिक ने रानी से कहा–"इस भार रूप बालक का तूं परित्याग कर।"

कामी पुरुष कार्य–अकार्य के विचार में निपुण नहीं होते।

रानी ने कहा–"मेरे प्राणों से भी प्रिय और सौंदर्यता में कामदेव को भी परास्त करनेवाले इस नवजात शिशु का बिना कारण मैं कैसे त्याग करूं?"

तब उसने कहा–"मैं तुम्हारा प्राणप्रिय बनूंगा, जिससे चित्त को आनंद उत्पन्न करनेवाले ऐसे अनेक पुत्र तुम्हें पैदा होंगे।"

यह सुनकर रानी ने कहा–"अब मुझे दूसरे पुत्र तो परभव में ही होंगे–यह तुम भी जान लो।"

ऐसा कहकर वह रुदन करने लगी। अबलाओं के पास एकमात्र आँसुओं का ही बल होता है। तब उस पापी ने जबरन उसका पुत्र उसके हाथ से छीन लिया और अटवी में ही छोड़ दिया। फिर उसका हाथ पकड़कर आगे चलने लगा। फिर अपनी इच्छा पूर्ण होती मानकर वह बोला–"तूं रुदन मत कर और न ही खेद कर। मुझे पति के रूप में स्वीकार कर। वनपुष्प की तरह इस युवावस्था को व्यर्थ न गँवा।"

इस प्रकार कर्ण में [1]करवत के समान उसके वचनों को सुनकर अत्यन्त दुःखार्त्त होते हुए उसके लोचन अश्रुओं से भर गये। वह दैव को उपालम्भ देने लगी–"हा दैव! मैंने अपनी दुष्ट बुद्धि के द्वारा पूर्वजन्म में क्या अकार्य किया होगा, जिससे कि तूं निर्दयतापूर्वक दुःख पर दुःख दिये जा रहा है? सबसे पहले तो मैं जिन्हें प्राणों से भी प्रिय थी, ऐसे प्रशस्त गुणों के सागर रूप मेरे प्राणनाथ को मृत्यु के मुख में पहुँचा दिया। फिर सर्व सुखों के साधन रूप राज्य भ्रष्टता प्राप्त हुई। उसके बाद मुझे ज्ञातिजनों के साथ एक ही समय में वियोग प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् शरण–रहित होकर मुझे अकेले इस शून्य वन में परिभ्रमण करना पड़ा और अब इस पापी पिशाच के हाथों में पड़ी। अब इससे ज्यादा और क्या दुःख मिलनेवाला है कि यमराज के मुख के समान इस भयंकर वन में मेरा पुत्र अकेला छूट गया है?

---

1. तलवार।

हे विधाता! ऐसे दुःख देकर भी तुझे संतोष नहीं मिला, जिससे कि प्राणों से प्रिय शील का भी त्याग करवाने के लिए तूं तैयार बैठा है। ठीक है, बहुत अच्छा है, पर तूं इतना जान ले कि अभी तक तो तूं मेरे सर्वस्व का हरण करने में समर्थ बना है। पर मेरे शील का नाश करने में तेरी कितनी कुशलता है–यह अब तुझे पता लगेगा।

हे धृष्ट निर्लज्ज–चित्त! तूं भी क्या वज्र का बना हुआ है कि ऐसा दुःख देखने के बाद भी तूं फटा नहीं है?''

इस प्रकार अत्यन्त पीड़ित उसके हृदय में मानो अद्‌भुत दुःख का आवेश उत्पन्न हुआ हो और उसके दुःख को देखकर उसके भयभीत प्राण मानो हृदय को चीरकर बाहर निकल गये अर्थात् वह मरण को प्राप्त होकर तत्काल शील के प्रभाव से व्यन्तरी बन गयी। निर्मल शील किसकी समृद्धि का साक्षीभूत नहीं होता? अवधिज्ञान के द्वारा पूर्वभव को देखते हुए उसने देखा कि उसका पुत्र वन में वायु से गिरे हुए जामुनों को खा रहा है। तब उसने गाय के रूप की विकुर्वणा करके प्रेमवश अपने पुत्र को दूध पिलाया। सभी उपद्रवों से उसकी रक्षा की। दूसरे दिन बालक के पुण्य से आकर्षित होकर श्वेताम्बिका नगरी का ही कोई **प्रियमित्र** नामक सार्थवाह वन में आया। उसने एक वृक्ष के नीचे शुभ लक्षणों से युक्त उस बालक को देखा। वृक्ष की छाया को स्थिर देखकर उसे अद्‌भुत भाग्यवंत माना। उसे रत्न की तरह सुरक्षित व गोपनीय तरीके से लाकर अपनी निःसन्तान प्रिया को सौंप दिया।

''गुप्त गर्भ से युक्त मेरी प्रिया को आज ही पुत्र उत्पन्न हुआ है''–इस प्रकार लोक में प्रसिद्ध करके उसका जन्मोत्सव किया। फिर उसने विचार किया कि मैंने इसे निर्जन वन में सिंह की तरह निर्भय देखा था। अतः उसने उस बालक का नाम **अभयसिंह** रखा। फिर सार्थवाह और उसकी स्त्री बालक का पुत्र की तरह लालन–पालन करने लगे। प्राणियों के शुभ कर्म सर्वत्र स्वजनपने को उत्पन्न करते हैं। अभयसिंह कुमार ने समय आने पर समग्र सुन्दर कलाएँ सीखीं। अनुक्रम से युवतियों के मन की क्रीड़ा करने के स्थान रूप यौवन को प्राप्त हुआ।

एक बार सुखशय्या पर सोये हुए कुमार के पास मध्यरात्रि के समय उसकी माता देवी ने आकर प्रेम के पूर को विकसित करनेवाली वाणी के द्वारा कहा–''हे पुत्र! इस नगरी में पहले वीरसेन राजा राज्य करता था। मैं उसकी वप्रा नामक रानी थी। मेरी कुक्षि से उत्पन्न हुआ तूं मेरा ही पुत्र है। तेरे पिता को इस मानभंग राजा ने युद्ध में मार डाला और मैं वन में भाग गयी। वहां मरकर मैं देवी बनी हूं। मानभंग राजा के शत्रु का पुत्र तूं है–यह जानकर वह राजा तुझ पर द्वेषभाव धारण करेगा। अतः अपनी रक्षा के लिए अदृश्य करनेवाली यह विद्या तूं ग्रहण कर।''

यह सुनकर "आपने मुझ पर महान कृपा की"–कहकर अभयसिंह ने माता को नमस्कार किया और हर्षपूर्वक उसके पास से मात्र बोलने से ही सिद्ध होनेवाली वह विद्या ग्रहण की।

"तूं जब भी मुझे याद करेगा, मैं तेरी सहायता करूंगी"–ऐसा कहकर देवी बिजली की चमक के समान उड़कर अपने स्थान पर लौट गयी। मानभंग राजा को अपना शत्रु जानते हुए भी भयरहित पराक्रमी अभयसिंह कुमार स्वेच्छापूर्वक उद्यानादि में क्रीड़ा करते हुए समय व्यतीत करने लगा।

मानभंग राजा को मांस खाने का कुव्यसन था। स्वादिष्ट अन्न को वह घास के समान निःसार समझता था। एक बार रसोइये ने मांस की रसोई तैयार की, पर उसके प्रमाद के कारण वह रसोई कोई बिलाव खा गया, क्योंकि हिंसक प्राणियों की वैसी ही खुराक होती है। यह देखकर रसोइया अपने स्वामी के क्रूर स्वभाव के कारण अत्यन्त भयभीत हुआ। समय न होने के कारण पुनः मांस मिलना कठिन था। अब मैं कहां से मांस लाऊँ–इस विचार से मूढ़ बन गया। इधर–उधर चारों तरफ देखते हुए उसे एक बालक दिखायी दिया। उसकी निर्दयतापूर्वक हत्या करके उसके मांस से रसोई पकाकर शीघ्र ही राजा के पास ले गया। उसका अपूर्व स्वाद देखकर राजा ने पूछा–"हे सूप! यह अति स्वादिष्ट मांस किसका है? बता।"

तब उसने राजा से सत्य हकीकत निवेदन की। यह सुनकर वैसा मांस खाने की लोलुपता के कारण राजा ने उस सूप से कहा–"अब से हमेशा एक बालक का मांस पकाकर मेरा भोजन बनाना।"

इस प्रकार राजाज्ञा से वह निर्दयी सूप वैसा ही करने लगा। राजा पापी हो, तो उसके सेवक भी वैसे ही होते हैं। राजा के इस प्रकार के दुष्ट आचरण को देखकर जनता कंजूस मानवों द्वारा धन छिपाने के समान अपने बालकों को छिपाने लगी और विचार करने लगी कि ऐसे कुकर्म को करने में आसक्त इस राजा का कब विनाश होगा?

एक बार लुब्धबुद्धि से युक्त राजा ने विचार किया कि कभी कोई बलात्कार के द्वारा मेरे राज्य को छीन तो नहीं लेगा? पापी मनुष्य प्रायः करके शंकालू होते हैं। उस समय कल्पान्त काल की वायु के समान बलवान तीक्ष्ण वायु बहने लगी। उस वायु से वृक्ष जड़ सहित उखड़ने लगे। उस वायु के द्वारा उठी हुई धूल से आकाश मण्डल परिव्याप्त हो गया और सूर्य राहू से ग्रस्त होने के समान अदृश्य हो गया। मानो मानभंग राजा का मूर्त्तिमान अपार पापसमूह हो, इस प्रकार से अंधकार समूह के द्वारा सर्व दिशाएँ श्यामता को प्राप्त हुईं। अब इस दुष्ट बुद्धिवाले राजा का मरण होगा–इस प्रकार का अनुमान लगाकर हर्षित होते हुए

जगत के हितकारक मेघ गर्जना करने लगे। उस दुष्ट राजा का हनन करने के लिए मानो बार–बार स्फुरित होती हुई यमराज की कैंची हो, उस प्रकार से आकाश में बिजली चमकने लगी। उस समय आकाश में दो भूत आपस में बातें कर रहे थे और महल के गवाक्ष में बैठा राजा भयभीत होकर सुन रहा था। भूत ने अपनी प्रिया से कहा–"हे प्रिये! मैं कोई भावी वृत्तान्त बता रहा हूं। तूं सुन।"

तब प्रिया ने कहा–"हे स्वामी! शीघ्र बतायें। मैं सुनने के लिए उत्सुक हूं।"

तब भूत ने कहा–"निरपराधी जन्तुओं के समूह का घात करने से उत्पन्न हुए पापसमूह से भारी बना यह राजा स्वल्प काल में ही विनाश को प्राप्त होगा।"

यह सुनकर कौतुक उत्पन्न होने के कारण उसकी प्रिया बोली–"तो फिर इस नगरी का राजा कौन बनेगा?"

भूत ने कहा–"जो पुरुष इस राजा की आज्ञा का भंग करेगा, मदोन्मत्त हाथी को वश में करेगा और राजा की पुत्री को स्वीकार करेगा, वही इस नगर का स्वामी बनेगा।"

इस प्रकार की बातें करते हुए वह भूत–युगल अदृश्य हो गया।वायु से उत्पन्न हुए सभी उपद्रव भी नष्ट हो गये। उसके बाद वह गर्विष्ठ राजा मन में भय प्राप्त होने से भ्रान्त बन गया। उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी। अतः उसने नगर के आरक्षकों को तत्काल आज्ञा दी–"अपनी आत्मा को सुभट माननेवाला जो दुष्ट पुरुष मेरी आज्ञा का उल्लंघन करे, उसे निःशंक होकर तत्काल ही यमराज का चर बना देना अर्थात् मार डालना।"

एक बार रात्रि के समय अभयसिंह रामदेव के मन्दिर में नाटक देखने के लिए गया। मध्यरात्रि के समय वह अपने घर की और लौट रहा था। उसे देखकर आरक्षक ने कोमल वाणी के द्वारा उससे कहा–"हे भद्र! जरा ठहरो। तुम कौन हो? मेरे प्रश्नों का जवाब देकर आगे जाना।"

इस प्रकार आरक्षक के द्वारा पूछे जाने पर भी कुमार रुका नहीं, बल्कि नदी के पूर की तरह आगे चलता रहा। तब उसने कोपयुक्त वाणी में राजा की आज्ञा बतायी। तब अभय ने कहा–"वह आज्ञा तूं अपने बाप को देना।"

इस प्रकार निर्भयतायुक्त कथन करके धैर्यवान अभयसिंह आगे चलने लगा। यह सुनकर आरक्षक को अत्यन्त क्रोध आया। उसने सैनिकों को पुकारा और कहा–"हे योद्धाओं! इसे पकड़कर बांधो और मारो।"

ऐसा कहकर क्रोध से स्वयं भी उसकी और दौड़ा। उसे देखकर वीरसेन राजा का निर्भय पुत्र अभयसिंह विद्या के द्वारा अदृश्य होकर सकुशल अपने घर पहुँच गया। सत्पुरुष

को विपत्ति कहां? प्रातःकाल नगर–आरक्षकों ने यह बात राजा को बतायी। तब [1]क्रोधारुण होते हुए मानभंग राजा ने उसके मान को भंग करनेवाले वचन कहे–"हे बेवकूफ! तूं वास्तव में नपुंसक ही है, कि सैकड़ों योद्धाओं के परिवार से युक्त होने के बावजूद भी एक शत्रु को मार तक नहीं पाया।"

कुछ दिनों के पश्चात् मदोन्मत्त होकर राजा का पट्ट हस्ती अत्यन्त दृढ़ बंधनवाले स्तम्भ को उखाड़कर स्वेच्छापूर्वक नगरी में भ्रमण करने लगा और उत्पात मचाने लगा। वह महावायु की तरह कहीं वृक्षों को उखाड़कर फेंक देता था, तो कहीं शत्रु राजा की तरह नगरी के महलों को तोड़ डालता था। जैसे आरक्षक लोगों को त्रस्त करते हैं, वैसे ही वह पुर के लोगों को त्रस्त करने लगा। काल के बिना ही कल्पान्त काल को मानो जन्म दे रहा हो–ऐसा प्रतीत करवाता था।

उस समय राजपुत्री **कनकवती** कामदेव की पूजा करके उद्यान से वापस लौट रही थी। उस पर उस बिगड़ैल हाथी की दृष्टि पड़ी। तुरन्त ही वह हाथी क्रोध से धमधमायमान होता हुआ यमराज की तरह उसकी ओर दौड़ा। उस समय उसके साथ का दास–दासी–परिवार उच्च स्वर पुकार करने लगा–"रणसंग्राम में धीर हे वीरों! दौड़ो–दौड़ो। हमारे स्वामी की पुत्री को यह हाथी नुकसान पहुँचाने की कोशिश कर रहा है। अरे! इस नगरी में कोई शूरवीरों का शिरोमणि है या नहीं, जो कि इस राजपुत्री का रक्षण कर सके? क्या यह वसुन्धरा वीर–रत्नों से खाली हो गयी है?"

इस प्रकार के उनके विलाप को सुनकर वीरसेन का पुत्र महापराक्रमी अभयसिंह कुमार तुरन्त वहां आ पहुँचा और उसने हाथी को ललकारते हुए कहा–"हे हाथी! तूं नाम से ही [2]मातंग है–ऐसा नहीं है, बल्कि कर्म के द्वारा भी तूं मातंग ही है।"

इस प्रकार कहकर महावीर्य से युक्त कुमार ने राजपुत्री को मारने में तत्पर हुए उस दुर्वार हाथी पर वज्र से भी ज्यादा बलवाली मुष्टि के द्वारा प्रहार किया। उस समय वह हाथी राजपुत्री को छोड़कर कुमार के पीछे क्रोध से दौड़ा। निर्भय अभयसिंह ने उस हाथी को मण्डलाकार चक्कर लगवा–लगवाकर चिरकाल तक घुमाया। इससे वह इतना अधिक क्लान्त हो गया कि क्षणभर के लिए किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनकर खड़ा रह गया। उस समय उसके शरीर पर पसीने का जल प्रवाहित हो रहा था, जिससे वह वर्षाऋतु के पर्वत की शोभा को प्राप्त हो रहा था। उसके बाद जिसका पराक्रम वास्तव में स्तुत्य है–ऐसा वह कुमार शीघ्रता से कूदकर हाथी के स्कन्धों पर चढ़ गया। इस तरह वह पुरजनों के मन में प्रेम का

---

1. क्रोध में लाल। 2. चण्डाल।

पात्र बना। इस प्रकार उस हाथी को वश में करके तीक्ष्ण अंकुश के द्वारा जैसे इन्द्र ऐरावत हाथी क्रीड़ापूर्वक चलाता है, उसी प्रकार उसे चलाया। यह सब देखकर राजपुत्री का हृदय उसके गुणों के आधीन हो गया। उसके उपकार रूपी द्रव्य से खरीदी हुई के समान कुमारी ने उस कुमार को हर्षपूर्वक मन ही मन में वर लिया। नगर के लोग मानो गवैये बन गये हों, इस प्रकार से उसके गुणों को गाने लगे–"अहो! इसकी शक्ति अद्‌भुत है! यह कुमार चिरकाल तक जयवन्त वर्त्ते।"

फिर हाथी को मानो क्रीड़ा करवाते हुए और पुर–स्त्रियों के नेत्रों को आनंदित करते हुए कुमार ने हाथी को पुनः अपने स्थान पर लेजाकर बांध दिया। इस तरह उसने अपनी वीरता से प्रसिद्धि प्राप्त की।

यह घटना जानकर राजा मानभंग ने विचार किया–"यह वणिकपुत्र नहीं हो सकता। आकृति और प्रकृति के अनुसार तो यह क्षत्रियपुत्र ही जान पड़ता है। क्या यही युवक उस देववाणी को सफल करेगा? तो इस शत्रु को मारने का उपाय मुझे शीघ्र ही करना चाहिए। कहा भी है कि किसी भी कार्य को करने में पुरुष को पुरुषार्थ का त्याग नहीं करना चाहिए।"

इस प्रकार का विचार करके उस दुष्ट राजा ने सुभटों को आज्ञा प्रदान की–"युद्धकला में कुशल लाखों शूरवीर योद्धाओं के होते हुए भी इस एक वणिकपुत्र ने हाथी को वश में किया है–यह बात राज्य में चण्डाल की तरह मलिनता को विस्तृत बनाती है। जब तक वह वणिकपुत्र जीवित रहेगा, तब तक यह अपवाद वृद्धि को प्राप्त होता रहेगा। अतः तुमलोगों को तुरन्त ही उसे यमराज का अतिथि बनाना होगा।"

यह सुनकर सभी योद्धा अत्यन्त क्रोधित हुए। कवच पहनकर हाथों में शस्त्र लेकर उसे मारने के लिए उसे उसी प्रकार से चारों तरफ से घेर लिया, जिस प्रकार शूकर हाथी को घेर लेते हैं। ये यमराज की तरह मुझे मारने आये हैं–यह जानकर कुमार अभयसिंह तत्काल देव की तरह अदृश्य होकर अपने घर पहुँच गया। यह देखकर सैनिक निराश हो गये। उन्होंने राजा से कहा–"हे स्वामी! हम जैसे ही उसको पकड़ने के लिए आगे बढ़े, वैसे ही वह अदृश्य हो गया। चारों तरफ सूक्ष्मता से खोजने के बाद भी वह हमें दिखायी नहीं दिया।"

यह सुनकर राजा की आशा पर तुषारापात हुआ। उसने सैनिकों को तिरस्कृत करके भेज दिया। थोड़ी देर बाद राजा का कोप कुछ शान्त हुआ। तभी राजकन्या के द्वारा प्रेषित **वसंतसेना** नामक धात्री ने आकर राजा से निवेदन किया–"हे देव! आपको ज्ञात है कि अभी तक आपकी पुत्री को कोई भी वर पसन्द नहीं आया है। सौंदर्य के द्वारा कामदेव को भी

परास्त करनेवाले हजारों राजकुमारों के चित्र राजकुमारी को दिखाये गये हैं। पर कादव के प्रति हंसिनी की तरह किसी भी राजपुत्र में वह रागयुक्त नहीं बनी। पर अब जिस कुमार ने उन्मत्त हाथी से कुमारी की रक्षा की है, उसके उपकार के कारण वह उस पर रागयुक्त बनी है और उसे वरने की इच्छा रखती है। मैंने उस बहुत समझाया कि तूं राजवंश में उत्पन्न हुई है। अतः वणिक वंश में उत्पन्न पुरुष को पति के रूप में स्वीकार करना योग्य नहीं है। तब उसने मुझसे कहा कि ऐसा न कहें। वह अपने गुणों के कारण कोई राजवंशी ही प्रतीत होता है। अगर नीति से उज्ज्वल यह कुमार राजपुत्र न होता, तो दूसरों के द्वारा न हरने योग्य मेरे हृदय का यह हरण नहीं कर पाता। दूसरी बात यह है कि जिसने मेरे प्राणों का रक्षण किया है, उसे छोड़कर मैं अन्य किसी को पति के रूप में स्वीकार करूं, तो फिर कृतज्ञता का क्या? यह मेरे लिए कैसे योग्य हो सकता है?''

धात्री के मुख से सारी बाते सुनकर सद्बुद्धिहीन व औचित्यहीन राजा ने विचार किया–''हा! हा! अब यह दुष्टात्मा मेरा जामाता भी बनेगा? मैं इस भवितव्यता को उखाड़कर निर्मूल कर दूंगा, क्योंकि जो पुरुष विघ्नों से उद्विग्न न हो, उसका दैव भी रूठ जाता है।''

इस प्रकार निश्चय करके दुष्ट चित्तवाले राजा ने कपट रूपी लता की क्यारी के समान वाणी में धात्री के समक्ष आरक्षकों को बुलवाकर कहा–''प्रियमित्र के जिस पुत्र ने गजेन्द्र के उपद्रव से मेरी पुत्री का रक्षण किया है, वह महापुरुष मेरे द्वारा सन्मान करने लायक है। उसे तुरन्त बुलाकर लाओ।''

यह सुनकर आरक्षक उसके घर गये और राजा का संदेश सुनाकर साथ चलने के लिए कहा। कुमार ने विचार किया–''यह राजा मुझ पर अत्यन्त द्वेष को धारण करता है। पर सर्वत्र मेरी माता ही मेरा रक्षण करेगी।''

ऐसा सोचकर साहसपूर्वक कुमार उनके साथ यमराज के समान उस राजा की सभा में गया। राजा ने दिखावे के लिए उसका सन्मान किया। पर मन में चिन्तन चल रहा था कि मुझे इसे आज रात्रि में ही मारना है। उसने दुष्टबुद्धि से सुभटों को आज्ञा दी–''इस अभयसिंह को आज की रात्रि यहीं रखना है। आपत्ति का ज्ञाता कुमार उनसे अपनी रक्षा करता हुआ उसी समय उसी स्थान पर देव की तरह अदृश्य हो गया। उसे न देखकर सुभट चिन्तित होते हुए परस्पर कहने लगे–''हमारी आँखों में धूल झोंककर वह भाग गया है।''

यह सुनकर राजा ने विचार किया–''यह दुष्टात्मा मेरी पुत्री को लेकर भी भाग जायगा।''

इस विचार से रात्रि में वह अत्यन्त चिन्तित हो गया। अतः वह रात्रि में अपनी सोती

हुई कन्या के पास जाकर सो गया। पापियों का चित्त अस्थिर ही होता है। फिर राजा ने स्वप्न में अभयसिंह द्वारा हरण की जाती हुई अपनी कन्या को देखा। प्रायः किये हुए विचार ही स्वप्न में दिखायी देने लगते हैं। फिर "अरे दुष्ट चित्तयुक्त! मेरी पुत्री का हरण करके तूं कहां जा रहा है?" ऐसा बोलते हुए राजा हाथ में खड्ग लेकर उसके पीछे दौड़ा। क्रोधावेश में दौड़ता हुआ राजा मेडी पर से नीचे गिरा और मानो प्राण भी उससे भयभीत हो गये हों–इस प्रकार से उसका साथ प्राणों ने भी छोड़ दिया। वह मरकर नरक में गया। प्रातःकाल उसे मरा हुआ देखकर सभी लोग आनंद को प्राप्त हुए। ऐसे दुष्ट मनुष्य का मरण किसके लिए हर्ष–प्रदाता नहीं बनता? फिर मंत्री आदि तथा सभी पुरजन विचार करने लगे–"अब अब हमारा न्यायनिष्ठ राजा कौन बन सकता है?"

तभी आकाश में रही हुई देवी ने कहा–"हे लोगों! जिनकी कीर्त्ति प्रसिद्ध है, ऐसे वीरसेन राजा का पुत्र अभयसिंह है। उसे राज्य सौंप दो।"

ऐसा कहने के बाद स्वयं के वनगमन, मृत्यूपरान्त व्यन्तरी बनना, पुत्र का स्वयं रक्षण करना–आदि सर्व हकीकत कहकर देवी अदृश्य हो गयी। वह सब सुनकर सभी मन में अत्यन्त प्रसन्न हुए। फिर वीरसेन राजा के पुत्र अभयसिंह का विशाल उत्सवपूर्वक राज्याभिषेक किया। सर्व दिशाएँ प्रसन्नता को प्राप्त हुईं। आकाश में देव–दुन्दुभि का नाद होने लगा। आकाश से प्रत्यक्ष रत्न–सुवर्णादि की वृष्टि हुई। फिर पवित्र लावण्यता से युक्त कुमारी के साथ कुमार का पाणिग्रहण हुआ। पुरुषोत्तम के बिना लक्ष्मी के साथ विवाह कौन करे? श्रेष्ठ बुद्धि से युक्त राजा अभयसिंह ने जीवन–भर प्रियमित्र श्रेष्ठी पर पितृभक्ति रखी। स्वर्ग में इन्द्र की तरह वह पृथ्वी पर न्याय के द्वारा राज्य पालन करने लगा।

एक बार उद्यानपालक ने प्रातःकाल के समय आकर राजा से विज्ञप्ति की–"हे देव! आज हमारे उद्यान में **ज्ञानसूर** नामक गुरुदेव पधारे हैं।"

यह सुनकर राजा ने हर्षपूर्वक उसे प्रीतिदान देकर संतुष्ट किया। फिर अत्यन्त आनंदपूर्वक परिवार सहित उद्यान में जाकर गुरुदेव को वंदन किया। सूरि ने भी कल्याण का पोषण करनेवाली धर्मलाभ रूपी आशीष द्वारा और पुण्य रूपी उद्यान को विकसित करने में जल के सिंचन के समान धर्मदेशना द्वारा राजा को प्रसन्न किया। धर्मदेशना देते हुए गुरुदेव ने फरमाया–"इस असार संसार में सारभूत एकमात्र धर्म ही है–ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है। वह धर्म पिता की तरह सर्वत्र मनोवांछित पदार्थों को प्रदान करता है। मनुष्यों को उस–उस प्रकार की अनुपम कल्याण सम्पदा देने में धर्म ही साक्षीभूत रूप में समर्थ है। उस धर्म को जिनेश्वरों ने दानादि भेद के द्वारा अनेक प्रकार का कहा है। उन अनेक प्रकार के धर्मों के मध्य दयाधर्म ही उत्कृष्ट जीवन रूप है। जिसने अपने हृदय की भूमि पर कृपा (दया) रूपी

कल्पलता का वपन किया है, उसे स्वर्गादि फल–सम्पदा की प्राप्ति होती है। दया ही सौभाग्य, आरोग्य, चिरायुष्य और साम्राज्यादि सुखलक्ष्मी की खान है और अकृपा (दया–रहितता) दुःखों की खान है। हे राजन्! तुमने भी उस दया के प्रभाव से ही इस साम्राज्य को पाया है। अतः इस जन्म में अधिक से अधिक दया की आराधना करो।''

इस अवसर पर राजा ने सूरि से पूछा–''हे पूज्य! पूर्वभव में मैंने ऐसा कौनसा कर्म किया था, जिससे इस भव में मुझे आपत्ति के साथ संपत्ति प्राप्त हुई है?''

यह सुनकर निर्मल ज्ञान के साथ तीन जगत के भावों को जाननेवाले गुरुदेव ने उसे यथार्थ प्रकार से पूर्वभव का वृत्तान्त बताया। फिर कहा–''हे राजा! पूर्वजन्म में तुमने जो अतुल्य दयाव्रत का पालन किया था, उस पुण्य के प्रभाव से ही तुम्हे यह विशाल साम्राज्य बिना किसी प्रयत्न के इस भव में प्राप्त हुआ है। पूर्वभव में तुमने जितनी बार शशक पर मुद्गर फेंका था, उतनी बार ही तुम्हे इस भव में विपत्ति का सामना करना पड़ा। उधर मानभंग राजा प्राणिघात के पाप के योग से मरकर नरक में उत्पन्न हुआ है। वहां से निकलकर वह चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करेगा। हे राजन्! संसार की सम्पदा अभयदान रूपी प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष के पुष्प रूप है और मोक्ष रूपी लक्ष्मी उसका फल है।''

इस प्रकार गुरुदेव की वाणी का श्रवण करके राजा को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने हर्षपूर्वक जीवन–पर्यन्त जीवदया व्रत को अंगीकार किया। उसके बाद राजा धर्मगुरु को वंदन करके अपने महल में लौट आया। फिर पाप रूपी हाथी को बांधने के समान स्तम्भ रूप अमारि को अपने राज्य में प्रवर्त्तित करवाया। उसने जिनेश्वर के शासन की परम उन्नति का विस्तार करके चिरकाल तक राज्य का भोग किया। विशुद्ध धर्म का आराधन करके अनुक्रम से वह राजा अभयसिंह स्वर्ग में गया और क्रमपूर्वक अष्ट कर्मों का क्षय करके मुक्ति रूपी लक्ष्मी का भोग करने लगा।

अतः हे पल्लीपति! तुम भी प्राणीवध का त्याग करके दयाव्रत को अंगीकार करो, जिससे तुम्हें भी अभयसिंह के समान संपदा की प्राप्ति हो।''

इस प्रकार शंख के उपदेश की वाणी रूपी दीपिका के द्वारा पल्लीपति मेघनाद की आत्मा प्रकाशित हुई। उसने आनंदपूर्वक दयाव्रत को अंगीकार किया। इससे शंख अत्यन्त हर्षित हुआ। पल्लीपति को धर्म में दृढ़ करने के लिए वह ज्ञानवान शंख कितने ही समय तक वहीं रहा। उसके बाद उसे अपने घर जाने की इच्छा हुई। तब पल्लीपति ने उसे स्वर्णादि देकर उसका सत्कार किया, क्योंकि शंख सत्पुरुषों के समूह के मध्य चक्रवर्त्ती के समान था। पल्लीपति काफी दूर तक उसे भक्तिपूर्वक छोड़ने के लिए आया। आगे जाने के लिए सार्थ मिल जाने पर शंख अपने घर की तरफ जाने की उत्कण्ठा से आगे बढ़ा। सार्थ के साथ वह

कुछ ही दूरी पर गया होगा कि सामने से कुछ चोर आ गये। शस्त्रधारी होने के कारण वे भयंकर प्रतीत होते थे। 'जल्दी मारो–जल्दी मारो'–इस प्रकार चिल्लाते हुए वे सार्थ में घुस गये। शंख ने मन में धैर्य धारण करके उनसे कहा–"तुम हमें क्यों मारते हो? तुम्हे धन से प्रयोजन है। अतः तुम धन ले लो, पर हमे छोड़ दो।"

शंख के इस प्रकार कहने से कितने ही चोर सार्थ को लूटने लगे। पर कुछ लोगों ने शंख को पहचान लिया और चोरों को मना करते हुए कहा–"अहो! हम सभी को जीवनदान दिलानेवाला वह यही महासत्त्ववान पुरुष है, जिसने कुछ समय पहले ही यमराज के समान भयंकर पल्लीपति के बंधन से हमें मुक्त करवाया था। अतः यह तो हमारे लिए पिता के तुल्य व पूजनीय है। पर इसे दुःख देना ठीक नहीं है।"

यह कहकर वे लोग उसे भक्तिपूर्वक अपने घर पर ले गये और उसका सत्कार किया। शंख ने उनको भी उपदेश देकर दयाधर्म स्वीकार करवाया। बुद्धिमान पुरुष कदापि धर्म का उपकार करने में अटकते नहीं। फिर वे चोर भी हर्षपूर्वक उसे छोड़ने के लिए बहुत दूर तक गये। इस प्रकार धर्मवन्तों में मुख्य वह शंख सुखपूर्वक अपने घर पर पहुँचा।

उसके समागम से उसके माता–पिता अत्यन्त खुश हुए। पुत्र व धन की प्राप्ति से कौन खुश नहीं होता? फिर राजा, सेनापति और पुरोहित को शंख ने उनके पुत्रों की हकीकत कही। यह सुनकर वे लोग अत्यन्त खेद को प्राप्त हुए। प्राणीहिंसादि दुष्कर्मों में मग्न दुर्बुद्धि युक्त पुत्र हो, तो पितादि व अन्यों के लिए भी वह दुःख का ही कारण बनता है।

फिर समस्त कलाओं में निपुण शंख को अपना कार्यभार सौंपकर श्रेष्ठ बुद्धियुक्त श्रेष्ठी ने परलोक को साधा। निर्मल दयाधर्म का पालन करने से दिन–दिन शंख का उदय होता गया और इस कारण वह सर्व स्थानों पर मुख्यता को प्राप्त हुआ, क्योंकि गुणों से ही गौरव प्राप्त होता है। शंख के समान उज्ज्वल कीर्त्ति के द्वारा दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ शंख परस्पर बाधारहित धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ को साधने लगा। इस प्रकार श्रावक धर्म की आराधना करके विधियुक्त मरण प्राप्त करके भवनपति में एक पल्योपम की आयुष्यवाला देव बना। राजा, सेनापति और पुरोहित के पुत्र रौद्रध्यान के कारण मरकर अत्यन्त दुःख से युक्त पहली नरक में गये।

एक बार श्रेष्ठ बुद्धिमान शंख देव ने अवधिज्ञान से पूर्वभव देखकर यह जाना कि उसे दया रूपी कल्पलता का ही यह फल प्राप्त हुआ है। इससे उसने विचार किया–"अभी भी मैं ऐसा कुछ करुं कि जिससे अगले भव में भी मुझे सम्यग् प्रकार से दयाधर्म का आराधन प्राप्त हो।"

ऐसा विचार करने के बाद एक बार शंखदेव ने किसी केवली से पूछा–"मैं यहां से च्यवकर कहां उत्पन्न होऊँगा?"

केवली ने बताया–"**विजय** नामक नगर में **विजयसेन** नामक राजा की **विजया** नामक रानी की कुक्षि से तुम पुत्र रूप में उत्पन्न होओगे।"

यह सुनकर उस देव ने स्वयं के प्रतिबोध के लिए विजयसेन को स्वप्न में कहा–"राजादि के तीन पुत्रों को कपट से यक्ष के मन्दिर में लेजाकर उनके द्वारा बकरों का वध करवाकर योगी ने मार डाला और चौथा श्रेष्ठीपुत्र हिंसा किये बिना ही भाग गया और अन्त में अपने पुण्य के प्रताप से अपने घर जाकर सुखी बना–इस प्रकार का चित्र तुम अपने चित्रकारों द्वारा राजसभा में चित्रित करवाओ।"

ऐसा स्वप्न देखकर जागृत होता हुआ राजा विचार करने लगा–"ऐसी हकीकत पूर्व में कभी नहीं सुनी, नहीं देखी। मेरे मन में किसी प्रकार का कोई विकार भी नहीं है। तो फिर ऐसा स्वप्न मुझे क्यों आया? पर यह स्वप्न बहुत दीर्घ था। अतः मुझे लगता है कि यह स्वप्न असत्य है।"

ऐसा विचार करके राजा उस स्वप्न के प्रति उदासीन रहा। दूसरी रात्रि में देव ने पुनः वही स्वप्न स्पष्ट रीति से राजा को दिखाया। प्रातःकाल होने पर राजा ने विचार किया–"इस स्वप्न का कुछ तो कारण है।"

ऐसा विचार करके राजा ने अपनी राजसभा में देवकथित घटना को चित्रकारों द्वारा चित्रित करवाया। फिर आयुष्य का क्षय होने पर वह देव वहां से च्यवकर विजया रानी की कुक्षि में महाभाग्यवान पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। गर्भ के प्रभाव से रानी को पापनाशक जिनपूजा, अभयदान देना आदि दोहद उत्पन्न हुए। राजा ने रानी के सभी दोहद हर्षपूर्वक पूर्ण किये। समय पूर्ण होने पर उत्तम लग्न में रानी ने संपूर्ण गुणों के वैभव से युक्त पुत्र को जन्म दिया। उस समय राजा ने मनुष्यों को अद्वैत हर्ष प्रदान करनेवाला जन्म–महोत्सव किया। जब यह पुत्र गर्भ में था, तब राजा ने दुर्जेय शत्रुओं को भी अपने वश में कर लिया था, अतः उसका नाम राजा ने **जय** रखा। अनुक्रम से वय व तेज के द्वारा वृद्धि को प्राप्त कुमार चन्द्र की तरह समस्त निर्मल कलाओं को प्राप्त हुआ। बाल्यावस्था से ही उसके **धनपाल, वेलंधर** और **धरणीधर** नामक प्रीतियुक्त सेवक थे। जयकुमार ने युवावस्था से ही उत्पन्न सौभाग्य को प्राप्त किया था। फिर पिता ने उसे महोत्सवपूर्वक लावण्यवती राजकन्याओं के साथ परणाया।

एक बार राजा ने किसी अशुभ स्वप्न को देखकर अपना मरण समीप जानकर

राजकुमार जय को अपने राज्यपाट पर स्थापित किया। स्वयं अद्‌भुत वैराग्य को धारण करके प्रव्रज्या ग्रहण की। बुद्धिमान पुरुष योग्य अवसर के कार्यों में स्वयं को व पर को जोड़नेवाले होते हैं। कलाओं की निधि के समान जयराजा चन्द्र की तरह शोभित होता था, मानो उदय प्राप्त करके समग्र कु[1]वलय को उल्लास प्राप्त करवा रहा हो। उस राजा के पूर्वजन्म के दयाधर्म रूपी कार्मण के द्वारा वश में हुए सैकड़ों शत्रु राजा स्वयमेव उसकी आज्ञा मानने लगे। जिसके राज्य में निरन्तर धर्म रूपी सूर्य उदय को प्राप्त हो, उसके राज्य में वैरी के पराभव रूपी रात्रि का संभव कहां से हो?

एक बार वह मनुजेन्द्र (राजा) इन्द्र की सुधर्मा सभा के समान आश्चर्यवाली अर्थात् अद्‌भुत शोभायुक्त लोगों के नेत्रों को स्तम्भित करनेवाली सभा में बैठा था। उस समय मानो अंतःकरण में न समाने से शरीर के बाहर निकला हुआ पुण्य–उद्योत हो–इस प्रकार उसके स्वर्णाभरणों की कांति का समूह सभा को प्रकाशित करता था। उसके मस्तक पर श्वेत छत्र शोभित था, वह मानो दिशाओं में न समाने से वापस लौटी हुई कीर्त्ति के समूह द्वारा बनाया गया हो–ऐसा प्रतीत होता था। उसके दोनों तरफ चामर वीजती हुई स्त्रियाँ आश्चर्यचकित होती हुईं अपने कंकणों के शब्दों द्वारा मानो उसके पूर्व के पुण्यसमूह का गायन कर रही थीं। उसके चरणकमल में झुककर अनेक राजा उसके सामने हाथ जोड़कर बैठे थे, जिनके रत्नजटित मुकुटों में राजा के चरणों का प्रतिबिम्ब पड़ने से ऐसा लगता था कि उन्होंने भक्तिवश राजा के चरण–कमलों को अपने मस्तक पर धारण कर लिया हो। मूर्त्तिमान अनेक [2]नीतिशास्त्रों द्वारा ही बनाये गये हों–ऐसे सचिव रूपी चक्रवर्त्तियों का समूह उस राजा के दोनों तरफ बैठा था। मूर्त्तिमान शृंगार रस के द्वारा मानो स्नान करवाया गया हो–ऐसी वारांगनाएँ उस सौंदर्य के स्थान रूप राजा के चारों तरफ विद्यमान थीं। अन्य भी अनेक ग्रामाधिपति, सेनाधिपति, पुरोहितादि उसी की तरफ दृष्टि करके अपने–अपने योग्य स्थान पर बैठे हुए थे। बन्दीजन कर्णों को आनन्द प्रदान करनेवाली वाणी द्वारा राजा के गुणों का कीर्त्तन करनेवाली विशाल बिरुदावलि उच्च स्वर में गा रहे थे। गवैये सभाजनों के कर्णपुटों में अमृत–वृष्टि करनेवाले राजा के रसिक गीतों को गा रहे थे। [3]सूक्ति बोलने में उद्यमवंत कवींद्र अभंग रस की रचना के द्वारा तरंगयुक्त विविध प्रकार के–विविध विषयों के काव्य–श्लोक बोल रहे थे। पण्डित लोग महान पुण्य को विस्तृत बनानेवाली और कुमार्ग का नाश करनेवाली भरतादि राजाओं की सत्य कथाएँ सुना रहे थे। अमृत रस के समान झरते हुए अद्‌भुत व विविध रसों के द्वारा वह समग्र सभा चित्रलिखित रूप से शोभित हो रही थी।

---

1. चन्द्र कुवलय–कुमुदिनी को और राजा कु–पृथ्वी के वलय को उल्लसित करता है।
2. नीतिशास्त्र रूपी पुद्‌गल। 3. नीति से भरे श्लोक।

उसी समय सभा में एक तरफ से काफी शोर सुनायी दिया। राजा ने पूछा–"क्या हुआ?"

तब प्रधान ने कहा–"हे देव! **धनपालादि** आपके तीन प्रमुख सेवक इस भींत पर चित्रित चित्र देखकर बेहोश होकर गिर पड़े हैं।"

यह सुनकर आश्चर्यचकित व भ्रान्त हुआ राजा उठकर उनके पास गया और कौतुक के द्वारा उन चित्रों को देखने लगा। उसमें राजकुमारादि के और स्वयं के पूर्वभव के वृत्तान्त को देखकर राजा को भी ऊहापोह करते हुए जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसे भी मूर्च्छा आ गयी। वह भी पृथ्वीतल पर गिर पड़ा। यह देखकर आकुल–व्याकुल होकर सेवक उनका शीतोपचार करने लगे। कुछ समय बाद राजा और उसके तीनों सेवक आँखें खोलते हुए इस प्रकार उठ खड़े हुए– मानों नींद से जागृत हुए हों।

फिर सामन्त राजाओं ने **जयराजा** से पूछा–"हे देव! यह क्या हुआ?"

तब राजा ने जीवदया के विकास द्वारा अद्‌भुत पूर्वभव का सर्व वृत्तान्त सम्पूर्ण सभा को सुनाया। उन तीन सेवकों को पूछा गया, तो उन्होंने भी कहा–"हम तीनों वे ही हैं, जिन्होंने बकरों के वध के द्वारा उपार्जित कर्मों के कारण प्रथम नरक को प्राप्त किया और वहां से निकलकर इस भव में आये हैं।"

पूर्वभव के प्रेम के कारण राजा का मुख हर्षाश्रुओं से भीग गया। उसने आनन्दपूर्वक उन तीनों का आलिंगन किया। फिर उन तीनों ने राजा को दोनों हाथ जोड़कर विज्ञप्ति की–"हे स्वामी! दयाधर्म के प्रभाव से आपने यह विशाल साम्राज्य और दिव्य ऋद्धि प्राप्त की है। हमने तो प्राण–हिंसा के द्वारा नरक व इस भव में दासपनादि दुःखों की परम्परा को प्राप्त किया है। अतः हम आज से जीवदया का व्रत अंगीकार करते हैं, जिससे हमें भी पग–पग पर सम्पत्ति की प्राप्ति हो।"

आत्मा के लिए अत्यन्त हितकारक यह वृत्तान्त सुनकर अनेक लोग जीवदया के धर्म में प्रवृत्त हुए। अमात्यादि के साथ राजा ने सद्‌गुरु के पास जाकर बारह व्रतों से मनोहर शुद्ध श्रावकधर्म अंगीकार किया। फिर राजा ने अपने समस्त देश में यह उद्‌घोषण करवायी कि–"जो भी प्राणियों का घात करेगा, उस मनुष्य का सर्वस्व छीनकर उसे दण्डित किया जायगा।"

उस जयराजा ने सम्यग्दृष्टियों के नेत्रों को शीतलता प्रदान करनेवाले और देवविमानों का भी तिरस्कार करनेवाले अनेक जिनचैत्य [1]कपट–रहित करवाये। उनमें मोक्षसुख रूपी

---

1. आशंसा–रहित होकर।

लक्ष्मी को बुलानेवाली दूती के समान स्वर्णादि की अनेक प्रतिमाएँ भरवायीं। आशंसा रहित होकर उसने दीनों को इस प्रकार का दान दिया कि उन्हें जीवन–पर्यन्त फिर से याचना जैसी लघुता न करनी पड़े। इस प्रकार दयाधर्म से उपार्जित विशाल राज्य को भोगते हुए उस राजा ने एक हजार वर्ष तक अच्छी तरह से श्राद्धधर्म की आराधना की।

एक बार **जयराजा** पूर्व की तरह ही महान उत्सवयुक्त राजसभा में बैठा हुआ था। उस समय प्राणियों के विषम कर्म–परिणाम का विचार उसके हृदय में उत्पन्न हुआ–"विशाल साम्राज्य भी विषमिश्रित भोजन की तरह छोड़ने–लायक ही है।"

ऐसा विचार करके महान वैराग्य तरंगें उसके अन्तर् में उछलने लगीं। अतः उसने सभा के समक्ष कहा–"हे लोगों! देखो! यह मनुष्यायु क्षणिक है। भोगों का परिणाम विरस होता है। समृद्धि देखते ही देखते विनाश को प्राप्त हो जाती है। शरीर भी रोगादि कष्टों से व्याप्त है। स्वजनादि समूह केवल स्वयं के स्वार्थ में लुब्ध होता है। आत्मा का हितार्थ साधने में अनेक विघ्न आते हैं। यमराज प्राणियों के मस्तक पर हर समय हाथ रखकर खड़ा रहता है। प्राणियों को स्वयं के किये हुए कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। फिर भी अविद्या रूपी मदिरा से उन्मत्त हुआ प्राणी आत्मा का हित करनेवाले धर्म में प्रमादी बना रहता है और आत्मा का अहित करनेवाले प्राणीहिंसादि कार्यों में अहंपूर्विका के रूप में प्रवृत्त होता रहता है। हा! हा! मूर्ख प्राणी नरक और तिर्यंचादि के असंख्य दुःखों की परवाह किये बिना ही अल्प सुख के लिए अनेक प्रकार के जीवहिंसादि अधर्म का विस्तार करते हैं। जिन्हें धर्म इष्ट है, ऐसे बुद्धिमान पुरुष अपनी आत्मा का अनिष्ट करनेवाली परहिंसा कैसे कर सकते हैं? क्योंकि जो अपनी आत्मा को प्रिय है, वही पर के साथ भी करना चाहिए। यही धर्म का जीवन है। अथवा दूसरों को उपदेश देने से क्या? मैं ही मोह के द्वारा विमूढ़ बना हुआ हूं, क्योंकि जन्तुओं के समूह का विनाश करने का कारण रूप यह राज्य है–यह जानते हुए भी मैं इसका त्याग नहीं कर रहा हूं। जिन्होंने सर्व प्राणियों के वध से निरन्तर विश्रान्ति प्राप्त की है, दयाधर्म में ही आसक्त ऐसे यतिराज धन्य हैं! प्रशंसा के पात्र हैं! दुष्ट प्राणी उनके शरीर को अत्यन्त पीड़ा प्राप्त कराते हैं, तो भी वे उन प्राणियों पर लेशमात्र भी क्रोध नहीं करते। हे आत्मा! सुख का अभिलाषी होकर असंख्य प्राणियों के वध के कारणरूप इन विषयों में तूं क्यों रक्त होता है? इन विषयों के सेवन से ही नरकादि भवों में लाखों बार अनंत दुःखों का तुमने अनुभव किया है, यह तुम्हें याद नहीं है। जिन्होंने इस नाशवान शरीर द्वारा मोक्षलक्ष्मी के कारण रूप उग्र तपस्या का आचरण किया है, पापमय उपायों के द्वारा पालन किया हुआ उनका शरीर ही सफल होता है।"

इस प्रकार अंतःकरण में उछलती विशाल तरंगों से युक्त शुभ ध्यान रूपी जलधारा के

समूह द्वारा उस जयराजा ने समग्र घातिकर्म रूपी पापमल के धुल जाने से केवलज्ञान को प्राप्त किया। तत्काल देवताओं द्वारा प्रदत्त साधुवेश को भरत चक्रवर्त्ती की तरह धारण किया। फिर भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देकर अनुक्रम से मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त किया।

इस प्रकार अभयदानमय दृष्टान्तों के द्वारा आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले और कर्णों को सुख उपजानेवाले इस जयराजा का चरित्र श्रवण करके हे भव्यों! निरन्तर अभयदान देने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे विघ्नरहितता से मोक्षपद को शीघ्र ही प्राप्त किया जा सके।

।। इति तृतीय प्रकाश।।

चतुर्थ प्रकाश

पात्रदान का माहात्म्य

श्रीऋषभदेव के पौत्र श्रेयांसकुमार सभी के कल्याणस्वरूप हों, कि जिन्होंने पात्रदान की व्यवस्था का सबसे पहले विस्तार किया।

अब इस चौथे प्रकाश में धर्मोपष्टंभ दान का स्वरूप कहा जाता है, जिसे देने से स्व और पर को धर्म का [1]उपष्टम्भ होता है। इसमें जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के रूप में तीन प्रकार के पात्र होते हैं। जो केवल सम्यक्त्वधारी होते हैं, उन्हें जघन्य, देशविरतिवालों को मध्यम और सर्वविरति से युक्त व्यक्तियों को उत्कृष्ट पात्र कहा जाता है। समकितादि गुणों से युक्त श्रावक भी स्पष्ट रूप से पूजनीय होते हैं, क्योंकि वे साधर्मिक होने से वे ही सत्पुरुषों के वास्तविक बंधु होते हैं। उस साधर्मिक पर अंतःकरण से प्रेम धारण करके अन्न–वस्त्रादि के द्वारा अच्छी तरह से बंधु की तरह उनकी भक्ति करनी चाहिए। शास्त्रों में सुना जाता है–भरत चक्रवर्त्ती अमृत रस के पाक के समान उत्तम आहार द्वारा साधर्मिक बंधुओं की भक्ति करते थे। उसी के वंश में उत्पन्न हुए दण्डवीर्य राजा की कौन प्रशंसा नहीं करता, जो प्रतिदिन एक करोड़ आस्तिकों को भोजन करवाने के बाद स्वयं भोजन करता था? बुद्धिमान पुरुषों को दुःखित साधर्मिकों का बंधु के समान उद्धार करना चाहिए, क्योंकि साधर्मिकों का उद्धार करने से स्व–पर की आत्मा का उद्धार होता है–ऐसा मानना चाहिए। उत्तम बुद्धियुक्त कुमारपाल राजा निरन्तर स्तुति करने योग्य है, क्योंकि वह आस्तिकों का उद्धार करने में प्रतिवर्ष एक कोटि द्रव्य

---

1. उपकार–अवलम्बन।

का व्यय करता था। महापुरुषों की श्रेणि में अग्रसर रामचन्द्र महाराज की कौन स्तुति न करे, जिन्होंने अरण्य में रहकर भी साधर्मिकों का उद्धार किया था। उनका वृत्तान्त इस प्रकार है–

कुछ समय पूर्व **दशपुर** नगर में **वज्रकर्ण** नामक राजा था। एक बार वह शिकार खेलने के लिए वन में गया। वहां किसी जैन मुनि को देखकर उन्होंने वंदन किया। मुनि ने धर्मलाभ देकर धर्मोपदेश दिया। सुनकर उसने श्रद्धापूर्वक श्राद्धव्रत अंगीकार किया। 'सुदेव व सुगुरु के सिवाय अन्य किसी को मैं नमन नहीं करूंगा'–ऐस अभिग्रह भी स्वीकार किया।

वह **वज्रकर्ण** राजा पहले से ही **अवन्ती** नगरी के राजा **सिंहोदर** का सेवक था। अतः उसने मुद्रिका रत्न में जिनेश्वर की सूक्ष्म प्रतिमा भरवाकर अपने दाहिने हाथ के अंगुष्ठ में धारण की। सिंहोदर राजा को प्रणाम करते समय वह मात्र अंगुष्ठ में रही हुई उस प्रतिमा को ही नमस्कार करता था। पर दूसरों को लगता था कि वह राजा को ही प्रणाम कर रहा है। इस बात का किसी दुष्ट को पता चल गया। उसने **वज्रकर्ण** का प्रपंच राजा को बता दिया। जैसे सर्प के लिए कुछ भी न डसने लायक नहीं होता, वैसे ही दुष्ट के लिए कुछ भी न कहने लायक नहीं होता। प्रपंच जानकर राजा मन ही मन **वज्रकर्ण** पर द्वेषभाव रखने लगा। रात्रि में भी उसी चिंता में विचार करते हुए अंतःपुर में गया। चतुर रानी ने राजा से चिंता का कारण पूछा। राजा ने **वज्रकर्ण** की बात बतायी। **कामी पुरुष स्त्री से कोई बात गुप्त नहीं रख सकते।** उस समय कोई श्रावक किसी कारण से दुष्ट बुद्धि के उत्पन्न हो जाने से वहां महल में चोरी करने के लिए आया हुआ था। उसने राजा–रानी की बात सुनकर विचार किया–"हा! हा! यह दुष्टात्मा मेरे साधर्मिक बंधु **श्री वज्रकर्ण** को प्रातःकाल होने पर बंधनादि की विडम्बना करेंगे। अतः मैं अभी जाकर उसे हकीकत कहूं, जिससे वह आज ही रात्रि में निर्विघ्न रूप से अपने नगर को चला जाय।"

ऐसा विचार करके उसने चोरी के विचार को छोड़ा और उसी समय जाकर उसे सारी स्थिति से अवगत करवाया। धर्मी पुरुषों के लिए साधर्मिक मनुष्य बंधु व धन से भी ज्यादा महत्त्व रखता है। यह सुनकर वज्रकर्ण राजा ने उसे अत्यधिक धनादि देकर उसका सम्मान किया। उसके गुणों से अपने हृदय में आनंद का अनुभव करते हुए वह उसी रात्रि में अपने नगर की और प्रयाण कर गया। अनुक्रम से क्षेम–कुशलता से वह अपने नगर में पहुँच गया। उसने नगर द्वार बंद करवाकर किले के अन्दर सम्पूर्ण प्रजाजनों के लिए अन्न, जल, ईंधनादि सामग्री इकट्ठी करवाली।

यह जानकर सिंहोदर राजा ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर सेना सहित निरन्तर प्रयाण करते हुए दशपुर नगर को चारों तरफ से घेर लिया। उस समय एकमात्र परोपकार व्रत को धारण करनेवाले वनवास को प्राप्त रामचन्द्रजी, लक्ष्मण व सीता को जब साधर्मिक वज्रकर्ण पर

आयी हुई आपत्ति ज्ञात हुई, तब उन्हें अत्यन्त खेद हुआ। साधर्मिक की पीड़ा से जिसका मन न वेधा जाय, उसे कुकर्मी जानना चाहिए। रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण को सिंहोदर राजा का निग्रह करने की तुरन्त आज्ञा प्रदान की। कौनसा धर्मी पुरुष शक्ति होने पर साधर्मिक की पीड़ा हरने में कालक्षेप करेगा? ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा प्राप्त होते ही लक्ष्मण वहां गया और युद्ध करके सिंहोदर राजा को बांधकर रामचन्द्रजी के सामने प्रस्तुत किया। यह सुनकर वज्रकर्ण राजा हर्षित होते हुए तुरन्त रामचन्द्रजी के पास आया। रामचन्द्रजी ने सिंहोदर राजा का आधा राज्य वज्रकर्ण को दिलाया। जीवनभर अवन्तिपति सिंहोदर राजा वज्रकर्ण राजा की आज्ञा में रहे–ऐसा अंगीकार करवाकर उसे मुक्त किया। अहो! साधर्मिक पर राम की कैसी अपूर्व भक्ति! कि जिससे वज्रकर्ण ने कभी राम को देखा तक नहीं था, फिर भी उस पर ऐसा अप्रतिम उपकार किया।

जो मनुष्य स्वयं शक्तिमान होने पर भी साधर्मिक के दुःख में उदासीनता रखता है, वह दुर्बुद्धि मनुष्य धर्म व तीर्थंकरों की विराधना करता है–ऐसा जानना चाहिए। जो पापी साधर्मिकों को आपत्ति में डालता है, वह दुःख से भरे अपार भवसागर के आवर्त्त में घिर जाता है। अतः धार्मिक पुरुष को साधर्मिकों का बंधु की तरह विधियुक्त और यथाशक्ति धन व शरीरादि के द्वारा उपकार करना चाहिए।

संयम का साधन शरीर है। अतः शरीर जिसके द्वारा टिका रहे, ऐसे अशन, पानादि मुनियों को बहराना चाहिए। **मुनियों को रत्न, सुवर्णादि का दान देना उपयुक्त नहीं है**, क्योंकि इससे रागादि दोष उत्पन्न होते हैं। जो बुद्धिहीन मनुष्य मुनियों को धर्म का विनाश करने के कारण रूप धन को देता है, वह मुनियों के व्रतलोप से उत्पन्न हुए पाप का भागी बनता है, क्योंकि वह धनदान व्रत के लोप का हेतु है और उस व्रत के लोप में दातार की अनुमति है। अतः उससे होनेवाला पाप दातार को ही लगता है। अतः श्रद्धालु द्वारा साधु को धर्म का उपकार करनेवाले अशनादि का ही सहीं विधि से दान करना चाहिए। इस प्रकार का दान देने से साधु के तप, चारित्र व ज्ञान की भक्ति ही कहलाती है। इस कारण से दाता पुरुष अल्पकाल में ही तप, चारित्र व ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। शरीर के बिना संयम नहीं हो सकता और शरीर अन्नादि के बिना नहीं टिक सकता। अतः चारित्रात्मा को अन्नादि का दान देना चाहिए–ऐसा पण्डित पुरुष कहते हैं। वह अन्नादि का दान भी साधु को [1]प्रासुक व [2]एषणीय देना चाहिए, क्योंकि ऐसा दान ही स्व (दातार) तथा पर (ग्राहक) के लिए हितकारक हो सकता है। आत्महित की वांछा रखनेवाले स्वच्छ बुद्धि युक्त मनुष्य को तपस्वियों को प्रासुक और एषणीय अन्नादि प्रदान करना चाहिए, क्योंकि उस प्रकार के दान

1. अचित्त। 2. आधाकर्मादि दोषरहित।

से ही परभव में दीर्घ और शुभायुष्य की प्राप्ति हो सकती है। इस विषय में पाँचवें अंग में कहा गया है–

गौतमस्वामी श्रीमहावीर प्रभु से पूछते हैं–"हे भगवन्! जीव दीर्घायुष्य बांधनेवाले कर्म को कैसे करते हैं?"

"हे गौतम! प्राणिघात किये बिना और मृषावाद का सेवन किये बिना तथा[1]प्रकार के तपस्वी साधु अथवा [2]श्रावक को प्रासुक व एषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिमादि वस्तुओं का दान देने से जीव दीर्घायुष्य युक्त कर्म को बांधता है।"

"हे भगवान्! जीव अल्पायुष्यवाले कर्म को कैसे करते हैं?"

"हे गौतम! [3]प्राणातिपात और मृषावाद का सेवन करके एवं तथाप्रकार के तपस्वी साधु अथवा श्रावक को अप्रासुक व अनेषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिमादि वस्तुओं का दान देने से जीव अल्पायुष्य युक्त कर्म को बांधता है।"

अप्रासुक व अनेषणीय अशनादि का दान देने से केवल दातार के परलोक का ही अहित नहीं होता, बल्कि उस दान को ग्रहण करनेवाले साधु भी [4]आठों कर्मों का उपार्जन करने से दुर्गति में जाते हैं। इस विषय में भी पाँचवें अंग में कहा गया है–

गौतमस्वामी श्रीमहावीर भगवान से पूछते हैं–हे भगवन्! आधाकर्म के दोष से युक्त अशनादि का आहार करने से साधु कितनी कर्मप्रकृतियों का बंध करता है?"

"हे गौतम! आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मप्रकृतियों को बांधता है।"

किसी मुनि ने किसी समय उपयोगरहित होकर अशुद्ध आहारादि लिया हो, तो उसे विधिपूर्वक निर्दोष स्थान पर परठ देना चाहिए, क्योंकि वैसा करने से शास्त्राराधना कहलाती है। इस विषय में एक दृष्टान्त है–

इस भरतक्षेत्र में अपनी लक्ष्मी के द्वारा अलकापुरी को कम्पित बनानेवाली **चम्पा** नामक महानगरी थी। उस नगरी को श्रीवासुपूज्यस्वामी ने अपने पाँचों कल्याणकों द्वारा जगत में पूज्य बनाया था। एक बार उस नगरी के उद्यान में **सुव्रत** नामक आचार्य पधारे। अहो! उनके

---

1. शुद्ध चारित्रधारी।
2. मूल में 'माहन' शब्द है, उसका अर्थ श्रावक किया जाय, तो वह तथाप्रकार का अर्थात् श्रावक की ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमा वहन करनेवाले श्रावक का अर्थ ही संभव हो सकता है।
3. जीवहिंसा।
4. यहां सात समझना चाहिए, क्योंकि आयुष्य कर्म का बंध तो कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होता। वह एक ही बार बांधा जाता है। उस कदाचित्पने का आश्रय करके ही यहां आठ की संख्या लिखी गयी है। पर सामान्य रीति से सात ही समझने चाहिए।

गुणों की तरह उनके शिष्यों की संख्या भी अनगिनत थी। उन्हें वंदन करने के लिए सदैव पुरजन आनंद से भरपूर होकर टोलों के रूप में आया करते थे। आचार्यवर भी पुण्य का विस्तार करनेवाली वाणी के द्वारा पुरजनों को प्रसन्न कर देते थे।

एक बार उस नगरी में कोई विशाल उत्सव का दिन आया। उसमें गृहस्थ परस्पर एक–दूसरे को सरस भोजन खिला रहे थे। यह जानकर किसी ऋजु प्रकृतिवाले साधु ने विचार किया–"अच्छा हुआ कि आज मेरे पारणा है और नगर में उत्सव है। लोग भी समृद्धियुक्त, श्रद्धायुक्त और मुनि पर श्रद्धाभाव रखनेवाले हैं। अतः आज अन्य सभी प्रकार की भिक्षा का त्याग करके मुझे देदीप्यमान सिंहकेसरी मोदक ही बहरकर लाना है।"

ऐसा निश्चय करके साधु गोचरी के समय पुरी के मध्य से होकर निकले। उस समय किसी स्थान पर घेवर, तो किसी स्थान पर क्षुधा का खण्डन करनेवाले मालपुए, किसी स्थान पर अन्य प्रकार के मोदक थे। इस प्रकार भांति–भांति के व्यंजन लोग मुनि को बहराने के लिए सामने लाने लगे, पर मुनि अरुचिपूर्वक उन सभी का निषेध करने लगे। लोगों को लगने लगा कि मुनि के किसी प्रकार का अभिग्रह लिया हुआ प्रतीत होता है, जिससे ये कुछ भी ग्रहण नहीं कर रहे हैं।

मुनि ने संपूर्ण नगरी का चक्कर लगा लिया, पर कहीं भी सिंहकेसरिया मोदक के दर्शन नहीं हुए। काम को प्राप्त न कर सकनेवाले कामुक की तरह उन्हें अत्यन्त अरति उत्पन्न हुई, जिससे उनका चित्त भग्न हो गया। उन्हें कुछ भी उपयोग नहीं रहा। रात–दिन तक का भान नहीं रहा। इस तरह उनके अंतःकरण में और बाहर भी [1]दोषोदय उत्पन्न हुआ। उपयोगरहित मनुष्य में क्या–क्या मलिनता नहीं आती? अनेक शिष्यों के परिवार से युक्त होने के कारण गुरु को भी उसके अनागमन का ज्ञान न रहा। अन्यथा वे अन्य मुनियों को भेजकर उसकी खबर जरूर लेते।

उधर वह साधु घूमते–घूमते मध्यरात्रि के समय **सागर श्रेष्ठी** के घर पर गया। 'धर्मलाभ' की जगह उनके मुख से 'सिंहकेसरा' का उच्चारण हुआ। यह सुनकर सागर सेठ जागृत हुआ। साधु को देखकर वह विचार करने लगा–"हा! हा! यह साधु अकाल में कैसे घूम रहा है? इन्होंने स्पष्ट उच्चारणपूर्वक सिंहकेसरा शब्द बोला है। अतः सिंहकेसरी मोदक के लिए ही इनका चित्त चलायमान हुआ है–ऐसा जान पड़ता है। अतः अभी मध्य रात्रि का समय होने पर भी मैं इनको सिंहकेसरी मोदक दिखाऊँ, जिससे उसे देखकर इनका चित्त कदाचित् स्वस्थ हो जाय।"

---

1. अंतःकरण में दोषोदय अर्थात् पाप का उदय और बाहर दोषोदय अर्थात् रात्रि का उदय हुआ।

इस प्रकार विचार करके वह श्रेष्ठी सिंहकेसरी मोदकों से भरा हुआ थाल लेकर आया और कहा–"हे मुनि! इन मनोहर सिंहकेसरी मोदकों को ग्रहण करके मुझे कृतार्थ कीजिए।"

पूर्णिमा के चन्द्र की किरणों के समान उज्ज्वल दिखनेवाले उन मोदकों को देखकर जैसे कमलिनी सूर्य को देखकर विकस्वर होती है, वैसे ही मुनि की दृष्टि विकस्वर हुई। उसने अपना पात्र सामने रखा। श्रेष्ठी ने उस पात्र को मोदकों द्वारा भर दिया। उसके साथ ही अपनी आत्मा के असाधारण पुण्य द्वारा तीन भुवन को भी यश के समूह द्वारा भर दिया। फिर उत्तम श्रेष्ठी ने उस मुनि से पूछा–"और मोदक लाऊँ?"

तब साधु ने कहा–"नहीं, बस इतने काफी है।"

यह सुनकर श्रेष्ठी के मन में तर्क उठा कि ये वचन स्वाभाविक जान पड़ते हैं। तो फिर अभी ये भिक्षा के लिए किस कारण आये होंगे? या फिर चित्तभ्रम के कारण अभी तक ये घूम ही रहे थे। अभी–अभी ही इनको स्वस्थता प्राप्त हुई होगी। ऐसा विचार करके श्रेष्ठी ने उनसे कहा–"मैंने अभी तक पच्चक्खाण पाले नहीं है। अतः मुझे पुरिमड्ढ का पच्चक्खाण पलावें।"

तब साधु ने समय का उपयोग लगाया, तो जाना–"हा! हा! अभी तो रात्रि का समय है।"

फिर उन्होंने ऊपर देखा, तो आकाश में असंख्य ताराओं का समूह दिखायी दिया। मस्तक पर पूर्ण चन्द्रमा देखकर उन्होंने अर्धरात्रि होने का अनुमान लगाया। यह जानकर संवेग रस में भीगते हुए उन्होंने मिथ्यादुष्कृत दिया और कहा–"अत्यन्त प्रमादी मुझे धिक्कार है! मेरी रस–लोलुपता को धिक्कार है! हे श्रेष्ठी! तुम तो मेरे गुरु, त्राण, शरण, जीवन और गतिरूप हो, क्योंकि प्रमाद रूपी अंधकूप में डूबते हुए मुझे उबारा है। ये मोदक रात्रिभक्त होने से मुझ साधु के लिए अकल्पनीय है, क्योंकि मुनि दिन में ग्रहण किये हुए आहार को दिन में ही उपयोग में ले लेते हैं।"

ऐसा कहकर उसी घर के पिछवाड़े में जाकर निर्दोष भूमि देखकर उन मोदकों को विषमिश्रित के समान मानकर परठने लगे। उस समय हर्ष को उत्पन्न करनेवाले वे मोदक भी अमोदक अर्थात् द्वेष को उत्पन्न करनेवाले बन गये, क्योंकि सभी वस्तुएँ अपने चित्त के अनुसार ही इष्ट और अनिष्ट होती हैं। उन मुनि ने केवल उन मोदकों को ही चूर–चूर नहीं किया, बल्कि शुभाशययुक्त उन्होंने चारों घनघातिक कर्मों को भी चूर डाला। उन कर्मों के क्षय होने से मेघसमूह का नाश होने पर उदय हुए सूर्य के प्रकाश के समान उन्हें निर्मल बोध रूपी केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। तत्काल देवों ने देवदुन्दुभि व पुष्पवृष्टि द्वारा उनकी

अद्‌भुत केवललक्ष्मी का स्वागत किया और हर्षपूर्वक वे सागर श्रेष्ठी की भी प्रशंसा करने लगे–"तुम धन्य हो! तुम्हारा जन्म श्लाघनीय है! तुम ही धर्म तत्त्व के ज्ञाता हो, क्योंकि महाकष्टकारक दशा को प्राप्त तथा मूढ़ता रूपी निद्रा में सुप्त इस मुनि को तुमने ही अपनी बुद्धि के प्रभाव से जागृत किया और उन्हें सद्‌बोध प्रदान किया।"

इसके बाद वे देव केवली को नमस्कार करके अपने–अपने स्थान पर चले गये। केवली भी अपने गुरु के पास चले गये और अनुक्रम से मुक्तिपद का वरण किया।

अतः उत्तम पुरुष यतीश्वरों को जा दान देते हैं, वह इस लोक के उपकार का फल पाने की इच्छा से नहीं देना चाहिए, क्योंकि जिनभाषित आगमों का अभ्यास करनेवाले मुनीश्वर उपकार–बुद्धि से उनके पास से नहीं लेते। जो मुनि अपनी आजीविका के लिए ज्योतिष शास्त्र, निमित्त शास्त्र, गणित शास्त्र, मंत्र, तंत्र, कामण, टुमण, औषधि, इन्द्रजालादि कौतुक और शांतिप्रयोगादि का उपयोग करते हैं, वे व्रतों की विराधना करने से दुर्गति को प्राप्त करते हैं। इस विषय में **उपदेशमाला** में कहा है–

जोइस निमित्त अक्खर कोउआएस भूइकम्मेहिं।
करणाणुमोअणाहिअ साहुस्स तवक्खओ होइ।।

भावार्थ :–ज्योतिष, निमित्त, अक्षर, कौतुक, आदेश, भूतिकर्म और किसी के कार्य की अनुमोदना करने से साधु के तप का क्षय होता है।।

[1]मुधादान करनेवाले को उत्कृष्ट फल प्राप्त होता है और [2]मुधा–आजीविका करनेवाले का चारित्र शुद्ध होता है। अतः दान के अंतर्गत मुधा प्रवृत्ति करनेवाले दाता और ग्रहणकर्त्ता–दोनों ही शुभगति को प्राप्त करते हैं। दसवैकालिक शास्त्र में कहा है :–

दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दोऽवि गच्छंति सुगइं।।

भावार्थ :–मुधा दान करनेवाला दुर्लभ है और मुधाजीवी भी दुर्लभ है। मुधादानी और मुधाजीवी–दोनों ही सुगति प्राप्त करते हैं।।

मुधादान के विषय में एक उदाहरण सावधान–चित्त से सुनो–

कोई एक शांतबुद्धि से युक्त तापस ने किसी ग्राम में जाकर स्वभाव से ही दानी किसी वैष्णव से कहा–"हे भक्त! अगर तूं हमेशा मेरी आजीविका करे, तो मैं तुम्हारे घर पर ही रहकर चातुर्मास करूं।"

---

1. बदले की भावना रखे बिना दान करना।
2. निराशंसा से अर्थात् केवल रत्नत्रयी की आराधना करने के निमित्त।

तब वैष्णव ने कहा–"अगर तुम मेरा कुछ भी प्रत्युपकार न करो, तो सुखपूर्वक रह सकते हो।"

यह सुनकर तापस ने उसका वचन अंगीकार कर लिया। तब वैष्णव ने उसे रहने के लिए स्थान दे दिया। फिर उसके आसन, आच्छादन, शयन और भोजन आदि सभी प्रकार की वृत्ति कायम करने लगा। जिससे तपस्वी भी निरन्तर समाधिपूर्वक अपनी धर्मक्रिया करने लगा।

एक बार रात्रि के समय वैष्णव के घर में चोर आया और उसका श्रेष्ठ अश्व चोरी करके ले गया। ग्राम के बाहर निकलते–निकलते प्रभात का समय हो गया। अतः चोर उस अश्व को आगे ले जाने में समर्थ न हो सका। अतः वे उस अश्व को वहीं नदी के किनारे के एक उद्यान में बांधकर चले गये।

उस नदी पर स्नान करने के लिए वैष्णव के घर में रहा हुआ तापस हमेशा ही आता था। उस दिन भी आया। वहां उद्यान की तरफ से घोड़े के हिनहिनाने की आवाज सुनकर उसने अनुमान लगाया–"मेरे उपकारी वैष्णव का अश्व यहीं पर है।"

फिर वह बुद्धिमान तापस स्नानादि क्रिया को शीघ्रता से निपटाकर अपना एक वस्त्र वहीं उद्यान में सूखता हुआ छोड़कर घर लौट आया। फिर अवसर होने पर वैष्णव ने तापस को भोजन के लिए बुलाया। तब कपटपूर्वक तापस ने उद्विग्न होते हुए कहा–"मैं नदी पर स्नान करने के लिए गया, तब मेरा एक वस्त्र वहीं पर छूट गया। अभी ही मुझे ध्यान आया है, अतः मैं वस्त्र लेने के लिए फिर से नदी पर जाता हूं।"

यह सुनकर तापस की भक्ति में वशीभूत होकर उसने तापस को जाने से रोका और अपने सेवकों को वस्त्र लाने के लिए भेजा। जब सेवक वस्त्र लेने के लिए पहुँचे, तो वहां अपने स्वामी का अश्व देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे अश्व व वस्त्र को लकर घर पर आये। यह देखकर वैष्णव श्रेष्ठी ने विचार किया–"हा! हा! इस तापस ने माया के द्वारा मुझ पर प्रत्युपकार किया है। अतः अब इस प्रत्युपकारी तापस की कितनी भी भक्ति क्यों न करुं, सब व्यर्थ है, क्योंकि प्रत्युपकार करनेवाले को जो भी दान दिया जाय, वह सभी अल्प फलयुक्त ही होता है।"

ऐसा विचार करके उसने तापस से कहा–"तुमने मुझ पर प्रत्युपकार किया है। अतः अब मुझे तुमसे कोई प्रयोजन नहीं है।"

यह कहकर उसे विदा कर दिया। अतः जिनेश्वरों की आज्ञा को जाननेवालों को मुधादान में विशेष यत्न करना चाहिए।

अब मुधा–जीवी का दृष्टान्त कहते हैं–

धराधर नामक एक प्रसिद्ध नगर है। उसमें अत्यन्त तेजयुक्त यथार्थ नामवाला **जितशत्रु** राजा राज्य करता था। राजा लघुकर्मी होने से स्वयं ही संसार से वैराग्य को प्राप्त हुआ। बुद्धिमान पुरुष धर्ममार्ग में प्रवृत्त होने के लिए अन्यों के उपदेश की अपेक्षा नहीं रखते। भिन्न–भिन्न दर्शनियों के द्वारा निरुपण किये गये धर्म को सुनकर राजा के मन में धर्म के विषय में शंका उत्पन्न हुई। अतः राजा ने परीक्षा लेनी शुरु कर दी। विद्वान पुरुष परीक्षा करके ही धर्म को ग्रहण करते हैं। फिर राजा ने घोषणा करवायी–"हे भिक्षुकों! आओ–आओ। राजा मन को प्रसन्नता देनेवाले मोदकों का दान कर रहे हैं।"

यह सुनकर कापडी आदि सर्व जाति के भिक्षुक वहां आये। एक–एक को अलग से राजा ने पूछा–"तुमलोग किस प्रकार से आजीविका चलाते हो?"

यह सुनकर किसी एक ने कहा–"मैं मुख के प्रसाद से जीता हूं।"

राजा ने उससे पूछा–"कैसे?"

तब पहले ने उत्तर दिया–"मैं कथक अर्थात् कथा कहनेवाला हूं। मैं कथा कहकर मनुष्यों को आश्चर्य प्राप्त करवाकर उनके पास से द्रव्य ग्रहण करके अपनी आजीविका चलाता हूं। अतः मेरा मुख ही मेरी जीविका का साधन है।"

दूसरे ने कहा–"मैं हाथ के हुनर से जीता हूं।"

राजा ने पूछा–"कैसे?"

उसने कहा–"मैं लेखक हूं। अतः हाथ के द्वारा लेखादि लिखकर अपनी आजीविका चलाता हूं। अतः हाथ के द्वारा ही जीता हूं।"

तीसरे ने कहा–"मैं चलने के प्रभाव से जीता हूं।"

राजा ने पूछा–"कैसे?"

उसने कहा–"मैं डाकिया हूं। एक घड़ी में एक योजन चलता हूं। अतः पैर ही मेरा जीवन है। पैरों के द्वारा ही मैं आजीविका चलाता हूं।"

चौथे ने कहा–"मैं मनुष्यों के अनुग्रह से जीता हूं।"

राजा ने पूछा–"कैसे?"

उसने कहा–"मैं भिक्षुक हूं। मैंने प्रव्रज्या ग्रहण की है। अतः सभी मनुष्य मुझ पर अनुग्रह रखते हैं, जिससे मैं जीवित रहता हूं।"

पाँचवें ने कहा–"वैद्य की क्रिया के द्वारा मैं जीता हूं।"

छट्ठे ने कहा–"मैं ज्योतिषी की कुशलता के द्वारा जीता हूं।"

योगी ने कहा–"अद्‌भृत चूर्ण के प्रयोग से मैं जीता हूं।"

मान्त्रिक ने कहा–"मैं मंत्र–तंत्र से जीता हूं।"

राजा ने पूछा–"कैसे?"

तब वैद्य, जोशी, योगी और मान्त्रिक ने कहा–"हमलोग अनुक्रम से वैद्यक, ज्योतिष, चूर्ण और मंत्र–तंत्रादि के प्रयोग द्वारा अपनी आजीविका चलाते हैं।"

अन्त में जिनागम से जिनका अंतःकरण सुवासित था, ऐसे एक क्षुल्लक साधु ने कहा–"मैं मुधाजीवी हूं।"

राजा ने उससे पूछा–"कैसे?"

तब उसने उत्तर दिया–"जन्म, जरा, व्याधि, प्रिय वस्तु का वियोगादि असंख्य दुःखों से युक्त यह संसार अत्यन्त भयंकर है–यह जानकर मैंने आनन्दपूर्वक संयम ग्रहण किया है। अतः मैं समग्र लोकयात्रा से रहित हूं और संयम के निर्वाह के लिए अदीन वृत्ति से जिस काल में जो भी अशनादि मुझे प्राप्त होता है, उसे मैं ग्रहण करता हूं। अतः हे राजन्! मैं मुधाजीवी हूं।"

उसके इन वचनों को सुनकर राजा ने निश्चय किया कि–"समग्र दुःखों के क्षय की सिद्धि का साधन रूपी यह धर्म ही मुक्ति प्राप्त करने के लिए तत्त्वज्ञ पुरुषों द्वारा सेवन के योग्य है।"

ऐसा विचार करके राजा ने सद्‌गुरु के पास जाकर सर्व तत्त्वों का निर्णय करके अपने पुत्र को राज्य पर स्थापित करके चारित्र अंगीकार किया और अनुक्रम से सद्‌गति को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार हे साधुओं! मुधा–आजीविका के द्वारा ही अपनी देह का निर्वाह करने के लिए तुम्हे प्रयत्न करना चाहिए, जिससे तुम्हारी तपक्रिया, ज्ञान, चारित्र और शुद्धि (सम्यग्दर्शन)तुम्हारे इच्छित मोक्ष रूपी फल का प्रदाता बने।"

अब पात्रदान के आठ प्रकारों का अनुक्रमपूर्वक वर्णन किया जाता है। वे आठ भेद श्रुत में इस प्रकार से कहे गये हैं–**वसति, शयन, आसन, भक्त, पानी, औषधि, वस्त्र और पात्र।** देने योग्य वस्तु आठ प्रकार की होने से पण्डित–पुरुषों ने दान आठ प्रकार का बताया है। इस विषय में **उपदेशमाला** में कहा है:–

"वसही सयणासण भत्तपाण भेसज्ज वत्थपत्ताई"

1. वसति, 2. शयन, 3. आसन, 4. भक्त, 5. पान, 6. औषध, 7. वस्त्र और 8. पात्र।

इन आठ प्रकार के दान में सबसे पहले शय्यादान बताया गया है, जो योग्य ही है, क्योंकि

तपस्वियों के ज्ञान व चारित्र को योग वसति के आधार पर ही है। शय्यादान के प्रभाव से धर्म के सन्मुख होने रूप गुण को प्राप्त करके चोरों का नायक **वंकचूल** भी स्वर्ग में गया। जो मनुष्य यतियों को शय्या का दान देता है, वह संसार से शीघ्र ही पार उतरता है। अतः आगमों में शय्या के दातार को शय्यांतर कहा गया है। पापसम्पत्ति की निधानरूप **कोशा** नामक वेश्या ने **स्थूलिभद्र** मुनि को वसतिदान देने से आभ्यन्तर प्रकाश को प्राप्त किया था। साधु को उपाश्रय का दान करने से **अवंतीसुकुमार** ने संवेग का संग प्राप्त किया था, जिससे उसे क्षणभर में ही दिव्य ऋद्धि प्राप्त हुई। जो पुरुष शुद्ध भाव से संयमी को अपने घर में स्थान प्रदान करता है, उसने अपने घर में निश्चय ही जंगम कल्पवृक्ष बोया है–ऐसा जानना चाहिए। जो पुरुष चढ़ते परिणामों के द्वारा साधुओं को शय्यादान करता है, वह **तारचन्द्र** की तरह शीघ्र ही अक्षय सम्पत्ति को प्राप्त करता है। जो पुरुष दाक्षिण्यता से भी यतियों को वसतिदान करता है, उस भाग्यवंत पुरुष का भविष्यकाल शुभ होता है और ताराचंद्र के मित्र **कुरुचन्द्र** की तरह [1]अविलम्ब अक्षय सम्पत्ति को प्राप्त करता है। उसकी कथा इस प्रकार है–

प्रथम तीर्थंकर **आदिनाथ भगवान** के सौ पुत्र थे। उनमें एक श्रेष्ठ गुणों से युक्त **कुणाल** नामक पुत्र था। उसने ललित लक्ष्मी के स्थान रूपी एक देश की स्थापना की थी। वह देश इस भरतक्षेत्र में **कुणाल** नाम से प्रसिद्ध था। उसी देश में कल्याणकारक एक **श्रावस्ती** नामक प्रसिद्ध पुरी थी। मानो आकाश में निराधार रही हुई अमरावती नगरी गिर जाने के भय से पृथ्वी पर आकर रह रही हो–इस प्रकार से वह नगरी शोभित होती थी। तीर्थ रूपी वह नगरी किस मनस्वी पुरुष के नमने योग्य नहीं थी? क्योंकि वह नगरी **श्रीसंभवनाथ स्वामी** के जन्म द्वारा पावन की गयी थी। कंगूरों के बहाने से मानो हाथ के द्वारा दुर्नीति को रोक रहा हो–इस प्रकार से निरन्तर निर्भय उस नगरी के चारों तरफ फिरता हुआ प्राकार (किला) रहा हुआ था। उस नगरी में अत्यन्त तेज का स्थान **आदिवराह** नामक राजा राज्य करता था। उसने चिरकाल तक पृथ्वी को राजायुक्त बनाया था। पृथ्वी के अपार भार को धारण करने में धुरन्धर उस महा– तेजस्वी राजा ने अपना नाम [2]अर्थ से निष्फल नहीं किया था। भागती हुई शत्रु–स्त्रियों के टूटते हुए हारों से चारों तरफ बिखरते हुए मोती राजा की यश रूपी लता के अंकुरों की तरह शोभित होते थे।

उस राजा के कमल के समान मुखवाली **कमला** नामक पट्टरानी थी। उसकी निर्मल शीलकला दूज के चन्द्रमा की कला को जीतती थी। स्वर्ग की स्त्रियों को बनाने से विधाता को जो चतुरता और कुशलता प्राप्त हुई थी, सभी स्त्रियों के मध्य शिरोमणि रूप यह रानी

1. 'ना विलंबेन' का अर्थ 'अविलम्बेन' कथा की संगति के हिसाब से प्रतीत होता है।
2. आदिवराह का अवतार लेकर ईश्वर ने जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया था।

उस कुशलता की चरम सीमा थी। राजा को भी सभी रानियों के मध्य यह **कमला रानी** ही अति प्रिय थी। क्या चन्द्र को सर्व ताराओं के मध्य सारभूत रोहिणी अधिक प्रिय नहीं होती? उन दोनों के कला की निधि के समान **तारचन्द्र** नामक पुत्र हुआ। वह पुत्र अपने कुल रूपी आकाश को अपने तेज द्वारा शोभित बनाता था। वह बुधेश्वर केवल शरीर से ही वृद्धि को प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि विवेक, विनय, औदार्य व गांभीर्यादि गुणों के द्वारा भी वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। जैसे दैदीप्यमान कांतियुक्त मणियाँ स्वर्णालंकार को शोभित करती हैं, वैसे ही वे गुण उसकी सौभाग्य–सम्पदा को शोभित बनाते थे। राजा के अन्य भी अनेक कुमार थे, पर वही पुत्र राजा को अधिक प्रिय था, क्योंकि सर्व मणियों के मध्य चिंतामणि रत्न ही पूज्यता को प्राप्त होता है।

विद्वान व्यक्ति उसके चक्र, धनुष, अंकुशादि शारीरिक लक्षणों को देखकर कहते थे–"इस कुमार को भविष्य में महान वैभव प्राप्त होगा।"

उसके ग्रहों की उच्चतादि बल देखकर ज्योतिषी कहते थे–"इस कुमार का जन्म–लग्न राज्य की प्राप्ति करानेवाला है।"

जैसे–जैसे कुमार की गुणराशि वृद्धि को प्राप्त होने लगी, वैसे–वैसे उन गुणों की स्पर्धा के कारण लोगों की प्रीति भी उस पर वृद्धि को प्राप्त होने लगी। विधाता ने उसे सर्व उपकारी परमाणुओं के द्वारा ही बनाया हो–ऐसा प्रतीत होता था, अन्यथा कुमार की एकमात्र परोपकार के कार्यों में ही प्रवृत्ति क्यों होती?

उस कुमार पर अकृत्रिम प्रीति को धारण करनेवाला और निरन्तर विकस्वर बुद्धि के द्वारा बृहस्पति को भी पराजित करनेवाला **कुरुचन्द्र** नामक मित्र था, जो कि मंत्रीपुत्र था। हमेशा साथ ही आहार–विहारादि करने से उन दोनों की प्रीति दिवस के पिछले प्रहर की छाया की तरह वृद्धि को ही प्राप्त होती थी। जिस तरह जगत को आनंद प्राप्त करानेवाला चन्द्र कुमुद को विकस्वर करता है, उसी तरह राजपुत्र भी **कुरुचन्द्र** को विशेष आनंद प्रदान करता था। उसकी लोकप्रियता, सौभाग्य, तेजस्विता, यशस्विता आदि को देखकर लोग ऐसा मानते थे कि राज्य इसी को मिलेगा।

सर्व गुणों के निवास रूप उस कुमार पर उसकी कोई पापी विमाता सूर्य पर धुवड़ की तरह ईष्यावश द्वेष को धारण करती थी। दुष्टबुद्धि से युक्त वह अपने पुत्र को राज्यलक्ष्मी दिलाने की इच्छा से अपने नरकगमन के उपाय रूप **तारचन्द्र** कुमार के मरण का उपाय सोचने लगी।

एक बार कपट–रचना में पण्डिता उसने अवसर पाकर कुमार के भोजन में दुष्ट मंत्र से

बनाया हुआ चूर्ण डाल दिया। उस चूर्ण के प्रभाव से वन में लगे दावानल की तरह उसके शरीर में धीरे–धीरे महाव्याधि उत्पन्न हुई। शरीर में विस्तार को प्राप्त होती हुई उस महाव्याधि से उसका सारा शरीर अत्यन्त विरूप हो गया। राजा ने उसकी व्याधि के प्रतिकार के लिए जो–जो भी उपाय किये, वे सभी निष्फल हो गये। खलपुरुष के चित्त की तरह कोई भी उपाय उसके शरीर पर कारगर सिद्ध नहीं हुआ। कलंक से लज्जित होने की तरह शरीर से लज्जित होता हुआ कुमार किसी को भी अपना मुख नहीं दिखा सकता था। उस व्याधि के विषाद रूपी [1]निषाद की संगति से मलिन हुआ माता–पिता को कहे बिना ही घर से निकल गया। मन में खिन्न होता हुआ और कर्मविपाक की विषमता का विचार करता हुआ कुमार एक ग्राम से दूसरे ग्राम में अटन करने लगा। इस तरह शुभकर्मों के उदय से वह एक दिन पूर्वदिशा की और चला और पाप का नाश करने के कारण रूप सम्मेतशिखर पर्वत के समीप पहुँच गया। वहां उसने किसी के मुख से कर्णों में अमृत रसायन के समान सम्मेत तीर्थ का माहात्म्य सुना कि–"इस पर्वत पर पाप का नाश करनेवाले **श्रीअजितनाथ भगवानादि** बीस तीर्थंकरों ने अपने परिवार के साथ मुक्ति को प्राप्त किया है। अतः देवेन्द्रों ने यहां भक्तिवश उनके मणिमय बीस स्थूभों की रचना की है। उनमें उन–उन अरिहन्तों की रत्नमय प्रतिमा स्थापित की हुई है। उन स्थूभों में रहे हुए तीर्थंकरों को शुद्ध बुद्धियुक्त जो पुरुष भक्ति से नमस्कार करता है, वह अवश्य ही जल्दी मुक्ति को प्राप्त करता है–ऐसा पण्डितों ने कहा है।"

इस प्रकार से उसका माहात्म्य सुनकर पुण्यात्मा कुमार श्रीजिनेश्वरों को नमस्कार करने के लिए उद्यमवन्त हुआ। हर्षित मन से वह ऊपर चढ़ा। वहां बावड़ी में स्नान करके शुद्ध श्वेत वस्त्र धारण करके सर्वऋतु के पुष्पों से युक्त उद्यान में से पुष्पों का समूह ग्रहण करके कृत्य के ज्ञाता कुमार ने प्रत्येक स्थूभ की तीन–तीन बार प्रदक्षिणा की। फिर विधियुक्त जगतपूज्य बीस तीर्थंकरों की पूजा की। उसके बाद भक्तियुक्त भावस्तव इस प्रकार करने लगा–"हे **अजित जिनेश्वर**! आप जयवंत वर्त्तें। हे **संभवनाथ**! आप समृद्धि के लिए हों। हे **अभिनन्दन स्वामी!** आप आनन्दप्रदाता बनो। हे **सुमतिनाथ!** आप मुझे सन्मति प्रदान करें। हे **पद्मप्रभ!** आप मुझे कांति प्रदान करें। हे **सुपार्श्वस्वामी**! मेरे सम्मुख दृष्टि करो। हे **चन्द्रप्रभस्वामी!** आप चिरकाल जयवंता विचरें। हे **सुविधिस्वामी!** मेरी सहायता करें। हे **शीतलनाथस्वामी!** मेरी प्रीति के लिए हों। हे **श्रेयांस प्रभु**! मेरा कल्याण करो। हे **विमलनाथ** प्रभु! मेरे पापों का नाश करो। हे **अनंतस्वामी!** मुझे अनंत सम्पदा (मोक्ष) प्राप्त करवाओ। हे **धर्मनाथस्वामी!** मेरा नमस्कार स्वीकार करो। हे **शांतिनाथस्वामी!** आप मेरी शांति के लिए

1. चाण्डाल।

हों। हे **कुंथुस्वामी!** मुझे विशाल मोक्ष रूपी राज्य दिलाओ। हे **अरनाथ प्रभु!** मुझे लक्ष्मी प्रदान करें। हे **मल्लिनाथ!** मेरे कल्याण का विस्तार करें। हे **मुनिसुव्रतस्वामी!** मुझे श्रेष्ठ व्रत प्रदान करें। हे **नमिनाथ!** मैं आपको कपटरहित नमस्कार करता हूं। हे **पार्श्वनाथ!** मुझे शाश्वत लक्ष्मी अर्थात् मोक्ष प्रदान करें।

इस प्रकार **सम्मेतशिखर** पर स्तुति किये हुए बीसों ही जिनेश्वर मुझ पर प्रसन्न होकर सौभाग्य, आरोग्य और सम्पदा प्रदान करें।''

फिर स्थूभों से कुछ दूर जाकर अपनी आत्मा को कृतार्थ मानकर वह कुमार दुःखगर्भित वैराग्य के कारण चित्त में विचार करने लगा–''आज मुझे मनुष्य जन्म का फल मिला है। आज मुझे दुर्गति में गिरने का भय नहीं रहा। आज मेरी इस कुत्सित देह की सार्थकता हुई है। अब मेरी विडम्बना करनेवाली इस देह से मेरा क्या प्रयोजन? निरस गन्ने की तरह इसका त्याग करना ही अब उचित है।''

इस प्रकार विचार करके मरने की इच्छा से एक उच्च शिखर पर वह चढ़ गया। तभी समीप के एक वन में रहे हुए ध्यानस्थ मुनि पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसने विचार किया–''अहो! इन मुनि की शांतता! अहो! इनका निःसंग चित्त! अहो! इनकी ध्यान की एकाग्रता! अहो! इनका संसार से वैराग्य कितना आश्चर्यकारक है! इन मुनि के दर्शन मात्र से ही मेरे नेत्र सफल हो गये हैं, तो अब इनको वंदन करके मेरी अपवित्र देह को भी सफल बना लूं। मरना तो मेरे ही आधीन है। मैं बाद में भी मर सकता हूं।''

ऐसा विचार करके सुंदर भावयुक्त और पुण्य के द्वारा विकस्वर बुद्धि से युक्त वह **तारचन्द्र** नीचे उतरा। वन में उन मुनि के पास जाकर भक्तिपूर्वक उन्हें वंदन किया। कुछ समय उनके पास बैठकर निर्मल चित्तयुक्त होकर वह जैसे ही उठकर जाने लगा, वैसे ही किसी दिशा से विद्याधर दम्पति आकर मुनि को नमस्कार करके वहां बैठ गये। उन्हें देखकर **तारचन्द्र** विस्मय को प्राप्त हुआ। उसने उनसे पूछा–''आपलोग कौन हैं? कहां रहते हैं? यहां आने का क्या प्रयोजन है? ये मुनिराज कौन हैं?

तब विद्याधर ने कहा–''हम विद्याधर दम्पति हैं। वैताढ्य पर्वत पर रहते हैं। इन मुनिराज को भावपूर्वक वंदन करने के लिए हम यहां आये हैं। इन मुनि का चरित्र चित्त को चमत्कृत करनेवाला है। तुम सुनो–

वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी को पालनेवाला **वज्रवेग** नामक राजा विद्याधरों के कुल में कौस्तुभ मणि के समान था। उसे अनेक महाविद्याएँ सिद्ध थीं। उसका सौन्दर्य कामदेव को जीतनेवाला था। उसने अपने रूप की लक्ष्मी के द्वारा अप्सरा जैसी युवतियों के साथ विवाह

किया था। उसके पिता ने उसे बाल्यावस्था से ही **रत्नापुर** का राज्य दिया हुआ था। उस विशाल साम्राज्य को वह एकछत्र रूप से भोगता था। उसने अपने अतुल पराक्रम के द्वारा महाबलवान शत्रु राजाओं को पराजित करके विद्याधरों के समूह के मध्य चक्रवर्त्तित्व को प्राप्त किया था।

एक बार संसार रूपी दावानल को बुझाने में वर्षाऋतु के मेघ के समान गुरु–उपदेश को सुनकर वैराग्य से तरंगित हृदयवाला बना। सर्प के समान भयंकर क्षणभंगुर भोगों से भयभीत हुआ। अपनी कामिनियों को वह शाकिनियों के समान सुखनाशक मानने लगा। लक्ष्मी को मदिरा की तरह उन्मादकारक मानने लगा। बंधुओं को बंधन रूप जानने लगा। विषयों में उसे विष प्रतीत होने लगा। अतः उसने युवावस्था में ही रज की तरह राज्य–सम्पदा का त्याग करके संयम रूपी ऐश्वर्य को अंगीकार किया, पण्डित पुरुष आत्महित में सज्ज होते हैं। कहा भी है कि–

प्रशस्याः खलु ते भोगाँस्तारुण्येऽपि त्यजन्ति ये।
जरसा परिभूतस्तु मुच्यते तैः स्वयं न कः?।।

भावार्थ :–जो पुरुष युवावस्था में ही भोगों का त्याग कर देते हैं, वे वास्तव में प्रशंसनीय हैं, पर वृद्धावस्था में पराभव को प्राप्त कौनसा पुरुष स्वयं भोगों द्वारा परित्यक्त नहीं होता? अर्थात् भोग स्वयं ही उसका साथ छोड़ देते हैं।

फिर उन **वज्रवेग मुनि** को गुरुदेव ने ग्रहण व आसेवन शिक्षा प्रदान की। उसके अनुसार वह चारित्र का पालन करने लगा। सिंह के समान उन्होंने दीक्षा ग्रहण की, सिंह के समान तप किया और निरन्तर दुष्कर तप का आचरण करते हुए उन्हें समुद्र को नदियों की तरह अनेक लब्धियाँ प्राप्त हुई। उनके कफ, थूक, मलादि सभी औषध रूप हो गये, जिनके संसर्ग मात्र से सारी व्याधियाँ निर्मूल हो जाती हैं। उन्हें चारण लब्धि भी प्राप्त हुई है, जिससे इस लब्धि के कारण वे नंदीश्वर द्वीप में जाकर जिनेश्वरों को वंदन करते हैं। क्षीरास्रव, मध्वास्रव और बीजबुद्धि आदि समृद्धियाँ परस्पर स्पर्धा करते हुए उनका आश्रय करती हैं। ये वही **वज्रवेग** मुनि हैं, जिनके तुम दर्शन कर रहे हो। इनके चरण–कमल की रज द्वारा तूं निरोगी बनेगा।''

इस प्रकार मुनि की महिमा का श्रवण करके बुद्धिमान **तारचन्द्र** कुमार अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुआ और आनन्दित बना। उसके बाद मुनि को भावपूर्वक नमन करके उनके चरणों से स्पर्शित रज को उठाकर उसने अपने शरीर पर मल लिया। रज के स्पर्शमात्र से उसके शरीर पर से रोगों का विकार समाप्त होने के साथ ही सिद्धरस के स्पर्श से लौह की तरह

स्वर्णाभा को प्राप्त हुआ। उसके बाद मुनीश्वर ने उसकी धर्म की योग्यता को जानकर शिलापीठ पर बैठकर उसे धर्मोपदेश दिया–"हे बुद्धिमान! इस अपार संसार सागर में चिंतामणि रत्न के समान धर्म का योग पाकर उसे निरर्थक नहीं गुमाना चाहिए। सुखलक्ष्मी का इच्छित स्थान और कुकर्म के मर्मस्थान का वेधन करनेवाले धर्मकार्य में तुम निष्कपट भाव से उद्यम करो। वास्तव में धर्म के सामने कल्पवृक्ष भी काष्ठ के समान निःसार है, चिंतामणि रत्न पत्थर के समान है और कामधेनु गाय सामान्य पशु के समान है। विवेकी पुरुष को धर्म के द्वारा प्राप्त समृद्धि से धर्म की ही आराधना करनी चाहिए, क्योंकि अगर धर्म न किया जाय, तो स्वामिद्रोह के पाप के कारण अधोगति प्राप्त होती है। धर्म ही सर्व सुखों की अक्षय खान है। अतः सुख की इच्छा करनेवाले पुरुष को धर्म में निरन्तर यत्न करना चाहिए। वह धर्म साधु और श्रावक के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। उसमें से तुम श्रावकधर्म को अंगीकार करो, क्योंकि अभी तुममें उसकी ही योग्यता है।"

इस प्रकार की मुनि की वाणी का श्रवण करके उसकी बुद्धि श्रद्धा से व्याप्त हो गयी। अतः कुमार ने मुनि के पास श्रावक धर्म अंगीकार किया। कल्पवृक्ष के समान दुर्लभ धर्म को पाकर कुमार वाचा से अकथनीय आनंद को प्राप्त हुआ। फिर कृतार्थ हुए मुनि भी फिर से ध्यान में लीन हो गये। महात्मा आत्महित में लेशमात्र भी प्रमाद नहीं करते। कुमार को श्रावक धर्म अंगीकार करते देखकर विद्याधर भी अत्यन्त आनन्दित हुआ। साधर्मिक होने के कारण उस कुमार पर अत्यन्त स्नेहभाव धारण करके उसे विष, कामण, भूतादि बड़े–बड़े दोषों का नाश करनेवाली गुटिका प्रदान की। अत्यन्त आग्रह के कारण कुमार ने गुटिका स्वीकार की।

"अहो! धर्म का कैसा माहात्मय! अहो! उपकार करने की कैसी श्लाघनीय बुद्धि!"–ऐसा विचार करके कुमार विस्मय को प्राप्त हुआ। फिर वह साधर्मिक कुमार के साथ धर्म–संबंधी बातचीत करके विद्याधरी के साथ अपने स्थान पर लौट गया। देदीप्यमान रूपलक्ष्मी से युक्त कुमार भी तीर्थराज पर से नीचे उतरा। विविध प्रकार के आश्चर्य से युक्त पृथ्वी को देखते हुए पश्चिमी समुद्र के किनारे की पृथ्वी रूपी स्त्री के मस्तक के आभूषण रूपी **रत्नपुर** नामक नगर में आया। उस नगर में रूप की संपत्ति की मंजूषा के समान और देवांगनाओं को तृणवत् माननेवाली **मदनमंजूषा** नामक गणिका रहती थी। उसने अत्यन्त देदीप्यमान शृंगारयुक्त कामदेव के समान कुमार को अपने घर के पास से जाते हुए देखा, तो विचार किया–"इस युवक का मुख सौंदर्य की सम्पदा के द्वारा पूर्णचन्द्र को भी दास बना रहा है। काला कमल इसके नेत्रों का निर्माल्य हो–ऐसा प्रतीत होता है। इसका वक्षस्थल मनोहर नेत्रोंवाली स्त्रियों को क्रीड़ा करने के लिए स्वर्णशिला के समान है। इसके दोनों स्कन्ध स्वर्णकलश के समान

शोभित हो रहे हैं। इसका कण्ठ शंख को भी तिरस्कृत करता है। इसकी दोनों भुजाएँ शूरता रूपी हाथी को बांधने के स्तम्भ के समान शोभित होती हैं। इसकी भृकुटि कामदेव के धनुष के समान प्रतीत होती है। इसके केशों का समूह मयूर के पिच्छसमूह के समान लगता है। अहो! सर्व अंग का संग करनेवाली इसकी सौभाग्य रचना अलौकिक है। अतः यह वृद्धता को प्राप्त ब्रह्मा की सृष्टि तो हो ही नहीं सकती।''

इस प्रकार देखने मात्र से वह वेश्या उसके ध्यान में मग्न हो गयी। पूर्व का कोई परिचय न होने पर भी वह उस पर अत्यन्त प्रेमयुक्त बनी। उसे देखकर **तारचन्द्र** भी उसके सौभाग्य व उसकी स्वयं पर प्रेमभरी दृष्टि आदि गुणों से आकर्षित होता हुआ अत्यन्त आनन्दित हुआ। कामदेव से प्रेरित होकर उस वेश्या ने उसे अपने घर पर आने का निमन्त्रण दिया। तब कुमार ने हँसते हुए कहा–''मैं यति की तरह अकिंचन हूं। मेरे पास कुछ नहीं है।''

तब उसने स्मित हास्य के साथ कहा–''हे देव! मैं तुम्हारे पास धन की इच्छा नहीं करती। मात्र आपके सौभाग्य से कामक्रीड़ा की इच्छा रखती हूं। धन तो मेरे पास पहले से ही कुबेर के समान है। अतः प्रसन्न होकर तुम्हारे निवास द्वारा मेरे इस आवास को अलंकृत करो।''

इस प्रकार से अत्यन्त अनुनयपूर्वक अंतःकरण में बहुमान धारण करते हुए उस वेश्या ने स्नेहपूर्वक उसे अपने आवास पर रखा। फिर स्नान–भोजनादि के द्वारा उसका इतना ज्यादा बहुमान किया कि कुमार को स्पष्ट प्रतीत हो गया कि यह मेरे वशीभूत हो गयी है। अहो! कुमार के अद्‌भुत सौभाग्य का वर्णन हम किस प्रकार करें! क्योंकि वेश्या ने उसका निर्धन होते हुए भी इतना ज्यादा बहुमान किया था। फिर कुमार वहां विस्तृत काम–भोगों को अपने घर की भाँति भोगने लगा। **मदनमंजूषा** द्वारा सर्व समृद्धि पूर्ण किये जाने के कारण उसे दिन और रात तक का पता नहीं चलता था। कुमार के भाग्य की तो कोई सीमा ही नहीं थी, क्योंकि उल्टे वेश्या ही उसको धन प्रदान कर रही थी। हमेशा इच्छानुसार पुष्कल धन देती उस वेश्या को देखकर उसकी वृद्ध अक्का ने उससे कहा–''हे मुग्धा! निर्धनों में अग्रसर इस जार पुरुष को व्यर्थ ही धन देकर तूं क्यों विनाश को न्यौता दे रही है? हे तुच्छ मतियुक्त पुत्री! क्या तूं अपने कुल के आचार को नहीं जानती? हमारी सम्पूर्ण जाति में किसी ने भी किसी कामुक को इस तरह धन नहीं दिया। वेश्या का चित्त एकमात्र धन में ही होता है। अतः वह सौभाग्य, बुद्धिमानी, प्रेम या पराक्रम को कुछ भी नहीं मानती। एकमात्र धन में लुब्ध गणिका कुष्ठी को भी रूपवान मानती है, अगर वह धनिक हो। मूर्ख को भी पण्डित मानती है, अगर वह धनिक हो। अतः हे पुत्री! यह पुरुष भले ही असमान रूपयुक्त व गुणलक्ष्मी का पात्र है, पर निर्धन पुरुषों में शिरोमणि है। अतः शीघ्र ही तूं इसका त्याग कर!''

अक्का की इस स्पष्टोक्ति को सुनकर वेश्या ने कहा–"हे माता! हमारे घर में पहले ही अगणित धन–सम्पदा है। यह पुरुष निर्धन होने पर भी सौन्दर्य सम्पदा का धनी है। केतकी के पुष्प सदृश इसके उज्ज्वल गुणों के कारण मेरा चित्त इसके वश में हो गया है। यह चित्त क्षण भर के लिए भी किसी अन्य के पास जाने में सक्षम नहीं है। अतः हे माता! मैं जीते–जी इसे छोड़ नहीं सकती।"

उनके इन वचनों को सुनकर उस दुष्ट अक्का ने अनुमान लगा लिया कि यह उस पर मोहित है, अतः उस समय तो वह कुछ नहीं बोली। पर कुमार को मरवाने के लिए उसने दासियों के द्वारा उसके भोजन में विष मिलवा दिया। अंधकार पर सूर्य के प्रभाव की तरह गुटिका के प्रभाव से वह विष उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं पाया। फिर से उस अक्का ने महातेजस्वी कुमार पर गुप्त रीति से कामणादि कुकर्म करवाये, पर गुटिका के प्रभाव से उसका कुछ भी पराभव नहीं हुआ। उसके सभी उपाय निष्फल हो जाने से अक्का ने विचार किया–"यह विषादि से मर नहीं सकता और शस्त्रादि के द्वारा इसका घात करवाने पर लोक में मेरा असहनीय अपवाद होगा। अगर कुमार यहां रहेगा, तो धन का अपव्यय वैसा का वैसा बना रहेगा।"

इस प्रकार उसका मन चिंता रूपी चिता से व्याप्त बन गया। वह अपने घर में जरा भी रति–प्रीति प्राप्त नहीं कर पाती थी। तब समय का निर्गमन करने के लिए वह अपनी दासियों के साथ समुद्र के किनारे रहे हुए वन में गयी। वहां समुद्र में उसने एक वाहन को देखा। उसे देखकर उसने नाविकों से पूछा–"यह वाहन कहां से आया है? कहां जायगा? यहां से कब रवाना होगा?"

तब नाविक ने कहा–"यह वाहन रत्नद्वीप से आया हुआ है और आज रात्रि में ही वापस रत्नद्वीप जानेवाला है।"

यह सुनकर दुष्टा अक्का अत्यन्त हर्षित हुई। फिर माया–कपट में हुशियार अक्का ने मन में कुछ सोचकर वाहन के स्वामी के पास जाकर कहा–"हे श्रेष्ठी! मैं अपने पुत्र के साथ तुम्हारे पास आने की इच्छा रखती हूं।"

तब श्रेष्ठी ने कहा–"हे माता! अगर आपकी मेरे साथ आने की इच्छा हो, तो पुत्र को लेकर मध्य रात्रि में यहां आ जाना। हमारे वाहन के प्रयाण का मुहूर्त्त अर्द्धरात्रि में ही है।"

यह सुनकर अक्का ने कहा–"बहुत अच्छा।"

ऐसा कहकर अक्का अपने घर लौट गयी। फिर सन्ध्या के समय कुमार को अत्यधिक मदिरा पिलायी, जिससे भोगक्रीड़ा से शान्त होकर कुमार सो गया। मध्यरात्रि के समय उसको गाढ़ निद्रा में देखकर अक्का अत्यन्त प्रसन्न हुई। दासियों के द्वारा उसको उठवाकर

वाहन के समीप ले आयी। वाहन के स्वामी को उसने कहा–"मैं और मेरा पुत्र आ गये हैं।"

इस प्रकार कहकर कुमार को वाहन के भीतर सुला दिया और स्वयं किसी तरह सभी की नजरों से बचकर अपने घर लौट गयी। अहो! स्त्रियों का कैसा कपट!

घर जाकर उसने नींद में सोयी हुई पुत्री का मोतीमय हार कहीं छिपा दिया। स्त्रियों का चरित्र महासागर की तरह गहरा होता है। प्रातःकाल होने पर मदनमंजूषा जागृत हुई। अपने प्राणेश को घर पर न पाकर वह अत्यन्त खिन्न हो गयी। उसने समग्र नगर में उसकी खोज करवायी। पर समुद्र में गिरे हुए रत्न की तरह उसका कहीं भी पता न चला। नेत्रों से अश्रुधारा बरसने से मलिन मुखवाली मदनमंजूषा अत्यन्त विह्वल होकर विलाप करने लगी–"हा! हा! श्रेष्ठ गुणों के शृंगार! सौभाग्य लक्ष्मी के निधान! हे जीवितेश! मेरा जीवन आपके ही आधीन था–यह जानते हुए भी आप मुझे क्यों छोड़कर चले गये? मैंने आपका कुछ भी अविनय नहीं किया था। आपकी किसी भी आज्ञा का लोप नहीं किया। हे स्वामी फिर आपने मुझ निरपराध को सहसा कैसे छोड़ दिया? आपके बिना यह लक्ष्मी, ये आभूषण, यह अद्‌भुत क्रीड़ाघर और मेरा यह जीवन भी अरण्य के पुष्प की तरह निरर्थक है।"

इस प्रकार विलाप करता हुई वह शून्य–सी बन गयी, न भोजन करती थी, न पानी पीती थी। मात्र विरह के दुःख से शून्य मनवाली हो गयी थी। तब वृद्धा ने कहा–"हे पुत्री! तूं अस्थान पर शोक क्यों करती है? अगर वह निर्धन स्वयं ही चला गया, तो अच्छा हुआ। घर से अलक्ष्मी चली गयी। पर कहीं वह घर से कुछ लेकर तो नहीं गया?"

यह कहकर मायावी अक्का संभ्रान्त बनकर पूरा घर संभालने लगी। तभी **मदनमंजूषा** ने अपने आभूषणों की पेटी खोलकर देखी। उसमें एक लाख स्वर्णमुद्रा का मोतीमय हार न देखा। यह जानकर अक्का ने कोप का [1]आटोप करके कहा–"हे पापिनी! देख! उस दुष्ट ने हार की चोरी करके तुझे ठगकर लूट लिया। तूं इसी भाग्य की है। तेरा हार चोरी हुआ, वह अच्छा ही हुआ।"

इस प्रकार उसका तिरस्कार करके अक्का खाने–पीने में प्रवृत्त हुई। कितने ही दिन बीतने के बाद **मदनमंजूषा** को दासियों से पता लगा कि अक्का ने किस प्रकार छल करके कुमार को यहां से निकाला। यह जानकर **मदनमंजूषा** ने क्रोधित होते हुए अक्का को उपालम्भ दिया–"हे माता! तूंने ही मेरे भर्त्तार को ठगकर छल के साथ निकाल बाहर किया। अन्यथा वह तो मरते दम तक मुझे छोड़कर जानेवाला नहीं था।

हे माता! घर में न समाय–इतना धन उपार्जित करके मैंने तुझे दिया, तो भी तुझे तृप्ति

---

1. आडम्बर।

नहीं हुई। अहो! लोभ मनुष्य का कैसा पराभव करता है? कदाचित् समुद्र पानी से तृप्त हो जाय, अग्नि काष्ठ से तृप्त हो जाय, याचकजन दान से तृप्त हो जाय, प्राणी सुख भोगने से तृप्त हो जाय और राजा भी कोष से तृप्त हो जाय, पर वेश्याजन द्रव्य से कभी तृप्त नहीं हो सकती।

हे माता! तूं अपने मन में स्वप्न में भी ऐसा दुष्ट अभिप्राय धारण मत करना कि यह पुत्री अब साधारण स्त्री अर्थात् वेश्या का धर्म धारण करेगी। इतने दिनों तक मैंने जैसे–तैसे चेष्टा की, पर हे माता! अब तूं मेरी प्रतिज्ञा सुन–भले ही मैं विष खा लूंगी और अग्नि में प्रवेश कर लूंगी, पर **तारचन्द्र** के सिवाय अन्य कोई पुरुष मेरें अंगों का स्पर्श नहीं कर सकेगा।''

इस प्रकार कहकर सती की तरह निर्मल शील का पालन करती हुई वह अति कठिन पतिव्रता धर्म का आचरण करने लगी। वह शोभा के लिए कभी भी स्नान नहीं करती थी। मधुर भोजन भी नहीं करती थी। शरीर का संस्कार नहीं करती थी। अच्छे वस्त्र भी नहीं पहनती थी। नेत्रों में अंजन नहीं आंजती थी। किसी के साथ बातचीत भी नहीं करती थी। अपने घर से बाहर नहीं निकलती थी। शरीर पर अंगराग करने में उसका जरा भी अनुराग नहीं था। संगीत में भी उसकी रुचि नहीं रही। गीत सुनने में भी उसका मन नहीं लगता था। अहो! वेश्या होने के बावजूद भी उसका मन उसी स्वामी के ऊपर तल्लीन था। वह हृदय पर हार को धारण नहीं करती थी। कपाल पर तिलक भी नहीं करती थी। हाथों में कंगन नहीं पहनती थी। भुजाओं में बाजुबन्द नहीं पहनती थी। चरणों में नुपूर नहीं पहनती थी। समग्र अंगों में केवल शील रूपी आभूषण को ही धारण करती थी।

उधर मध्यरात्रि में वाहन चलने के बाद प्रातःकाल होने पर **तारचन्द्र** कुमार जागृत हुआ। चारों तरफ जल देखकर विचार करने लगा–''क्या मैं स्वप्न देख रहा हूं? क्या मेरी मति को भ्रम हुआ है? क्या यह कोई इन्द्रजाल है या मेरी दृष्टि को किसी ने बांध दिया है? क्या यह मेरी मूर्च्छावस्था है? अथवा यह किसी देव की विकुर्वणा है? या फिर मैं ये अनल्प कल्पनाएँ वृथा ही कर रहा हूं, क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष ही समुद्र दिखायी दे रहा है। यह वाहन भी प्रत्यक्ष है। मुझे यहां किसी कौतुक से या कपट से लाया गया है। हां! यही सत्य है। मुझे पता है कि दुष्टता को धारण करनेवाली अक्का की ही यह चेष्टा है। वेश्याओं के कपट की चतुराई का कोई माप नहीं।''

इस प्रकार **तारचन्द्र** विचार कर ही रहा था कि वाहन के स्वामी ने अकस्मात् उसको देखकर और पहचानकर प्रसन्न होते हुए उसका आलिंगन किया। **तारचन्द्र** भी अपने मित्र **कुरुचन्द्र** को देखकर हर्षित हुआ। फिर **कुरुचन्द्र** ने कहा–''हे मित्र! खोये हुए चिंतामणि रत्न की तरह आज अचानक तुम्हारे दर्शन हुए हैं। हे मित्र! तुम किस–किस स्थान पर घूमे?

तुम्हारे शरीर की निरोगता किस प्रकार हुई? यहां अकस्मात् तुम्हारा आगमन कैसे हुआ?''

इस प्रकार पूछे जाने पर **तारचन्द्र** ने **सम्मेतशिखर** पर्वत पर गमन, वहां हुई निरोगता आदि वृत्तान्त से लेकर अक्का द्वारा वंचना करने तक की सारी हकीकत सुनायी। यह सुनकर आश्चर्यचकित होते हुए **कुरुचन्द्र** के नेत्र विकस्वर हुए। वह उसके जागृत भाग्य की प्रशंसा करने लगा। फिर राजपुत्र ने उससे पूछा–''हे मित्र! तेरा यहां आगमन किस प्रकार हुआ?''

मंत्रीपुत्र ने कहा–''हे मित्र! **श्रावस्ती नगरी** में से तुम निकले, तब तुम्हारे वियोग से दुःखी हुए राजा को महल में या उद्यान में–कहीं भी रति नहीं मिली। तुम्हारी खोज करने के लिए राजा ने चारों दिशा में अपने सेवक भेजे, पर तुम्हारी कोई खबर प्राप्त नहीं हुई। अतः तुम्हारे दुःख से दुःखी मैं भी क्षणमात्र भी नहीं रह सका। अतः राजा की आज्ञा लेकर तुम्हे खोजने के लिए मैं भी राज्य से निकल गया। तुम्हारे विरह से आकुल–व्याकुल मैं अनेक देशों में भटका, पर जैसे पुण्यहीन पुरुष निधान को नहीं पा सकता, वैसे ही मैं भी तुमको खोज नहीं पाया। उसके बाद वाहन लेकर अन्य द्वीपों में खोजते हुए आज यहां अकस्मात् तुम्हारे दर्शन हुए। आज मेरा प्रयास सफल हुआ। देवों की आशीष फलीभूत हुई। मेरा भाग्य जागृत हुआ और आज तुम्हारे दर्शन हो गये।

श्रावस्ती नगरी में सर्व क्षेमकुशल है, पर राजा तुम्हारे वियोग रूपी महाव्याधि से अत्यन्त पीड़ित है। अतः हे कृपासागर! तुम्हारे दर्शन से होनेवाले अमृतरस के सिंचन से पितादि के चित्त के संताप को शांत करो।''

इस प्रकार **कुरुचंद्र** के वचन सुनकर विकस्वर बुद्धियुक्त **तारचन्द्र** माता–पिता के दर्शन के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हुआ। अतः वह **कुरुचन्द्र** के साथ शीघ्रता से समुद्र का उल्लंघन करते हुए अपने नगर की दिशा में चला। अनुक्रम से सतत प्रयाण करते हुए वे अपनी नगरी के समीप पहुँच गये। उसके समाचार मिलते ही राजा अपने समस्त सामंत, मंत्रियों आदि के साथ उसके सन्मुख आया। दूर से ही दृष्टि से सुभग अपने कुमार को देखकर पूर्णचंद्र को देखने से समुद्र की तरह राजा उल्लास को प्राप्त हुआ। कुमार भी पिता को देखकर अलौकिक आनंद को प्राप्त हुआ। उस आनंद को या तो केवली जानते थे या फिर स्वयं उसका मन जानता था। कुमार विनयावनत होकर राजा के चरणों में गिरा। पिता ने भी उसे उठाकर गाढ़ आलिंगन करके उसके मस्तक को चूमा। राजा के हृदय में वात्सल्य उछलने लगा। जन्मोत्सव की तरह पुत्र के आगमन का विराट उत्सव किया। उस समय अनेक गायकों के समूह ने कुमार की गुणश्रेणियों का गायन किया। नगरी के लोग उसके सौभाग्य की स्तुति करने लगे। वाद्यन्त्रों की ध्वनि से सर्व दिशाएँ शब्दमय हो गयीं। अनेक नटियों का नृत्य होने लगा। इस प्रकार उत्सवपूर्वक कुमार को हाथी पर बिठाकर, मस्तक पर छत्र धारण

करवाकर राजा ने आनंदपूर्वक नगर में प्रवेश करवाया। फिर कुमार को अपने महल में ले गये। पिता की आज्ञा से कुमार ने अगणित पवित्र लावण्ययुक्त देवांगनाओं को पराजित करनेवाली राजकन्याओं के साथ परिणय किया।

एक बार रात्रि के अन्तिम प्रहर में ज्ञानियों के शेखर राजा ने [1]दो प्रकार से विचार किया–"दीपक की लक्ष्मी जैसे तेल का नाश करती है, वैसे ही पूर्वपुण्य से प्राप्त की गयी यह राज्यलक्ष्मी भोगने से पूर्वपुण्य का नाश करती है। अर्थात् जैसे–जैसे राज्यलक्ष्मी भोगी जाती है, वैसे–वैसे पूर्व के पुण्य का नाश होता जाता है। अतः जब तक पूर्व पूण्य का संपूर्ण नाश न हो, तब तक नये पुण्यों का उपार्जन करना ही मेरे लिए श्रेष्ठ है। धनरहित मनुष्य को जैसे वेश्या त्याग देती है, वैसे ही पुण्यहीन पुरुष को लक्ष्मी त्याग देती है, फिर भले ही वह कला–संपन्न क्यों न हो। नवीन मेघों की वृष्टि से जैसे पृथ्वी पर चारों तरफ लताएँ (औषधियाँ) अंकुरित होती हैं, वैसे ही पुण्य के द्वारा प्राणियों के चारों तरफ से संपदा अंकुरित होती है अर्थात् प्राप्त होती हैं। परभव में एकमात्र पुण्य से ही जीव सुखी बनता है, अन्य [2]किसी भी वस्तु आदि से सुखी नहीं बनता, क्योंकि जीव के साथ परभव में केवल पुण्य ही जाता है, अन्य कोई नहीं। कुमार भी अब साम्राज्य का भार उठाने में समर्थ है। अतः अब उसको राज्य सौंपकर मेरे लिए दीक्षा लेना ही उचित है।"

इस प्रकार ध्यान की श्रेणि के द्वारा उसके मन में प्रकाश उत्पन्न हुआ। फिर प्रातःकाल जिनपूजादि धर्मकार्य करके कर्त्तव्य के ज्ञाता राजा ने अमात्यों व सामन्तों आदि को बुलाकर अपना अभिप्राय बताया। सभी ने मोहवश राजा को सहमति प्रदान नहीं की, तब जबर्दस्ती उनकी सहमति से राजा ने विराट उत्सवपूर्वक **तारचन्द्र** को साम्राज्य सौंपा। उसके अभंग वैराग्य के रस के पूर के द्वारा तरंगित हुए राजा ने सर्व जिनचैत्यों में अष्टाह्निका महोत्सव करवाया और फिर किन्हीं आचार्य के पास प्रव्रज्या अंगीकार की। पण्डित पुरुष सदैव अवसर के अनुकूल ही व्यवहार करते हैं। फिर दुष्कर चारित्र की आराधना करके दुष्कर तपस्या करके राजर्षि ने स्वर्ग–सम्पत्ति को प्राप्त किया। तपस्वियों के लिए क्या दुर्लभ है?

उसके बाद **तारचन्द्र राजा** नवोदित सूर्य की तरह दीप्तिमान बनने लगा। उसकी उदीयमान प्रभा से शत्रु क्षण–क्षण में अंधकार की भांति त्रस्त होने लगे। उसने **कुरुचन्द्र** को अपना प्रधानमंत्री बनाया। बड़े लोगों के साथ की गयी मैत्री प्राणियों को कल्पलता के समान फल प्रदान करती है।

एक बार राजा ने रत्नपुर से आये हुए किसी मनुष्य के मुख से श्रवण किया कि

---

1. द्रव्य और भाव से। 2. धन–पुत्रादि।

मदनमंजूषा विरह वेदना से अत्यन्त दुःखित होकर पीड़ाकारी जीवन व्यतीत कर रही है और पतिव्रता धर्म का पालन कर रही है। यह सुनकर उसके अपार स्नेह का स्मरण करके राजा के हृदय में प्रेम की तरंगें उछलने लगीं। फिर उसने अपने सेवकों को भेजकर अक्का सहित **मदनमंजूषा** को अपने नगर में बुलवाया। जब वे नगर के समीप पहुँची, तब राजा की आज्ञा से सभी प्रधान व सामन्त उनके सन्मुख गये, क्योंकि शील सभी के द्वारा नमन के योग्य है। उसके सतीत्व को देखकर सभी आश्चर्यचकित रह गये। महोत्सवपूर्वक उन्हें राजमहल में लाया गया। ग्रीष्मऋतु में सरोवर हंस–हंसिनी रहित जल की तरह उसका लावण्यता रूपी जल क्षीण हो गया था। विलास रूपी तरंगें उसमें दृष्टिगोचर नहीं होती थीं, मल रूपी कादव के द्वारा वह मलिन लग रही थी, उसके शरीर पर [1]अल्प स्वर्ण की स्थिति दिखायी दे रही थी, जीर्ण और मलिन वस्त्र रूपी शैवालयुक्त वह दिखायी देती थी, उसके हाथ–पैर और नेत्र रूपी कमल अत्यन्त म्लान अर्थात् मुरझाये हुए दिखायी दे रहे थे। वेश्या होने पर अपनी प्रिया के सती के समान स्वरूप को देखकर राजा भी अत्यन्त विस्मित हुआ। पहले तो राजा ने उसे अकृत्रिम वचनों के द्वारा प्रसन्न किया। फिर मनोहर वस्त्रों और श्रेष्ठ आभरणों के द्वारा मदनमंजूषा ने भी प्रियतम की प्राप्ति से उत्पन्न हुए हर्ष रूपी अमृत के पूर के द्वारा विरह रूपी अग्नि से तप्त आत्मा को शांत किया। सति–स्त्रियों में अग्रसर उसे राजा ने पट्टरानी बनायी। गुण [2]गौरव का स्थान होते ही हैं। पर गुणरहित मात्र कुलादि उत्तम हो, तो वह गौरव का स्थान नहीं होता।

राजा ने हार की चोरी का कलंक देनेवाली अक्का का तिरस्कार किया और उसके नाक–कान काटने की आज्ञा प्रदान की। कहा भी है कि :–

वधबन्धच्छिदाद्यं हि प्ररूढ़ पापपादपः।
इह लोके फलं दत्ते परलोके तु दुर्गतिः।।

भावार्थः–पाप रूपी वृक्ष जब वृद्धि को प्राप्त होता है, तब वध, बंधन और छेदनादि फल इसलोक में प्रदान करता है और परलोक में दुर्गति रूपी फल प्रदान करता है।।

फिर **मदनमंजूषा** ने राजा को विनति करके अक्का को राजा के पास से छुड़वाया। मेघवृष्टि की तरह सत्पुरुषों की कृपा सर्वत्र सरीखी होती है। राजा ने वह मोतियों का हार अक्का के पास से मंगवाकर **मदनमंजूषा** को दिलवाया। पति पर प्रीति स्त्रियों के लिए कल्पलता के समान होती है।

---

1. सौभाग्य के चिह्न के रूप में कुछ स्वर्णाभूषण थे। नदी के पक्ष में सु–अर्णस् अर्थात् अच्छा जल कहीं–कहीं दिखायी देता था।
2. बहुमान।

एक बार उस नगर के उद्यान में समग्र आगमों के ज्ञाता और सर्व मुनियों में इन्द्र के समान **गुणसागर** नामक सूरि पधारे। उद्यानपालक ने राजा को आकर बताया। तब मेघ के आने पर मयूर के हर्षित होने की तरह राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। मुकुट को छोड़कर धारण किये हुए समस्त अलंकार राजा ने उद्यानपालक को दे दिये। अहो! गुरु के प्रति भाग्यवानों की भक्ति अद्‌भुत ही होती है। फिर समस्त सामन्तों और मंत्रियों के साथ राजा उद्यान में गुरु को वंदन करने के लिए गया। सभी ने गुरु को विधिपूर्वक वंदन किया और उचित आसन पर बैठ गये। गुरुदेव ने भी पापों का नाश करनेवाली धर्मदेशना प्रदान की। चन्द्रिका का पान करके चकोर की तरह राजा उस धर्मदेशना का पान करके प्रसन्न हुआ और पुरजनों के साथ धर्म के रंग में रंजित होकर अपने आवास की और लौट गया। फिर स्नान, जिनपूजा और भोजनादि विधि करके सुखासन पर बैठते हुए राजा ने शुद्ध बुद्धि से विचार किया–"जो हमेशा कर्णों की तृप्ति करनेवाली गुरुवाणी का पान करते हैं, उन पुरुषों को धन्य है! वे ही पुण्यशाली कहलाते हैं। उन्हीं का जन्म सफल है। जो गुरु के उपदेशानुसार हमेशा विधिपूर्वक धर्मकार्य करते हैं, वे पुरुष तो धन्यातिधन्य हैं। मेरी आत्मा तो सदैव राज्य की शृंखला से बंधी हुई होने से मेरे दिन तो पशु की तरह निष्फल आ–जा रहे हैं। गुरुदेव को अपने घर में स्थापित करके उनकी सेवा में तत्पर होकर उनके द्वारा बतायी गयी विधि के अनुसार धर्म का सेवन तो कोई भाग्यशाली पुरुष ही कर सकता है। निर्मल बुद्धियुक्त जो पुरुष मुनिराज को वसतिदान देता है, वह अपनी आत्मा को शीघ्र ही मुक्तिपुरी का वासी बनाता है। गुरु को वसतिदान देनेवाला स्वयं तो संसार सागर से तिरता ही है, चारों प्रकार का श्रीसंघ भी तिर जाता है। **हस्तिपाल** राजा वास्तव में श्लाघनीय है, जिसने अपनी दानशाला में वीरप्रभु को चातुर्मास की आज्ञा प्रदान करके अपने पुण्यसत्र का विस्तार किया। मैं तो राज्य की व्यग्रता के कारण प्रतिदिन उद्यान में विराजित मुनिवरों को भी वंदन करने के लिए नहीं जा पाता। वैसे ही अन्य लोग भी नहीं जा पाते। अतः पूज्य गुरुदेव को उद्यान से बुलवाकर अपने घर में स्थापन करवाऊँ और धर्म का श्रवण करुं। फिर उसका सेवन करके अपने जन्म को सफल बनाऊँ।"

इस प्रकार का विचार करके लाखों कुशल पुरुषों के उपस्थित रहने पर भी राजा स्वयं गुरु को निमंत्रित करने के लिए गया। अहो! उसका विवेक कितना अद्‌भुत था! राजा ने महोत्सवपूर्वक गुरुदेव का नगर–प्रवेश करवाकर कल्पवृक्ष की तरह गुरु को अपने महल में स्थापित किया। फिर सभी सामन्तों व पुरजनों के साथ अपने महल में निरन्तर धर्मदेशना का श्रवण करने लगा। उनकी देशना रूपी ज्योति के द्वारा मनुष्यों के हृदयों में अज्ञान का नाश

1. करार।

हुआ। अतः उन्होंने अभंग सम्यग् धर्ममार्ग को अंगीकार किया। उनमें से कितने ही लोगों ने अत्यन्त उग्र मिथ्यात्व का त्याग करके मुक्ति रूपी स्त्री के निश्चल संकेतस्थान रूपी समकित को अंगीकार किया। कितने ही लोगों ने स्वर्ग रूपी महल पर चढ़ने की सीढ़ियों के समान श्रावक के बारह व्रतों को विधिपूर्वक ग्रहण किया। कितने ही लोगों ने सुन्दर संवेग के रंग से विशाल सम्पदा का त्याग करके चारित्र रूपी साम्राज्य को हर्षपूर्वक ग्रहण किया। कितने ही लोगों ने स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी के [1]सत्यंकार रूपी सामायिक, जिनपूजा आदि अनेक नियमों को हर्षपूर्वक ग्रहण किया। इस प्रकार संख्याबंध मनुष्य विविध धर्मकार्यों में तत्पर बने। पर कुरुचन्द्र मंत्री भारेकर्मी होने से धर्म से प्रतिबोध को प्राप्त नहीं हुआ। कहा भी है :–

जगतीनयनानन्दसंपादनपरायणा।
चन्द्रिका न हि चौराय रोचते रुचिराऽप्यहो।।

भावार्थः–जगत के जीवों के नेत्रों को आनन्द प्राप्त करवाने में तत्पर मनोहर चन्द्रिका भी चोर को पसन्द नहीं आती।।

वह **कुरुचन्द्र तारचन्द्र** राजा की दाक्षिण्यता के कारण ही गुरुसेवक बनकर उनको वंदन करना, उनके सन्मुख जाना आदि विनय करता था। पुर के लोगों को धर्म में तत्पर देखकर तथा कुरुचन्द्र की धर्म में अरुचि देखकर राजा हर्ष और विषाद को प्राप्त होता था। राजा ने विचार किया–"यह हमेशा मेरे साथ ही धर्मोपदेश का श्रवण करता है, तो भी अल्प बुद्धिवाले की तरह प्रतिबोध को प्राप्त नहीं होता। समग्र कलाओं में यह अत्यन्त कुशल है, पर धर्मकार्य में उसकी कुछ भी कुशलता नहीं है। कुकर्म का विपाक कितना दुःखदायी है! विश्व को अन्धा बनानेवाले इस कुकर्म को धिक्कार है, जिसके कारण सभी का उपकार करने में तत्पर ऐसे सद्धर्म के प्रति भी जीव की अरुचि ही पैदा होती है। यह मंत्री मेरे साथ बाल्यावस्था से ही मित्रता को प्राप्त है। इसी मैत्री के कारण मैंने इसे महामंत्री का पद प्रदान किया है, पर जब तक मैं इसे धर्म से न जोड़ पाऊँ, तब तक मेरे मित्र होने का क्या फायदा? कहा भी है :–

उपकारो ह्यनल्पोऽपि प्रयाति व्ययमैहिकः।
स्वल्पोऽप्यनल्पतामेति स पुनः पारलौकिकः।।

भावार्थः–इस लोक संबंधी किया गया बड़ा उपकार भी क्षय को प्राप्त हो जाता है, पर परलोक–संबंधी स्वल्प भी उपकार महान फलप्रदाता बन जाता है।।

सदैव मुनियों के अतिचार रहित आचार को देखकर कदाचित् इसे प्रतिबोध होगा। अतः

मैं इसके घर पर ही गुरु की स्थापना करवाऊँ–यह योग्य होगा।''

ऐसा विचार करके राजा ने मंत्री से कहा–''अपार राजकार्यों के समूह के व्यापार में तुम व्यग्र रहते हो। अतः गुरु के पास जाने का ज्यादा समय तुम्हें नहीं मिल पाता होगा। अतः हे मंत्रीश! तुम अपने घर पर ही मुनियों को रखो और उनके पास विधिप्रमाण धर्म का श्रवण करो, क्योंकि अपार संसार–सागर में धर्म नौका के समान है। सभी आपत्तियों का नाश करने में धर्म केतु के समान है। सभी सुख–सम्पदाओं का कारण धर्म ही है। धन, स्वजन और शरीरादि भी अगर धर्म के उपयोग में न आते हों, तो सभी प्राणियों को दुरन्त दुर्गति में गिराने के हेतुरूप बनते हैं।''

इस प्रकार राजा की आज्ञा होने से उसकी आज्ञा के वश में होने के कारण मंत्रीश्वर ने गुरु को अपने घर में स्थापित किया और राजा की दाक्षिण्यता से हमेशा उनके पास धर्मश्रवण करने लगा। पुरुषों में दाक्षिण्यता का गुण होना भी कम बात नहीं है। गुरु के सरस उपदेशों को सुनकर मंत्री विस्मित होता था। शक्कर को अगर जबरन मुख में डाला जाय, तो क्या वह मुख मीठा नहीं करती? गुरु की दूषण रहित सर्व क्रियाओं को देखकर मंत्री उनकी अनुमोदना करता था–''ये मुनि जितेन्द्रिय हैं, शांत स्वभावी हैं, सम्यग् आचार में प्रवृत्ति करते हैं। अहो! निरंतर संगरहित हैं। संवेग रूपी अमृत के सागर हैं। स्वाध्याय–ध्यान में तत्पर रहते हैं। शास्त्रोक्त विधि को करते हैं। उनका कथित धर्म पूर्वापर विरोध व दूषण से रहित है।''

इस प्रकार धर्म के प्रति अनुराग पैदा होने से मंत्री ने बोधिबीज का उपार्जन किया। पर भाग्यहीन होने से उसने धर्म अंगीकार नहीं किया। बौना और लूला पुरुष क्या आम्र का स्वादिष्ट फल तोड़कर चख सकता है? जो मनुष्य जैनधर्म को नहीं जानते, वे पुण्यरहित हैं और जानते हुए भी जो उसका आचरण नहीं करते, वे अत्यन्त पुण्यहीन हैं। अन्य–अन्य उपायों के द्वारा भी मंत्री को धर्म न अंगीकार करते हुए देखकर बुद्धिमान पृथ्वीपति ने विचार किया–''मेरे जैसे मित्र के होते हुए भी यह प्रतिबोध को प्राप्त नहीं होता। अतः ज्ञात होता है कि इसका चारित्रावरण कर्म अत्यधिक बलवान है। अब इसे प्रतिबुद्ध करने का वृथा उपाय क्यों करुं? बंजर भूमि में बीज बोने का क्या फल? अहो! प्राणियों को संसार में धर्म रूपी अंग की सामग्री मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। अतः अब मैं ही गुरु के पास विशेष रूप से धर्म अंगीकार करुं। जैसे–जैसे मूढ़ पुरुष धर्म में प्रमादी दिखायी देते हैं, वैसे–वैसे भव्य प्राणियों का रंग धर्म में दृढ़ होता है।''

इस प्रकार विचार करके संवेग रस में अत्यन्त दृढ़ हुए राजा ने अन्य अमात्यों, सामन्तों आदि को स्वर्ण, रत्न, वस्त्रादि का दान देकर समग्र पृथ्वी पर रहे हुए संघ–साधर्मीजनों का

सन्मान करके जिनशासन की प्रभावना करनेवाले विशाल महोत्सवपूर्वक गुरु के पास जाकर बारहव्रत रूपी गृहस्थ धर्म को अंगीकार किया। मानो तीनों लोक के राज्य को प्राप्त किया हो–इस प्रकार सम्यग् धर्म को पाकर हर्ष से पुष्ट बनते हुए राजा ने चैत्यों में अष्टाह्निका महोत्सव करवाया। फिर मासकल्प पूर्ण होने के बाद गुरुदेव वहां से अन्यत्र विहार कर गये। मुनियों की व पक्षी की एक स्थान पर स्थिरता नहीं होती। राजा ने अपने सम्पूर्ण देश में समग्र कल्याण रूपी लता को नव पल्लवित करने में नवीन मेघ की श्रेणि के समान अमारि का प्रवर्त्तन किया। पृथ्वी रूपी स्त्री के वक्षस्थल को अलंकृत करने में मोतियों के हार की तरह जिनचैत्य बनवाये। लोगों के नेत्रों को आनन्द प्रदान करनेवाली जिनेश्वरों की मणिमय व सुवर्णमय अनेक अनुपम प्रतिमाएँ भरवाकर उनकी स्थापना करवायी। शत्रुंजयादि तीर्थों में अत्यन्त महोत्सवपूर्वक और [1]दो प्रकार से शत्रु को जीतनेवाली पवित्र यात्राएँ कीं। वह राजा निरन्तर प्रत्युपकार की इच्छा के बिना विधियुक्त दान करता था। सत्पुरुषों के लिए कन्या की तरह लक्ष्मी का दान करना ही उचित है। वह राजा चतुर्दशी आदि पर्व–तिथियों में कर्म रूपी व्याधियों का हनन करने के लिए औषध की तरह विधिपूर्वक पौषध करता था। इस प्रकार अगणित पुण्यकर्मों का विस्तार करके अर्हत–मत की प्रभावना करते हुए उस राजा ने चिरकाल तक राज्य का भोग किया। फिर अवसर देखकर अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर समता रूपी अमृत के द्वारा व्याप्त होकर उस राजा ने चार प्रकार के अशनादि का त्याग किया। इन्द्रियों को वश में करके, [2]चार शरण का आश्रय लेकर, निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते शुभानुबंधी ध्यान रूपी जल के द्वारा अंतरात्मा को शुद्ध बनाया। अंत में नमस्कार महामंत्र का जाप करने में तत्पर राजा तारचन्द्र मृत्यु प्राप्त करके शय्यादान से उत्पन्न पुण्य समूह के द्वारा दीप्त, दैदीप्यमान मणियों की कांति के समूह से चारों तरफ से द्योतित, दिव्य समृद्धि से व्याप्त और सर्व प्रकार की सुखलक्ष्मी के विलास करने के स्थान रूप विमान को प्राप्त करके बारहवें देवलोक में इन्द्र के समान वैभव से युक्त देव के रूप में उत्पन्न हुआ। वहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्तम कुल को प्राप्त करके चारित्र लेकर तपस्या के द्वारा सर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करेगा।

उधर कुरुचन्द्र मंत्री धर्म से विमुख था। निरन्तर विषयों की आकांक्षा के द्वारा मलिन बन रहा था। अतः मरकर किसी वन में वानर बना। जो जिनधर्म से रहित होता है, वह दुर्गति को ही प्राप्त करता है। एक बार उसने पर्वत के पास किसी सार्थ के साथ जाते हुए मुनीश्वरों को देखा। उन्हें देखकर वह विचार करने लगा–"ऐसे साधुओं को मैंने पहले भी कहीं देखा है।"

---

1. बाह्य और आभ्यन्तर। 2. अरिहन्त, सिद्ध, साधु और जिनधर्म।

इस प्रकार तर्क–वितर्क करते हुए उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। अपना पूर्वभव, मित्र रूपी राजा, गुरुदेव और उनके द्वारा दिया गया उपदेशादि सभी स्मृतिपटल पर तैर गया। वह खेदयुक्त होकर विचार करने लगा–"सर्वजन–हितकारी गुरु महाराज और मित्र के रूप में राजा ने परिणाम में हितकारी उपदेश मुझे अनेक प्रकार से प्रदान किया, पर आत्मा का शत्रु बने हुए मैंने स्वयं ही उसका जरा भी आदर नहीं किया। मरने की तैयारी में प्राणी वैद्य के द्वारा कथित उपचार में आदरयुक्त नहीं ही बनता। वैसे ही मनोहर मैत्री के द्वारा शोभित राजा ने मुझ पर धर्मोपकार करने के लिए ही गुरु महाराज को मेरे घर में स्थापित किया था। पर फिर भी वृष्टि से सिंचित बंजर क्षेत्र की तरह महामोह से ग्रस्त मेरे हृदय में धर्म के अंकुर तक पैदा नहीं हुए। अब विशाल कल्पवृक्ष को जड़ से उखाड़ फेंकनेवाले निर्धन मनुष्य की तरह सर्व धर्म के अंगों से रहित मैं कैसे धर्मकार्य करुं? हा! हा! क्षणिक सुखों के पीछे धर्म से विमुख हुए मूढ़ प्राणी किसलिए इस अपार भवसागर में दुःखी होते होंगे? पर मुझे तो अब पूज्यों के वचनों को स्मृतिपथ पर लाकर यथायोग्य धर्मकार्यों में प्रवृत्ति करना ही योग्य है। पर जीवहिंसा ही मेरी आजीविका होने से मुझे धर्म की प्राप्ति कैसे होगी? अतः विधिपूर्वक इस शरीर का त्याग करना ही उचित है।"

इस प्रकार विचार करके कृत्य के ज्ञाता व समकित से वासित अन्तःकरणवाले उस वानर ने अत्यन्त वैराग्य युक्त होकर अनशन ग्रहण किया। अपने पूर्वभव के मित्र राजा की अनुमोदना करने में सावधान, अपने दुष्कर्मों की निन्दा करते हुए, नमस्कार महामंत्र का स्मरण करते हुए और अनित्यादि भावना का चिन्तन करते हुए उस वानर ने सात दिनों का अनशन पालकर प्रथम देवलोक में अपने अद्‌भुत रूप–सौंदर्य के द्वारा अन्य देवों की अवगणना करता हुआ वह श्रेष्ठ देव बना। विधिपूर्वक किया हुआ थोड़ासा भी धर्मकार्य अगणित दिव्य सम्पदा प्राप्त करवाता है। कुरुचन्द्र का जीव वहां से च्यवकर उत्तरोत्तर मनुष्यादि गतियों को प्राप्त करते हुए अनुक्रम से मोक्ष रूपी लक्ष्मी का वरण करेगा।

कुरुचन्द्र ने राजा की दाक्षिण्यता के कारण मुनियों को वसतिदान प्रदान किया था, जिससे जातिस्मरण ज्ञान और देवगति आदि फल को प्राप्त किया, क्योंकि अन्यों के आग्रह से भी अगर शुद्ध बीज को उपजाऊ खेत में बोया जाय, तो वह योग्य समय आने पर फल–सम्पदा को प्राप्त करानेवाला बनता है।

तारचन्द्र राजा ने भी अपनी भक्ति के वश होकर वसतिदान किया था। उस पुण्य के द्वारा उसने परभव में अच्युत देवलोक की अद्‌भुत लक्ष्मी को प्राप्त किया और तीसरे भव में मोक्ष–लक्ष्मी को प्राप्त किया।

अतः हे सुबुद्धियुक्त भव्यजनों! इस प्रकार राजा और मंत्री के दृष्टान्त के द्वारा कर्णों को

सुख उपजानेवाले वसतिदान के उत्कृष्ट पुण्य का फल श्रवण करके शुद्ध भाव से निरन्तर वसतिदान में आदरयुक्त बनना चाहिए, जिससे तत्काल सिद्धवधू आपका वरण करे।

।। इति चतुर्थ प्रकाश।।

पंचम प्रकाश

शालिभद्रादि की विभूतियाँ जिसके लिए लीलामात्र हैं, ऐसा निःसीम माहात्म्यवाला पात्रदान रूपी कल्पवृक्ष जयवन्त है। अब उपष्टम्भ नामक तीसरे दान के शयनदान नामक द्वितीय भेद को बताया जाता है। यह अत्यन्त सुकृत का स्थान है। वर्षाकाल और शेषकाल की अपेक्षा से शयनदान दो प्रकार का है। निर्दोष व उत्तम काष्ठ का बना हुआ शयन प्रथम भेद के अन्तर्गत आता है और ऊनादि बनाये हुए कम्बलादि वस्त्र द्वितीय भेद शेषकाल के शयन कहलाते हैं। उत्तम आचारयुक्त मुनियों को ऐसा ही शयन शोभा देता है। सामान्य लोगों को भी अगर शयनदान दिया जाता है, तो उससे अगण्य पुण्य प्राप्त होता है, तो फिर जिन्होंने घर का ही त्याग कर दिया है और जो निरन्तर स्वाध्याय–ध्यानादि में लीन रहते हैं, उनको शयनदान करने से अगण्य पुण्य हो, तो इसमें क्या आश्चर्य? जो मनुष्य मुनियों के विश्राम के लिए शयनदान करता है, संसार में भ्रमण करके खेद पाये हुए उसको मोक्ष में सरलता से विश्राम प्राप्त होता है, क्योंकि मोक्ष की सिद्धि करनेवाले उन मुनियों के संयम–योगों में उसने शयनदान के द्वारा सहायता प्रदान की है।

यहां किसी को शंका उत्पन्न होती है कि शयन प्रमाद का कारण होने से उसका दान मुनियों को करना योग्य नहीं है। पर ऐसी शंका निराधार है, क्योंकि मुनि शास्त्रोक्त विधि के अनुसार शयन करते हैं। वे भाव से निरन्तर जागृत ही रहते हैं। अतः बुद्धिमान पुरुष को फल की इच्छा रखे बिना विशुद्ध भावों के साथ मुनियों को शयन का दान करना चाहिए। कुशल पुरुषों में श्रेष्ठ जो पुरुष मुनि को शयनदान देता है, वह **पद्माकर** की तरह आवृत्ति रहित विशाल च अद्‌भुत संपदा को प्राप्त करता है। पद्माकर की कथा इस प्रकार है :–

जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में भूमि रूपी स्त्री के तिलक के समान, देवनगर की स्पर्धा करनेवाला और लक्ष्मी के समूह से वृद्धि को प्राप्त **पुष्पपुर** नामक नगर था। सर्व सुखों के स्थान रूपी उस नगर में एक साथ रहने की इच्छा से लक्ष्मी और सरस्वती ने मानो अपने

क्लेश का त्याग कर दिया था। उस नगर में शत्रुओं को त्रास उत्पन्न करनेवाला, बल का एकमात्र स्थान और समग्र राजाओं का [1]शेखर रूप **शेखर** नामक राजा राज्य करता था। उस राजा ने पृथ्वी को निरन्तर सर्वथा प्रकार से [2]अनीति भाव को प्राप्त करवाया था, फिर भी नीति के द्वारा पृथ्वी को सुशोभित भी किया था। यह आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली बात थी। उस राजा की कृपा का स्थान रूप, निःसीम गुणों का भण्डार और पुण्यशाली लोगों के मध्य तिलक के समान **तिलक** नामक श्रेष्ठी था। उसकी कीर्ति त्रिभुवन में वृद्धि को प्राप्त हो रही थी और उसका घर धन से वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। उसका यश और धन परस्पर ईर्ष्या भाव को धारण करके बढ़ने में एक–दूसरे की स्पर्द्धा कर रहे थे। उस राजा के शील रूपी सिंह के रहने की गुफा के समान **रतिसुन्दरी** नामक मनोहर प्रिया थी। वह चलती–फिरती मूर्त्तिमान लक्ष्मी ही प्रतीत होती थी। वह सर्वांग में रति के समान अद्‌भुत सुन्दरता को धारण करके अपने नाम की यथार्थता का ही विस्तार करती थी। उन दोनों का दयालू हृदय मजीठ से रंगे हुए वस्त्र की तरह कभी नाश न होनेवाले जिनधर्म के रंग से रंजित था। धर्मकार्य की तत्परता के कारण उस दम्पति की समग्र कलाएँ नेत्रों के द्वारा मुख की शोभा की तरह अत्यन्त शोभित होती थी। स्थिर प्रेम को धारण करनेवाले उस दम्पति ने अविच्छिन्न सुख भोगने के कारण अनेक वर्षों को मनोहर दिवसों की तरह व्यतीत किया था।

एक बार रात्रि के पिछले प्रहर में जागृत हुए श्रेष्ठी ने पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हुए अपने स्वरूप का स्पष्ट रूप से विचार किया कि–"मेरी स्त्री सुशील से युक्त, कोमल वाणी बोलनेवाली, मुझ पर अपार भक्ति धारण करनेवाली, मेरे चित्त का अनुसरण करनेवाली, मेरे मन के विश्राम का स्थान और मेरे घर का भूषण है। मेरे घर में धान के ढ़ेर की तरह स्वर्ण, रजत और रत्नों के इतने ढ़ेर हैं, जिनकी गिनती भी नहीं की जा सकती। वस्त्र, कपूर, कस्तूंरी आदि वस्तुएँ समुद्र के जल की तरह अपार हैं। मेरे घर में चपल गतियुक्त, विशाल, मनोहर और पवन वेग से युक्त अश्व मानो अलक्ष्मी को भय प्राप्त करवा रहे हों–इस प्रकार से हेषारव करते रहते हैं। अन्य भी गाय, बैल, ऊँटादि चौपाये वन की तरह मेरे घर में अनगिनत हैं। मेरा अपार परिवार हर समय मेरी आज्ञा के पालन में तत्पर रहता है। मेरा समग्र बंधुवर्ग भी मुझ पर गाढ़ प्रीति रखता है। मुझ पर राजा की कृपा भी कल्पवृक्ष की तरह है। पुरजन भी अत्यन्त प्रीतिपूर्वक मेरा बहुमान करने में तत्पर रहते हैं। इस प्रकार मेरी गृहस्थाश्रम रूपी लता सर्व भोगों से पल्लवित होने के बावजूद भी संतति रूपी फल से रहित

---

1. मुकुट। 2. अनीति को प्राप्त करवाकर नीति से सुशोभित करना–यह विरोधाभास अलंकार है। इसके परिहार के लिए अनीति अर्थात् अन्+इति अर्थात् पृथ्वी को सात प्रकार की इति / भय / उपद्रव से रहित किया था–यह अर्थ जानना चाहिए।

होने के कारण मेरे मन में पीड़ा उत्पन्न करती है। मेरी यह विशाल सम्पत्ति भी पुत्र के बिना अरण्य के उद्यान की लक्ष्मी की तरह निष्फल ही है। पुत्ररहित कुल समृद्धि के होने पर भी सैकड़ों शाखाओं से युक्त, पर फलरहित वृक्ष की तरह शोभित नहीं होता। चन्द्ररहित रात्रि, सूर्यरहित दिवस और **सुकृत रहित मनुष्य जन्म जैसे शोभित नहीं होता**, वैसे ही पुत्र के बिना कुल शोभित नहीं होता। मैं निश्चिन्त होकर धर्मध्यान करूंगा–मेरा चिरकाल का यह मनोरथ पुत्र के बिना अवकेशी वृक्ष की तरह निष्फल होगा। मेरे वंश रूपी आकाश में दुष्कर्म रूपी रात्रि का नाश करनेवाले देदीप्यमान सूर्य के समान पुत्र का उदय किस प्रकार होगा?''

इस प्रकार चिन्तातुर होने से श्रेष्ठी का मुख निस्तेज बन गया। फिर शय्या से उठाकर उसने स्नान–पूजादि प्रातःकाल का कृत्य किया। फिर आसन पर बैठे हुए श्रेष्ठी का चित्त अत्यन्त खेदयुक्त देखकर चतुर **रतिसुन्दरी** ने दुःखी होकर उससे पूछा–''हे नाथ! क्या आपका शरीर रोग के संगम से पीड़ा को प्राप्त हो रहा है? या फिर धन का नाश हो जाने से यह दीनता आपके मन में व्याप्त हो गयी है? या फिर क्या राजा ने आपका अपमान किया है, जिससे आपके मन में यह ग्लानि उत्पन्न हुई है? या फिर अज्ञानतावश क्या मैंने आपकी किसी आज्ञा का लोप किया है? अथवा तो अन्य कोई चिन्ता आपके मन में अत्यन्त संताप को उत्पन्न कर रही है? पहले कभी नहीं देखी–ऐसी मलिनता आपके चेहरे पर स्पष्ट रूप से नजर आ रही है।

हे स्वामी! शीघ्र ही आप अपनी चिन्ता का कारण मुझे बतायें और मेरे संदेह का निवारण करें। मेरे चित्त का समाधान करें।''

यह सुनकर श्रेष्ठी ने कहा–''हे देवी! पूर्व पुण्य के उदय से तुम्हारे द्वारा कथित कोई भी पीड़ा मेरे मन को खिन्न नहीं बना रही है, बल्कि अंदर रही हुई शल्य की तरह मेरी [1]शून्यता को करनेवाली पुत्र की [2]शून्यता मेरे चित्त को संताप दे रही है। कहा भी है कि पुत्र पिता की दरिद्रता को दूर नहीं कर सकता, व्याधि का नाश भी नहीं कर सकता, इस भव में एकान्त हितकारक भी नहीं बनता, एकान्त सद्गुणों से युक्त भी नहीं होता। प्राणी की परभव में गति अपने–अपने कर्म के अनुसार भिन्न–भिन्न ही होती है, अतः पुत्र सद्गति को भी प्राप्त नहीं करवाता। फिर भी मनुष्यों को पुत्र न होने की चिन्ता दुःख उत्पन्न करती है। अहो! मोह का कैसा विलास!''

यह सुनकर बुद्धिमान प्रिया ने अपने पति से कहा–''हे स्वामी! मेरे मन में भी इस विषयक चिन्ता कम नहीं है और लम्बे समय से है। पर पूर्व में स्वयंकृत कर्म ही प्राणियों को

1.खेद। 2. रहितता।

फल प्रदान करते हैं। उनके उदय को अन्यथा करने में कोई प्राणी समर्थ नहीं है। फिर भी प्राणियों के किसी भी कार्य में सिद्धि का प्राप्त होना उद्यम के आधीन है। सर्व कार्यों की सिद्धि में एकमात्र धर्म ही उत्तम साधन है। अतः हमें धर्म में ही उद्यम करना चाहिए, क्योंकि अगर पुत्र की प्राप्ति के लिए अन्य कोई मिथ्यात्व का आश्रय लेंगे, तो समकित की हानि होगी। कौन बुद्धिमान पुरुष एक कील के लिए अपने पूरे महल को गिराना चाहेगा? पुत्र से तो इस भव में सुख मिले या न मिले, पर समकित से असंख्य सुख की संपत्ति अवश्य प्राप्त होती है। अतः हे स्वामी! जिनेश्वरों की आज्ञा पालने में तत्पर बनकर एक चित्त से आलस रहित बनकर धर्मकार्य में नये–नये यत्न करने चाहिए। वैसा करने पर अगर पुत्र हो जाय, तो ठीक है, अन्यथा परलोक का प्रबल भाता तो तैयार हो ही जायगा।''

इस प्रकार कानों में अमृत के समान प्रिया के वचनों को सुनकर श्रेष्ठी ने विचार किया–''अहो! धर्म के विषय में इसकी दृढ़ता किसके द्वारा प्रशंसनीय नहीं होगी? अहो! इसकी बुद्धि परिणाम में कैसी हितकारक है!''

इस प्रकार विचार करके उत्तम बुद्धि से युक्त श्रेष्ठी मन में हर्षित होते हुए आश्चर्यचकित भी हुआ। उसके वचनों को मंत्र के समान इष्टसिद्धि–प्रदाता मानकर धर्मकार्य में जुट गया। क्या दुर्गा पक्षी का अनुकूल शब्द मान्य नहीं किया जाता? फिर श्रेष्ठी ने घर के समस्त कार्य भृत्यों को सौंप दिये और स्वयं शुभ भाव से विशेष प्रकार से धर्म की आराधना करने लगा। उसने विशाल मण्डपों की श्रेणि के द्वारा सुशोभित, पाप का खण्डन करनेवाला और समकितधारियों की दृष्टि को शीतलता प्रदान करनेवाला एक मनोहर जिनचैत्य करवाया। उसमें स्वर्ण व मणियों से निर्मित विविध जिनेश्वरों की आनन्द प्रदायक अनुपम प्रतिमाएँ भरवाकर स्थापित करवायीं। फिर प्रतिदिन केशर, कस्तूंरी, चन्दन, अगर, कपूर व पुष्पादि के द्वारा उन प्रतिमाओं की तीनों काल में शुद्ध भावपूर्वक पूजा करने लगा।

धर्मोपदेश रूपी अमृत का पान करने में उत्सुक वह प्रतिदिन गुरु महाराज के चरण कमल में जाने लगा। वह अनेक बार बंदीजनों को धन देकर उन्हें बेड़ियों के बंधन से अपने दुष्कर्मों की तरह आजाद करवाता था। मनोहर आशय से युक्त उसने कल्याण की इच्छा से हर्षपूर्वक जिनसिद्धान्त की अनेक पुस्तके लिखवायीं। राजा की आज्ञा लेकर पूर्व के दुष्कर्मों रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करानेवाली भेरी की तरह चारों तरफ अखण्ड रीति से अमारि की उद्घोषण करवायी। मानो वह अपने धन को ब्याज पर रख रहा हो, इस प्रकार से अनंतगुणा लाभ प्राप्त करने के लिए विधि के अनुसार सुपात्रादि में दान देने लगा। वह श्रद्धापूर्वक यत्न के साथ चिन्तामणि रत्न की तरह विधिपूर्वक पौषधादि आवश्यकों की आराधना करने लगा। इस प्रकार अगण्य पुण्यकार्य वह करने लगा। उसी तरह तत्त्वज्ञाता

और सर्वज्ञ की आज्ञा पालने में चतुर उसकी प्रिया भी वैसे ही पुण्यकार्य करने लगी। इस प्रकार कितने ही समय के बाद अंत को प्राप्त न होनेवाले उन दोनों के विघ्नों के समूह का पुण्य के प्रभाव से सूर्य की प्रभा से अंधकार की तरह नाश हुआ।

एक बार गंगा नदी के किनारे की तरह कोमल सुखशय्या पर सोयी हुई **रतिसुन्दरी** ने पिछली रात्रि में सरोवर की लक्ष्मी का भूषण, अपार श्रेष्ठ सुगन्ध में लुब्ध हुए भ्रमरों से व्याप्त और चार हस्तिनियों से शोभित एक मनोहर कमल स्वप्न में देखा। स्वप्न देखकर हर्षित होते हुए उसने अपने पति को स्वप्न बताया। स्वप्न सुनकर हर्षित होते हुए श्रेष्ठी ने अपनी बुद्धि से विचार करके उसे स्वप्न का फल कहा–"हे देवी! इस स्वप्न के अनुसार हमारे कुल को उद्योतित करनेवाला चार कन्याओं का स्वामी व कुल को दीपानेवाला पुत्र उत्पन्न होगा।"

यह सुनकर "आपका कथन यथार्थ हो"–इस प्रकार कहकर पति के वाक्य का अनुवाद करती हुई **रतिसुन्दरी** ने–जैसे पृथ्वी निधान को धारण करती है, उसी प्रकार गर्भ को धारण किया। गर्भ के प्रभाव से उसे जिनपूजा व दानादि देने का दोहद उत्पन्न हुआ। उसके पति ने सच्ची प्रीति निभाते हुए उसका दोहद को पूर्ण करवाया। जैसे रोहणाचल की पृथ्वी जातीय रत्न को उत्पन्न करती है, वैसे ही अनुक्रम से समय व्यतीत होने पर शुभ समय पर उसने अद्‌भुत रूप सम्पदा से युक्त पुत्र का प्रसव किया। उस समय उस दम्पति को इतना अधिक आनन्द प्राप्त हुआ कि उस आनन्द के पारावार के सामने समुद्र का पानी गाय के पैरों के समान प्रतीत होने लगा। फिर राजा की आज्ञा लेकर तिलक श्रेष्ठी ने नगरजनों को आश्चर्यचकित करनेवाले पुत्रजन्म के विशाल महोत्सव का आयोजन किया। पुत्र की माता ने स्वप्न में पद्म देखा था, अतः पिता ने उसका नाम **पद्माकर** रखा। प्रीति की पात्र धात्रियों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक पालन कराया जाता हुआ वह पुत्र मानो माँ–बाप के लिए मूर्त्तिमान हर्ष हो–इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होने लगा। गुरु की साक्षी के द्वारा कुशल पुरुषों में शिरोमणि उस **पद्माकर** ने शुक्लपक्ष की साक्षी से दूज के चन्द्रमा की तरह समग्र कलाएँ सीखीं। उसने कामदेव की क्रीड़ा करने के वन के समान युवावस्था को ही प्राप्त नहीं किया, बल्कि गांभीर्य, धैर्य आदि अद्‌भुत गुणों की संपत्ति को भी प्राप्त किया। पिता ने विराट आयोजनपूर्वक बड़े–बड़े श्रेष्ठीयों के कुलों में उत्पन्न और पवित्र लावण्यता से युक्त चार श्रेष्ठी–कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण करवाया। उसके बाद **तिलक श्रेष्ठी** गृहभार को पुत्र पर आरोपित करके स्वयं धर्मकार्य में संलग्न हो गया। बुद्धि रूपी धन से युक्त पुरुष यथायोग्य कार्य करने में कैसे सावधान नहीं होंगे। सम्यग् प्रकार से धर्म का आराधन करके शुभ ध्यान के द्वारा निर्मल बुद्धि से युक्त श्रेष्ठी ने समाधिपूर्वक मरण प्राप्त किया और सौधर्म देवलोक में देव के

रूप में उत्पन्न हुए। **पद्माकर** ने पिता की सर्व मरण क्रियाएँ कीं। उसके बाद बंधुओं ने मिलकर **पद्माकर** को अपने पिता के स्थान पर स्थापित किया। विशाल वैभवयुक्त **पद्माकर** ने केवल घर के भार को ही नहीं उठाया, बल्कि सर्व प्रकार से जिनभाषित धर्मकार्य की धुरा को भी उठाया।

एक बार प्रातःकाल के समय **पद्माकर** ने अपने घर के पास कभी नहीं देखा–ऐसा अद्‌भुत, मनोहर एक श्वेत महल देखा। उस महल की दीवारें देदीप्यमान स्फटिक मणि से निर्मित थीं। वह महल स्वर्ण के स्तम्भों से सुशोभित था। उसका द्वार रत्नों के तीन तोरणों से सुशोभित था। विमानों का भी तिरस्कार करनेवाली चित्रशाला से वह अद्‌भुत प्रतीत होता था। किसी जगह उत्तम धान्य के भरे हुए कोठार थे, तो कहीं स्वर्ण, रजत व रत्नों का समूह व्याप्त था। कहीं सुन्दर दुकूलादि के वस्त्र सुशोभित थे, तो कहीं चांदी, ताम्बे आदि के बर्तन से शोभा द्विगुणित हो रही थी। उस मन्दिर का मध्य भाग चार वासगृहों के द्वारा अलंकृत था। वे वासगृह दिव्य स्वर्ण के पलंगों और भद्रासनों से युक्त तथा मणि–स्वर्ण के असंख्य सारभूत अलंकारों–आभूषणों से भरा हुआ था। साथ ही मोतियों के झुमकों से शोभित चंदोरबों से देदीप्यमान हो रहा था। सुगन्धित उत्तम धूप के द्वारा चारों तरफ महक व्याप्त हो रही थी। उनके अन्दर झिलमिलाते मणियों के दीप झलक रहे थे। इस तरह लक्ष्मी के निवास करने योग्य वे आवास शोभित होते थे। ऐसे महल को देखकर **पद्माकर** का मन आश्चर्य से अत्यन्त विकस्वर हुआ।

उस महल का वर्णन सुनकर राजा भी अनेक पुरजनों के साथ वहां आया और उस अद्‌भुत आश्चर्यकारी महल को देखकर अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त हुआ। फिर राजा, पुरजन व **पद्माकर** आदि परस्पर विचार–विमर्श करने लगे–"क्या यह कोई इन्द्रजाल है? या हमारी मति का भ्रम है? या किसी ने हमारी दृष्टि को बांध रखा है? या देव का कोई विलास है? क्या यह स्वर्ग से विमान उतरकर आया है?"

उस समय आकाश में दिव्य वाणी प्रकट हुई–"हे पुत्र **पद्माकर**! स्वच्छ वत्सलता के रस से शोभित, तेरे अगण्य पुण्यों से प्रेरित चित्तयुक्त और स्वर्ग में देवरूप में उत्पन्न तेरे पिता ने तेरे लिए इस महल का निर्माण किया है। उसमें रहकर तूं निरन्तर इच्छानुसार देव के समान भोगों को भोग।"

यह सुनकर पण्डितों में अग्रसर राजा चित्त में चमत्कृत हुआ। उसने आनदंपूर्वक **पद्माकर** को उस महल में रहने की आज्ञा प्रदान की। फिर "अहो! धर्म की महिमा महान है!"–इस प्रकार आश्चर्य से **पद्माकर** की प्रशंसा करते हुए राजा पुरजनों के साथ अपने महल में लौट आया। फिर **पद्माकर** ने चारों वासगृहों में क्रमानुसार अपनी चारों प्रियाओं को रखा और विस्तारयुक्त भोगों को उन चारों के साथ भोगने लगा। वह कदाचित् अन्य किसी

ग्राम में जाता, तो वहां पर भी दिव्य शक्ति से उन दिव्य भोग–सामग्रियों से युक्त तथा वैसी ही शय्यादि से युक्त वैसा ही महल तैयार मिलता। कहा है कि पुण्य के प्रभाव से प्राणियों को नया–नया घर, नयी–नयी प्रीति, नया–नया सुख, नयी–नयी धृति, नयी–नयी कांति और नयी–नयी प्रभुता युक्त लक्ष्मी प्राप्त होती है। फिर अनुक्रम से उस **पद्माकर** को चारों पत्नियों से एक–एक पुत्र प्राप्त हुआ। वे चतुर चित्तयुक्त और चार वर्गों के संबंध से मनोहर आशययुक्त थे। सभी लोगों की जिह्वा के अग्र भाग रूपी मण्डप में उस **पद्माकर** की कीर्ति रूपी नटी इस प्रकार नृत्य का आडम्बर करती थी–"वास्तव में इस **पद्माकर** ने पूर्वभव में धर्म रूपी कल्पवृक्ष की उत्तम आराधना की है, जिससे उसे दुर्लभ संपत्तियाँ भी आसानी से प्राप्त हुई हैं। यह पद्माकर तो अनेक सुकृतों की खान है। मनुष्य होने पर भी इसे देव के समान इच्छित वस्तु की सिद्धि तत्काल होती है।"

एक बार निर्मल ज्ञान से शोभित श्रीमान **अमर** नामक सूरीश्वर अनेक मुनियों के साथ उस नगर के बाहर उद्यान में पधारे। यह जानकर पुरजन और परिवार सहित **शेखर राजा** व **पद्माकर** आदि भी परिवार सहित गुरु को वंदन करने के लिए गये। राजा आदि सभी लोगों ने गुरु को तीन प्रदक्षिणा देकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। गुरुदेव ने भी सभी के कल्याण का पोषण करनेवाली धर्माशीष के द्वारा सभी को संतुष्ट किया। फिर श्रेष्ठ गुरु ने राजादि को वैराग्य वृद्धि की वासना से वासित करनेवाली धर्मदेशना इस प्रकार दी–

"हे उत्तम बुद्धियुक्त भव्य जीवों! रत्नद्वीप की तरह दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त करके पुण्य रूपी रत्न को पाने के लिए उद्यम करो। अनेक रत्न तो दूर रहे, अगर एक रत्न भी लेकर विधिपूर्वक उसकी आराधना की जाय, वह विविध प्रकार की लक्ष्मी को प्रदान करता है। इस विषय पर मैं तुमलोगों को **रत्नसार** कुमार का दृष्टान्त सुनाता हूं। तुम सुनो–

इस भरतक्षेत्र में **रत्नपुर** नामक नगर था। उसमें रहे हुए रत्नमय चैत्यों से तथा नररत्नों से शोभित नगर का नाम पृथ्वी पर यथार्थ रूप में प्रसिद्ध था। उस नगर में **रत्नांगद** नामक राजा राज्य करता था। वह बाह्य और आभ्यन्तर शत्रु व मित्र का निग्रह व अनुग्रह करने में समर्थ था। उस राजा के **रत्नप्रभा** नामक रानी थी। वह मात्र रत्नों के आभरणों द्वारा ही अपने शरीर का शृंगार करती थी। साथ ही नये–नये गुणों के द्वारा अपने जीवन का भी शृंगार करती थी। तीन वर्गों के प्राप्त होने से अपने आपको धन्य मानता हुआ वह दम्पति युगल अपने वर्षों को दिनों की तरह व्यतीत कर रहा था। एक बार उस रानी ने दावानल के समान कांतियुक्त रत्नों के समूह को स्वप्न में देखा। रोहणाचल की पृथ्वी जैसे रत्न को धारण करती है, वैसे ही रानी ने स्वप्न देखकर अपनी कोख में गर्भ को धारण किया। जिस प्रकार पूर्व दिशा सूर्य को जन्म देती है, वैसे ही नव मास पूर्ण होने पर शुभ

समय पर अपनी कांति के द्वारा दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ पुत्ररत्न प्रसव किया।

प्रियंवदा नामक दासी ने हर्षपूर्वक राजा को बधाई दी–"हे देव! देवकुमार के प्रतिबिम्ब के रूप में पुत्ररत्न को महारानी रत्नप्रभा ने प्रसव किया है।"

यह सुनकर राजा भी हर्ष से प्रफुल्लित हुआ और उस दासी को सारभूत अलंकार, वस्त्रादि इच्छित वरदान देकर उसे लक्ष्मी द्वारा दासपने से मुक्त किया। फिर अगले दिन देवों को भी आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला पुत्र–जन्मोत्सव राजा ने किया। **सूतक निवृत होने के बाद** राजा ने स्वजनों का सन्मान करके स्वप्नानुसार उस पुत्र का नाम **रत्नसार** रखा। प्रेम रूपी जल के पात्र के समान धात्रियों द्वारा लालन–पालन किया जाता हुआ कुमार माता–पिता के मनोरथों के साथ वृद्धि को प्राप्त हुआ। **जब कुमार आठ वर्ष का हुआ,** तब माता–पिता ने विचार किया कि "गुणरत्नों की खान रूपी इस कुमार को अब पढ़ाना उचित है। अनेक आभूषणों का शृंगार कर लेने पर भी मनुष्य विद्या रूपी अलंकार के बिना शोभित नहीं होता। सुगन्धरहित पुष्प मनोहर वर्णयुक्त होने पर भी क्या शोभा को प्राप्त होता है? पुरुष कला के अभ्यास के बिना कुल की शोभा को नहीं बढ़ा सकता। गलाये बिना स्वर्ण क्या आभूषणों की शोभा को प्राप्त होता है? विद्या ही मनुष्य का अनुपम रूप है। विद्या ही गुप्त धन है। विद्या ही परम देवता है और विद्या ही सर्वत्र गौरवता को प्राप्त करवाती है। विद्या रहित पुरुष निश्चय ही पशु के समान है।"

इस प्रकार विचार करके राजा ने **मार्गशीर्ष मास की शुक्ल पंचमी के दिन पुष्य नक्षत्र** में **श्रीकंठ** नामक उपाध्याय के पास पुत्र को महोत्सवपूर्वक पढ़ने के लिए भेजा। उस उपाध्याय ने भी शीघ्रतापूर्वक कुमार को समस्त कलाएँ सिखायीं। शुद्ध क्षेत्र में बीज बोने से वह तुरन्त फलदायक बनता ही है। कुमार को समग्र कलाओं में प्रवीण जानकर कलाचार्य कुमार को राजसभा में राजा के पास ले गया। समग्र कला में निपुण पुत्र को देखकर राजा अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हुआ। आचार्य को दरिद्रता का नाश करनेवाला प्रचुर धन देकर उन्हें खुश किया। तभी वक्षःस्थल में पुष्पमाला के द्वारा शोभित उद्यानपालक ने हाथ जोड़कर राजा से विज्ञप्ति की–"हे स्वामी! चार दाँतों के द्वारा भयंकर मुखवाला, श्वेत कांतियुक्त और झरते हुए मद से मदोन्मत्त कोई गजेन्द्र कहीं से आकर हमारे **कुसुमाकर** उद्यान में उपद्रव कर रहा है। प्रचण्ड वायु के आघात से जो कभी टूटे नहीं, ऐसे आकाश तक ऊँचाई में फैले हुए वृक्षों को उस हाथी ने लीला–मात्र में कमल की नाल की तरह तोड़ दिया है। प्रफुल्लित हुए पल्लवों से युक्त मल्ली आदि लताओं को कमलिनी की तरह क्रीड़ामात्र में मूल से ही उखाड़कर फेंक दिया है। अतः हे स्वामी! उसे पकड़ने का कोई भी उपाय शीघ्र ही करें। पृथ्वी का रक्षण करनेवाले आपके लिए इस विषय में देर करना उचित नहीं है।"

यह सुनकर राजा स्वयं उद्यान में जाने की तैयारी करने के लिए उद्यत हुआ, तभी श्रेष्ठ पराक्रमयुक्त कुमार ने विनति करते हुए कहा–"हे देव! मृग पर केशरी सिंह की तरह एक पशु मात्र के लिए महापराक्रमी आपके द्वारा पराक्रम करने का आरम्भ क्यों? आप कृपा करके इसके लिए मुझे आज्ञा प्रदान करें, जिससे मैं शीघ्र ही उसे वश में करके आपके पास ले आऊँ।"

यह सुनकर राजा ने कहा–"हे वत्स! तुमने ठीक कहा। तुमने न केवल अपनी शूरवीरता ही प्रकट की है, बल्कि निष्कपट रूप से पिता के प्रति अपनी भक्ति भी प्रकट की है। अतः तुम इस कार्य को जरूर करो।"

राजा के कथन को सुनकर प्रौढ़ प्रताप से युक्त कुमार सैन्य परिवार के साथ घोड़े पर आरूढ़ होकर उस उद्यान में गया। वहां कमलनाल की तरह चारों तरफ वृक्षों को उखाड़–उखाड़कर फेंकते हुए हाथी को देखकर उसकी तर्जना करते हुए राजपुत्र ने कहा–"अरे पापी! इन अपार वृक्षों को उखाड़ने का क्या मतलब? अगर तुझमें थोड़ी भी शूरवीरता है, तो तूं मेरे साथ युद्ध कर।"

इस प्रकार कुमार ने उस पर आक्षेप किया। तब क्रोध से धमधमाता हुआ हाथी अपनी सूंड उठाकर दांतों को दिखाते हुए कुमार की और दौड़ा। कुमार ने भी तुरन्त घोड़े से उतरकर धैर्यपूर्वक अपने उत्तरीय वस्त्र की गेंद बनाकर हाथी पर फेंकी। हाथी ने कोपपूर्वक उस गेंद पर दन्तप्रहार किया। उस समय अतुल पराक्रमी कुमार सिंह की तरह उसके दांतों पर पैर रखकर उस पर चढ़ गया। हाथी सभी के देखते ही देखते आकाश में उड़ गया। बिजली के प्रकाश की तरह वह तुरन्त अदृश्य हो गया और विविध रत्नों की शोभा को धारण करनेवाले वैताढ्य पर्वत पर **श्रीपुर** नामक नगर की सीमा को शोभित करनेवाले और सुशोभित वृक्षों की श्रेणि से मनोहर उद्यान में गया। फिर हाथी के रूप का त्याग करके विद्याधर के अद्‌भुत रूप को प्रकट करके कोमल वाणी के द्वारा कहा–"हे स्वामी! क्षणभर इस अशोक वृक्ष के नीचे बैठें। तब तक मैं आपके आगमन का समाचार विद्याधर राजा को देकर आता हूं।"

ऐसा कहकर वह चला गया, तब कुमार ने विचार किया–"यह विद्याधर इस प्रकार कपटपूर्वक मुझे इस पर्वत पर क्यों लाया है? पर चिन्ता करने से क्या फायदा? प्राणियों के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म ही संपत्ति और विपत्ति प्रदान करते हैं। मैं तो मनुष्यों के नेत्रों और हृदय को आनंद प्रदान करनेवाले इस उद्यान की शोभा को देखूं।"

इस प्रकार विचार करके वह चारों तरफ घूमने लगा। उस समय दूर किसी केले के मण्डप में रही हुई सुन्दर आकृतिवाली एक कन्या को सखियों के साथ देखकर लताओं के

पीछे छिपकर कुमार ने विचार किया–"अहो! मनोहर आकृति से युक्त इस कन्या का मुख चन्द्रमा को भी दास बनाता है। इसका रूप स्वर्ण की शोभा को भी जीतता है। इसका वेणीदण्ड भ्रमरियों की शोभा का निराकरण करता है। इसके नेत्र श्याम कमल का निस्तार करते हैं। इसका क्या वर्णन करूं? इसका समग्र शरीर विकस्वर सौभाग्य को धारण करता है। प्रतीत होता है कि यह किसी के विरह से पीड़ित है और किसी भाग्यवान के विश्व के अद्‌भुत सौभाग्य को प्रकट करती है।"

इस प्रकार वह कुमार विचार कर ही रहा था कि पलंग पर रही हुई वह कन्या अपनी सखी **चंपकलता** से इस प्रकार कहने लगी–"हे **चंपकलता**! विरह से पीड़ित मैं अपने मनोहर घर को छोड़कर यहां वसंत की लक्ष्मी से शोभित इस उद्यान में आयी हूं, पर फिर भी अग्नि से तप्त के समान कामज्वर से पीड़ित मेरा शरीर थोड़ी भी शांति को प्राप्त नहीं कर पा रहा है। यह पुष्पमाला मुझे अग्नि के समान लगती है। भ्रमरों के गुंजारव मुझे आक्रन्दन (रुदन) की तरह प्रतीत होते हैं। कोयलों के समूह का शब्द विलाप के समान लगता है। आम्रवृक्ष की मंजरी ज्वाला के समान लग रही है। कंकेली के पल्लव मुझे मृत्यु के समान भयंकर प्रतीत हो रहे हैं। ज्यादा क्या कहूं? उसके बिना मेरे सर्व शृंगार अंगार के समान लगते हैं। उसे प्राप्त करने के लिए मैंने कामदेवादि सैकड़ों देवों की उत्तम पुष्पादि सामग्री के द्वारा अच्छी तरह पूजा की, तो भी मन्द भाग्ययुक्त होने से मुझे उसका समागम नहीं मिल पाया। अब शरण रहित मेरे लिए मरण के सिवाय अन्य कोई शरण नहीं है।"

इस प्रकार के उसके वचन सुनकर कुमार ने विचार किया–"अहो! उस पुरुष का अद्‌भुत भाग्य जानना चाहिए कि जिसके विषय में आसक्त चित्तवाली यह कृशोदरी इस प्रकार दुःखी हो रही है।"

फिर उस सखी ने कन्या से कहा–"हे सखी! तूं शोक न कर। स्वस्थ बन। तेरा यह मनोरथ शीघ्र ही सफल होगा, क्योंकि तेरे पिता ने **रत्नपुर** में **रत्नांगद** राजा के उस **रत्नसार** कुमार को यहां लाने के लिए **सुवेग** विद्याधर को भेजा है। वह विद्याधर अभी ही यहां आया है और उसने राजा से कहा है कि मैंने हाथी का रूप धारण करके उस कुमार का अपहरण करके उसे उद्यान में लाकर छोड़ा है। यह वृत्तान्त सुनकर मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ है। यही बताने के लिए मैं अभी यहां तुम्हारे पास आयी हूं। अतः अब तूं विषाद करना छोड़कर प्रसन्न बन।"

इस प्रकार उन दोनों स्त्रियों की उक्ति–प्रत्युक्ति सुनकर मन में प्रसन्न हुआ राजपुत्र पुनः अशोक वृक्ष के नीचे आकर विचार करने लगा–"मुझे लगता है कि इस कमलाक्षि के पाणिग्रहण के लिए ही उसके पिता ने मुझे यहां बुलवाया है। हे चित्त! तूं तो आनन्द से नृत्य

कर।''

कुछ ही समय के पश्चात उस विद्याधर राजा के द्वारा प्रेषित सेवकों ने आकर तत्काल राजपुत्र को राजा की तरह चारों तरफ से घेर लिया। फिर उसे दीर्घ अश्व पर बिठाकर उत्सवपूर्वक नगर–प्रवेश करवाकर अत्यन्त समृद्धि से युक्त अलग एक महल में उसे रखा। फिर विद्याधर राजा स्वयं वहां आया। कामदेव के समान कुमार को देखकर अत्यन्त हर्षित होते हुए कहा–''हे महाभाग्यवान कुमार! जिस कार्य के लिए मैंने तुम्हे शीघ्रता से यहां बुलवाया है, उसका कारण सुनो। मेरी **श्रीमती** नामक रानी की कुक्षि रूपी शीप में मोती के समान अद्‌भुत गुणयुक्त और चौंसठ कलाओं की ज्ञाता **रत्नमंजरी** नामक पुत्री है। एक बार प्रातःकाल सभा में बैठे हुए मुझे प्रणाम करने के लिए उस कन्या को माता ने भेजा। तब उस नम्रतायुक्त कन्या को मैंने अपनी गोद में बिठाया। उस समय उसके मनोहर रूप को देखकर मैंने अपने सभासदों से कहा–''इसके अनुरूप किसी राजपुत्र की खोज करनी चाहिए।''

उस समय किसी बंदीजन ने कहा–''हे देव! रत्नपुर के स्वामी रत्नांगद राजा का अतुल पराक्रमी, उत्तम भाग्ययुक्त, सौभाग्यशाली रत्नसार नामक कुमार है। वही लक्ष्मी को नारायण की तरह कुमारी के योग्य है।''

इस प्रकार उसके वचनों को सुनकर वह कन्या तुम पर प्रीतियुक्त बनी। अन्य विद्याधर कुमारों का नाम सुनना भी पसन्द नहीं करती। किसी भी स्थान पर शांति न प्राप्त करती हुई वह तुम्हारे गुणसमूह को याद करते हुए कष्टपूर्वक अपना जीवन बिता रही है। अतः हम पर कृपा करके तुम उसके साथ विवाह करके हमें आनन्द प्रदान करो, क्योंकि जो श्रेष्ठ बुद्धियुक्त सत्पुरुष होते हैं, वे दूसरों की चित्तसमाधि के लिए ही कार्य करते हैं।''

यह सुनकर बुद्धिमान कुमार ने विद्याधर राजा से कहा–''हे राजन्! मैं अभी आपकी आज्ञा के ही आधीन हूं।''

यह सुनकर प्रसन्न हुए राजा ने विद्याधरों और विद्याधरियों को विवाह के आवश्यक निर्देश दिये और स्वयं महल में लौट गया।

फिर दोनों जगह शुभ मुहूर्त्त में मंगल गीत गानपूर्वक विवाह के उत्सव का शुभारम्भ हुआ। उसमें सौभाग्यवती स्त्रियों ने स्वर्णकुम्भों में लाये हुए तीर्थों के जल द्वारा हर्षपूर्वक वधू व वर को नहलाया। फिर चन्दन के रस द्वारा लेप किया। उस समय वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो पुण्य रूपी लक्ष्मी के कटाक्ष के समूह द्वारा चारों तरफ से व्याप्त हों। विवाह के अलंकारों, वस्त्रों व पुष्पों की माला के द्वारा भूषित किये गये वे दोनों उस समय चलते हुए कल्पवृक्ष और कल्पलता की तरह प्रतीत हो रहे थे। फिर सर्व समृद्धि से युक्त होकर विशाल अश्व पर आरूढ़ होकर

राजकुमार अपने आवास महल से निकला। उसके आगे वाद्यन्त्र बज रहे थे। नटिनियाँ नृत्य कर रही थीं। इस प्रकार उत्सवपूर्वक वह राजा के महल के पास आया। द्वार पर रानी ने लवणादि उतारने का रीति–रिवाज किया। उसके बाद राजपुत्र ने विवाह मण्डप में प्रवेश किया। वहां अग्नि की साक्षी में शुभ मुहूर्त्त में मंगल गीतपूर्वक विद्याधर राजा ने अपनी पुत्री का विवाह कुमार के साथ किया। पाणिमोचन (हथलेवा छुड़ाने) की क्रिया के समय विद्याधरेन्द्र ने कुमार को श्रेष्ठ अलंकार, वस्त्र, विविध प्रकार के पाठ बोलने से ही सिद्ध होनेवाली विद्याएँ प्रदान कीं। उसके बाद कुमार वधू को लेकर विशाल ऋद्धि के साथ अपने आवास स्थान पर लौटा। उन दोनों का कृष्ण और लक्ष्मी की तरह परस्पर गाढ़ प्रेम हुआ।

एक बार कुमार अपने महल के उद्यान में प्रिया के साथ क्रीड़ा कर रहा था। उस समय अकस्मात् आकाश मार्ग से उड़ता हुआ कोई तोता उसके हस्तकमल में आकर बैठ गया। कुमार ने अपने क्रीड़ा–पोपट को पहचान लिया। प्रीतिपूर्वक उसका आलिंगन करते हुए हर्षपूर्वक उससे पूछा–"हे शुकराज! माता–पिता और पुरजनों का कुशल समाचार कह। सुनने के लिए मेरा मन अत्यन्त उत्कण्ठित है।"

तब शुक ने कहा–"उस समय हाथी ने तुम्हारा हरण किया–यह जानकर तुम्हारे माता–पितादि सभी लोग अत्यन्त दुःख को प्राप्त हुए। निरन्तर तुम्हारे वियोग के दुःख से निकलते अश्रुओं से उनके नेत्र सदा ही भीगे रहते हैं। उनका चेतन शरीर में से निकल गया हो–ऐसा प्रतीत होता है। अत्यन्त शोक–संतप्त होकर वे चित्रलिखित–से सर्वदा महाकष्ट में दिन व्यतीत कर रहे हैं। मैं भी तुम्हारे वियोग से अत्यन्त दुःखी होकर मूर्च्छा को प्राप्त हो गया था, पर तुम्हारे पुण्य के प्रभाव से ही मुझे जीवनदान मिला है। फिर मैंने उन सभी से कहा–हे राजादिक सभी सुनो! एक मास के अन्त में कुमार को अथवा उसके समाचार को मैं न लाऊँ, तो ज्वाला की श्रेणि के द्वारा प्रचण्ड अग्निकुण्ड में मैं प्रवेश करूंगा। अतः आप सभी विषाद को छोड़कर स्वस्थ बनें। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके मैं नगर से बाहर निकला। सर्व ग्रामों और उद्यानों आदि में मैं बहुत घूमा। पर जैसे भाग्यहीन पुरुष निधि को प्राप्त नहीं करता, उस प्रकार मैंने भी तुमको कहीं नहीं देखा। पर आज भाग्य के योग से दृष्टि को आनंद प्राप्त करवानेवाले तुम्हारे दर्शन करके बहुत अच्छा लगा। अब तुम विलंब न करो। पिता आदि के दुःख को दूर करने के लिए शीघ्र ही यहां से चलो, क्योंकि एक मास की अवधि भी पूर्ण होने को है।"

यह सुनकर कुमार के नेत्र अश्रुओं से व्याप्त हो गये। उसने विचार किया–"विषय सुख में मूढ़ हुए मुझे धिक्कार है! यहां रहकर मैंने दुर्बुद्धि के द्वारा स्वभाव से वत्सलता धारण करनेवाले माता–पिता, परिजनादि को ऐसी कष्टकारक दशा तक पहुँचा दिया है। जो निरन्तर सेवा करके माता–पिता को सुख पहुँचाते हैं, वे पुत्र ही प्रशंसनीय है। अब मेरा यहां

पल भर के लिए भी रहना योग्य नहीं है।''

इस प्रकार निश्चय करके कुमार ने शुक को साथ लेकर राजा के पास जाकर विनति की–''हे राजन! यह **शुकराज** आज रत्नपुर से यहां आया है। इसने मेरे वियोग से पीड़ित माता–पिता का हाल मुझे बताया है। अब मेरा मन माता–पिता के दर्शन के लिए अत्यन्त बेचैन हो गया है। आप मुझे शीघ्र ही जाने की अनुमति प्रदान कीजिए।''

यह सुनकर बुद्धिमान राजा ने गद्‌गद् कण्ठ से कहा–''हे वत्स! तुम जाओ–ऐसा अगर मैं कहूं, तो योग्य नहीं होगा। यहां रहने के लिए कहूं–यह भी ठीक नहीं है। अगर मौन रहूं, तो उदासीनता प्रकट होती है। तो फिर मैं क्या कहूं? अथवा तो ये सब विचार करने से भी क्या फायदा? इतना ही कहता हूं कि शीघ्रतापूर्वक वियोग से पीड़ित माता–पिता को प्रसन्न करो।''

इस प्रकार कुमार को कहकर राजा ने अपनी पुत्री को अपने पास बुलाया और उसे इस प्रकार शिक्षा प्रदान की–''हे पुत्री! तुम्हारा पति तुम्हारे पास आय, तो उठकर खड़ी होना। उसके साथ बातचीत करने में नम्रता रखना। उसके चरणों पर ही दृष्टि रखना। उसे बैठने के लिए आसन आमंत्रित करना। उसकी सम्पूर्ण सेवा स्वयं करना। उसके सोने के बाद सोना और उसके जागृत होने से पहले शय्या का त्याग करना। पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार कुलवधू के शुद्ध धर्म बताये हैं।''

इस प्रकार **रत्नमंजरी** को शिक्षा देकर राजा ने अपनी पुत्री व दामाद को विदा किया। कुमार भी अपनी प्रिया, शुक और विद्याधर मित्रों के साथ विशाल विमान पर आरूढ़ होकर आकाशमार्ग से रवाना हुआ। वायु की तरह आकाश का उल्लंघन करते हुए क्षणभर में रत्नपुरी के समीप पहुँच गया। विमान को आता हुआ देखकर लोगों ने तर्क किया–''क्या समुद्र में उत्पन्न हुए इन रत्नों के समूह को आकाश में वायु ने उछाला है? अथवा क्या सूर्यादि ज्योतिष का समूह निरन्तर भ्रमण करने के श्रम के भय से आकाश से पृथ्वी पर आ रहा है? अथवा पुण्यफल को प्रत्यक्ष दिखाने के लिए स्वयं स्वर्ग ही धरती पर उतर रहा है?''

इस प्रकार पुरजनों को कल्पना करवाती हुई विमानों की श्रेणि आकाश में शोभा को प्राप्त हो रही थी। उसके बाद सबसे पहले शुकराज राजा के पास गया और सिंहासनासीन व पुत्र के शोक से पीड़ित राजा को उसने विनति की–''हे देव! खेद का त्याग करें। आनंद को धारण करें, क्योंकि आपका पुत्र अपनी प्रिया व अद्‌भुत ऐश्वर्य के साथ यहां आ रहा है।''

यह सुनकर पुत्र के आगमन से राजा अत्यन्त आनन्दित हुआ। नगर में स्थान–स्थान पर विशाल उत्सव की शुरुआत इस प्रकार करवायी– स्थान–स्थान पर आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले

दरवाजे बनवाये, प्रत्येक दरवाजे पर तोरण सहित केले के स्तम्भ बंधवाये, मार्ग में स्थान–स्थान पर कल्याणकारी मोतियों के स्वस्तिक बनवाये, कुमार से उत्पन्न कीर्ति का समूह हो–इस प्रकार के ध्वज लगवाये, राजमार्ग पर चंदन और केसर का छिड़काव किया गया, वेश्याएँ दृष्टि में शीतलता उत्पन्न करनेवाला नृत्य करने लगीं, राजपुत्र के विशाल व उग्र पुण्य को मनुष्यों से कह रहे हों–इस प्रकार मृदंग व वाद्यन्त्र उच्च स्वर में बजने लगे, सुहागिन स्त्रियाँ मधुर स्वर में धवल मंगल गाने लगीं और बन्दीजन स्फुट रीति से कुमार की बिरुदावलि गाने लगे। इस प्रकार अपार उत्सवों का आयोजन होने लगा। तब परिवार सहित कुमार पुरजनों को आश्चर्य उत्पन्न करता हुआ विमान से नीचे उतरा। फिर अपने महल में प्रवेश करके माता–पिता के चरणों में नमन किया। उन्होंने भी अत्यन्त आनन्द के साथ उसकी प्रशंसा करते हुए कहा–"हे वत्स! तेरी विरहाग्नि से उत्पन्न हुए जिस ताप का हमने निरन्तर अनुभव किया है, वह आज तेरे दर्शन रूपी अमृत के द्वारा नष्ट हो गया है। अब तूं अपना वृत्तान्त हमें बता।"

यह सुनकर कुमार ने विचार किया कि सत्पुरुष अपना नाम भी नहीं बताते, तो फिर मैं अपना वृत्तान्त किस प्रकार बताऊँ? फिर उसने भृकुटि की संज्ञा बताकर शुक को इशारा किया। तब शुक ने उसका सारा वृत्तान्त कहकर सुनाया। वृत्तान्त सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अपने पुत्र को सर्व राज्य का भार उठाने में समर्थ जानकर राजा ने कहा–"हे वत्स! लोक में ख्यातिप्राप्त इस क्षमा (पृथ्वी) का मैंने अभी तक अच्छी तरह से पालन किया है। अब यह भार तुम पर डालने का विचार कर रहा हूं। सर्व प्रकार के सुख को प्रदान करनेवाली जो क्षमा (क्षान्ति) जिनागम में सुनी जाती है, वह अलग ही है। अतः हे निर्मल हृदयी! उसी क्षमा के भार को उठाने की अब मेरी इच्छा है। वह भार सर्वसंवर अर्थात् सर्वविरति के बिना वहन नहीं किया जा सकता। अतः अब तुम राज्य को अंगीकार करो और मैं सर्वविरति को अंगीकार करता हूं। शास्त्र में भी कहा है– माता–पिता को जिनभाषित धर्ममार्ग में प्रवर्त्तित कराने से सन्तान उनके उपकारों से उऋण हो सकता है, अन्यथा कभी उऋण नहीं हुआ जा सकता।

इस विषय में **स्थानांग सूत्र** में भी कहा है–

"इस संसार में तीन लोग [1]दुष्प्रतिकार्य हैं–1. माता–पिता, 2. स्वामी और 3. धर्माचार्य। कितने ही भक्तिमान पुत्र माता–पिता का शतपाक व सहस्रपाक आदि तेल के द्वारा मालिश करके, सुगन्धित द्रव्यों के द्वारा उबटन करके, उष्ण जल के द्वारा स्नान करवाकर, सर्व अलंकारों के द्वारा विभूषित करवाकर, मनोहर [2]स्थालीपाक के द्वारा शुद्ध किये हुए अठारह

1.जिनके उपकार का बदला न चुकाया जा सके। 2. पकाना।

प्रकार के शाकादि मनोहर भोजन करवाकर जीवनभर अपनी पीठ पर बिठाकर उनका वहन करे, तो भी माता–पिता के उपकारों से उऋण नहीं हो सकता। पर अगर वह माता–पिता को केवलीभाषित धर्म कहकर प्रज्ञापना करके उन्हें धर्म में स्थिर करे, तो वह माता–पिता के उपकारों से उऋण हो सकता है।''

यह सुनकर **रत्नसार** ने भी ''गुरुजनों की वाणी उल्लंघन के योग्य नहीं है''–इस प्रकार विचार करके राजा की आज्ञा को स्वीकार किया। जो पिता की आज्ञा को स्वीकृत करता है, वही पुत्र होता है।

उसके बाद श्रेष्ठ बुद्धिसंपन्न राजा ने उत्सवसहित पुत्र पर साम्राज्य के भार को आरोपित किया और स्वयं **ज्ञानभानु** नामक गुरुदेव के पास चारित्र अंगीकार किया। उन राजर्षि ने एक हजार वर्ष तक दुष्कर तपस्या की, कर्मों का क्षय किया और केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष चले गये।

राज्योपभोग करते हुए एक बार **रत्नसार** राजा रात्रि के अन्तिम प्रहर में द्रव्य और भाव से जागृत होते हुए विचार करने लगा–''पूर्वजन्म में मैंने ऐसे कौनसे शुभकर्म किये होंगे कि जिससे इस प्रकार का ऐश्वर्य मुझे अनायास ही प्राप्त हुआ है? कोई अतिशय ज्ञानी साधु महाराज यहां पधारें, तो उन्हें प्राप्त वैभव का कारण पूछकर शंका–रहित बनूं।''

इस प्रकार विचार करते–करते रात्रि व्यतीत हो गयी और चारों तरफ अंधकार का नाश करता हुआ निर्मल प्रकाश उदित हुआ। नरनाथ **रत्नसार** ने प्रातःक्रिया करके राजसिंहासन को सुशोभित किया, जिस प्रकार इन्द्र सुधर्म सभा को सुशोभित करता है। तभी उद्यानपालक ने आकर राजा से विज्ञप्ति की–''हे स्वामी! हमारे **कुसुमाकर** नामक उद्यान में अभी–अभी अनेक शिष्यों के परिवार से युक्त, जिनागम के ज्ञाता और विविध लब्धियों से युक्त **श्री विनयंधर** नामक सूरि महाराज पधारे हैं।''

यह सुनकर राजा के शरीर पर हर्ष से रोमांच रूपी कंचुक विकस्वर हुआ। अपने वांछित अर्थ की तत्काल सिद्धि पाने से अत्यन्त हर्षित होकर राजा विचार करने लगा–''अहो! आज मुझे अकस्मात् गुरु महाराज का समागम प्राप्त हुआ है। बादलों के बिना ही मानो मेघ की वृष्टि हुई है। पुष्प के बिना ही फल की ऋद्धि प्राप्त हुई है। मेरा पुण्य आज परिपक्व हुआ है अर्थात् उदय में आया है।''

फिर राजा ने उद्यानपालक को प्रीतिदान देकर संतुष्ट किया, क्योंकि विवेकी पुरुष कभी भी उचित कर्त्तव्यों का उल्लंघन नहीं करते। फिर राजा हाथी पर सवार होकर अपने परिवार व पुरजनों के साथ अद्‌भुत समृद्धि से युक्त होकर तुरन्त उद्यान में आया। वहां पाँच राजचिह्नों

का त्याग करके श्रीगुरु को पंचांग नमस्कार करके उचित स्थान पर बैठा। गुरु महाराज ने भी राजादि सभी को पुण्य का पोषण करनेवाली धर्मलाभ रूपी आशीष के द्वारा संतुष्ट करके धर्मदेशना का श्रवण कराया–"हे भव्यजीवों! उत्तम कुलादि सहित इस दुर्लभ मनुष्यभव को प्राप्त करके प्रमाद का त्याग करके धर्म का सेवन करना चाहिए, क्योंकि धर्म एकान्त हितकारक तथा परलोक में सहायककारक आदि गुणों से युक्त होने से बंधुजनों व धनादि से अधिक प्रधान कहलाता है।"

इत्यादि धर्मदेशना का श्रवण करके राजा का मन व्रत लेने के लिए तत्पर हुआ। फिर भी अपना पूर्वभव जानने की इच्छा से उसने सद्गुरु से पूछा–"हे स्वामी! मुझ पर कृपा करके मेरे पूर्वभव का वृत्तान्त बतायें।"

तब गुरुदेव ने भी श्रुतज्ञान के द्वारा उसके पूर्वभव को जानकर कहा–"इस भरतक्षेत्र में हाथियों का निवास–स्थान **विन्ध्याचल** नामक पर्वत है। उसकी तलेटी में **सोमपल्ली** नामक एक पल्ली थी। उसमें भद्रिक स्वभाव से युक्त **सोम** नामक पल्लीपति था। उसके नाम व क्रिया से भी युक्त **सोमा** नामक प्रिया थी।

एक बार **दमघोष** नामक महर्षि सार्थ से अलग होकर रास्ता भूलकर इधर–उधर अटन करते हुए मानो पल्लीपति के पुण्य से प्रेरित होकर उस पल्ली में पहुँच गये। जैसे बाघ उत्तम बैलों को उपद्रवित करते हैं, उसी प्रकार बुद्धिरहित व अत्यन्त रौद्र परिणामी भील उन मुनियों को उपद्रवित करने लगे। पर कृपा के समूह से विकस्वर उस निपुण पल्लीपति ने उन मुनियों को उनके चंगुल से इस प्रकार मुक्त करवाया, मानो अपनी आत्मा को नरक से मुक्त करवाया हो। फिर भक्तिपूर्वक उनके साथ जाकर उन्हें किसी नगर में सुरक्षित पहुँचा दिया। दयालू व्यक्तियों का विवेक ऐसा ही होता है। फिर आनन्दपूर्वक उन मुनियों को नमस्कार करके वह पल्लीपति वापस अपने घर की और लौटा। उस समय मुनीश्वरों ने उससे कहा–"हे भद्र! पुण्यरहित उन भीलों के उपद्रव से तुमने अनुकरणीय करुणा के द्वारा हमें मुक्त करवाया है। एक सामान्य प्राणी का रक्षण भी विशाल सम्पत्ति प्राप्त करवाता है, तो अतिचार रहित चारित्र का पालन करनेवाले महात्माओं के संरक्षण से अगर समृद्धि प्राप्त हो, तो उसमें क्या आश्चर्य? अतः पुण्य के प्रभाव से तुम संपत्ति का स्थान बनोगे, पर फिर भी परिणाम में हितकारक ऐसा कोई उपकार हम तुम पर करना चाहते हैं।"

तब पल्लीपति ने भी कहा–"हे पूज्य! भविष्यकाल में जो हितकारक हो, वह आप शीघ्र कहें। मैं उसमें निरन्तर यत्न करुंगा।"

तब उन गुरु ने मोक्षलक्ष्मी के दूत के समान पंच परमेष्ठि नमस्कार मंत्र का उपदेश

दिया और कहा–"इस नमस्कार का स्मरण मात्र करने से प्राणियों की भव–भव की विपत्तियाँ नष्ट होती हैं और संपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। कहा है कि अगर प्राणियों के कण्ठ में श्रीनमस्कार मंत्र का आलोटन होता हो, हृदय में रटन चल रहा हो, तो भूतप्रेत उनके चाकर बन जाते हैं, व्यन्तर विघ्न नहीं कर सकते, यक्ष उनकी रक्षा में तत्पर बन जाते हैं, विविध प्रकार की व्याधियाँ उन्हें बाधित नहीं करतीं और अग्नि, जल व विषादि से उत्पन्न भयंकर उपसर्गादि उसका अपकार नहीं कर सकते। यह मंत्र समग्र मंगलों में प्रथम मंगल है और सभी आगमों का रहस्य है–ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं। जिनेश्वरों की पूजा के साथ इस मंत्र का लाख बार जाप करने से तीर्थंकर नामकर्म का भी बंध होता है। इसमें कोई संशय नहीं है।

अतः हे भद्र! तुम इस मंत्र को हृदय में धारण करो और निरन्तर इसका स्मरण करो। ऐसा करने से सभी अद्‌भुत समृद्धियाँ तुम्हें अपने आप ही अनायास प्राप्त होंगी।"

यह सुनकर पल्लीपति ने मुनि के पास उस मंत्र को विधिवत् सीखा। अपने लिए कल्याणकारक हो, उसको कौन बुद्धिमान नहीं अपनाता? मुनि के पास से चिंतामणि रत्न के समान दुर्लभ मंत्र को प्राप्त करके अपनी आत्मा को धन्य मानते हुए उस पल्लीपति ने मुनि को वंदन किया और अपने घर लौट गया। उसने अपनी प्रिया को भी नमस्कार मंत्र सिखाया। उसने भी उस मंत्र को मोतियों के हार की तरह अपने कण्ठ में सुसज्जित किया। उस दम्पति ने हमेशा उस मंत्र की तप, स्तुति, जाप, ध्यान और पूजादि सर्व विधिपूर्वक और जावज्जीव आराधना की। उसके बाद आयुष्य पूर्ण होने पर मरण प्राप्त करके पल्लीपति का जीव उस पुण्य के प्रभाव से तुम्हारे रूप में राजा बना है। उसकी पत्नी भी मरण प्राप्त करके तेरी प्रिया रत्नमंजरी बनी है।

अहो! जगत में नमस्कार रूपी रत्न की अद्‌भुत शक्ति है, क्योंकि वह एकमात्र मंत्र ही सर्व सम्पदा का प्रदाता है।"

इस प्रकार अपने पूर्वभव का श्रवण करके प्रिया सहित राजा को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। मनोहर संवेग प्राप्त होने से उसने गुरु महाराज से कहा–"हे पूज्य! आप कुछ समय तक मेरी राह देखें। मैं घर जाकर अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाकर दीक्षा ग्रहण करने के लिए वापस लौटकर आता हूं।"

यह सुनकर सूरि ने उसे उत्साहित करते हुए कहा–"हे राजा! तुम धन्य हो! तुम्हारा जन्म पवित्र है। वास्तव में तूं ही तत्त्व का ज्ञाता है, क्योंकि तुम्हारी बुद्धि प्रतिबन्ध–रहित है। अतः हे शिष्ट! तूं विलंब मत कर, क्योंकि धर्म के कार्य में अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं।"

उसके बाद राजा ने अपने महल में जाकर **रत्नमंजरी** के पुत्र **रत्नशेखर** को राज्य सौंपकर अन्य सभी परिवार का योग्यतानुसार सत्कार करके अमारि पटहपूर्वक जिनचैत्यों में अठाई महोत्सव का आयोजन किया। उसके बाद **रत्नशेखर** राजा ने उसका निष्क्रमण महोत्सव किया। वह दीन–हीन–याचकों को दान देने लगा। "चिरकाल तक आप चारित्र का पालन करें"–इस प्रकार पुरजनों की वाणी को कर्णपुटों में रमाते हुए वह राजा उद्यान में आया। उसने गुरुदेव से विज्ञप्ति की–"हे प्रभु! मुझ पर कृपा करके संसार रूपी गहरे कुएँ में गिरते हुए मुझे और मेरी पत्नी को व्रत रूपी रस्सी के द्वारा खींचकर बाहर निकालें।"

यह सुनकर गुरुदेव ने राजा और रानी को दीक्षा प्रदान की। फिर राजर्षि ने थोड़े ही समय में ग्रहण और आसेवन शिक्षा ग्रहण की। इस तरह उस राजर्षि ने कुल्हाड़ी के समान पवित्र चारित्र के द्वारा थोड़े ही समय में कर्मों का उन्मूलन करके उन्हें निर्मूल करके मोक्ष पद को प्राप्त किया। इस प्रकार ग्रहण किया हुआ एक ही धर्मरत्न भी मोक्ष सुख आदि महाफलों को प्रदान करता है। अतः हे भव्यजीवों! ऐसे धर्मरत्नों का संग्रह करो, जिससे तुम्हें शीघ्रता से अद्‌भुत संपत्तियाँ प्राप्त हों।"

इस प्रकार गुरु की धर्मदेशना का श्रवण करके शुभ भावयुक्त बनकर राजादि ने हर्षित होते हुए समकित की प्राप्ति की। फिर अवसर प्राप्त करके जिनके ज्ञान रूपी दर्पण में सर्व पदार्थ संक्रमित होते थे, ऐसे पूज्य गुरुदेव को स्वच्छ बुद्धियुक्त राजा ने पूछा–"हे पूज्य! इस पद्‌माकर ने पूर्वभव में क्या पुण्य किया था, जिससे कि देव भी उसे निरन्तर इच्छित संपत्ति प्रदान करते हैं?

तब श्रीगुरुदेव ने फरमाया–"हे राजेन्द्र! इस पद्माकर ने पूर्वभव में जिस पुण्य का संचय किया था, वह मैं बताता हूं। तुम सुनो–

इस भरतक्षेत्र में **भोगपुर** नामक नगर है। उसमें चैत्य रत्नों के द्वारा निर्मित होने से रात्रि भी दिवस के समान ही प्रतीत होती थी। उस नगर में नंदनवन के समान **नंदन** नामक लक्ष्मीवान श्रेष्ठी था। उसके समकित आदि गुण कल्पवृक्ष के समान शोभित होते थे।

एक बार **ज्ञानसागर** नामक सूरि महाराज अनेक साधुओं के परिवार के साथ चातुर्मास करने की इच्छा से वहां आये। स्वाध्याय, योग, ध्यान व तप की वृद्धि करनेवाले वे सभी साधु निर्दोष उपाश्रय में स्वस्थ चित्त से रहे। वर्षाकाल में पृथ्वी पर सभी जगह चक्षु से देखने में अशक्य सूक्ष्म, त्रस व स्थावर आदि अनेक सम्मूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं।उनकी विशेष प्रकार से रक्षा करने के लिए जिनेश्वरों ने मुनियों को वर्षाकाल में काष्ठ का शयन और आसन रखने की आज्ञा प्रदान की है। अतः श्रीगुरु की आज्ञा से आषाढ़ शुक्ला दशमी के

दिन काष्ठ की शय्या लेने के लिए दो साधु ग्राम में घूमते–घूमते उस नंदन श्रेष्ठी के पूर्वजन्म के पुण्ययोग से मानो जंगम कल्पवृक्ष के समान उसके घर पर आये। मूर्त्तिमान धर्म की तरह उन दोनों मुनियों को अपने घर के आँगन में आये हुए देखकर हर्ष के रोमांच से व्याप्त नंदन तत्काल उठकर खड़ा हुआ। सात–आठ कदम उनके सम्मुख जाकर भक्ति से विधिपूर्वक वंदन करके हाथ जोड़कर कहा–"अहो! आज मेरे गृहांगन में आपका आगमन हुआ है। यह तो बिना बादलों की वृष्टि के समान है। मारवाड़ प्रान्त की रेतीली भूमि पर कल्पवृक्ष के उगने के समान है। अमावस्या की रात्रि में चन्द्रोदय के समान है। बंजर खेत में धान्य के पकने के समान है। पर्वत के शिखर पर कमल के खिलने के समान है। आप कृपा करके आपके आने का प्रयोजन बतायें, जिससे बसंत ऋतु के द्वारा लता की तरह मेरा प्रेम वृद्धि को प्राप्त हो अर्थात् मेरे हृदय में अधिक प्रीति उत्पन्न हो।"

तब उन दोनों में से जो ज्येष्ठ थे, उन्होंने कहा–"हम हमारे गुरुदेव की आज्ञा से आपके पास काष्ठ की शय्या की याचना करने आये हैं।"

यह सुनकर श्रेष्ठी अत्यन्त प्रसन्न हुआ और कोमल, निर्मल और श्रेष्ठ सांधों से युक्त शुद्ध काष्ठ का बना हुआ, बिना टूटा हुआ, छिद्ररहित व दोषरहित लम्बा शयनीय–जो कि मानो उस श्रेष्ठी के गुणों का ही समूह हो–इस प्रकार उनको दिखाया और हर्षपूर्वक कहा–"आप प्रसन्न मन से इस शयनीय को ग्रहण करें। हमेशा इसका उपयोग करें और आज से यह शयनीय आपके ही आधीन है।"

यह सुनकर ज्येष्ठ साधु ने कहा–"हे श्रेष्ठी! तपस्वियों को केवल वर्षाकाल में ही काष्ठ की शय्या कल्पनीय है। हमेशा कल्पनीय नहीं है। अतः यह शय्या तो आपकी ही है। हम तो इसे मात्र कार्त्तिक मास की पूर्णिमा तक ही रखनेवाले हैं।"

यह सुनकर **नंदन** ने आनंदयुक्त व विनयपूर्वक कहा–"जैसी आपकी मर्जी।"

फिर उस **नंदन श्रेष्ठी** ने विशाल, निर्मल व विविध प्रकार के अनुकूल गुणों (डोरों) से बना हुआ अपने परलोक के भाते के समान एक कम्बल भी प्रदान की। श्रेष्ठी की भावना व उसका अत्यन्त हर्ष देखकर तथा उन दोनों वस्तुओं को एषणीय जानकर अनुग्रह करने में तत्पर वे साधु उन दोनों वस्तुओं को लेकर अपने गुरु के पास आये। ईर्यापथिकी का प्रतिक्रमण करके दोनों वस्तुएँ गुरु को दिखायीं। उस शय्या पर उस कम्बल का संथारा बिछाकर उस पर **सूरिराज** विश्रान्ति लेने लगे। अहो! श्रेष्ठी का कैसा भाग्य! स्वाध्याय, धर्मदेशना, ध्यान, वाचना और अध्यापन आदि द्वारा थके हुए श्रीगुरुमहाराज श्रुत की नीति द्वारा उस पर विश्रान्ति लेते थे। उस शय्या और संस्तारक पर विश्रान्ति लेते हुए गुरु महाराज

को देख–देखकर वह श्रेष्ठी निरन्तर 'मैं धन्य–धन्य हूं' इस प्रकार विचार करके अपनी आत्मा को कृतार्थ मानता था। उसकी वह अनुमोदना रूपी निर्मल चन्द्रिका शय्यादान के पुण्य रूपी महासमुद्र को निरन्तर तरंगयुक्त बनाती थी। उस अगण्य पुण्य के प्रभाव से वह नंदन सेठ स्वर्ग में देवांगनाओं के भोग को प्रिय हुआ। वहां उसने अभंग व अद्‌भुत विस्तारयुक्त स्वर्ग के भोगों का उपभोग किया और यहां यह **पद्माकर** के रूप में उत्पन्न होकर दिव्य सुखों का निधि बना है। अक्षयनिधि के समान शय्यादान के पुण्य से प्रेरित उसके पिता **तिलक श्रेष्ठी**–जो स्वर्ग में देव बने हैं–वे उसके स्नेह से प्रेरित होकर जिस प्रकार **गोभद्र सेठ** ने अपने पुत्र **शालिभद्र** को दिव्य ऋद्धि प्रदान की थी, उसी प्रकार इच्छानुसार विविध प्रकार के स्वर्ण महलादि अद्‌भुत संपत्ति दिव्य शक्ति से प्रदान कर रहे हैं।

कहा है कि–'पुण्यशाली के पूर्वजन्म का पुण्य विघ्न का हरण करता है, विपत्तियों को छेदता है, लक्ष्मी का पोषण करता है, पापों का नाश करता है, राज्यलक्ष्मी का विस्तार करता है, प्रतिष्ठा का उदय करवाता है, सुख को पुष्ट बनाता है तथा देवताओं को किंकर बनाता है अर्थात् क्या–क्या निःसीम नहीं करता?''

इस प्रकार गुरुकथित और कर्णों को सुख प्रदान करनेवाले अपने पूर्व के दो भवों को कर्णगोचर करके **पद्माकर** ने विचार किया–'अहो! शय्यादान का कितना पुण्य है!' ऐसा विचार करके शुद्ध अंतःकरणयुक्त बनकर ऊहापोह करते हुए जातिस्मरण ज्ञान को प्राप्त हुआ। फिर हर्ष से पुष्ट बनकर उसने श्रीगुरुमहाराज को प्रणाम करके विनयपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर कहा–''हे प्रभु! हे भगवान! आपने जो मेरे पूर्वभवादि के बारे में बताया, वह सब बिल्कुल सत्य फरमाया है। मैंने अभी–अभी जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा उन सब घटनाओं को उसी प्रकार देखा है। अहो! आपका ज्ञान सीमातीत है!''

इस प्रकार कहकर हर्षपूर्वक व शुद्ध बुद्धि के द्वारा उसने गुरु के पास बारह व्रतों से विस्तृत श्राद्धधर्म अंगीकार किया और 'मुझे निरन्तर मुनियों को शय्यादान करना है'–इस प्रकार का अभिग्रह आनंदपूर्वक ग्रहण किया। गुरुमहाराज द्वारा कथित उसके मनोहर चारित्र का श्रवण करके 'अहो! शय्यादान का कितना पुण्य है!'–ऐसा विचार करके शुद्ध अंतःकरण युक्त बनकर राजादि तथा **पद्माकरादि** भी जिनेश्वर कथित पुण्य की निपुणता के द्वारा शोभित होते हुए अपने–अपने घर लौट गये। अपरिमित सुकृत्यों के द्वारा जिनमत का उद्योत करते हुए और योग्य पात्र को शयनादि का दान करने में तत्पर **पद्माकर** चिरकाल तक शुद्धविधि से श्राद्धधर्म का पालन करके स्वर्ग में गया। इस प्रकार देव व मनुष्य के आठ भव तक शयनदान के पुण्य रूपी कल्पवृक्ष के द्वारा प्राप्त किये हुए अद्‌भुत भोग के समूह के द्वारा

अंत में निर्मल चारित्र का पालन करके केवलज्ञान–केवलदर्शन को प्राप्त करके **पद्माकर** मोक्ष में गया।

इस **पद्माकर** के उदाहरण से मुनियों को शयनदान देने में अगण्य पुण्य है– ऐसा सुनकर पवित्र भावयुक्त हे सुज्ञजनों! तुम अच्छी तरह से शय्यादान में यत्न करो।

।। इति पंचम प्रकाश।।

षष्ठम प्रकाश

अहो! जिनका (दान की प्रसिद्धि रूपी) दीपक आज तक प्रज्ज्वलित है, ऐसे हे विश्व के पावक आदिनाथ! प्रकाश करो। अब निर्दोष आसन का दान करने रूप तथा पुण्य समूह के अंकुर रूप में उपष्टम्भ दान का तीसरा भेद कहा जाता है। विविध प्रकार के सूक्ष्म जीवों के समूह से व्याप्त केवल भूतल पर मुनियों के बैठने के लिए तीर्थंकरों ने आज्ञा प्रदान नहीं की है। अतः वर्षाकाल में काष्ठमय प्रासुक आसन पर मुनि विराजते हैं। चातुमार्स के अलावा शेषकाल में मुनि ऊन के आसन पर विराजते हैं। अतः पुण्यशाली श्रावक निरन्तर समयानुसार अत्यन्त भावयुक्त बनकर मुनियों को आसनदान करे। जो मनुष्य प्रसन्न चित्त के द्वारा मुनियों को इस प्रकार के आसन का दान करता है, उसे अवश्य ही स्वर्ग व मोक्ष रूपी महल में आसन मिलता है। जिनके आसन पर सुखासीन होकर मुनि वाचना, अध्यापनादि क्रियाओं को साधते हैं, वे पुरुष धन्य व पुण्यवंत हैं। मुनियों को आसन दान करनेवाले पुरुष को चारित्र की प्राप्ति सुलभ होती है, क्योंकि मुनियों की चारित्र क्रिया में उसने सहायता प्रदान की है। जो मनुष्य मुनीश्वरों को आसन का दान करता है, उसे अगले भव में इन्द्र, चक्रवर्त्ती आदि का आसन सुलभ रूप में मिलता है। जो यतियों को आसनदान करता है, वह **करिराज** की तरह विशाल पुण्यलक्ष्मी का स्वामी बनता है।

आसनदान पर करिराज की कथा

भरतक्षेत्र की पृथ्वी का भूषण **कंचनपुर** नामक नगर है। वह नगर स्वर्ण महलों के द्वारा उत्कृष्ट शोभा को प्राप्त था। उस नगर में धर्म, अर्थ और काम–ये तीनों पुरुषार्थ परस्पर बाधारहित और अत्यन्त प्रीतियुक्त होकर मानो मैत्रीभाव से युक्त होकर शुद्ध रीति से प्रवर्त्तित होते थे। उस नगर में शत्रुओं का नाश करनेवाला **हस्ती** नामक राजा राज्य करता था। वह

निरन्तर नीति रूपी लता को विकस्वर करने में मेघ के समान था। युद्ध में वह प्रत्येक शत्रु का पंचत्व करता था, पर फिर भी वह शत्रु कुल का क्षय करनेवाले के रूप में प्रसिद्ध हुआ था अर्थात् एक–एक शत्रु का पाँचगुना करने से उनके कुल की वृद्धि होनी चाहिए, जिससे वह क्षय करनेवाला न बन सके और इससे कुल का क्षय करने के रूप में विरोध आता है। उसका परिहार करने के लिए पंचत्व अर्थात् मरण करता था। इसी कारण वह शत्रुकुल का क्षय करनेवाले के रूप में प्रसिद्ध हुआ। उस राजा के पृथ्वी पर स्वर्ग से उतरी देवी के समान **कमला** नामक रानी थी, जो मात्र नेत्रों के निमेष के कारण ही मनुष्य–स्त्री प्रतीत होती थी। शील रूपी आभ्यन्तर भूषण से वह सदैव भूषित रहती थी। पर फिर भी व्यवहार से बाह्य अलंकारों को धारण करती थी। उस राजा के अनेक रानियाँ होने पर भी वही रानी अधिक प्रिय थी। पुष्प की अनेक जातियाँ होने के बावजूद जाई पुष्प की अधिक मान्यता होती ही है। सभी प्रकार से मनोहर विशाल राज्य का उपभोग करते हुए उस राजा के दिवस प्रहर के समान व्यतीत हो रहे थे, पर उसके राज्य की धुरी को धारण करनेवाला एक भी पुत्र पैदा नहीं हुआ। अतः अत्यन्त खेदयुक्त होकर एक दिन राजा विचार करने लगा–"जरावस्था मेरे शरीर को पिशाचिनी की तरह जीर्ण बनाने के लिए उतावली हो रही है। मेरे मस्तक पर धर्मराजा के दूत के आगमन की तरह सफेद बाल भी आने लगे हैं। पर अभी तक मैंने अपने कुल के मण्डन रूप पुत्र को देखा नहीं है, जिससे वृक्ष रूपी उस पुत्र का आश्रय लेकर मेरे राज्यलक्ष्मी रूपी लता की वृद्धि हो। यह राज्यलक्ष्मी विशाल परिवार से युक्त होने पर भी सितारों से युक्त पर चन्द्ररहित आसमान की तरह पुत्र के बिना शोभित नहीं होती। पुत्र को राज्य पर स्थापित करके बाद में मैं दीक्षा ग्रहण करूंगा–मेरा चिरसंचित यह मनोरथ कैसे पूर्ण होगा? मेरे पूर्वज धन्य थे, जिन्होंने वृद्धावस्था देखने से पहले ही अपने पुत्र को राज्य पर स्थापित करके तपस्या करने के लिए निकल पड़े।"

इस प्रकार चिन्तातुर और पुत्र–प्राप्ति का उपाय करने में तत्पर वह राजा वर्षों की तरह दिवस व्यतीत करने लगा। एक बार राजा ने त्रिकालवेत्ता निमित्तज्ञ से पूछा–"हे विद्वान! मेरे पुत्र कब होगा? वह कैसा होगा?"

यह सुनकर चर्मचक्षु से न देखने योग्य सर्व हकीकत को ज्योतिषी शास्त्र रूपी चक्षुओं के द्वारा देखकर निमित्तज्ञ ने राजा से कहा–"हे राजन! राज्य का भार उठाने में धुरन्धर पुत्र तुम्हे प्राप्त होगा। पर उसका संभव पुण्य के प्रभाव से ही है–ऐसा प्रतीत होता है। अतः हे राजा! एकमात्र अगण्य पुण्य का विस्तार करो, क्योंकि मन की वांछा पूर्ण करने में एकमात्र पुण्य ही चिंतामणि रूप है।"

इस प्रकार कर्णों में अमृत की वृष्टि के समान उसकी वाणी का श्रवण करके प्रसन्न हुए राजा ने अत्यधिक द्रव्य देकर उसे विदा किया। फिर 'स्वयं को इष्ट था और वैद्य ने भी कह दिया'–इस कहावत के अनुसार उसके वचनों को मान्य करते हुए राजा ने और अधिक सर्वज्ञ–कथित धर्म में अपने आपको एकाग्र किया। उसने रानी के साथ प्रासाद बनवाने में, प्रतिमा भरवाने में, जिनपूजा करना, गुरु की सेवाभक्ति करना, दान देना, अमारि प्रवर्त्तन करवाना, दुष्कर तप करना और श्रीतीर्थ की यात्रा करना आदि धर्मकार्यों के द्वारा निर्मल और अनूठा पुण्य एकत्रित किया, जिससे उसके समग्र पाप शीघ्रता के साथ उड़ गये। जिस प्रकार आकाश अत्यधिक उज्ज्वल बादलों से ढ़के हुए सूर्य को धारण करता है, वैसे ही कितने ही समय के बाद शुभाशयी रानी **कमला** ने पुण्यवंत गर्भ को धारण किया। उसी रात्रि उसने अमंद सुगंध में लुब्ध हुए भ्रमरों के समूह से शोभित हाथी को स्वप्न में देखा। प्रातःकाल होने पर पुत्रोत्पत्ति के साक्षी रूपी उस स्वप्न को राजा से कहा। वह स्वप्न राजा के कर्णों का अतिथि बनकर राजा को अत्यन्त प्रसन्न कर गया। जैसे रोहणाचल की पृथ्वी रत्नों का प्रसव करती है, उसी प्रकार अनुक्रम से काल पूर्ण होने पर रानी ने दैदीप्यमान कान्ति के समूह द्वारा सूतिका गृह को प्रकाशित करनेवाले पुत्ररत्न का प्रसव किया। यह सुनकर राजा ने अनुक्रम से नगरजनों को सुखकारक और समग्र याचकों को खुश करनेवाले पुत्रजन्म का महोत्सव किया। फिर पूज्यवर्ग की पूजा करने के बाद राजा ने करि के स्वप्नानुसार उस पुत्र का **करिराज** नाम रखा। वृद्धि को प्राप्त करते हुए कुमार के साथ चन्द्र की स्पर्द्धा कैसे की जा सकती थी? क्योंकि इस कुमार ने 72 कलाओं को प्राप्त किया था और चन्द्र के पास तो सिर्फ 16 कलाएँ ही होती हैं। समय आने पर राजा ने कुमार को उत्सवपूर्वक निर्मल लावण्य रूपी जल की नदी के समान मनोहर अंगों से युक्त रमणियों के साथ विवाह के बंधन में बांध दिया।

एक बार वन की दावाग्नि के समान संसार से उत्पन्न हुए ताप को नवीन मेघों की तरह समाते हुए और समतारस से युक्त गुरु के धर्मोपदेश को सुनकर **हस्ति राजा** ने वैराग्य रस से अपने मन को पूरित किया। अतः विष के समान विषयसुख से विमुख हुए राजा ने विशाल उत्सवपूर्वक अपने पुत्र **करिराज** को साम्राज्य पर स्थापित किया। फिर स्वयं ने विराट महोत्सवपूर्वक प्रशस्त दीक्षापथ का आश्रय लिया। शुद्ध बुद्धियुक्त नरजन कभी भी आत्महित करने में प्रमाद नहीं करते। उन राजर्षि ने अद्‌भुत दुष्कर चारित्र को अनेक वर्षों तक निरतिचारपूर्वक पालन करके उत्तम गति को प्राप्त किया। उधर स्वर्ग के राज्य की तरह अपने विशाल समृद्धियुक्त राज्य का उपभोग करते हुए और सर्व तेजस्वियों में श्रेष्ठ वह करिराज राजा शोभित हो रहा था।

एक बार उस **कांचनपुर** में दूर देश से कोई अपार बुद्धियुक्त और कलाओं का निधिरूप **सुमति** नामक [1]रथकारपुत्र आया। प्रसन्न हुए साक्षात् विश्वकर्मा ने उसे अत्यधिक, अतुल्य और सर्व जनों को विस्मयकारी शिल्पकला सिखायी थी। उसकी जाति अनजान होते हुए भी कलावान होने के कारण उसी नगर के किसी रईस रथकार ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया था। कला सर्वत्र गौरव को प्राप्त करती है। उस रथकार–पुत्र ने वहीं निवास करके पत्नी के साथ क्रीड़ा करते हुए कितना ही समय लीलामात्र में व्यतीत कर दिया। उसके ससुराल के सदस्य सदैव रथादि के लिए श्रेष्ठ काष्ठ लेने के लिए जंगल में जाया करते थे। वह भी उन सभी के साथ अरण्य में जाता था, पर कुछ भी काष्ठ वह अपने लिए नहीं लेता था, क्योंकि प्रवीण पुरुष की मति यथा–तथा वस्तुओं पर नहीं ठहरती।

एक बार उसके सालों ने उससे कहा–"हे बालक के समान बहनोई! आप इस उत्तम काष्ठ को ग्रहण क्यों नहीं करते?"

तब उसने कहा–"हे सालों! मुझे इनमें कुछ भी योग्य काष्ठ दिखायी नहीं देता।"

यह सुनकर परस्पर एक–दूसरे के हाथों पर ताली देते हुए उसके साले हँसकर बोले–"अहो! यह मूर्ख आँखें होने के बावजूद भी काष्ठ को नहीं देख पा रहा है। अहो! इतने सुन्दर काष्ठों को भी छोड़–छोड़कर चलता जा रहा है। अहो! हमारे इस बहनोई का विवेक तो अलौकिक ही दिखायी पड़ रहा है। अहो! हमें तो यह पागल ही लग रहा है। ऐसा बहनोई तो हमें भाग्य से ही मिला है।"

इस प्रकार सालों के द्वारा की हुई हँसी को मजाक मानकर मानो सुना ही न हो–इस प्रकार वह उनके साथ रहता था। बुद्धिमानों की बुद्धि अगाध ही होती है।

एक बार रोज की तरह वह सालों के साथ अरण्य से वापस लौट रहा था। उस समय उसने चिता में आधा जला हुआ श्रेष्ठ काष्ठ देखा। उसे लेने के लिए उसका मन देखकर हास्य के द्वारा फैले हुए मुख से सालों ने उसकी अनेक प्रकार से मश्करी करके हँसी उड़ायी। पर फिर भी उसने चिता जलानेवालों से अत्यन्त अनुनयपूर्वक वह काष्ठ मांगा। फिर काष्ठ लेकर घर आकर उसने उस काष्ठ के द्वारा अपनी आत्मा को मानो द्रव्यसमूह परोसने के लिए एक सुन्दर कड़छी (चम्मच) बनायी। फिर उसने अपनी पत्नी से कहा–"हे प्रिये! इस चम्मच के द्वारा परोसी हुई वस्तु कभी खत्म नहीं होगी। अतः इस चम्मच को एक लाख द्रव्य में ही बेचना है। अन्यथा नहीं बेचना है।"

इस प्रकार अपनी समझदार पत्नी को समझाकर पति ने उसे बाजार में चम्मच बेचने के

---

1. सुंथार।

लिए कहा। प्रातःकाल होने पर उसकी पत्नी उस चम्मच को लेकर बाजार में पहुँची। ग्राहकों ने उससे उस चम्मच के भाव पूछे। उसने कहा–"जो पुरुष पूरा एक लाख द्रव्य मुझे प्रदान करेगा, मैं उसे ही यह बेचूंगी।"

यह सुनकर बिना विचारे उन ग्राहकों ने उसकी हँसी करते हुए कहा–"अगर लाख लेने की तेरी इच्छा है, तो पीपल के पास जा। वहां अत्यधिक लाख होता है।"

कुछ चतुर पुरुषों ने उससे पूछा–"हे भद्रे! एक चम्मच का इतना अधिक द्रव्य क्यों बता रही हो?"

उसने कहा–"इसका प्रभाव सावधान होकर सुनो–इस चम्मच से परोसी हुई वस्तु कभी भी कम नहीं होगी। अतः इसका लाख द्रव्य का मूल्य तो अत्यन्त कम है। हे मनुष्यों! मैं तो गुणों का ही मूल्य बता रही हूं। काष्ठ का मूल्य नही बता रही हूं। कल्पलता भी तो काष्ठ की ही होती है। क्या वह अमूल्य नहीं है?"

इस प्रकार उसके द्वारा गुणों का उत्कर्ष बताये जाने पर भी अविश्वास के चलते कोई भी उसके चम्मच का खरीददार नहीं मिला। अहो! अविश्वास के विलास को धिक्कार है! जो पुरुष किसी वस्तु के वास्तविक गुण को नहीं देख पाता, वह उसमें आदरयुक्त भी नहीं होता, क्योंकि द्राक्षा स्वादिष्ट होती है, पर फिर भी ऊँट उसके सामने देखता भी नहीं। अंत में राजा का प्रधानमंत्री सायंकाल के समय उसके सामने से निकला। उसने उस चम्मच के बारे में पूछा, तो उसने भी पूर्ववत् जवाब दिया। यह सुनकर उसने विचार किया कि मणि, मंत्र और औषधि की महिमा का वर्णन वाणी से करना अशक्य है। पृथ्वी तो बहुरत्ना है। अतः विचक्षण मंत्री ने अपनी बातों से उसे विश्वास दिलाकर उससे वह चम्मच ले लिया। फिर अपने घर जाकर रात्रि के समय उसे किसी चाँदी के पाट पर स्थापित करके कपूर, पुष्पादि सामग्री के द्वारा उसकी पूजा करके वह निपुण मंत्री सो गया। प्रातःकाल उठने के बाद उसने उस चम्मच के द्वारा जो–जो वस्तु परोसी, वह चक्रवर्त्ती के निधान की तरह अक्षय हो गयी। इस प्रकार उस चम्मच के गुणों के उत्कर्ष को देखकर मंत्री को प्रतीति उत्पन्न हुई। उसने रथकार के घर एक लाख द्रव्य भिजवा दिया। फिर प्रधान राजा के पास गया और रथकार के उस निर्माण की रचनापूर्वक वृत्तान्त बताकर वह चम्मच राजा को दिखाया। प्रधान दीर्घ दृष्टि से ही युक्त होते हैं। सारी बात सुनकर राजा ने आश्चर्यचकित होते हुए उस चम्मच की परीक्षा की और यथार्थता को देखकर हर्ष को प्राप्त हुआ। राजा ने उस चम्मच को अपने कोष में स्थापित किया। कल्पलता को कौन छोड़ता है? वह कारीगर फिर किसी ऐसी वस्तु की रचना करे, तो तुम मुझे अवश्य बताना–ऐसा राजा ने मंत्री से कहा। फिर कोशाधिकारी से एक लाख द्रव्य मंत्री को दिलवाया।

उधर रथकार के सालों को यह सारी जानकारी हुई, तो वे परस्पर कहने लगे–"अहो! हमारे बहनोई की कुशलता तो अद्‌भुत और अतुल्य है।"

ऐसा कहते हुए हर्ष से विकस्वर नेत्रों के द्वारा उसकी प्रशंसा करने लगे। उसके अन्य ससुराल–जन भी उसे अत्यन्त बहुमान देने लगे। लक्ष्मी जिसका मुख सामने देखती हो, उसके सन्मुख कौन नहीं देखता?

एक बार अरण्य में काष्ठ की खोज करते हुए उस रथकार ने काष्ठ का एक दल देखा। उसे वह घर ले आया। विद्वानों की दृष्टि सारभूत वस्तुओं पर ही टिकती है। जगत में भ्रमण करने से खिन्नता को प्राप्त लक्ष्मी को मानो अपने घर में विश्रान्ति देने के लिए उसने उस काष्ठ का एक मनोहर पल्यंक बनाया। फिर अपनी पत्नी के साथ उस पल्यंक को बाजार में भेजा और पूर्ववत् ही शिक्षा प्रदान की। वह स्त्री भी पल्यंक को लेकर प्रातःकाल बाजार में आयी। ग्राहकों ने मूल्य पूछा, तो उसने एक लाख द्रव्य बताया। उसका मूल्य श्रवण करके कई लोग तो पल्यंक के समीप तक नहीं आये। क्या पुण्यरहित प्राणी कल्पवृक्ष को पा सकता है? मूर्खता के कारण किसी ने भी उस पल्यंक को नहीं खरीदा। अपरीक्षक रत्न की परीक्षा कर ही नहीं सकते। अथवा तो ऐसी अमूल्य वस्तु ऐसे–वैसे के घर पर कैसे रह सकती है? क्या चिन्तामणि रत्न हर किसी के हाथ में रह सकता है? सायंकाल होने पर मंत्री वहां आया और उस पल्यंक का मूल्य पूछा। उसने एक लाख द्रव्य बताया। मंत्री ने उसके गुण पूछे, तो उसने कहा–"जो रात्रि में इस पर सोयेगा, वही इसके गुण जानेगा। इस पल्यंक के गुण देखने के बाद ही आप मुझे इसका मूल्य प्रदान करना। अगर न रुचे, तो मेरा पल्यंक मुझे वापस दे देना।"

उस स्त्री के युक्तियुक्त वचन अंगीकार करके मंत्री मानो उपहार लेकर आया हो, इस प्रकार उस पल्यंक को लेकर राजा के पास आया। फिर राजा से कहा–"हे स्वामी! इस पल्यंक को उसी शिल्पी ने तैयार किया है। इसके गुणों को रात्रि में इस पर सोनेवाला व्यक्ति ही जान सकता है।"

यह सुनकर राजा ने उस पल्यंक की पुष्पादि के द्वारा पूजा की और सायंकाल होने पर विधिपूर्वक कौतुक के साथ उस पल्यंक पर सोया। उस पर सुखपूर्वक सोते हुए भी जैसे आजीविका की चिन्ता से दरिद्री पुरुष को नींद नहीं आती, उसी प्रकार राजा को उसका माहात्म्य देखने की उत्सुकता से नींद नहीं आयी। तभी दिव्य प्रभाव के कारण उस पल्यंक के चारों पाये विद्वानों की तरह परस्पर वार्त्तालाप करने लगे– "अरे!समग्र कर्म क्षीण हुए पुरुष की भाँति हम सब क्यों बैठे हैं? बुद्धिरहित पुरुषों का समय निद्रादि प्रमाद में बीतता है। आश्चर्यकारक कथा, नृत्य और संगीतादि विनोद के बिना हमें यह तीन प्रहर से युक्त

रात्रि करोड़ प्रहर के समान लम्बी लगेगी। अतः रात्रि का सुखपूर्वक निर्गमन करने के लिए हमें कोई आश्चर्यकारक और मनोहर रस से युक्त कथा की प्रस्तावना करनी चाहिए।''

यह सुनकर राजा भी 'दिव्य भाषा से युक्त वचनों को बोलते हुए ये काष्ठ के पाये कौनसी कथा कहेंगे?'–इस प्रकार विचार करके आश्चर्ययुक्त होते हुए सावधान हो गया।

फिर उन चारों पायों में से प्रथम पाये ने वाचालतापूर्वक बोलना शुरु किया–''शास्त्रों में चार प्रकार के पुरुषार्थों का वर्णन है, उनमें से काम पुरुषार्थ ही प्रधान है, क्योंकि उसमें ही एकान्त सुख समाया हुआ है। यही काम उदार शब्द, रूपादि भोग–विलासमय है। अतः विश्व में मनोहर यह काम ही सर्व प्रकार के सुख का कारण है। क्षुधा, तृषादि से उत्पन्न हुआ जो दुःख अनुभव में आता है, वह प्रकाश के अभाव में अन्धकार की तरह काम के अभाव में ही अनुभव में आता है। काम की तरह धन में एकान्त सुख का कारण नहीं माना जाता, क्योंकि धन की प्राप्ति करने में, खर्च करने में और रक्षण करने में दुःख समाया हुआ है। कहा है कि जो दुर्गम अरण्य और समुद्रादि में गमन करना पड़ता है, नीच पुरुषों की सेवा करनी पड़ती है, जो माता–पिता और बंधुवर्ग को मारता है, जो चोरी आदि दुष्कर्म करवाता है, जो समग्र रात्रि जागरण करवाता है तथा जो दीन वचनादि कहलवाता है, वह सब जगत को आकुल–व्याकुल बनानेवाली सर्वप्रसिद्ध धन की ही दुश्चेष्टा है। अगर कदाचित् कामभोग में धन का उपयोग होता है, तो ही वह सुखकारक बनता है, अन्यथा मम्मण सेठ की तरह दुःखदायक ही बनता है। धर्म और मोक्ष तो धूर्त्तजनों की कल्पना रूपी शिल्पकला के द्वारा कल्पित हैं। ये दोनों तो प्रत्यक्ष के विषय से दूर होने के कारण अमौजूद और अतात्त्विक हैं। जो कहा जाता है कि प्राणियों के पूर्व के पुण्य और पाप के योग से ही शुभ और अशुभ होता है, इसमें भी एकान्त नियमा नहीं है, क्योंकि कोई पत्थर तो प्रतिमा के रूप में पूजा जाता है, तो कोई पत्थर पैरों की ठोकरें खाता है। इसमें पुण्य–पापादि का कोई कारण नहीं है। जिस मोक्ष में रूप, रस, गंध, स्पर्श,वचन, वर्ण, इच्छा, बुद्धि, सुख, दुःखादि कुछ भी नहीं है, उस मोक्ष में और आकाशपुष्प में कुछ भी अन्तर नहीं है अर्थात् मोक्ष तो कल्पना–मात्र है। कदाचित् धर्म और मोक्ष को तात्त्विक मान भी लिया जाय, तो भी ये दोनों बुद्धिमान पुरुषों द्वारा आदर करने योग्य नहीं है, क्योंकि बुद्धिमान पुरुष तो सुखाभिलाषी होते हैं और धर्म व मोक्ष तो दुःखपूर्वक साध्य होते हैं। कष्ट सहन करने से ही वे सिद्ध होते हैं। जैसे–जो भयंकर उपसर्गों को सहन करते हैं, जो निरन्तर बड़ी–बड़ी तपस्याओं के द्वारा समग्र शरीर को सुखाते हैं, जो अत्यधिक मल का स्थान होते हैं, जो सभी मनोहर पदार्थों के समूह में इन्द्रियों का नियमन करते हैं, जो अत्यन्त शीत व ताप से उत्पन्न कष्टों को निरन्तर सहन करते हैं और जो कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं को करने में अत्यन्त धैर्यवान होते हैं, वैसे ही

पुरुष विधि के अनुसार धर्म का आराधन करने में समर्थ होते हैं। मोक्ष प्राप्त करने में भी ऐसे ही पुरुष समर्थ होते हैं। इनके सिवाय अन्य कोई भी समर्थ नहीं हो सकता है और ऐसे कष्टों को सहन करके परलोक में सुख की प्राप्ति होती ही है–यह तो सौगन्ध देकर सत्य कहलवाने के समान है। जो पुरुष काम प्राप्त होने पर भी अधिक सुख प्राप्त करने के लालच में कामों का त्याग करते हैं, वे वानर की तरह अपार पश्चात्ताप ही करते हैं। उसकी कथा इस प्रकार है :–

एक अरण्य में परस्पर प्रीतियुक्त वानर और वानरी रहते थे। वे पल भर भी एक–दूसरे के वियोग को सहन नहीं कर पाते थे। वे मानो एक डोर से बंधे हुए हों–इस प्रकार वृक्ष पर चढ़ने–उतरने, फुदकने आदि सभी क्रियाओं को साथ–साथ ही किया करते थे। एक दिन गंगा नदी के किनारे वानरी के साथ क्रीड़ा करता हुआ वानर वानीर (नेतर) के वृक्ष पर से अचानक पृथ्वी पर गिर गया। उस तीर्थ के प्रभाव से वह वानर तुरन्त ही, मानो विद्या सिद्ध की हो–इस प्रकार से देवकुमार के समान मनुष्य के सुन्दर रूप को प्राप्त हुआ। उसे उस रूप में देखकर वानरी भी उसी प्रकार पृथ्वी पर गिरी और देवांगना के समान नारी रूप को प्राप्त हुई। परस्पर नवीन उत्पन्न हुए प्रेम के अतिशय को धारण करते हुए पहले की ही तरह रात्रि–दिवस वियोगरहित चिरकाल तक उन्होंने विलास किया। किसी दिन पति ने अपनी प्रिया से कहा–"जैसे हम पहले वृक्ष से गिरकर तिर्यंच की जगह मनुष्य रूप को प्राप्त हुए, उसी प्रकार अब मनुष्य की जगह देव रूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।"

तब प्रिया ने कहा–"हे स्वामी! देवपने से हमें क्या प्रयोजन? हम तो मनुष्य के भोगों को भोगते हुए अत्यन्त संतुष्ट हैं। असन्तोष तो सर्व दुःखों की खान है।"

इस प्रकार उसके निषेध करने के बावजूद भी अत्यन्त लोभाविष्ट होकर वह मूढ़ पुनः वृक्ष पर चढ़कर पूर्ववत् पृथ्वी पर गिरा। उस तीर्थ का प्रभाव ही ऐसा था कि तिर्यंच गिरे, तो मनुष्य बने और मनुष्य गिरे, तो देव बने। पर अगर कोई दुबारा वृक्ष से गिरे, तो वह अपने पूर्वरूप में आ जायगा। अतः वानर के जीव के पुनः झंपापात करने से वह पुनः तिर्यंच बन गया। उसे वानर बना हुआ देखकर उसकी स्त्री ने पुनः झंपापात नहीं किया, क्योंकि वह पुनः तिर्यंच नहीं बनना चाहती थी।

एक दिन उस अत्यन्त रूपवती अकेली स्त्री रूपी वानरी को देखकर उसे पकड़कर राजा को सौंप दिया, क्योंकि जो स्त्री स्वामी–रहित होती है, उसका स्वामी राजा ही होता है। राजा ने मनोहर आकृतियुक्त उस स्त्री को अपनी पट्टरानी बना लिया, क्योंकि सुन्दर लक्षणों से युक्त आकृति लक्ष्मी की साक्षी होती है।

उधर उस वानर को पकड़कर कुछ नटों ने उसे नाट्य सिखाया। फिर एक दिन उसी राजा के पास नटों ने नृत्य प्रारम्भ किया। उस वानर ने राजा के समक्ष अद्‌भुत नृत्य किया। पर तभी राजा के पास अर्ध सिंहासन पर बैठी हुई अपनी प्रिया को देखकर वह वानर रोने लगा। पूर्व के सुख का स्मरण करते हुए बार–बार अश्रुपात करते हुए उस वानर ने अत्यन्त पश्चात्ताप किया। वाणीकुशल रानी ने भी उसको पहचान लिया और कहा–"हे कपि! स्वयं के द्वारा बोये हुए अविवेक रूपी वृक्ष के फल को भोगो।"

राजादि ने भी उसके द्वारा सुनाये गये वृत्तान्त को सुनकर अत्यन्त आश्चर्य प्राप्त किया और मानने लगे कि सर्व आपत्तियों का मूल असन्तोष है।

अतः जो मनुष्य इस भव में कामों को प्राप्त करने के बावजूद भी परलोक में अधिक समृद्धि प्राप्त करने के लिए क्लेशों को सहन करता है, वह वानर के समान पीछे से अत्यन्त पश्चात्ताप को प्राप्त होता है। अतः सर्व पुरुषार्थों में काम पुरुषार्थ ही प्रधानता के साथ प्रथम स्थान को प्राप्त होता है–यह सिद्ध होता है।"

प्रथम पाये की इस बात को सुनकर बोलने में चतुर द्वितीय पाये ने कहा–"हे वादी! तुमने जो कुछ भी कहा, वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि सर्व पुरुषार्थों में अर्थ की प्रधानता ही सिद्ध है। काम का भी मूल कारण अर्थ ही है। अर्थ बिना काम असंभव है। काम के इच्छुक लोग अर्थ के लिए क्लेश पाते हुए देखे जाते हैं। समग्र सुख का हेतु वित्त ही घटित होता है, क्योंकि वित्त को देखने मात्र से ही बालक का मन भी उल्लसित हो जाता है। हे वादी! तुमने अर्थ का योग होने पर भी जो मम्मण सेठ के दुःख का वर्णन किया, वह भी अयोग्य ही है, क्योंकि वह दुःख उसकी कृपणता के कारण था। अर्थ के कारण उसे कोई दुःख नहीं था। धन के द्वारा बड़े–बड़े घोड़े, अक्षय भोग, सुन्दर सौभाग्ययुक्त नारियाँ, गर्जना करते हुए गजेन्द्र, श्रेष्ठ वस्त्र और अत्यधिक भक्ति करनेवाले चाकर प्राप्त होते हैं। धन के द्वारा सभी मनुष्य स्वजन बन जाते हैं। समग्र शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। राजा की अत्यन्त कृपा भी प्राप्त होती है। धन के द्वारा कौन वश में नहीं होता? वैभव के द्वारा नीच मनुष्य भी उच्चता को प्राप्त होता है और अकुलीन भी कुलीनता को प्राप्त कर लेता है। लघुतावाला मनुष्य भी गौरवता को प्राप्त कर लेता है। वैभव के द्वारा क्या–2 शुभ नहीं होता? जो ज्ञान से वृद्ध होते हैं, तप से वृद्ध होते हैं, स्वजनता से वृद्ध होते हैं और वय से वृद्ध होते हैं, वे सभी धन से वृद्ध कहलानेवाले पुरुषों के कथनानुसार ही चलते हैं अर्थात् उनके गुलाम बनकर रहते हैं–यह आश्चर्य की बात है। धनवान को अगर वाणी का दोष होने के कारण वह बोल नहीं पाता, तो उसे परिमितभाषी कहा जाता है। अगर उसमें चपलता का दोष हो, तो उसे उद्यमी कहा जाता है। अगर वह आलसी हो, तो उसे स्थिरतायुक्त कहा जाता है। उसकी जड़ता

को भी सरलता ही समझा जाता है। वाचालता हो, तो उसे हुशियार माना जाता है। पात्र–अपात्र के विवेक का ज्ञान न हो, तो उसे उदार माना जाता है। उसमें उद्धतता हो, तो तेजस्विता मानी जाती है। धनवान के कौन–कौनसे दोष गुणरूप नहीं होते? गुणवान हो, पूज्य हो, प्रतिष्ठा–प्राप्त हो, तो भी वित्तरहित मनुष्य प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता। शास्त्रों में भी सुना जाता है–दशरथ के पुत्र भारत पृथ्वी के राजा बने और पिता की आज्ञा के आधीन राम ने वन में प्रयाण किया। उस समय श्रीराम किसी वन में आये। उन्हें पहचानते हुए भी तापसों के स्वामी ने उनके सामने जाना, खड़े होना आदि कुछ भी सत्कार नहीं किया। फिर बारह वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद रावण का लीलामात्र में उन्मूलन करके अलंकार के समान लंका का राज्य प्राप्त करके विशाल ऋद्धियुक्त श्रीराम जब पुनः उसी आश्रम में लौटे, तो वही तापसपति उनके सन्मुख गया, फलादि अर्पण किये और अर्घ्य आदि के द्वारा उनका सत्कार किया। यह देखकर राम ने उनसे कहा–"तुम वही हो, मैं भी वही हूं और आश्रम भी वही है। पहले जब मैं यहां आया था, तो तुमने मेरा कुछ भी आदर नहीं किया था। तो फिर आज इतना आदर क्यों कर रहे हो?"

तब तापसपति ने कहा–"हे राम! धन का उपार्जन करो। इस जगत में समस्त वस्तुओं का कारण धन ही है। निर्धन और मरे हुए व्यक्ति में मैं कुछ भी अन्तर नहीं मानता हूं।"

धन केवल इस लोक में ही महत्त्वादि का कारण है–ऐसा नहीं है, बल्कि धर्म का अद्वितीय कारण होने से परलोक में भी महत्त्वादि का कारण है, क्योंकि धनरहित गृहस्थाश्रमी का मन निरन्तर अपनी आजीविका में ही आकुल–व्याकुल बना रहता है, जिससे वह एकाग्रचित्त होकर धर्म का श्रवण भी नहीं कर सकता। तो फिर धर्म का अनुष्ठान करना तो बहुत दूर की बात है। धनोपार्जन में व्यग्र व्यक्ति कभी तृप्त नहीं होता। श्रद्धायुक्त प्राणी भी धन के बिना चैत्य करवाना, प्रतिमा भरवानी, जिनपूजा करना, महोत्सव करना, तीर्थयात्रा करना, तप का उद्यापन करना, ज्ञान लिखवाना, संघ की भक्ति करना, दया–दान करना और किसी पर उपकार करना आदि धर्मकार्यों को जरा भी साध नहीं सकता, क्योंकि धन के बिना ये सभी कार्य असंभव है। धर्म का कारण धन है–यह बात सिद्ध हो जाने से सिद्धि का कारण भी धन ही सिद्ध होता है। धन से धर्म होता है, धर्म से कर्मक्षय होता है और कर्मक्षय से मोक्ष होता है। इस पर **दण्डवीर्य राजा** की कथा सुनो–

अयोध्या नगरी में आदीश्वर भगवान के वंश में आठवें पाट पर राजा दण्डवीर्य हुआ। वह महापराक्रमी और भरत के तीन खण्डों का स्वामी था। सोलह हजार राजा उसकी सेवा में रहते थे। वह निरन्तर सम्यग् प्रकार से विधिपूर्वक धर्म की आराधना करता था। 'मैं जितने साधर्मिकों को जानता हूं, उन्हें खिलाकर फिर स्वयं भोजन करूंगा'–इस प्रकार का उग्र

अभिग्रह उसने जीवनभर के लिए ग्रहण किया था। 'मेरी दानशाला में आपलोग निरन्तर भोजन करें व निरन्तर धर्मध्यान करें'–ऐसा कहकर उसने अपने महल में लाखों साधर्मिकों को रखा हुआ था। उनमें से कितने ही लोगों ने ज्ञानादि त्रयरत्नों को प्रकट करने में कुशल स्वर्ण तीन डोरों के द्वारा अपने हृदय को शोभायमान बनाया था। 'हम हमेशा श्रावक के बारह व्रतों को धारण करते हैं'–ऐसा दिखलाने के लिए कितने ही लोगों ने अपने शरीर पर बारह तिलक धारण कर रखे थे। कितने ही लोग अरिहन्त आदि के गुणसमूह की स्तुति रूपी पवित्रता के द्वारा शोभित चार वेदों का उच्च स्वर में घोष करते थे। कितने ही लोग पुष्पों को लाते थे, कुछ लोग अरिहन्तों की प्रतिमाओं को जल के द्वारा स्नात्र करवाते थे। कितने ही लोग दीपों को प्रकटाते थे। कुछ लोग सुगन्धित धूप जला रहे थे। कुछ लोग मोतियों द्वारा अष्टमंगल उकेर रहे थे। इस प्रकार अरिहन्तों की पूजा में लोग यत्न करते थे। कुछ लोग सामायिक लेकर पद्मासन पर बैठकर नासिका के अग्र भाग पर नेत्रों का स्थापन करके नमस्कार मंत्र का जाप करते थे। कुछ लोग श्रेष्ठ धर्मानुष्ठान में तत्पर बनकर अष्टकर्म रूपी दुष्ट ईंधन को जलाने के लिए उपवास, छट्ठ, अट्ठमादि दुष्कर तप को करते थे। इस प्रकार धर्मक्रिया में उद्यमवंत वे श्रावक मूर्त्तिमान धर्म के समान प्रतीत होते थे, जिनको निरन्तर सर्व मनोरथ पूर्ण करनेवाला राजा भोजन करवाता था। प्रायः करके उसके घर पर सदैव एक करोड़ श्रावक भोजन करते थे। अतः उस राजा ने **कोटिभोजी** बिरुद धारण किया हुआ था।

एक दिन स्वर्ग में रहे हुए इन्द्र ने उसकी धर्म के विषय में स्थिरता आदि अद्‌भुत गुणों की सम्पदा को देखकर अत्यन्त आश्चर्य किया। अतः उसकी परीक्षा करने के लिए वह स्वयं अयोध्या में आया। दूसरे करोड़ों श्रावकों की उसने विकुर्वणा की। करोड़ों नये–नये श्रावकों को आया हुआ देखकर दण्डवीर्य राजा ने अत्यन्त प्रसन्न होते हुए मन में विचार किया–"अहो! मेरा कैसा भाग्य है! अहो! मेरा कैसा भाग्य है!"

फिर अपनी विशाल दानशाला में अपने भाइयों की तरह आदरसहित राजा ने स्वयं भक्तिपूर्वक उन्हें भोजन करवाया। पर इन्द्र फिर से नये–नये श्रावकों की विकुर्वणा करता चला गया। अतः समुद्र के जल की तरह नवागत श्रावकों का पार ही नहीं था। उन्हें भोजन करवाते हुए क्या अन्य किसी साधर्मिक की ऐसी भक्ति है–यह देखने की इच्छा से मानो सूर्य भी अस्त होता हुआ अन्य द्वीप में चला गया। इस प्रकार श्रद्धापूर्वक श्रावकों की भक्ति करते हुए राजा के आठ उपवास हो गये, पर उसके हृदय में लेशमात्र भी क्लेश उत्पन्न नहीं हुआ। वह खिन्न भी नहीं हुआ, बल्कि उसका मन तो उल्लास को प्राप्त हुआ। तब इन्द्र ने अपना वास्तविक रूप प्रकट करके हर्षपूर्वक बार–बार उसकी प्रशंसा की–"हे दण्डवीर्य! हे महा धैर्यवान! तूं चरम शरीरी है। तूं धन्य है, क्योंकि साधर्मिकों के विषय में तेरी भक्ति अद्‌भुत

है। तुमने आज भरत, आदित्ययशा (सूर्ययशा) आदि तेरे सर्व पूर्वजों को अपने उन–उन गुणों के द्वारा प्रकट किया है। तुझ जैसे उत्तम पुत्रों से आज आदिनाथ स्वामी का कुल शोभित हो रहा है। सूर्य के अभाव में अन्य ग्रहों से आकाश शोभित नहीं होता। हे राजन! मैं इन्द्र हूं। तुम्हारी परीक्षा करने के लिए धरती पर आया हूं। जगत में उत्तम गुणों के धारी तुम–जैसे राजा की परीक्षा मैं कैसे कर सकता हूं। इस परीक्षा के द्वारा मैंने तुम्हे संतप्त किया है। अतः मेरे अपराध को तुम क्षमा करो, क्योंकि सत्पुरुषों में तो अद्‌भुत धैर्य होता है। भरत चक्री के सभी कार्य करने की तुझमें क्षमता है। अतः तूं शत्रुंजय की यात्रा व तीर्थ का उद्धार कर। मैं भी वहां आकर तुम्हारी सहायता करूंगा।''

यह सुनकर राजा ने हर्षित होते हुए कहा–''हे इन्द्र! आपने मुझे बहुत अच्छा सुझाव दिया है। आप मेरे लिए भरत महाराज के समान पूज्य हो। आपके कथनानुसार मैं अभी ही संघ को बुलाकर यात्रा के लिए प्रयाण करता हूं।''

यह सुनकर इन्द्र हर्षपूर्वक दण्डवीर्य राजा को दो दिव्य कुण्डल, बाण सहित धनुष, हार व रथ देकर स्वर्ग में चला गया। फिर विशाल कार्यों को करने में कुशल दण्डवीर्य राजा ने तीनों खण्डों में से संघों को आमन्त्रित किया और स्वर्ण के देवालय में आदिनाथ प्रभु की रत्नमय प्रतिमा स्थापित करके यात्रा के लिए प्रयाण किया। मार्ग में स्थान–स्थान पर स्नात्र पूजा, ध्वजारोपण आदि महोत्सवों में करोड़ों का धन व्यय करते हुए वह राजा अनुक्रम से शत्रुंजय पहुँचा। तत्काल इन्द्र भी वहां आया। उसके कथनानुसार विधिपूर्वक राजा ने स्वर्ण, पुष्पादि से तीर्थ की पूजा की और स्नात्र महोत्सव किया। देवों को भी आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले उत्सवों की श्रेणि करते हुए और याचकों को इच्छानुसार दान देते हुए राजा ने कल्पवृक्ष बनकर सभी के मनोरथ पूर्ण किये। वहां इन्द्र की आज्ञानुसार राजा ने जीर्ण हुए चैत्यों का स्वर्ण व रत्नों की शिलाओं के समूह द्वारा उद्धार किया। इसी प्रकार रैवताचल पर्वत पर भी यात्रा व जीर्णोद्धार करके विशाल उत्सवपूर्वक राजा निर्विघ्नतापूर्वक अपने घर लौट आया। फिर समस्त संघ का स्वर्ण, रत्न व वस्त्र के द्वारा अनेक प्रकार से सम्मान करके निर्विघ्न रूप से उन सभी को अपने–अपने घर पहुँचाया। स्फटिक मणि आदि के द्वारा अरिहन्तों के करोड़ों चैत्य बनवाकर उसने निरन्तर जिनशासन की प्रभावना की। एक बार भरत चक्री की तरह अरिसा भवन में शरीर की शोभा देखते–देखते अंतःकरण में उच्च भावना प्रकट होने से दण्डवीर्य राजा को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। अर्द्ध पूर्ववर्ष तक चारित्र पर्याय का पालन करके शुद्ध बुद्धियुक्त उस केवली ने समग्र कर्मों का क्षय करके मोक्षपद को प्राप्त किया। इस प्रकार दण्डवीर्य राजा को धन से ही काम, धर्म और मोक्ष प्राप्त हुआ। अतः सर्व पुरुषार्थों में अर्थ की ही प्रधानता है।''

द्वितीय पाये के कथन को सुनकर तीसरे पाये ने भी वादी की तरह कहा–"हे वादी! तुमने जो अर्थ की ही प्रधानता बतायी है, वह अयोग्य है, क्योंकि अर्थ का कारण धर्म है। धर्म के बिना प्राणियों को कभी भी अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती। शास्त्रों में भी सुना जाता है–**शालिभद्र**, जो कि पूर्वभव में **संगम** था, उसने पुण्य के प्रभाव से ही जगत को विस्मय में डालनेवाली दिव्य सम्पदा को प्राप्त की थी। अहो! एक ही दिन धर्म की आराधना करने से **द्रमक** भी तीन खण्ड का स्वामी **सम्प्रति** नामक राजा बना। अर्थ का कारण धर्म सिद्ध होने से काम का कारण भी धर्म ही सिद्ध होता है, क्योंकि अर्थ की प्राप्ति होने से काम की सर्व सम्पदा सुलभ होती है। जैसे दही और घी–दोनों का ही कारण दूध है, वैसे ही अर्थ और काम–दोनों का ही कारण धर्म है। धर्म में तत्पर रहनेवाले मनुष्य को इस भव में पग–पग पर संपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। इस विषय पर **धर्मबुद्ध** नामक मंत्री की कथा है, जिसे तुम लोग सुनो–

"पृथ्वी का विभूषण रूप **पृथ्वीभूषण** नामक नगर है। उसमें रहे हुए मनुष्य सद्‌गुण रूपी आभूषणों के द्वारा अपनी आत्मा को शोभित करते थे। उस नगर में सार्थक नामयुक्त **पापबुद्धि** नामक राजा राज्य करता था। उसकी बुद्धि कभी भी मनोहर धर्म में भी आनन्द को प्राप्त नहीं होती थी। उस राजा के सद्विचारों से युक्त **धर्मबुद्धि** नामक मंत्री था। वह निरन्तर अपने नाम को सत्य अर्थ से युक्त बनाता हुआ रहता था। राजा दिन–रात व्यसनादि पापों में प्रवृत्ति करता रहता था। शूकर मल के बिना ओर कहीं भी आनन्द को प्राप्त नहीं होता।

एक दिन प्रधान ने राजा से कहा–"हे पृथ्वीपति! आप पाप में प्रवृति न करें, क्योंकि जो पाप में प्रवृति करता है, उसकी संपत्तियाँ निरन्तर क्षीण हो जाती हैं। महान पुण्य होने पर भी अनीति लक्ष्मी का विनाश करती है। दीपक में अत्यधिक तेल होने पर भी क्या तेज वायु उसे बुझा नहीं देती? अतः आप पापों का त्याग करके धर्म का सम्यग् आराधन करें, जिससे दिन–दिन वृद्धियुक्त संपत्ति आपको प्राप्त हो।"

यह सुनकर राजा ने कहा–"इस जगत में दान, पुण्यादि करने के बाद भी किसी ने संपत्ति प्राप्त नहीं की, बल्कि धर्म में संपत्ति का व्यय करने से और धर्म की व्यग्रता के कारण नयी लक्ष्मी का उपार्जन न कर सकने के कारण पूर्वोपार्जित लक्ष्मी दिन–दिन हानि को ही प्राप्त होती है। तुम देखते ही हो कि सम्यग् प्रकार से धर्म की आराधना करने के बावजूद भी सैकड़ों मनुष्य दुर्भाग्य और दारिद्र्य के द्वारा अनेक प्रकार से दुःखी होते हैं। अगर तुम कहो कि परलोक में धर्म से सुख की प्राप्ति होती है, तो कौन बुद्धिमान व विद्वान पुरुष तुम्हारी इस बात पर श्रद्धा करेगा? उस अदृष्ट सुख के लिए कौन बुद्धिमान व्यर्थ ही आत्मा

को क्लेश में डालेगा? पाप में प्रवृत्ति करनेवाले की तो इसी भव में मानो परस्पर स्पर्द्धा करती हुई संपदाएँ दिन–रात वृद्धि को प्राप्त होती हैं। वह इस प्रकार है–खेती आदि महाआरंभ के पाप–व्यापार को करनेवाले किसान संपत्ति के स्थान को प्राप्त होते हैं। खोटे व्यापार और परद्वेषादि करने रूप पाप से प्राप्त संपत्ति के द्वारा वणिकजन कुबेर के समान धनाढ्य देखने में आते हैं। इसी प्रकार दुष्ट शील और कुटिलतादि अनाचार का सेवन करने में तत्पर रहनेवाली वेश्याएँ देवांगनाओं की तरह भोगों को भोगती हैं। मैं भी शत्रुओं का घात और उनके नगर को लूटना आदि पाप करके भी सभी प्रकार से वृद्धि को प्राप्त करनेवाली राज्य–सम्पदा को भोगता हूं। तुम तो धर्म में ही तत्पर रहने के कारण लक्ष्मी का वैसा उपभोग नहीं कर पाते। तुम्हारे पास जो भी थोड़ी–बहुत संपत्ति है, वह भी मेरे द्वारा प्रदत्त है। वह संपत्ति तुम्हें पुण्य की निपुणता से प्राप्त नहीं हुई है। अगर ऐसा नहीं है, तो और किसी स्थान पर जाकर तुम मुझे पुण्य का फल दिखाओ।''

यह सुनकर मंत्री ने मन में विचार किया–''मेरा यात्रा का चिरकाल का मनोरथ आज सफल होनेवाला है। देशान्तर गये बिना मैं राजा को पुण्य का फल नहीं दिखा पाऊँगा। अतः अब मेरा परदेश जाना ही श्रेष्ठ है।''

ऐसा विचार करके राजा की आज्ञा स्वीकार करके उसी बहाने से आनंदपूर्वक शत्रुंजय आदि तीर्थों की यात्रा करने के लिए निकल पड़ा। मार्ग में विविध प्रकार के तीर्थों को भक्तिपूर्वक वंदन करते हुए शत्रुंजय पर्वत पर रहे हुए जिनेश्वरों को वंदन करने के लिए जाते हुए मार्ग में एक विशाल विकट अटवी में वह आया। उस अटवी में उसे भयंकर आकृतिवाला एक राक्षस मिला। उसे देखकर मंत्री ने मन में धीरज धारण करके उसे मामा का संबोधन देते हुए प्रणाम किया। तब राक्षस ने कहा–''अरे! तूं मुझे मामा मत कह, क्योंकि मैं सात दिवस से भूखा हूं। अतः मैं तुझे खानेवाला हूं।''

यह सुनकर मंत्री ने कहा–''मैं अभी किसी बड़े कार्य को करने के लिए निकला हूं। वह कार्य करके शीघ्र ही वापस लौटनेवाला हूं। अतः मुझ पर कृपा करके मुझे अभी तो छोड़ दो। जब मैं वापस लौटूं, तब आप अपनी इच्छा पूर्ण कर लेना। मैं आपके ही आधीन हूं।''

ऐसी वाणी सुनकर प्रसन्न हुए राक्षस ने उसके पुण्य के प्रभाव से उसे छोड़ दिया। तब हर्षित होते हुए मंत्री अनुक्रम से अटवी पार करके तीर्थ में पहुँचा। वहां युगादीश को नमन करके अद्‌भुत रचना के द्वारा पूजा करके भक्ति द्वारा तल्लीन मनवाला बनकर वंदन करने लगा। उस समय उसके अंतःकरण की उदार भक्ति को साक्षात् देखकर उसके वशीभूत होता हुआ **गोमुख** नामक यक्ष प्रसन्न होकर उसके प्रत्यक्ष होकर बोला–''हे भद्र! तेरी भक्ति से मैं प्रसन्न हुआ हूं। अतः तूं अपनी इच्छानुसार वरदान मांग।''

तब मंत्री ने कहा–"मुझे धर्म की प्राप्ति हो गयी है, इसके सिवाय मांगने के लिए अब और कुछ नहीं है।"

यह सुनकर उसके संतोष से प्रसन्न हुए यक्ष ने उसे समग्र इच्छाओं की पूर्त्ति करनेवाला कामकुम्भ दिया और स्वयं अदृश्य हो गया। उसके बाद मंत्री तीन दिन तक तीर्थ की सेवा के द्वारा अपने जन्म को सफल करता हुआ कामकुम्भ के साथ अपने घर की और लौटा। मार्ग में लौटते हुए उसे वही राक्षस मिला। उसने कहा–"अब मैं तुम्हारा भक्षण करूंगा।"

तब मंत्री ने कहा–"मेरे इस अपवित्र शरीर को खाने से तुम्हे क्या स्वाद आयगा? अतः हे दयालू! अमृत के समान मनोहर दिव्य आहार का तूं भोजन कर।"

यह सुनकर राक्षस ने कहा–"ठीक है। पर वह दिव्य आहार तूं मुझे जल्दी से दे।"

तब मंत्री ने कामकुम्भ से कहकर वह दिव्य आहार उसे जल्दी से प्राप्त करवाया। उस भोजन को खाकर तृप्त होते हुए राक्षस ने कहा–"सभी इच्छित अर्थ को प्रदान करनेवाले मेरे इस दिव्य लकुट को तूं ग्रहण कर। पर हे महाशय! इस कामकुम्भ को तूं मुझे दे।"

यह सुनकर मंत्री ने उसे कामकुम्भ दे दिया। महान पुरुष किसी की प्रार्थना को अस्वीकार नहीं करते। फिर आगे जाते हुए मंत्री को मध्याह्न के समय क्षुधा लगी। तब कामकुम्भ को लाने के लिए मंत्री ने लकुट को आज्ञा प्रदान की। उस लकुट ने राक्षस के पास जाकर एक श्रेष्ठ सुभट की तरह उस राक्षस को पीट–पीटकर वह कामकुम्भ लाकर मंत्री को सौंप दिया। कर्म की अनुकूलता से क्या–क्या वस्तु अनुकूल नहीं होती? मंत्री ने शत्रु के शस्त्र द्वारा ही शत्रु का नाश करके अपनी संपत्ति का विकास किया। फिर दोनों वस्तुओं को साथ लेकर मंत्री आगे की और चला। तभी रास्ते में शत्रुंजय को नमन करके लौटे एक यात्री–संघ को उसने देखा। उसे देखकर उसने विचार किया–"अहो! मेरे पूर्व के अगण्य पुण्य अभी तक जागृत है, जिससे कि इस संघ ने अकस्मात् मेरे सामने आकर मेरी दृष्टि को पावन किया है। अतः अब मैं इस संघ की भक्ति करके मेरे जन्म को सफल बनाऊँ, क्योंकि तीर्थयात्रा करनेवालों का सत्कार करने से अनंत पुण्य बंधता है।"

इस प्रकार का विचार करके निर्मल हृदययुक्त उस मंत्री ने भोजन के लिए उस समस्त संघ को भक्तिपूर्वक निमंत्रित किया। ऐसे कार्य में कौन प्रमाद करे? फिर कामकुम्भ के प्रभाव से तुरन्त तैयार की गयी दिव्य रसोई के द्वारा उसने पूरे श्रीसंघ को भोजन करवाया। फिर मन के उल्लास के साथ मनुष्यों के चित्त के अनुकूल रत्नजटित वस्त्रों के द्वारा सम्पूर्ण श्रीसंघ की पहेरामणी करवायी। यह सब देखकर तुष्ट हुए संघपति ने हर्षपूर्वक अत्यन्त प्रार्थना करके उस महात्मा मंत्री को दो चामर प्रदान किये, जिनके बीजने से उत्पन्न हुई वायु के द्वारा सर्व

प्रकार की आधि–व्याधि का नाश हो जाता था। कौन बुद्धिमान योग्य वस्तु को सुपात्र को नहीं देता? फिर मूर्त्तिमान तीन पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ व काम) के समान तीन वस्तुओं से शोभित वह मंत्री अनुक्रम से मानो मूत्तिमान महोत्सव की तरह अपने घर पहुँचा।

उधर उसी दिन उस पापबुद्धि राजा ने विचार किया–"मैंने मंत्री को धर्म की परीक्षा करने के लिए भेजा था, पर उसके समाचार भी नहीं है। अब मैं स्वयं ही धर्म की परीक्षा करूं। जिसकी प्रत्यक्ष परीक्षा की जाय, वही प्रमाण रूप होता है। यह रत्न जिसके पास जायगा, उसके कर्मानुसार ही मैं पुण्य और पाप के विषय में सुख का कारण स्वीकार करूंगा।"

ऐसा विचार करके राजा ने एक लाख मूल्यवाला एक रत्न गुप्त रूप से बीजोरे में छिपाकर उसे बाजार में बेचने के लिए दासी को दिया। वह दासी उस बीजोरे को लेकर शाकबाजार में आयी। उस समय मंत्री की स्त्री उस बाजार में आयी और उस बीजोरे को खरीदकर अपने घर ले गयी। जब उसने उस फल को काटा, तो उसमें से दैदीप्यमान कांतिवाला रत्न निकला। उसने वह रत्न मंत्री को दिया। पुण्यशालियों के पास बिना प्रयास के संपत्ति खींची चली आती है। राजा ने दासी के मुख से जाना कि वह रत्न मंत्री के घर पहुँच गया है। तब राजा ने विचार किया–"अहो! धर्म का माहात्म्य अचिंत्य है!"

ऐसा विचार करके उसके मन में धर्म के प्रति कुछ श्रद्धा जगी। उधर मंत्री ने जिनपूजा करने के बाद भोजनादि किया। फिर विचार करने लगा–"राजा प्रत्यक्ष रूप से धर्म का फल देखे–ऐसा कुछ करूं।"

इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होने से उसने कामकुम्भ के पास से मानो स्वर्ग से विमान उतरा हो–इस प्रकार का सप्तमंजिला स्वर्ण व रत्नों से निर्मित एक महल बनवाया। उसमें रात्रि में मनुष्यों के नेत्रों को स्तम्भित करनेवाला 32 प्रकार का नृत्य प्रारम्भ करवाया। उसे सुन–सुनकर राजा अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुआ। वह विचार करने लगा–"क्या यह कोई इन्द्रजाल है? या कोई स्वप्न है? क्या स्वर्ग पृथ्वी पर उतर आया है?"

इत्यादि कल्पनाओं के जाल में राजा उलझ गया। अतः निद्रा का नाश हुआ। तीन प्रहर की रात्रि को राजा ने जागते–जागते एक करोड़ प्रहर की रात्रि के समान व्यतीत किया। प्रातःकाल होने पर राजा तैयार होकर जैसे ही मंत्री के घर वह सब कौतुक जानने के लिए जाने लगा, तभी मंत्री अपने महल की सारी माया समेटकर राजा के पास आ गया। राजा के सामने रत्नों से भरा हुआ थाल भेंट के रूप में रखा। राजा ने उस अद्‌भुत सम्पदा को देखा, तो आश्चर्यचकित होते हुए पूछा–"हे मंत्री! ऐसी अद्‌भुत संपत्ति का उपार्जन तुमने किस प्रकार किया?"

तब मंत्री ने कहा–"हे स्वामी! यह सम्पत्ति मैंने पुण्य से उपार्जित की है। पुण्य के बिना मनुष्यों का कुछ भी शुभ नहीं होता।"

यह सुनकर राजा दिग्मूढ़ बन गया। फिर राजा ने मंत्री को विदा किया और विचार करने लगा–"मंत्री ने किसी भी प्रकार की संपत्ति बाहर से लायी हो–ऐसा सुनने में नहीं आया। तो फिर उसने रत्नों से भरा थाल मुझे किस प्रकार भेंट किया? उसने तत्काल दिव्य आवास किस प्रकार बनवाया? परदेश में भ्रमण कर–करके उसने कौनसी दिव्य वस्तु पायी है? किसी भी बहाने से मैं उस सद्बुद्धि का घर देखूं।"

ऐसा विचार करके एक बार राजा ने मंत्री से कहा–"हे मंत्री! धर्म से संपत्ति प्राप्त करके तुमने हमें तो एक बार भी भोजन नहीं करवाया।"

तब मंत्री ने कहा–"हे स्वामी! आप तो कृपा करके आज ही मेरे घर पर पधारें।"

राजा ने कहा–"इतनी जल्दी तुम किस प्रकार तैयारी करोगे?"

उसने कहा–"धर्म के प्रभाव से मेरे सब कुछ तत्काल तैयार हो जायगा।"

"बहुत अच्छा"–ऐसा कहकर विस्मित राजा ने उसे अनुमति प्रदान की। फिर सर्व सामन्तों, मंत्रियों व राजा के सम्पूर्ण परिवार को उसने भोजन करने के लिए बुलाया।

'मंत्री के घर के चूल्हे में तो चूहे दौड़ते हैं'–ऐसा मनुष्यों के मुख से श्रवणकर राजा अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुआ। फिर मध्याह्न के समय राजा मंत्री, सामन्त व अपने सर्व परिवार के साथ उस मंत्री के यहां भोजन करने के लिए आया। वहां कामकुम्भ के द्वारा प्रदत्त अमृत के समान स्वादिष्ट आहार के द्वारा उसने राजादि सर्व परिवार को भोजन करवाया। फिर चित्त को आनंद प्रदान करनेवाले दिव्य वस्त्रों के द्वारा उस मंत्री ने सभी की पहेरामणी की। यह सब देखकर आश्चर्यचकित राजा ने कहा–"हे पुण्यशाली! तुम देशान्तर से ऐसी कौनसी दिव्य वस्तु लाय हो, जिसके प्रभाव से तुम्हे सारी मनवांछित वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं?"

तब मंत्री ने कहा–"मुझे पुण्य के प्रभाव से कामकुम्भ प्राप्त हुआ है।"

राजा ने कहा–"वह मुझे दो।"

मंत्री ने कहा–"यह कामकुम्भ पुण्य के आधीन है। अतः यह पापी के घर नहीं जाता। सूर्य के आधीन रहनेवाला आतप क्या सूर्य को छोड़कर रह सकता है? अगर कदाचित् यह पापियों के घर चला भी जाय, तो उल्कापात की तरह अनर्थ ही उत्पन्न करता है।"

यह सुनकर राजा ने कहा–"चाहे जो हो, पर यह कामकुम्भ तो तुम मुझे ही दो।"

तब मंत्री ने वह कामघट राजा को दे दिया। राजा ने उसे कोष में स्थापित करवाया और सैकड़ों सुभट उसकी रक्षा में नियुक्त किये। प्रातःकाल होने पर मंत्री ने लकुट को घट

लाने की आज्ञा दी। तब उस लकुट ने उन सुभटों के सैन्य को कूट–कूटकर उनसे कामघट ले लिया और लाकर मंत्री को सौंप दिया। तब राजा ने मंत्री से कहा–"तुम्हारी वाणी सत्य साबित हुई। पर मेरे सैनिकों को तो वापस ठीक कर दो।"

मंत्री ने चामरों की वायु के द्वारा सैनिकों को स्वस्थ बना दिया। सत्पुरुषों की सम्पत्ति परोपकार करने में ही आदरयुक्त होती है।

"अहो! धर्म में तुम्हारी बुद्धि कितनी स्थिर है! अहो! तुम्हारे धर्म का फल कैसा अद्‌भुत है!"–ऐसा कहकर राजा ने मंत्री को हर्षपूर्वक वस्त्रादि से सम्मानित किया। उसके बाद राजा को धर्म में प्रीति उत्पन्न हो जाने से हर्षित होते हुए उसने मंत्री के पास जैनधर्म को अंगीकार किया। फिर राजा और मंत्री ने चिरकाल तक राज्य का पालन किया और अद्‌भुत पुण्यकार्यों के द्वारा जिनशासन की निरन्तर भव्य प्रभावना की। अंत में दीक्षा ग्रहण करके तीव्र तपस्या के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके अनन्त सुख रूपी सिद्धि को प्राप्त किया।

इस प्रकार उन दोनों को ही धर्म के प्रभाव से ही काम, अर्थ और मोक्ष प्राप्त हुआ। अतः सभी पुरुषार्थों में मैं धर्म को ही प्रधान मानता हूं।"

यह सुनकर वाद में आदरयुक्त चौथे पाये ने कहा–"हे बुद्धिमान! तुमने जो धर्म की प्रधानता कही है, वह सत्य है। पर वह कर्ममार्ग का आश्रय करके ही योग्य कहलाती है। उस मार्ग का मध्यम पुरुष ही आश्रय करते हैं। उत्तम पुरुष तो उसको स्वीकार ही नहीं करते, क्योंकि देव और मनुष्य–संबंधी दुःखमिश्रित सुख को प्राप्त करने की इच्छावाले मध्यम पुरुष विविध प्रकार के दानादि धर्म का आदर करते हैं। पर उत्तम पुरुष तो एकान्त सुखवाले मोक्ष की इच्छा करते हैं। इसी कारण से वे मोक्ष को प्राप्त करवानेवाले निष्कर्म मार्ग की आराधना करने के लिए उद्यमवंत होते हैं। वह इस प्रकार है–

विचारपूर्वक कार्य करनेवाले महात्मा व्यक्तियों की सर्व प्रवृत्ति बिना प्रयोजन के नहीं होती और वह प्रयोजन स्व–पर के ऊपर उपकार करना रूप है। वह उपकार सुख प्राप्त करने का कारण रूप है। जो सुख एकान्तिक होता है, वह अक्षय होता है। अगर वह दुःखमिश्रित न हो, तो ही तात्त्विक होता है। अन्य सुख तात्त्विक नहीं है। कोई भी सांसारिक सुख उस प्रकार का तात्त्विक नहीं हो सकता, क्योंकि सांसारिक सुख तात्त्विक सुख से विपरीत होता है। यह सभी को ज्ञात ही है। जैसे–अमृतमय भोजन, मणियों के विमान, देवांगनाएँ, वांछित अर्थ की सिद्धि और कल्पवृक्ष–इन सभी से उत्पन्न समग्र दैवीय सुख भी ईर्ष्यादि के कारण दुःखमय बन जाते हैं। वे परिणामस्वरूप तिर्यंचादि गति रूपी दुःख के प्रदाता बन जाते हैं। चक्रवर्त्ती के वैभवादि से उत्पन्न मनुष्य–संबंधी असंख्य सुख भी रोग, शोक, जन्मादि से मिश्रित है और परिणामस्वरूप नरकादि गति के प्रदाता हैं। अनुत्तर विमानवासी देवों को भी

अक्षय सुख नहीं है, तो उनसे नीचे रहनेवाले देवों के अक्षय सुख का तो कहना ही क्या? वैसा अक्षय सुख तो समग्र कर्मों के क्षय रूप मोक्ष में ही है और उस अक्षय सुख की प्राप्ति तो निष्कर्म मार्ग में रहनेवाले को ही होती है। अधर्म की तरह पुण्य रूपी धर्म का भी क्षय होने से ही मोक्ष मिलता है, क्योंकि धर्म मोक्ष में जानेवाले पुरुष के लिए स्वर्ण की बेड़ी के समान है। अतः मोक्ष प्राप्त करने की इच्छावाले उत्तम पुरुष कर्ममार्ग का सर्वथा त्याग करके निष्कर्म मार्ग को ही स्वीकार करते हैं। **प्रथम तीर्थंकर** ने हमेशा धर्म और न्याय का ही विस्तार किया था, पर फिर भी उन्होंने उनका परित्याग करके मोक्ष पाने के लिए सर्व संवर को धारण किया था। **भरत चक्री** भी निरन्तर श्रावकों की भक्ति, तीर्थयात्रा और जीर्णोद्धार आदि धर्मकृत्यों में प्रवर्त्तित थे, पर उन्होंने भी मुक्ति–प्राप्ति के लिए सर्व संवर को अंगीकार किया था। **सगर चक्री** हजारों देवों के द्वारा सेवित थे, उन्होंने भी मोक्ष पाने की उत्सुकता में छः खण्ड के साम्राज्य का विषवत् त्याग किया। **हरिषेण** ने सम्पूर्ण पृथ्वी को जिनचैत्यों के द्वारा शोभित किया था, उसने भी मोक्ष को पाने के लिए चारित्र को अंगीकार किया। **श्रीराम** ने अपनी संतति के समान अपनी प्रजा का पालन किया था, अपने राज्य को नीति व धर्म से अलंकृत किया था, उन्होंने भी मोक्ष के प्रति उत्सुक होकर तृणवत् राज्य का परित्याग किया। अन्य भी महाभुज पराक्रमयुक्त **पाण्डव** आदि ने मोक्ष के अर्थी बनकर विशाल साम्राज्य का परित्याग करके सर्वसंयम को धारण किया था।

और भी, तुमने जो **धर्म के स्थान पर मंत्री का दृष्टान्त** दिया था तथा द्वितीय पाये ने **अर्थ के स्थान पर दण्डवीर्य का दृष्टान्त** दिया था, उन दोनों ने भी मुक्ति के लिए उद्यमवन्त होकर दानादि अद्‌भुत धर्म का और अद्‌भुत संपत्ति का त्याग करके सर्व संवर धारण किया था। अतः सर्व पुरुषार्थों में मोक्ष की ही मुख्यता है। उसी के लिए विद्वान पुरुष धर्म, अर्थ और काम का त्याग करते हैं।''

यह सुनकर विद्वानों में श्रेष्ठ तीसरे पाये ने कहा–''तुमने जो मोक्ष की मुख्यता बतायी, वह सत्य है। पर अभी हममें मोक्ष साधने की योग्यता नहीं है, क्योंकि उसे साधने में सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त पुरुष ही शक्तिमान होता है। धर्म भावपूजा रूप कहलाता है। वह भी हममें घटित नहीं हो सकता, क्योंकि लेशमात्र भी विरति स्वीकार करने में हम समर्थ नहीं है। पर हम द्रव्यपूजा रूपी धर्म को करने में शक्तिमान हैं। अतः उस धर्म की आराधना में हमें उद्यम करना चाहिए। दुःखपूर्वक प्राप्त करने योग्य मनुष्य जन्म, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल और नीरोगता धर्म से ही प्राप्त हो सकते हैं, जो कि सिद्धि प्राप्त करने में साधन रूप हैं। अभी तो रात भी बहुत बाकी है। अतः अभी ही शाश्वत चैत्यों के द्वारा सुशोभित वैताढ्य पर्वत पर जाकर हम अरिहन्तों की द्रव्यभक्ति करें, क्योंकि एकमात्र जिनभक्ति ही सर्व

संपत्तियों की प्रदाता है।''

इस प्रकार तीसरे पाये के कथनानुसार तीनों पायों ने उसकी बात अंगीकार कर ली।

उनकी परस्पर बात–चीत को सुनकर राजा ने विचार किया–''अहो! इन पायों ने ऐसा युक्तिमय वाद किस प्रकार किया होगा? कैसे इन्होंने धर्म और मोक्ष की मुख्यता स्पष्ट रीति से प्रतिपादित की? धर्म और मोक्ष पर इनका आभ्यन्तर आनंद किस प्रकार से स्फुरित हो रहा था? इन बुद्धिमानों की कुशलता किसके द्वारा प्रशंसनीय न होगी? अहो! मेरा भाग्य जागृत व स्फुरित हुआ है, कि जिससे इन पायों के वाद को सुनकर मेरी बुद्धि भी धर्म में दृढ़ बनी है। और भी, इनकी सहायता से मैं भी शाश्वत जिनेश्वरों को वंदन कर पाऊँगा।''

ऐसा विचार करके राजा योगी की तरह अंगों का गोपन करके उस पलंग में निश्चल रूप से सोने का नाटक करने लगा। उसके बाद मानो पांखों से युक्त गरुड़ हों, इस प्रकार से वे चारों पाये पांखों को चौड़ा करके एक साथ पलंग सहित आकाश में उड़े। क्षणभर में वैताढ्य पर्वत के ऊपर पहुँच गये। उस पलंग के मंचक को वहीं बाहर छोड़कर वे चारों यक्ष का रूप धारण करके हर्षपूर्वक जिनमन्दिर में चले गये। वहां अरिहन्तों की शाश्वत रत्नप्रतिमाओं के दर्शन करके हर्षपूर्वक उनको वंदन करके कल्पवृक्ष के पुष्पादि के द्वारा उनकी पूजा की। फिर किंकर देवों के द्वारा कोमल स्वरयुक्त किये जानेवाले नृत्य को वे एकटक देखने लगे। उधर राजा भी पलंग से उठ खड़ा हुआ। अपनी कान्ति के द्वारा आकाश को प्रकाशित करनेवाले अद्‌भुत प्रासाद को देखकर आश्चर्यचकित हो गया। फिर उसके भीतर गुप्त रीति से प्रवेश करके अद्‌भुत मनोहर प्रतिमाओं को वंदन करके अपने जन्म को सफल मानने लगा। वहां देवों का समूह संगीत में व्यग्र था। अतः वह भी किसी स्थान पर रहकर स्तम्भित शरीर की तरह स्थिर होकर नृत्य देखने लगा। देखते– देखते राजा विचार करने लगा–''ये प्रख्यात कीर्त्तियुक्त यक्ष पुण्यवंतों में अग्रसर हैं, क्योंकि ये हमेशा इन अद्‌भुत प्रतिमाओं को वंदन करते हैं। अहो! इनकी ऐसी नृत्यकला कहीं और देखने को नहीं मिलती, क्योंकि यह नृत्यकला मनुष्यों के नेत्र रूपी हरिणों को पकड़ने के लिए जाल की तरह शोभित होती है। इसे देखनेवाले सभासद किसके द्वारा प्रशंसित नहीं होंगे? ये तो अनिमेष दृष्टि से सदैव ऐसा उत्तम नृत्य देखते ही हैं।''

इस प्रकार विचार करते हुए राजा नृत्य के सम्मुख दोनों नेत्रों को स्थिर करके देखने लगा और इच्छा करने लगा कि तीन प्रहरवाली यह रात्रि अनेक प्रहरों से युक्त बन जाय। कुछ समय पश्चात् चारों पाये परस्पर कहने लगे–''अब रात्रि ग्रीष्मकाल की नदी के पानी की तरह थोड़ी ही बाकी रही है। अगर कदाचित् पलंग पर सोया हुआ वह मनुष्य उठ जायगा, तो ग्राम के भीतर आये हुए मृग की तरह आकुल–व्याकुल बन जायगा। व्याकुलता के कारण

कदाचित् उसका मरण भी हो जाय, अतः अब उसको उसके स्थान पर हमें ले जाना ही होगा।''

इस प्रकार उनकी बातचीत का श्रवण करके राजा शीघ्रता के साथ वापस पलंग के पास आकर चादर ओढ़कर सो गया। वे यक्ष भी थोड़ी देर में आये और अपने पायों के स्वरूप को प्राप्त किया। फिर पलंग को उठाकर राजा के महल में पहुँच गये। प्रातःकाल होने पर राजा ने आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला रात्रि का समग्र वृत्तान्त मंत्री को बताया। विद्वानों को उत्सुक बनानेवाले उस वृत्तान्त को सुनकर मंत्री आदि सभी सभासदों का हृदय विकस्वर बना। उसके बाद राजा ने उस शिल्पी को बुलवाकर कहा–''तेरी शिल्पविद्या की कुशलता यथार्थ रीति से कहने में कौन समर्थ है, क्योंकि तेरी कला–कुशलता तो विश्वकर्मा को भी मात देती है।''

यह कहकर उसकी प्रशंसा करके राजा ने उसे लाखों मणि, सुवर्ण और आभूषण देकर संतुष्ट किया। फिर वह राजा प्रतिदिन विविध प्रकार के आश्चर्यों से युक्त पृथ्वी को देख–देखकर अपने नेत्रों को कृतार्थ करता था। अष्टापद आदि तीर्थों को हर्षपूर्वक वंदन कर–करके अपने मनुष्य जन्म को सफल मानता था। पलंग पर सुखपूर्वक बैठकर स्वेच्छापूर्वक विमान में बैठे हुए विद्याधर की तरह वह हमेशा आकाश रूपी आँगन में क्रीड़ा करता था। एक बार राजा ने हर्षपूर्वक उस शिल्पी से कहा–''मेरा पलंग पर बैठना शोभा का कारण नहीं है, पर लज्जा का कारण है। तुम्हारे पास बड़ी–बड़ी शिल्पकलाएँ हैं। ऐसी कोई रत्न की जाति नहीं है, जो रोहणाचल पर्वत पर न हो। अतः हे निष्कपट! पलंग की तरह आकाश में गति करने में समर्थ एक हस्तीरत्न तूं मेरे लिए प्रयत्नपूर्वक बना।''

यह सुनकर शिल्पकार ने कहा–''हे देव! वैसा दिव्य काष्ठ अरण्य में नहीं दिख रहा है, जिससे दिव्य हाथी बनाया जाय। वैसा काष्ठ तो सद्भाग्य के समूह से ही दिखायी देता है। प्रत्येक वन में कल्पवृक्ष सुलभ नहीं होता।''

यह सुनकर स्वार्थ में तत्पर राजा ने फिर से कहा–''तुम उस तरह का काष्ठ अन्य अनेक वनों में जाकर खोजकर लाओ। जितना द्रव्य चाहिए, मेरे खजाने से ले लो। सहायता के लिए मेरे सेवकों को भी साथ रखो। अतुल स्वादयुक्त खाद्य, भोज्यादि वस्तुओं से भरे हुए तथा मार्ग में आनन्द प्रदान करनेवाले इन रथों को भी ग्रहण करो।''

इस प्रकार राजा की अत्यन्त कृपा देखकर उस बुद्धिमान ने उनका वचन अंगीकार किया और सर्व सामग्री के साथ वन में गया। सेवकों के समूह–परिवार के साथ वह निरन्तर वनों में अटन करने लगा। पर कल्पवृक्ष के समान वैसा काष्ठ उसे किसी भी स्थान पर नहीं मिला। वन में घूमते–घूमते उसे छः माह व्यतीत हो गये। तब किसी दिन उसने वैसा ही एक

दिव्य महावृक्ष देखा। धूप, कपूर, पुष्पादि के द्वारा उस महावृक्ष की यथाविधि पूजा करके मानो राजा की चिन्ता का छेदन कर रहा हो–इस प्रकार से निरन्तर उस वृक्ष का छेदन करने लगा। फिर काष्ठ के दल को घर पर लाकर इन्द्र के हाथी के समान ही द्वितीय उत्कृष्ट गजेन्द्र बनाया। फिर शुभ दिन देखकर उसने वह हाथी राजा को अर्पित किया। राजा भी उस हाथी को सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त देखकर अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुआ। उस शिल्पी को उसकी कल्पना से परे अत्यन्त धन प्रदान किया, क्योंकि अद्‌भुत वस्तु का मूल्य आँककर उसकी लघुता करना योग्य नहीं होता। उसके बाद राजा उस विराट हस्ती पर आरूढ़ होकर आकाश में उड़ा। उस समय वह राजा ऐरावत पर आरूढ़ हुए इन्द्र की तरह शोभित हो रहा था। फिर पृथ्वी के अनेक ग्रामों, नगरों व देशों को देखते हुए राजा किसको विस्मय प्राप्त नहीं कराता था? जो शत्रु राजा के आधीन नहीं हो रहे थे, उन्हें भी राजा ने अकस्मात् आकाश मार्ग से बिजली की तरह उनके पास आकर अपने आधीन बना लिया। हाथी पर आरूढ़, अत्यन्त प्रौढ़ कान्ति से युक्त और सन्मुख न देखा जा सके तथा गरुड़ पर आरूढ़ कृष्ण की तरह उस राजा को देखकर समग्र शत्रु राजा बलवान होने पर भी किंकरों की तरह उसकी आज्ञा को मस्तक पर चढ़ाने लगे। इस प्रकार वह राजा एकछत्र निष्कंटक राज्य को भोगने लगा। पुरुषों को पूर्वसंचित पुण्य के द्वारा क्या–क्या प्राप्त नहीं होता?

एक बार अतुल ज्ञान से शोभित **श्रीधर्मघोष** नामक उत्तम गुरुदेव ने पधारकर उस नगर के उद्यान को अलंकृत किया। उस समय वनपालक ने आकर राजा को बधाई देते हुए गुरुदेव के आगमन के समाचार दिये। यह सुनकर नवीन मेघ के आगमन से मोर की तरह राजा आनन्द को प्राप्त हुआ। राजा ने प्रीतिदान देकर उसे संतुष्ट किया। क्या विवेकी मनुष्य उचित कार्य करने में जरा भी प्रमाद करते हैं? उसके बाद समग्र सामन्तों, पुरजनों और परिवार सहित राजा तत्काल विकसित आनन्द के साथ उद्यान में गया। पापकर्म को दूर करनेवाले आचार्य देव को विधिपूर्वक नमन करके भक्तिरस से पुष्ट हुए राजादि सभी गुरु के समीप बैठे। सूरीन्द्र ने उन सभी को पाप रूपी अन्धकार का नाश करने में सूर्य की प्रभा के समान कल्याणकारी देशना प्रदान की। चन्द्रिका का पान करके चकोर पक्षी की तरह उस देशनामृत की तृप्ति का अनुभव करने के लिए उसका पान करके राजादि सभी ने अत्यन्त हर्ष रूपी दिव्य संपत्ति को प्राप्त किया। फिर अवसर पाकर विनय से अत्यन्त नम्र होकर राजा ने गुरुदेव से कहा–"हे पूज्य! आप जैसे महाज्ञानी गुरु सर्व जगत को जानते–देखते हैं। अतः कृपा करके मुझे बतायें कि चम्मच, पलंग और हाथी–ये तीन दिव्य वस्तुएँ तथा यह विशाल राज्य–समृद्धि मुझे किस पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त हुई है?"

यह सुनकर जगतपूज्य श्री गुरुमहाराज ने कहा–"हे राजन! शुभ और अशुभ–जो कुछ

भी प्राप्त होता है, वह सब पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसरण के द्वारा ही प्राप्त होता है। तीन दिव्य वस्तुएँ के साथ यह विशाल साम्राज्य तुमने जिस पुण्य के द्वारा प्राप्त किया है, उसे सुनो–

भरत क्षेत्र की भूमि रूपी स्त्री के स्वर्ण–कुण्डल रूप और अक्षय मंगल लक्ष्मी के रहने के स्थान रूप **मंगलपुर** नामक नगर है। उस नगर का पालन **पृथ्वीपाल** नामक राजा करता था। उसकी आज्ञा को अनेक राजा अपने नम्र मस्तक पर धारण करते थे। उसकी प्रताप रूपी अग्नि को शत्रु राजा की स्त्रियों के नेत्राश्रु रूपी नवीन मेघ वृद्धि को प्राप्त करवाते थे–यह आश्चर्य की बात थी। उस नगर में [1]पुरुषोत्तम, [2]सुदर्शन को धारण करनेवाला और [3]श्रीमान–मानो द्वितीय [4]लक्ष्मीधर हो–ऐसा **लक्ष्मीधर** नामक श्रेष्ठी रहता था। बुद्धिनिधान वह श्रेष्ठी राजा के राज्यकार्य की धुरा का भार वहन करने में ही धुरन्धर नहीं था, बल्कि शुद्ध जैनधर्म की सम्यग् आराधना करने में भी धुरन्धर था।

एक बार उस नगर में श्रुत–पारगामी और सद्धर्म रूपी उद्यान को पल्लवित करने में वर्षाऋतु के समान **धर्मसार** नामक उत्तम गुरु पधारे। यह जानकर पृथ्वीपाल राजा, नगरजन और लक्ष्मीधर भी अहंपूर्विका के द्वारा गुरु के पास आकर उन्हें विधियुक्त वंदन करके गुरु के समीप बैठे। फिर राजादि सभी ने उत्सुकतापूर्वक गुरु के पास समग्र संशयों का नाश करनेवाली धर्मदेशना का श्रवण किया। उस समय गुरुदेव का मात्र कंबल रूपी आसन देखकर लक्ष्मीधर श्रेष्ठी का भक्ति में स्फुरायमान प्रसन्न मन खेदखिन्न हो उठा। अतः उसने अपने चित्त के समान उच्च, अपने पुण्य के समान निश्चल और अपने आनंद की तरह विशाल एक उत्तम पाट अपने घर से मँगवाकर हर्षपूर्वक गुरु के पास रखकर उस पर बैठने के लिए अत्यन्त प्रार्थना की–"हे भगवन! आप तीन जगत के पूज्य हो। गुणों की सम्पत्ति के द्वारा भी आप विशाल हैं। अतः नीचे आसन पर बैठना आपके लिए उपयुक्त नहीं है। आप जैसे महात्मा सिंहासन पर बैठे हुए ही शोभित होते हैं, क्योंकि श्रेष्ठ रत्न का स्थापन स्वर्णालंकार में ही होता है। अतः आप मुझ पर प्रसन्न होकर इस पाट पर विराजें और मेरे पापों का नाश करें, क्योंकि महात्मा दूसरों पर अनुग्रह करने में आग्रही होते हैं।"

यह सुनकर मनोहर वाणी बोलनेवाले श्रेष्ठ गुरुदेव ने कहा–"हे मतिमान! तुम निष्कपट भक्ति के कारण इस प्रकार से विनति कर रहे हो। पर साधुओं को वर्षाकाल में ही जीवदया के लिए काष्ठ का शयन और आसन रखने के लिए जिनेश्वरों ने कहा है। शेषकाल के आठ मास में ऊन का आसन रखने के लिए कहा है। अमूढ़लक्षी सर्वज्ञ वही कहते हैं, जिसमें हित

---

1. कृष्ण का दूसरा नाम / पुरुषों में उत्तम। 2. सुदर्शन नामक चक्र / समकित।
3. लक्ष्मी नामक स्त्री से युक्त / धनवान। 4. कृष्ण।

हो। मात्र ऊँचे आसन पर बैठने से ही मनुष्यों की उच्चता आंकना योग्य नहीं है, क्योंकि आभ्यन्तर गुणलक्ष्मी के बिना उच्चता शक्य नहीं है। जो मुनि वर्षाकाल के बिना ही पाट का उपयोग करते हैं, वे चारित्री नहीं कहला सकते, क्योंकि वे भ्रष्टाचारी हैं। इस विषय में **आवश्यक निर्युक्ति** में कहा है कि 'अवसन्न दो प्रकार का है–सर्व अवसन्न और देश अवसन्न। शेषकाल के आठ मास में जो पाट, पाटिया तथा रखी हुई औषधादि का उपयोग करे, वह सर्व अवसन्न जानना चाहिए।'

जिनेश्वरों की आज्ञा माननेवाले बुद्धिमान दातार के द्वारा भी मुनीश्वरों को सर्व वस्तु विधिपूर्वक ही दी जानी चाहिए, क्योंकि सर्वज्ञ की आज्ञानुसार जो दान दिया जाता है, वह महान फलसिद्धि के लिए ही होता है। विधि के बिना बोया गया बीज धान्य उत्पन्न करनेवाला नहीं बनता। मुनियों को विधिपूर्वक दिया गया आसन का दान स्वाति नक्षत्र में पड़े हुए मेघ के जल की तरह [1]मौक्तिक की लक्ष्मी के लिए होता है। अतः विवेकी पुरुष को सर्वज्ञ की आज्ञानुसार मुनियों को आसन का दान देना चाहिए, जिससे मोक्ष में आसन मिले।''

इस प्रकार तत्त्वार्थ को दर्शानेवाली गुरुवाणी का श्रवण करके श्रेष्ठी अत्यन्त आनन्दित हुआ। उसने वह पाट अपने घर पर वापस भेज दिया। फिर अत्यन्त संवेगपूर्वक उसने अभिग्रह धारण किया कि–'मैं निरन्तर समय–प्रमाण मुनियों को आसन का दान करूंगा।' फिर राजादि सभी नगरजनों ने सम्यक्त्व धर्म को अंगीकार किया और अत्यन्त प्रसन्न होते हुए अपने–अपने घर लौट गये। श्रेष्ठी ने गुरु को उस काल में बैठने योग्य निर्मल कम्बल प्रदान किया, मानो अपने लिए परलोक का भाता प्रदान किया। फिर मासकल्प पूर्ण होने पर श्रीगुरु ने अन्यत्र विहार कर दिया। पक्षियों व निःसंग मुनियों की स्थिति एक समान ही होती है। वे एक स्थान पर चिरकाल तक नहीं ठहरते। उत्कृष्ट धर्म के अनुष्ठान में तत्पर बुद्धिवाला वह श्रेष्ठी निरन्तर अपने अभिग्रह को अपने जीवन की तरह पालने लगा।

एक बार उस श्रेष्ठी के पूर्व पुण्य से प्रेरित पृथ्वी पर विचरण करते हुए **धर्मसार गुरु** फिर से उस नगर में पधारे। मानो उस श्रेष्ठी को अद्‌भुत साम्राज्य देने के लिए उन्होंने वहां पर वर्षावास किया। पुण्य रूपी लता को विकस्वर करने में वसंत ऋतु के समान गुरु के आगमन से कोयल की तरह श्रेष्ठी का मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ। निःसीम भावना से युक्त वह श्रेष्ठी दिन–रात आवश्यकादि पुण्य क्रिया को विस्तारित करता था और गुरु की सेवा में तत्पर रहता था। राजादि अन्य सभी जन भी पुण्य रूपी सुगन्ध में लुब्ध बनकर उन गुरु की सेवा करते थे, जैसे कि भ्रमर कमल की सेवा करते हैं। श्रेष्ठी ने वर्षाकाल के आसन के लिए गुरु से प्रथम विज्ञप्ति की। कौनसा चेतनयुक्त प्राणी अपने आत्महित में उत्साहयुक्त नहीं

1. मोती / मोक्ष।

बनता? फिर गुरु की आज्ञा से मूर्त्तिमान धर्म के समान दो साधु उसके घर आसन की शुद्धता देखने के लिए गये। उस समय श्रेष्ठी ने हर्षित होते हुए अपने पास रहे हुए अन्य छोटे–मोटे आसनों के साथ उस विशाल पाट को भी उपस्थित किया। शुद्ध बुद्धि के द्वारा नव कोटि शुद्ध उस आसन को जानकर साधुओं ने वापस आकर गुरु को उसकी शुद्धि बतायी। फिर गुरु की आज्ञा होने से श्रेष्ठी मानो उसे राज्य मिल रहा हो, उसे फिर से प्राप्त करने की इच्छा से मानो थापण रख रहा हो–इस प्रकार उन मुनियों को वह श्रेष्ट पाट प्रदान किया। मुनियों ने प्रतिलेखना करके उसे गुरु को प्रदान किया। गुरु उस पाट पर विराजे। अहो! उस श्रेष्ठी का अभंग भाग्य कैसा जागृत है! [1]महातप की वृद्धि से दैदीप्यमान यम के पिता सूर्य की तरह गुरु उदयाचल पर्वत के समान ऊँचे उस पाट पर शोभित होने लगे। फिर हमेशा प्रातःकाल [2]सच्चक पक्षी को आनंद प्रदान करनेवाली, विविध पुण्य मार्ग को प्रकाशित करनेवाली, जगत के समस्त प्राणियों को प्रतिबोधित करनेवाली और गाढ़ अज्ञान रूपी अन्धकार के सैकड़ों टुकड़े करनेवाली अपनी [3]गवी की श्रेणि का विस्तार करने लगे। उनको निरन्तर पुण्य का उद्योत करते देखकर श्रेष्ठी कोक पक्षी की तरह बारम्बार अत्यन्त आनंद को प्राप्त होता था और विचार करता था–"विशाल सभा में मेरे द्वारा प्रदत्त पाट पर गुरु महाराज बैठकर पापनाशक धर्मदेशना प्रदान करते हैं। अन्य भी मुनि मेरे द्वारा दिये गये आसनों पर सुखपूर्वक बैठकर वाचना, अध्ययनादि पुण्य क्रिया करते हैं। अतः अवश्य ही मेरा अन्यून पुण्य उदय में आया है, क्योंकि कारण की सुन्दरता के बिना कार्य की सुन्दरता नहीं बन सकती। आज सभी श्रावकों की संख्या में मेरी प्रथम रेखा विकास को प्राप्त हुई है। आज मेरी सर्व सम्पत्ति सफल हुई है। अतः मैं मानता हूं कि थोड़े ही समय में मेरे कोई आश्चर्यकारक महान उदय होगा। रात्रि के अन्त में प्रकाश का उदय सूर्य के उदय का ज्ञान कराता है।"

इस प्रकार वह श्रेष्ठी श्रेष्ठ अनुमोदना रूपी गंगा नदी के जल द्वारा अपने दान–पुण्य रूपी कल्पवृक्ष को उस–उस प्रकार से निरन्तर सींचता रहता था, कि जिससे वह वृक्ष सैकड़ों शाखाओं के द्वारा विस्तृत होता हुआ क्षय को प्राप्त न हो। फिर वह वृक्ष सुन्दर छाया प्रदान करते हुए थोड़े समय में ही मोक्ष रूपी फल का प्रदाता बने। इस प्रकार शुद्ध बुद्धियुक्त उस श्रेष्ठी ने अभंग रंग के द्वारा जीवन–पर्यन्त चिंतामणि रत्न की तरह अपने अभिग्रह का आराधन–पालन किया। उसके बाद सम्यग् प्रकार से विधिपूर्वक उस भव का त्याग करके हे राजा! शुद्ध आसन के दान के पुण्य के प्रभाव से प्रशस्त तीन वस्तुओं के साथ इस विशाल

---

1. सूर्य के पक्ष में अत्यधिक धूप / गुरु के पक्ष में विशाल तप।
2. अच्छा चक्रवाक पक्षी / सत्पुरुषों का समूह।
3. किरणें / वाणी–देशना।

राज्य संपत्ति के तुम मालिक बने हो।''

इस प्रकार अपने पूर्वभव को सुनकर करिराज राजा के मन में नवीन हर्ष का समूह उत्पन्न हुआ। उसी समय वृद्धिप्राप्त शुद्ध अध्यवसाय के कारण उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। जैसे बुद्धिमान पुरुष प्रातःकाल जागृत होने पर अपने समग्र रात्रि–संबंधी वृत्तान्त को जानता है, उसी प्रकार उस राजा ने गुरुकथित अपना संपूर्ण पूर्वभव साक्षात् देखा। तब उसने हर्षपूर्वक गुरुदेव को नमस्कार करके कहा–''हे पूज्य! आपने मेरे पूर्वभव के बारे में जो बताया, वह मैंने अपने जातिस्मरण ज्ञान से वैसा ही प्रत्यक्ष देखा है। अहो! स्वर्ग, मृत्यु व पाताल लोक के सर्व पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला आपका संयमी ज्ञान शोभायमान है। आपके ज्ञान के प्रकाश के सामने सूर्यादि भी खद्योत के बालक के समान प्रतीत होते हैं। अहो! केवल मुनियों को आसनदान करने मात्र से मुझे इतना पुण्य हुआ। उस दान की अद्‌भुत महिमा मुझे प्राप्त हुई। अतः हे प्रभु! दीक्षा बिना तो संपूर्ण पुण्य प्राप्त नहीं होगा। अगर मुझमें योग्यता हो, तो आप मुझे दीक्षा प्रदान करें।''

यह सुनकर विचक्षण गुरु ने कहा–''भोग का फल देनेवाले कर्म के निषेक से अभी तुममें संयम की योग्यता नहीं है। अतः तुम श्रेष्ठ गृहस्थ धर्म को अंगीकार करो।''

यह सुनकर श्रद्धानिधि और पण्डितों के स्वामी उस राजा ने श्री गुरु महाराज के पास हर्षपूर्वक सर्व कल्याण के उदयवाली लक्ष्मी को बांधने के समान बारह प्रकार का गृहीधर्म अंगीकार किया। फिर सामन्त, पुरोहितादि अनेक जन सुपात्रदानादि धर्मकार्यों में आदरयुक्त बने। साक्षात् जैसे बने हुए कार्य में कौनसे पुरुष प्रमाद करते हैं? फिर पुरजनों के साथ राजा गुरुदेव को नमन करके अपने नगर में लौट गया। शुद्ध मन से राजा ने कल्पवृक्ष की तरह उस धर्म की अंतःकरण से आदरपूर्वक आराधना की। उसने दैदीप्यमान स्वर्ण व मणिमय अनेक जिनप्रतिमाएँ भरवायीं। चित्त को आनन्द प्रदान करनेवाले अनेक चैत्य करवाये। निरन्तर अनेक सुपात्रों को बहुमान के साथ यात्राएँ करवायीं। चिरकाल तक विशाल सुसमृद्धि से युक्त राज्य का उपभोग किया। अन्त में पापसमूह का नाश करने में निपुण दीक्षा अंगीकार करके सर्व कर्मों का क्षय करके उसने सिद्धि रूपी महल में अत्यन्त स्थिर आसन प्राप्त किया।

इस प्रकार करिराज राजा के द्वारा मुनियों को आसनदान करने रूपी कल्पवृक्ष की इस फल रूपी ऋद्धि को सुनकर उत्तम फल की अभिलाषा करनेवाले हे पण्डितों! एकाग्र चित्त के साथ आप सभी उसका ही सेवन करें।

।। इति षष्ठम प्रकाश।।

सप्तम प्रकाश

श्री गौतमस्वामी मुझे अक्षय संपत्ति प्रदान करें, क्योंकि तपस्वियों को दी गयी खीर के समान उनके द्वारा प्रदत्त सर्व वस्तुएँ अक्षय होती हैं। अब मोक्षसुख की लक्ष्मी का साक्षी रूप धर्मोपष्टम्भ दान में रहा हुआ आहार दान नामक चौथा भेद कहा जाता है। पुण्यक्रिया में सहायक देह होती है और उसका [1]उपादान कारण आहार है। वसतिदान आदि जो कारण पूर्व में कहे गये हैं, वे सब [2]सहकारी कारण हैं। अतः खेती के सर्व व्यापारों में जैसे बीज को बोना मुख्य है, वैसे ही सर्व दानों में आहारदान मुख्य है। जो मनुष्य जिनेश्वर को दीक्षा ग्रहण करने के बाद प्रथम पारणा करवाते हैं, उसे अन्नदान के प्रभाव से उसी भव में या तीसरे भव में अवश्य मोक्ष मिलता है। लोक में भी सर्व दानों की अपेक्षा अन्नदान की प्रधानता सुनी जाती है। श्रीराम बारह वर्षों तक वन में रहकर रावण का हनन करके लंका का राज्य प्राप्त करके जब अयोध्या में आये, तब उन्होंने महाजनों को अन्न की कुशलता पूछी थी।[3] उस समय महाजन एक–दूसरे के मुख को देख–देखकर कुछ–कुछ मुस्कुराने लगे। यह जानकर बुद्धिमान राम ने उन्हें भोजन के लिए निमंत्रण दिया। फिर भोजन का समय होने पर उन सभी को आसन पर बिठाकर बड़े–बड़े थाल सामने रखकर अपने खजाने से अमूल्य रत्न मँगवाकर परोसे। उस समय वे सभी एक–दूसरे के मुख को देखने लगे। यह देखकर राजा राम ने स्मित हास्य के साथ कहा–"आपलोग भोजन क्यों नहीं कर रहे हैं?"

तब उन्होंने कहा–"हम इस नवीन रसोई को खाने में शक्तिमान नहीं है।"

उनके इस प्रकार कहने पर राजा ने उन्हें उपालम्भ दिया–"तब अन्न की कुशलक्षेम पूछते समय आपलोग उपहास क्यों कर रहे थे? क्या आपलोग नहीं जानते कि समग्र धन से अन्न रूपी धन प्रधान है? राजा से रंक–पर्यंत सभी प्राणी अन्न के बिना मरण को प्राप्त होते हैं। अन्न के द्वारा ही सभी जीवित रहते हैं। जिस अन्न की उत्पत्ति अत्यन्त कष्टपूर्वक होती है और जिसका निरन्तर उपयोग होता है, उसी अन्न रूपी रत्न की कुशलता पूछना योग्य है। कहा है कि–

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढ़ैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा नियोजिता।।

---

1. घट का उपादान कारण मिट्टी है।
2. घट का सहकारी कारण चक्र, दण्डादि है।
3. यह कथन अजैन रामयण का है।

भावार्थः–पृथ्वी पर जल, अन्न और [1]सुभाषित–ये तीनों ही रत्न हैं। जिन्होंने पत्थर के टुकड़ों को रत्न कहा है, वे मूढ़ हैं।''

यह सुनकर महाजनों ने उनका वचन अंगीकार करके उनसे क्षमायाचना की। फिर राम ने उन सब को उत्तम भोजन करवाकर विदा किया।

अतः सर्वत्र अन्नदान की ही मुख्यता है। उसमें भी अगर पात्र को अन्नदान किया हो, तो वह विशेष रूप से प्रशस्त है। वृष्टि धान्य का उपकार करती है, पर अगर वही सीप में गिरती है, तो क्या उसमें मोती पैदा नहीं होता? पृथ्वी पर तो एकमात्र श्रेयांसकुमार ही कल्याण के निधान हैं, क्योंकि उसने युगादीश को सेलड़ी के रस का प्रथम दान किया था। उस श्रेयांसकुमार ने इस भरत क्षेत्र में सबसे पहले [2]बहुधान्योपकारक पात्रदान रूपी जलधारा प्रवर्त्तित की थी। जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा श्रेयांसकुमार ने अगर लोगों को पात्रदान की विधि न बतायी होती, तो मुनीश्वरों को क्या कल्पनीय है और क्या कल्पनीय नहीं है–यह कौन जान सकता था? पात्रदान के प्रभाव से ही शालिभद्रादि ने स्वर्ग के भोग के समान मनोहर अद्‌भुत समृद्धि प्राप्त की थी। अहो सुपात्रदान के माहात्म्य की कितनी प्रशंसा की जाय? केवल अन्नदान से ही स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी सुलभ होती है। जो मनुष्य अन्नदान करके यतियों को उपष्टम्भ/सहाय करता है, उसने परमार्थ से तीर्थ का [3]अविच्छेद किया–ऐसा जानना चाहिए। धर्म शरीर से ही होता है। वह शरीर अन्न से ही टिका रहता है। पर वह अन्न घर रहित यतियों के पास नहीं होता। अतः बुद्धिमान मनुष्यों के द्वारा यतियों को अन्नदान करने में यत्न करना चाहिए। वह दान देय (देने योग्य वस्तु), दातार और ग्रहण करनेवाला–इन तीनों की शुद्धि से युक्त हो, तो वह मोक्ष के लिए होता है, क्योंकि शुद्ध बीज बोया गया हो, तो वह धान्य की संपत्ति के लिए होता है। जो वस्तु आधाकर्मादि बयालीस दोषों से अशुद्ध न हो, उसे विद्वान **देयशुद्ध** कहते हैं। ऐसी शुद्ध वस्तु का दान ही दातार को अत्यन्त शुद्ध फल की समृद्धि देनेवाला बनता है, क्योंकि कारण की शुद्धि से ही कार्य की शुद्धि बनती है। अगर सुपात्र को भक्तिवश अनैषणीय आहार का दान दिया जाय, तो वह दातार को फलप्राप्ति के समय अल्प आयुष्यादि [4]दूषित फल प्रदान करता है। इस विषय में

---

1. सुन्दर, प्रिय व न्याययुक्त वचन।

2. अनेक प्रकार से अन्य का उपकार करनेवाली/अनेक धान्यों के लिए उपकारी।

3. वह वास्तव में तीर्थ–शासन–प्रवचन–चतुर्विध संघ की रक्षा करता है–ऐसा कार्य–कारणों के नियम को देखते हुए निःशंक रूप से कहा जा सकता है।

4. अर्थात् दूषित आहार साधु को बहराने से दातार अल्प आयुष्य को बांधता है। ऐसा होने पर चाहे जितनी विशाल भोग–सामग्री दान–पुण्य से प्राप्त होने पर भी वह ज्यादा समय तक भोगी नहीं जा सकती। इस गम्भीर फलहानि का विचार करके भक्तिमान भव्यजनों को विवेक धारण करना चाहिए।

श्रीठाणांग सूत्र में कहा है–

"तीन स्थानों के द्वारा जीव अल्पायुष्य का बंध करता है–1. जीवों का अतिपात–विनाश करके, 2. मृषावाद का सेवन करके और 3. तथारूप के श्रमण, माहणादि (श्रावकादि) को अप्रासुक, अनैषणीय अशन, पान खादिम, स्वादिमादि का प्रतिलाभ करवाने से। जो मनुष्य इन तीन कारणों का सेवन करता है, वह अल्पायुष्य को बांधनेवाला कर्म करता है।"

शुद्ध दान लेने से ग्रहण करनेवाले को भी परिणाम में हितकारक बनता है, क्योंकि देय वस्तु की शुद्धि के बिना चारित्र की शुद्धि नहीं हो सकती। अशुद्ध आहार का भोजन करनेवाले यतियों को जिनेश्वर की आज्ञा का भंग तथा मिथ्यात्व आदि लाखों दुःखों को प्रदान करनेवाले दोष लगते हैं। इस विषय में **पाँचवें अंगशास्त्र** में कहा है–

"हे भगवन! आधाकर्म दोषयुक्त आहार का भोजन करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ क्या बांधता है? क्या करता है? क्या एकत्रित करता है? क्या वृद्धि को प्राप्त करवाता है?"

भगवान कहते हैं–"हे गौतम! आधाकर्म को भोगता हुआ श्रमण निर्ग्रंथ आयुष्य कर्म छोड़कर अन्य सात कर्म प्रकृतियों के शिथिल बंध को गाढ़ बंधवाली बनाता है। थोड़े काल की स्थिति को लम्बे काल की स्थिति बनाता है। मंद रस को तीव्र रस करता है। अल्प प्रदेशयुक्त को अनेक प्रदेशयुक्त बनाता है। आयुष्य कर्म कदाचित् बांधता है, कदाचित् नहीं बांधता है। अशाता वेदनीय कर्म को बार–बार वृद्धि प्राप्त करवाता है। अनादि, अनंत, लम्बे मार्ग से युक्त चतुरंत संसार रूपी अटवी में भ्रमण करता ही रहता है।"

गौतमस्वामी ने पूछा–"हे भगवन! आप किस कारण से ऐसा कहते हैं कि आधाकर्मी आहार का सेवन करनेवाला श्रमण निर्ग्रन्थ यावत् भ्रमण करता है?"

भगवान कहते हैं–"हे गौतम! आधाकर्मी आहार का सेवन करता हुआ निर्ग्रन्थ अपने धर्म का उल्लंघन करता है और अपने धर्म का उल्लंघन करता हुआ वह पृथ्वीकाय की दया नहीं रखता यावत् त्रसकाय की भी दया नहीं रखता। वह जिन–जिन जीवों के शरीर का आहार करता है, उन–उन जीवों की भी दया नहीं रखता। अतः हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि आधाकर्म को भोगता हुआ साधु यावत् संसार कान्तार में भ्रमण करता ही रहता है।"

दातार मनुष्य साधु को दान देते हुए विचार करता है कि–"अहो! यह मेरा वित्त (वस्तु) शुद्ध है, मेरा चित्त भी श्रद्धायुक्त है और यह सुपात्र साधु भी सर्व गुणलक्ष्मी का पात्र अर्थात् स्थान है। किसी के पास केवल वित्त होता है, किसी के पास केवल चित्त होता है। किसी के पास कदाचित् दोनों होते हैं। पर मुझे तो आज वित्त, चित्त और सुपात्र–तीनों ही मिले हैं।"

इस प्रकार विचार करके प्रीतिपूर्वक सम्पूर्ण शरीर के द्वारा रोमांचित होते हुए दान देने के समय सर्व सावद्य व्यापारों से निवृत होकर स्पर्द्धा, आशंसा और यशःकीर्ति आदि अशुभ परिणाम रूपी दोषों से दूषित हुए बिना दातार जो दान देता है, वह **दातृशुद्ध** कहलाता है।

महाव्रत को धारण करनेवाले, पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त, धर्म का उपदेश करनेवाले, भिक्षा–मात्र से आजीविका चलानेवाले, तप के निधान और इस भव में दातार का उपकार करने में पराङ्मुख साधु चारित्र धर्म की सिद्धि के लिए जो दान ग्रहण करते हैं, वह **ग्राहकशुद्ध** कहलाता है।

जिस मनुष्य की सिद्धि निकट भविष्य में होनेवाली है, वही इन तीन प्रकार की विशुद्धि से युक्त दान कर सकता है, क्योंकि आम्रवृक्ष में फल लगने का समय नजदीक आता है, तभी उसमें मंजरी लगती है। यह पात्र और अपात्र का विचार मोक्ष फलयुक्त दान में ही देखा जाता है। अनुकम्पा आदि दान तो सत्पुरुषों के लिए सर्वत्र उचित है। इस विधि के द्वारा ही पुरुष चित्त की वृत्ति पवित्र रखकर सुपात्र को अन्न का दान करता है, वह **कनकरथ** नामक विद्याधर राजा की तरह शीघ्रता से समग्र प्रकार की लक्ष्मी को प्राप्त करता है। उसकी कथा इस प्रकार है–

इस भरतक्षेत्र में रत्नों की खानों से व्याप्त वैताढ्य नामक पर्वत है। उसके शिखर अरिहन्तों के चैत्यों की श्रेणि से शोभित हैं। विविध प्रकार के रत्नों के द्वारा सुशोभित वह पर्वत भरतक्षेत्र की पृथ्वी रूपी स्त्री के सिन्दूर से पूरित मांग की शोभा को निरन्तर धारण करता है। उस पर्वत के उत्तर और दक्षिण में दो श्रेणियाँ रही हुई हैं। वे आकाश में बिना आधार के रहे हुए पहले और दूसरे देवलोक के समान शोभित होती हैं। वहां दक्षिण श्रेणी को शोभायमान बनाने में कनक के भूषण के समान **कनकपुर** नामक प्रसिद्ध पुर है। उसमें महल कनक–निर्मित होने के कारण अत्यन्त शोभित होते हैं। उसमें अजेय शत्रुराजाओं का मथन करनेवाला **कनकरथ** नामक विद्याधर राजा अपनी आज्ञा का विस्तार करता था। पूर्वपुण्य से प्रेरित के समान उसके पिता ने दीक्षा अंगीकार करते समय उसको बाल्यकाल में ही साम्राज्य के ऊपर स्थापन किया था। सर्व विद्याधरों में अग्रसर उसने बाल्यावस्था में ही लक्ष्मी रूपी लता के पल्लवों को उत्पन्न करने में जल की धारा के समान अनुपम और अद्‌भुत विद्याएँ सिद्ध की थीं। उसके द्वारा राजा से युक्त हुई सम्पूर्ण दक्षिण श्रेणी केवल शोभित ही नहीं होती थी, बल्कि जगत् में अद्‌भुत उन–उन धैर्यादि गुणों के द्वारा वह श्रेणि [1]उत्तर रूप भी थी।

---

1. दक्षिण श्रेणि कभी उत्तर श्रेणि नहीं बन सकती, अतः विरोध आता है। उसके परिहार के लिए उत्तर अर्थात् प्रधान/मुख्य थी–यह अर्थ करना चाहिए।

एक बार वह कनकरथ राजा आश्चर्य देखने के कौतुक से रात्रि के समय [1]वीरचर्या के द्वारा अकले ही अपने महल में से निकला। कहा भी है–

नीचाः स्वदेहसंतुष्टा मध्यमा धनबुद्धयः।
उत्तमाः सततं तत्तदद्भुतैककृतादराः।।

भावार्थः–नीच (कनिष्ठ) मनुष्य अपने शरीर में ही संतुष्ट रहते हैं, मध्यम पुरुष धन प्राप्त करने की बुद्धि से युक्त होते हैं और उत्तम पुरुष निरन्तर उस–उस प्रकार के अद्भुत नजारों को देखने में आदरयुक्त होते हैं।

वह चतुर राजा आश्चर्यों से युक्त अपनी नगरी को देखते हुए किसी स्थान पर होते हुए नाटक को देखने के लिए रुक गया और फिर किसी देवकुल में जाकर रहा। वहां गवैये मधुर स्वर में संगीत कर रहे थे। उसमें गायी जानेवाली यह एक गाथा को उसने अपने कर्णों का अतिथि बनाकर सुना–

हँसा सव्वत्थ सिया सिहिणो सव्वत्थ चित्तिअंगरुहा।
सव्वत्थ जम्ममरणे सव्वत्थ वि भोइणं भोआ।।

भावार्थः–हँस सभी जगह श्वेत ही होते हैं, सर्वत्र मयूरों के पंख रंग–बिरंगे ही होते हैं, सर्वत्र जन्म और मरण रहे हुए हैं और भोगियों को सर्वत्र भोग मिला ही करते हैं।

यह गाथा सुनकर राजा उसके अर्थ का गहन चिन्तन करने लगा, क्योंकि विवेकी पुरुषों के मध्य जो उत्तम होता है, वह मात्र श्रवण करके ही उसको स्वीकार नहीं करता। उस गाथा के अर्थ का अच्छी तरह से निश्चय करके राजा ने मन में विचार किया–"इस गाथा के तीन पादों का अर्थ तो बराबर मिलता है, पर चौथे पाद का अर्थ किस तरह बराबर होगा? क्योंकि भोगी पुरुषों को भोग उस–उस प्रकार के योग के बिना अत्यन्त दुर्लभ होना चाहिए। जहां भोग की सामग्री होती है, वहीं भोगियों को भोग प्राप्त होता है। अगर कोई राजा अकेला वन में गया हो, तो क्या वहां वह रंक के समान नहीं बन जाता? जैसे मैं मेरे राज्य में भोगों को भोगता हूं, वैसे ही परदेश में भी बिना किसी की सहायता के अकेला ही अगर मैं भोगों को प्राप्त करुं, तो चौथे पाद के अर्थ को मैं बराबर युक्तियुक्त मानूं। अतः सत्यता के लिए उसकी परीक्षा करना ही योग्य है। कसौटी पर कसे बिना स्वर्ण की शुद्धता कही नहीं जा सकती।"

इस प्रकार विचार करते हुए राजा महल में आया। फिर प्रातःकाल होने पर मंत्री को अपना अभिप्राय बताया और कहा–"मैं इस कार्य के लिए यहां से सौ योजन दूर रहे हुए

1. गुप्त रीति से करना।

ताम्रचूड़ नामक नगर में जाता हूं। तुम कल सैन्य के साथ वहां आना।''

यह कहकर राजा तत्काल आकाशमार्ग से चल पड़ा। कौतुकी मनुष्य क्या किसी कार्य में आलस्य करता है? फिर राजा ने विचार किया कि परदेश जाने पर भी मेरे शरीर की आकृति मनोहर होने से और दैदीप्यमान उत्तम वेष होने के कारण लोक में मेरी मान्यता होगी। ऐसा विचार करके राजा ने अपने शरीर को झरते कोढ़ से युक्त और खराब आकृतिवाला बनाया। रंक मनुष्य की तरह आकर नगर के चौराहे पर खड़ा हो गया।

उस ताम्रचूड़ नामक नगर में उस समय इन्द्र के समान बिना किसी सहायता के स्वयं बलवान तथा नाम व अर्थ से चरितार्थ **जितारि** नामक राजा राज्य करता था। उसके लावण्य रूपी जल की नदी के समान, सर्व स्त्रियों में शिरोमणि और निर्मल शील को धारण करनेवाली **धारिणी** नामक पत्नी थी। उस रानी की कुक्षि से उत्पन्न सर्व प्रकार से आश्चर्यकारक सौभाग्य के वैभववाली और कामदेव रूपी आम्रवृक्ष की मंजरी के समान **मदनमंजरी** नामक पुत्री उस राजा के थी। असाधारण गुणों के द्वारा वह किसके द्वारा आदर–सम्मान करने लायक नहीं थी? क्योंकि गुण ही गौरव/आदर/सत्कार का पात्र होते हैं। गुणों के बिना कोई भी पुत्र हो या पुत्री, सर्वमान्य नहीं बन सकते। वह कन्या बाल्यावस्था से ही जिनधर्म में निपुणता को प्राप्त थी।

एक दिन राजा अपनी सभा में बैठा हुआ था। उस समय नमन करते हुए अनेक राजाओं के मुकुटों की श्रेणि के द्वारा उसके चरण शोभित हो रहे थे। राज्यलक्ष्मी के मद के उन्माद के कारण उसका शरीर पुष्ट बना हुआ था। इन्द्र की प्रभुता को भी वह तृण से भी तुच्छ मानता था। अन्य राजाओं को वह किंकर के समान मानता था। बंदीजनों के समूह द्वारा की गयी श्लाघा रूपी पवन के द्वारा वह चपलता को प्राप्त था। विस्तृत छत्र से मानो ढ़के गये हों–इस प्रकार से उसके आभ्यन्तर नेत्र ढ़क गये थे। वेश्याजनों के हाथ में रहे हुए वीजते चामरों से उत्पन्न हुई वायु के द्वारा मानो दिग्भ्रमित हो गया हो–इस प्रकार उसके विवेक रूपी दैदीप्यमान दीपक बुझ गये थे। नमस्कार करने के लिए आयी हुई पुत्री मदनमंजरी को उसने अपनी गोद में बिठाया हुआ था। उस समय सद्गुरु के समान शिष्यों की तरह विनय सहित अपने सन्मुख रहे हुए श्रेष्ठीयों, सामन्तों और मंत्रियों को उस राजा ने कहा–''हे सभासदों! तुम सभी विचार करके कहो कि ऐसी अद्भुत संपत्ति तुमलोग किसकी कृपा से भोगते हो?''

इस प्रकार राजा की वाणी का मदिरा की तरह पान करके विवेक रहित हुए वे सभी मदोन्मत्त की तरह बोले–''हे देव! आप ही हमारे दैवत हो। आप ही पृथ्वी पर विधाता हो। हे राजा! आप ही कल्पवृक्ष हो। आप ही चिन्तामणि रत्न हो। आप हर्ष से जिसकी तरफ भी एक नजर डाल देते हो, उस पर हर्षित हुई समग्र लक्ष्मी कटाक्ष करती है। अतः दैदीप्यमान

प्रभावयुक्त आपकी ही कृपा सभी को सुख–सम्पत्ति देने में समर्थ है। अन्य कोई भी यह सुख देने में समर्थ नहीं है।''

उस समय वे सभी सभासद खुशामदी भरे वचनों की चतुराई का नाटक कर रहे थे। उस समय **मदनमंजरी** ने अपनी नासिका टेढ़ी करके मुख मरोड़ा। यह देखकर राजा ने क्रोधित होते हुए उससे पूछा–''दूध से भीगे हुए मुखवाली हे मुग्धे! तुमने मुख क्यों टेढ़ा किया?''

राजा के इस प्रकार पूछने पर विशिष्ट बुद्धियुक्त उसने स्पष्ट रीति से कहा, क्योंकि बुद्धिमान मनुष्य किसी भी स्थान पर माया–कपटयुक्त वचन बोलना नहीं सीखते। अतः उसने कहा–''हे देव! इन मायावियों के मायामय वचन मानो विवेक का हनन करने के लिए शस्त्र के समान हो–इस प्रकार से मेरे हृदय को चीरते हैं, क्योंकि रंक से लेकर राजा तक सभी प्राणियों को संपत्ति या विपत्ति देने में एकमात्र पूर्व जन्म का कर्म ही समर्थ है। अन्य कोई समर्थ नहीं है। पूर्व में जिसने भी जैसा भी शुभाशुभ कर्म किया होता है, उसे उसी प्रकार से सुख–दुःख प्राप्त होता है। धान्य के पकने में उत्तरा के पवन की तरह आपका प्रभाव तो मात्र निमित्तता को ही धारण करता है। अगर ऐसा न हो, तो ये सभी तो आपकी एक समान ही सेवा करते हैं, फिर आपकी कृपा इन्हें अलग–अलग न्यूनाधिक सुखलक्ष्मी देने में आदरयुक्त कैसे है? हे देव! ये सभी मायावी आपकी इच्छानुसार ही बोल रहे हैं। जैसे नीच वैद्य मनइच्छित औषध बताता है, वैसे ही ये सभी कपटपूर्वक मुख से मीठा–मीठा बोल रहे हैं। खेद की बात है कि राजा कलावान होने के बावजूद भी सेवकों के खुशामद भरे वचनों के मद में आकर विवेक दृष्टि रहित होकर अहंकार को प्राप्त होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, स्वभाव और भवितव्यता–ये सभी प्राणियों के कर्म का अनुसरण करके उन्हें तत्काल फल प्रदान करते हैं। अतः हे पिता! आप तत्त्व को जानते हैं। फिर भी 'ये सभासद मेरी कृपा से सुख भोगते हैं'–इस प्रकार का गर्व करना ठीक नहीं है।''

इस प्रकार क्वाथ के समान परिणाम में हितकारी उस पुत्री के उन वचनों का आस्वादन करके राजा अत्यन्त कुपित हुआ। मानो संनिपात की व्याधि से ग्रस्त हुआ हो–इस प्रकार से प्रलाप करने लगा–''अरे! पितृद्वेषिणी! वाचाल! सर्वदा मेरे प्रसाद को प्रत्यक्ष देखकर भी तूं कैसे उसका गोपन कर रही है? हे कृतघ्नी! हे दुष्ट! हे वाचाल! मेरे प्रसाद से अनेक वस्त्रों, अलंकारों आदि को भोगते हुए भी तूं यह क्या बकवास कर रही है?''

तब **मदनमंजरी** ने स्मित हास्य करते हुए विनयपूर्वक कहा–''हे देव! पुण्य के प्रभाव से ही मैं आपके घर में सुखी हूं। सौभाग्य, आरोग्य, दीर्घायुष्य, स्वामित्त्व और उच्च कुल आदि सभी पूर्व के पुण्य से ही होता है। पाप के उदय से वह सभी अन्यथा प्रकार से हो जाता

है। मैंने भी पूर्वजन्म में अवश्य सुख प्रदान करनेवाला धर्म किया होगा, जिसके कारण मैं इस उच्च कुल और इस प्रकार की सम्पत्ति का स्थान हूं। अतः हे पिता! आप चित्त में विचार करो कि पूर्व के पुण्य से ही संपत्ति की प्राप्ति होती है और पाप से विपत्ति की प्राप्ति होती है।''

यह सुनकर कोप के आटोप से टेढ़ी की हुई भृकुटि के द्वारा भयंकर मुखमुद्रावाले राजा ने उत्संग में से सर्पिणी के समान पुत्री को नीचे उतारा और कहा–''हे पिता के द्रोह रूपी पापवाली! हे अपनी आत्मा को ताप उत्पन्न करानेवाली! हे दुष्टा! दूर हो जा! हे दुष्ट मुखवाली! तेरे सत्कर्म का फल तूं जल्दी ही भोग।''

इस प्रकार उसका तिरस्कार करके राजा ने उसके पाणिग्रहण के लिए जाति, धन और उम्र से रहित, विविध प्रकार की व्याधि से पीड़ित, स्थावर के समान सर्वांग से विनष्ट और सर्वांग में कुलक्षणों से युक्त किसी पुरुष को खोजकर लाने की आज्ञा अपने सेवकों को दी।

यह सुनकर सभासदों ने राजा का क्रोध शान्त करने के लिए कहा–''हे देव! दुष्ट दैव के द्वारा प्रेरित इस मुग्धा को क्या पता है? इसमें बुद्धि कहां से होगी? प्रसन्न हुए आप ही सेवकों के लिए कल्पवृक्ष के समान हैं और कुपित हुए आप ही यमराज से भी ज्यादा दुःख देनेवाले हैं।''

उस समय **मदनमंजरी** ने हँसते हुए सभासदों से कहा–''हे सभ्यों! सत्यता को जानते हुए भी तुच्छ से धन की लालसा के लिए व्यर्थ ही मुखप्रिय, मुख पर मीठे और खुशामद–भरे वचन क्यों बोलते हो?''

तभी उसकी माता को सारी बात पता चलते ही वह तुरन्त राजसभा में आयीं। उन्होंने पुत्री से कहा–''हे पुत्री! तेरे पिता को तूं जल्दी शांत कर। कठोर वचन बोलकर उन्हें क्रोध से भयंकर मत बना। अन्यथा क्रोधावेश में वे तेरी ऐसी विडम्बना करेंगे, कि तूं जिन्दगी–भर के लिए दुःख रूपी समुद्र में डूब जायगी।''

यह सुनकर कुमारी ने अपनी माता से कहा–''हे माता! मैंने अद्वितीय और उत्कृष्ट जीवन रूपी अत्यन्त प्रिय और श्रेष्ठ सत्यव्रत को धारण किया है। इस लोक–संबंधी सुख के लिए मैं कैसे उस व्रत का भंग करूं? बुद्धिमान मनुष्य ईंधन के लिए कल्पवृक्ष का छेदन नहीं करता। भले ही आपत्ति आय, संपत्ति दूर जाय, अत्यन्त अपकीर्त्ति प्राप्त हो और प्राण भी प्रयाण करने के लिए तत्पर हों, पर सत्यव्रती पण्डित कभी असत्य नहीं बोलते। अतः हे माता! सत्यव्रत में रहते हुए कदाचित् मुझे दुःख भी मिले, तो वह मेरे लिए सुख रूप ही है, क्योंकि स्वर्णालंकारों का भार भी प्रीति की वृद्धि करवानेवाला होता है।''

इस प्रकार परिणाम में हितकारक उसके श्रेष्ठ वचनों ने राजा की क्रोधाग्नि में घी की

आहुति का काम किया। उसका क्रोध अत्यन्त जाज्ज्वल्यमान बन गया। अतः उसने कठोर अन्तःकरण से युक्त सेवकों को फिर से आज्ञा प्रदान की। वे सेवक नगर में चारों और उस प्रकार के वर की तलाश करने लगे। नगर में भ्रमण करते हुए उन्हें चौराहे पर रहे हुए सर्वांग से झरते कोढ़ से युक्त संकुचित अंगोंवाला, हलन–चलन से रहित, जीर्ण वस्त्रों से युक्त तथा जिसका सम्पूर्ण शरीर मक्खियों से व्याप्त था, ऐसे पुरुष को देखा। यह देखकर मानो राजा की कृपा प्राप्त हुई हो–इस प्रकार से वे हर्षित हो गये। फिर उन्होंने उस पुरुष से कहा–"अरे! जल्दी से उठ। तुम्हें हमारे राजा ने बुलाया है। तेरे लावण्य का श्रवण करके राजा तुझे अपनी पुत्री देना चाहते हैं।"

यह सुनकर मानो दुःख से पीड़ित बना हो–इस प्रकार से वह गद्‌गद् कण्ठ से बोला–"हे राजसेवकों! मुख ऊँचा करके मेरी हँसी क्यों उड़ाते हो? मैं तो वैसे भी निरन्तर दुष्ट दुर्दैव के द्वारा हनन किया जा रहा हूं। तुम्हारे द्वारा गिरे हुए पर पादुका का प्रहार करना योग्य नहीं है। कहां राजा की पुत्री और कहां मैं रंकों का नायक? बिचारे कौए की प्रिया हंसिनी कैसे बन सकती है?"

इस प्रकार उस पुरुष के कहे जाने पर भी वे राजसेवक जबरन उसे कन्धों पर बिठाकर राजा के पास ले गये। सर्वांग से मनोहर गुणयुक्त वर को पाकर जैसे कन्या का पिता हर्षित होता है, वैसे ही राजा भी मनइच्छित वर मिल जाने से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राजा ने पुनः अपनी पुत्री से कहा–"हे मूर्ख! अगर तूं अभी भी सुख–सम्पत्ति का कारण मेरा प्रसाद माने, तो तुझे श्रेष्ठ अलंकारों के द्वारा दैदीप्यमान करके कामदेव के समान अत्यन्त मनोहर राजपुत्र के साथ परणाऊँ और अगर तुम अपने कर्मों का प्रसाद ही निश्चय रूप में मानती हो, तो तेरे कर्मों के फलस्वरूप आये हुए इस वर को तूं अंगीकार कर।"

यह सुनकर पुत्री ने हँसते हुए कहा–"अगर यह वर मेरे कर्मों के द्वारा लाया गया है और मेरे पिता के द्वारा सहमति है, तो मेरे लिए यही प्रमाण है।"

तब उस कुष्ठी ने स्पष्ट वाणी के द्वारा राजा से कहा–"इसके साथ मेरे विवाह की बात आपके मुख से निकलना भी युक्तियुक्त नहीं है। कहां मैं रोगग्रस्त रंक और कहां यह सौभाग्य और भाग्य की भूमि रूप पुत्री? दावानल से दग्ध केरड़े का वृक्ष क्या कल्पलता के लिए आश्रय का स्थान बन सकता है? असाध्य व्याधि के कारण मैं आज या कल–कभी भी मर सकता हूं। तो फिर मुझ जैसे के साथ अपनी कन्या का विवाह करके कौन बुद्धिमान उसे दुःखी बनायगा?"

यह सुनकर राजा ने उस कुष्ठी से कहा–"यह कन्या अपने पिता की शत्रु है। यह स्वयं

को पण्डित मानती है। अतः मेरे गुणों को तृण के समान भी नहीं मानती। अपनी आत्मा की शत्रु बनकर यह अपने कर्मों को ही प्रमाण रूप मानती है। इसीलिए इसके कर्मों के कारण तुम्हें वर के रूप में यहां लाया गया है। तुम ही इसके योग्य हो।''

यह कहकर राजा ने विकस्वर मुखवाली **मदनमंजरी** को जीर्ण वस्त्र धारण करवाकर उस कुष्ठी के साथ परिणय–संबंध में बांध दिया। इस कार्य में कन्या की माता व अन्य परिजनों के द्वारा निषेध किये जाने पर भी राजा की क्रूरता तथा पुत्री के अत्यन्त धैर्य के कारण उन दोनों का विवाह हो गया। फिर राजा ने **मदनमंजरी** से कहा–''हे जड़बुद्धिवाली! अब तेरे सत्कर्म रूपी वृक्ष में मंजरी उग गयी है। इसका फल अब तूं मेरी नगरी का त्याग करके भोग।''

ऐसा कहकर राजा ने उसे विदा किया। तब उसने हर्षपूर्वक माता–पिता को प्रणाम किया और पति का हाथ पकड़कर खुशी–खुशी उसके साथ रवाना हो गयी। उस समय शोक से व्याप्त होकर नगर के लोग हाहाकार करने लगे। फिर वह कन्या अपने पति को प्रयत्नपूर्वक नगर के चौराहे पर लेकर आयी। तभी हाय–हाय करते हुए वह ''मैं एक कदम भी नहीं चल सकता''–इस प्रकार बोलते हुए मानो मूर्च्छा खाकर जमीन पर गिर पड़ा। यह देखकर कई लोग राजा की निन्दा करने लगे, तो कई लोग पुत्री की निन्दा करने लगे। कई लोग भवितव्यता को धिक्कारने लगे।

फिर **मदनमंजरी** ने विनयपूर्वक अपने पति से कहा–''हे स्वामी! आप मेरे कन्धे पर चढ़ें, तो मैं आपको इच्छित स्थान पर ले जा सकती हूं।''

तब उसने अत्यन्त पीड़ित स्वर में कहा–''अगर राजा की आज्ञा हो, तो आज यहीं रहा जाय। कल समयोचित कुछ करेंगे।''

उन दोनों की इस बातचीत को सुनकर एक महाजन ने राजा को जाकर विनति की और उसकी आज्ञा लेकर उन दोनों को दयापूर्वक एक कोटड़ी में ले जाकर रखा। उसी महाजन ने उत्तम भोजन–पान तैयार करके उन दोनों को प्रदान किया। **मदनमंजरी** ने पहले अपने पति को भोजन करवाया और फिर स्वयं भोजन किया। फिर दुःखपूर्वक देखी जा सके–ऐसी उनकी दुर्दशा देखने में असमर्थ सूर्य मानो परोपकार न कर सकने के कारण उत्तम पुरुष की तरह अन्य स्थान को चला गया अर्थात् अस्त को प्राप्त हुआ। उस समय उसके मित्रों के मुख की तरह कमल भी मुरझा गये और उसके शत्रुओं के मुख की तरह कुमुदिनियाँ विकसित हुईं।

''यह राजा वास्तव में अविचारी पुरुषों का सरदार है''–मानो इस तरह उच्च स्वर में

बोलते हुए पक्षियों का समूह नाद कर रहा था। राजा के राग के साथ अपनी समानता बताते हुए संध्याकाल का राग क्षणभर रहकर ही नष्ट हो गया। कन्या पर प्रीति रखनेवाली उसकी माता आदि पारिवारिक–जनों के हृदय में दुःख का समूह न समाने से मानो बाहर निकल आया हो–इस प्रकार अन्धकार का समूह चारों तरफ व्याप्त हो गया। उसकी ऐसी दशा देख–देखकर प्रिय सखियों की तरह मानो समग्र दिशाओं का मुख अत्यन्त मलिन हो गया था।

क्या यह कन्या कुष्ठी पति का त्याग कर देगी या नहीं?–इस कौतुक के कारण आकाश के तारे मानो विकस्वर नेत्रयुक्त बन गये थे अर्थात् देखने के लिए उत्सुक बन गये थे।

उसके बाद **मदनमंजरी** ने रात्रि में पति के लिए यथायोग्य शय्या बिछायी। उसके पैर धोये और पैर दबाकर देव की तरह उसकी आराधना करने लगी। यह सब देखकर मन में विश्वास पैदा हो जाने से कुष्ठी के कपट–वेशधारी उस विद्याधर राजा ने विचार किया–"उस गाथा के चौथे पाद का अर्थ वास्तव में सत्य सिद्ध हुआ है। अहो! मैं इस प्रकार से कोढ़ी बना, फिर भी मुझे इस प्रकार की भोग–सामग्री प्राप्त हुई। अतः सुख देने में एकमात्र मेरा पुण्य ही मुख्य है। इस स्त्री की भी कर्म पर कितनी आश्चर्यकारक दृढ़ता है, कि इसने महान विस्तृत भोगों को भी तृणवत् माना। इसके सत्य रूपी कवच की दृढ़ता किसके द्वारा प्रशंसनीय न होगी? कि जिस कवच को मेरे विवाह की विडम्बना रूपी शस्त्र भी छेद नहीं पाया। इसका यह पतिव्रता का आचरण किसके मन में विस्मय पैदा न करेगा? कि स्वयं राजपुत्री होने के बाद भी मुझ कुष्ठी की इस प्रकार से सेवा–आराधना कर रही है। इसकी सत्यता, निष्कपटता, धर्म और धैर्य आदि गुण यथार्थ रूप से वाणी के मार्ग के मुसाफिर कैसे बन सकते हैं? फिर भी विनोद के लिए इसकी कुछ परीक्षा की जाय।"

इस प्रकार विचार करके आनन्दपूर्वक धीमे स्वर में कहा–"हे भद्रे! मैं तो पूर्वकृत कर्म का फल भोग रहा हूं, पर स्त्रियों में शिरोमणि रूप तुम्हारी यह दशा किस प्रकार हुई? तुमने राजा का कुछ भी अविनय किया होगा–ऐसा तो विचार भी दिल में नहीं आता, क्योंकि चन्द्र की लेखा में से विष की वृष्टि कैसे हो सकती है? निश्चय ही इसमें तो राजा के अविवेकीपने का विलास दिखायी देता है। क्या लक्ष्मी रूपी मदिरा पण्डित को उन्मत्त नहीं बनाती? हे भद्रे! तुम्हारी यह कान्ति, यह रूप, तुम्हारी बुद्धि और तुम्हारी वय–ये सभी मेरे लिए अन्धे के अलंकार के समान निष्फल है। छाछ की संगति से खीर की तरह मेरे शरीर के संग से तुम्हारी यह रूप–सम्पत्ति क्षणभर में ही विनाश को प्राप्त हो जायगी। मेरे पूर्वकर्म के उदय रूपी जाज्ज्वल्यमान अग्नि में तेरी विडम्बना से उत्पन्न हुआ पाप रूपी घी आहुति का काम

करेगा। (अर्थात् तेरे दुःख का निमित्त मैं बनूंगा, जिससे उसका पाप मुझे ही लगेगा। इससे मेरे कर्मों का उदय रूपी अग्नि ज्यादा बढ़ेगी।) और भी, तुम्हें तो अहंपूर्विका के द्वारा अनेक राजपुत्र वर सकते हैं, क्योंकि केतकी के पुष्प पर कौन–कौनसे भ्रमर उत्सुक नहीं होते? अतः तुम मुझ पर कृपा करके मुझ पर प्रसन्न होकर अन्य स्थान पर चली जाओ, क्योंकि यह रात्रि गुप्त कार्य करने के लिए कामधेनु के समान है।''

इस प्रकार कहकर वह चुप हो गया। उस समय उसके चरणों पर दृष्टि स्थिर करके वह चतुर कन्या धीरजपूर्वक व खेद के साथ बोली–''हे प्राणेश! इस विषय में राजा का लेशमात्र भी दोष नहीं है। पर अवश्य भोगने–लायक मेरे अपने पूर्वकर्मों का ही दोष है। संपत्ति और विपत्ति का स्वामी–राजा कर्मविपाक ही है। उसके अलावा तो सभी उस कर्म रूपी राजा के किंकर हैं। आपने मुझे जो अन्य स्थान पर जाने का अयोग्य वचन कहा है, वह अग्नि के समान मेरे हृदय को जला रहा है। ऐसा धर्म तो वेश्याओं का होता है, कुलवान स्त्रियों का नहीं। बुद्धिमान मनुष्य नीच मनुष्यों का आचरण अंगीकार नहीं करते। चाहे पति कुरुप ही क्यों न हो, कुलवती स्त्रियों के लिए पति ही गति है। लताएँ सूखे हुए वृक्ष का त्याग नहीं करती। आपके संग से मेरे बाह्य अंगों का नाश होगा, पर कभी नाश को प्राप्त न होनेवाला मेरे पतिव्रता–धर्म का आचार जीवनभर जीवित रहे–मैं यही चाहती हूं। हे देव! स्त्रियों को भव–भव में अच्छे सौभाग्यवाला पति मिलना सुलभ है, पर जीवनभर निर्मल शील पालना दुर्लभ है। **सर्व दोषों के निवास करने के स्थान रूप स्त्रीजाति का जन्म अत्यन्त निन्दित है। उसमें भी अगर शील न हो, तो वह स्त्रीजन्म पापी से भी महापापी है। कुलवती स्त्रियों का उत्कृष्ट आभूषण शील ही है।** बाहर के आभरणों का आडम्बर तो मात्र अभिमान के सुख के लिए ही है। कहां सभी सुखों की खान और मेरुपर्वत की तरह विशाल शील की महिमा और कहां सरसों के दाने के समान दुःखदायक विषयसुख? ऐसे तुच्छ सुख के लिए मेरे जीवन रूपी शील का मैं कैसे नाश करुं? कौन बुद्धिमान पीतल के लिए स्वर्ण का नाश करे। अतः हे देव! जिन्दगीभर के लिए आप ही मेरे शरणरूप हैं। हे स्वामी! मेरे प्राण भी आपके मार्ग का ही अनुसरण करनेवाले हैं अर्थात् आपके साथ ही मेरे प्राण भी जानेवाले हैं। इस प्रकार आप अपने चित्त में निश्चय करके हे प्रभु! अब कभी ऐसी दावानल की ज्वाला के समान वचन मत बोलना।''

इस प्रकार पुण्य रूपी उद्यान को विकस्वर करने में जलधारा के समान उसके वचन सुनकर विद्याधर अत्यन्त हर्षित हुआ और उसके वचनों को अंगीकार किया। फिर उसने विचार किया–''अहो! यह स्त्री वय से लघु होने पर भी इसका शील उज्ज्वल और अद्‌भुत है। सूर्य की उगती हुई प्रभा भी दैदीप्यमान ही होती है। मेरे सोये बिना यह पतिव्रता भी नहीं

सोयेगी।''

ऐसा विचार करके वह कपटनिद्रा में सो गया। उसके बाद पति को अपने वचन अंगीकार करते हुए देखकर प्रसन्न होती हुई वह कन्या पंच परमेष्टि का स्मरण करके निद्राधीन हो गयी। उन दोनों के बातचीत करने के दौरान ही अधिकतर रात्रि बीत ही चुकी थी। इसके साथ ही उस कन्या की दुर्दशा भी समाप्त हो चुकी थी।

अपना कार्य सिद्ध हो जाने से उस विद्याधर राजा ने कामसाधिनी विद्या का स्मरण करके नट की तरह अपना मूल स्वरूप प्रकट किया। फिर वहीं पर पन्द्रह मंजिल का स्फटिक मणि से निर्मित अपने पुण्यसमूह के समान उज्ज्वल व विशाल महल बनाया। उस महल के सबसे ऊपरी आकाश को छूती हुई मंजिल के अन्दर रत्न के सिंहासन पर वह स्वयं बैठा। स्वर्णालंकारों से स्वयं दैदीप्यमान बना। स्वर्णस्तम्भों पर रही हुई पुतलियाँ उत्तम गीतों के द्वारा **मदनमंजरी** सहित उसके गुणों को गा रही थी। पिण्डिभूत बना हुआ उसका यश मानो उज्ज्वल छत्र के रूप में उसके मस्तक पर शोभित हो रहा था। पुण्य की श्रेणि के समान चामरों की श्रेणि से वह शोभित हो रहा था। स्थगीधर और प्रतिहार आदि परिवार उसके चारों और खड़ा था। उसके सामने वेश्याओं का समूह अखण्ड नृत्य कर रहा था। उच्च स्वर में बजते हुए वाद्यन्त्रों की ध्वनि नगर के लोगों को जागृत बना रही थी। कपूरादि की श्रेष्ठ सुगन्ध सर्व दिशाओं को वासित कर रही थी।

इस प्रकार वह विद्याधर राजा तत्काल अपनी विद्या के प्रभाव से मानो पृथ्वी पर निवसित इन्द्र की तरह शोभित हो रहा था। उस समय उसकी प्रिया भी जागृत होकर उत्तम अलंकारों और वस्त्रों से शृंगारित अपने शरीर को तथा उसी प्रकार से शृंगारित अपने पति को देख–देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुई कि क्या यह इन्द्रजाल है? या मति का भ्रम है? क्या यह स्वप्न है या किसी देव की रचना है?

इस प्रकार विचार करते हुए अंतःकरण में विस्मय, शंका? तर्क–वितर्क आदि से आकुल–व्याकुल बनी उस प्रिया को विद्याधर राजा ने शुरु से अन्त तक की अपनी कथा बतायी। फिर कहा–''हे देवी! मेरे इच्छित कार्य की परीक्षा तो उसी समय सिद्ध हो गयी थी, जब मेरा विवाह तुम्हारे साथ हुआ था। पर फिर भी तुम्हारी परीक्षा करने के लिए ही मैंने इतना विलम्ब किया। अहो! तुम्हारा सत्य अत्यन्त उग्र है। अहो! तुम्हारा सत्त्व अद्‌भुत है। अहो! तेरा शील अत्यन्त निश्चल है। अहो! तेरी बुद्धि अत्यधिक निर्मल है। ये सभी गुण तुममें तत्काल फलीभूत हुए हैं, क्योंकि हे प्रिये! अब तूं एक महान विद्याधर राजा की प्राणेश्वरी बन चुकी है। मेरी निर्मलता–प्रसिद्धि तो सर्वत्र पृथ्वीतल पर जागृत ही है, पर तेरे पिता का दुष्ट अभिप्राय विनाश को प्राप्त हो और 'एकमात्र धर्म ही सर्व सुख–सम्पत्ति का

कारण है'–ऐसा सभी अपने–अपने मन में निश्चय करें–इसी कारण से हे देवी! मैंने देव की तरह विद्या के प्रभाव से इन सभी महलादि की रचना की है।''

यह सुनकर **मदनमंजरी** उसकी अद्‌भुत समृद्धि को देखने लगी और प्रभातकाल की प्रभा के साथ ही स्वयं भी हर्ष से उल्लास को प्राप्त हुई। 'सभी लोग इन दोनों की पुण्य की समृद्धि को प्रकट रूप से देखो'–इस प्रकार मानो इच्छा करते हुए सूर्य ने चारों तरफ प्रकाश का विस्तार किया। फिर मानो स्वर्ग से विमान उतरा हो–ऐसे उस महल को देखने के लिए मंत्र से आकर्षित किये हुए के समान पुरजन महल के चारों तरफ इकट्ठे हो गये। ''अहो! धर्म का कैसा माहात्य है!''–मनुष्यों के इन शब्दों का श्रवण करके तथा सर्व वृत्तान्त अपने सेवकों द्वारा ज्ञातकर **जितारि** राजा भी शीघ्रता से वहां आया। उस समय महल के दरवाजे पर रही हुई पुतलियों ने उसका आचमन करवाया। आगे चलते हुए प्रत्येक द्वार पर रहे हुए प्रतिहारियों ने उसे चढ़ने का मार्ग बताया। उस महल के सर्व सौन्दर्य को बिना किसी क्रम के एक साथ देखने की इच्छा करता हो–उस प्रकार से रत्नों की दीवारों में प्रतिबिम्ब पड़ने से राजा ने अनेक रूप धारण किये। यह देख राजा का मन तर्क–वितर्क के संबंध से व्याकुल हो गया। इस प्रकार **जितारि** राजा कैलाश के समान ऊँचे उस महल में ऊपर चढ़ा। उसी समय आकाशमार्ग से वाद्यन्त्रों के शब्दों द्वारा दिशाओं के मुख को वाचाल करते हुए उस विद्याधर राजा का मंत्री सैन्य–समूह के साथ वहां आया। उसने तथा अन्य सभी विद्याधरों ने अपने स्वामी को प्रणाम करते हुए उसी प्रकार राजा की सेवा करने लगे, जिस प्रकार देव इन्द्र की सेवा करते हैं। इस प्रकार के जामाता को देखकर ससुर (राजा) आश्चर्यान्वित हो गया।

उस समय बन्दीजन मधुर स्वर में कहने लगे–''ये वैताढ्य के स्वामित्व से शोभित **श्रीकनकरथ** राजा अपने पुण्यों के परिपाक से ही **जितारि** राजा की पुत्री के पति बने हैं।''

फिर जामाता और पुत्री ने खड़े होकर **जितारि** राजा को प्रणाम किया। राजा ने भी उन दोनों का अभिवादन किया। **पण्डित पुरुष समय के ज्ञाता होते हैं।** उसके बाद रानी **धारिणी** आदि सर्व परिवार भी वहां आया। उन सभी को विद्याधर राजा ने यथायोग्य आसनों पर बिठाया। **जितारि** राजा ने भी अपने आसन पर बैठकर मन में लज्जित होते हुए पुत्री को अपने पास बिठाया और कहने लगा–''धर्म के सम्यग् ज्ञान से युक्त हे पुत्री! मेरे दुष्ट आचरण को तूं क्षमा कर। तेरे पुण्य का ऐसा प्रभाव मैंने नहीं जाना था। तेरे हितकारी व सत्य वचन किसके द्वारा ग्राह्य नहीं है? पर अहंकार के कारण ही मैंने उस समय तेरे वचनों की अवगणना की थी। तुमने आज मुझे अपने पुण्य की ही महिमा नहीं दिखायी, बल्कि धर्म का फल प्रत्यक्ष दिखाकर स्पष्ट रूप से सम्यग् धर्म का पाठ भी मुझे पढ़ाया है। तेरे भाग्य की

स्तुति करने में कौन सक्षम बन सकता है? तुमने तो पत्थर लेने के लिए हाथ आगे बढ़ाया था, पर तुम्हें तो चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ है। तुम्हारी सत्यव्रत में दृढ़ता, धर्म में विद्वत्ता और साहस त्रिभुवन में अनुपमेय है। मुझ जैसे लवण समुद्र से उत्पन्न होने के बावजूद भी तूं लक्ष्मी की तरह कुल की अलंकार रूप बनी है। तेर गुणों की श्रेणि विश्व में प्रशंसनीय है। हे पुत्री! तूं समस्त विवेकीजनों में उत्कृष्ट सीमा को प्राप्त है और मैं निर्विवेकीजनों में शिरोमणि हूं। तुमने धर्म को उज्ज्वल किया है और कुल का उद्योत किया है। अतः मैं मानता हूं कि तूं ही एकमात्र इस पृथ्वीतल पर धन्य है।''

यह सुनकर **मदनमंजरी** ने विनयपूर्वक पिता से कहा–''हे पिता! आप वृथा खेद न करें, क्योंकि यह कार्य आपने नहीं किया है, बल्कि उदयप्राप्त मेरे कर्मों ने ही किया है। कर्म ही प्राणियों की संपत्ति और विपत्ति का कारण है। हे पिता! जिस धर्म के द्वारा तत्त्व से समग्र कर्मादि स्थितियाँ जानी जा सकती हैं, उस जैनधर्म को आप तत्काल अंगीकार करें।''

यह सुनकर राजा ने प्रसन्न मन से सत्यधर्म को अंगीकार किया। फिर जामाता और पुत्री को गजेन्द्र पर बिठाकर महोत्सव के साथ अपने महल में ले जाकर राजा ने मनोहर वस्त्राभूषणादि प्रदान करके सत्कार किया। उन दोनों की कीर्त्ति जैसे–जैसे वृद्धि को प्राप्त हुई, वैसे–वैसे लोक में जिनधर्म की कांति प्रचार को प्राप्त हुई। जैनधर्म का प्रभाव जगत् में विशेष रूप से फैलने लगा। राजा ने अपनी प्रिया व परिवार के साथ विद्याधर राजा को भोजन करवाया।

फिर विद्याधर राजा अपने नगर की तरफ चला। अनुक्रम से अपने नगर को प्राप्त करते हुए विविध प्रकार के वाद्यन्त्रों के शब्दों द्वारा समग्र दिशाओं को वाचाल करते हुए और चतुरंगिणी सेना से परिवृत उस विद्याधर राजा ने अपने पुर में प्रवेश किया। उस समय उत्तम शृंगार को धारण करने से **मदनमंजरी** की सुन्दरता द्विगुणित हो रही थी। मानो दूसरी लक्ष्मी हो–इस प्रकार से वह सुखासन पर बैठी हुई थी। जैसे अतुल शील की निर्मलता से पराभव को प्राप्त गंगा नदी ही हो–ऐसे मनोहर चामरों की श्रेणि के द्वारा उसको चारों तरफ से वींजा जा रहा था। धर्म रूपी कल्पवृक्ष की मंजरी के समान उसका दर्शन राजा पुरजनों को करवा रहा था।

इस प्रकार नगर–प्रवेश करवाकर राजा ने उस प्रिया को अंतःपुर का अलंकार बनाया। गुणों के द्वारा प्रशंसनीय उसे विद्याधर राजा ने पट्टरानी बनाया। स्त्रियों पर पति की प्रीति कल्पलता की तरह फलप्रदाता होती है। धर्म के माहात्म्य को प्रत्यक्ष देखकर वे दोनों अपने चित्त को हमेशा धर्म में रमाया करते थे। हितेच्छुक पुरुष क्या कभी प्रत्यक्ष सिद्ध किये हुए कार्य में आलसी होते हैं? वह विद्याधर राजा विद्या के प्रभाव से हमेशा तीर्थों को वंदन करने

के लिए जाया करता था, क्योंकि **जो कला धर्म के लिए उपयोगी होती है, वही सफल है।**

एक बार वह विद्याधर राजा प्रिया और परिवार के साथ नंदनवन में जिनचैत्यों को वंदन करने के लिए गया। वहां पवित्र ज्ञान से शोभित चारण मुनियों को देखकर उन्हें प्रणाम करके उनके पास किंकर की तरह बैठ गया। उस समय मुनि ने उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त फलवाली धर्मलाभ की आशीष के द्वारा आनन्द प्राप्त करवाकर देशना के वाणी रूपी अमृतमय भोजन के द्वारा उन्हें तृप्त करते हुए फरमाया–"स्वर्ग व मोक्ष रूपी लक्ष्मी की आकांक्षा रखनेवाले बुद्धिमान पुरुषों को धर्म करना चाहिए, क्योंकि उस लक्ष्मी का मूल कारण धर्म ही है। वह दान, शील, तप और भाव के रूप में चार प्रकार का है। उसमें भी जिनेन्द्रों ने दान को प्रथम कहा है। उस दान के अनेकों भेद है, तो भी उनमें से पात्रदान करना सबसे श्रेष्ठ है। वह अगर विधिपूर्वक पात्र को दिया गया हो, अनंतगुणा फलदायक होता है। अहो! **धन** नामक सार्थवाह ने पात्रदान के प्रभाव से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होने तक अधिकाधिक समृद्धि प्राप्त की थी। पात्रदान रूपी कल्पवृक्ष की महिमा को कौन माप सकता है? क्योंकि शालिभद्र को प्राप्त संपत्ति तो उस कल्पवृक्ष के पुष्प रूप थी। जिनेश्वर का चैत्य, उनकी प्रतिमा, ज्ञान की पुस्तक और चार प्रकार का संघ–ये सात प्रकार के पात्र कहे जाते हैं। जो मनुष्य पात्र को थोड़ा भी दान देते हैं, उन्हें अक्षय लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। जो कुबुद्धि पुरुष दान का निषेध करते हैं, उन्हें संपत्तियाँ दूर से ही त्याग देती हैं। इस विषय पर **भद्र और अतिभद्र** की सत्य कथा सुनाता हूं। सावधान होकर सुनो–

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पृथ्वी रूपी स्त्री के हृदय के हार के समान **कांपिल्य** नामक नगर था। वह नगर महलों के अग्र भाग पर फहराती हुई ध्वजाओं के बहाने से मानो अपनी समृद्धि के द्वारा स्वर्ग की तर्जना करता हुआ शोभित होता था। उसके प्रभाव के वैभव की सत्य स्तुति कौन कर सकता था? क्योंकि उसमें **श्रीविमलनाथ भगवान** ने स्वयं जन्म लिया था। उस नगर में अमित लक्ष्मी का स्थान **जितशत्रु** नामक राजा राज्य करता था। उसने संग्राम में कभी भी अपने नाम को व्यर्थ नहीं किया था। उसी नगर में राजा की अत्यन्त प्रीति का पात्र **वसंत** नामक उत्तम श्रेष्ठी रहता था। वह पुण्य रूपी लता को विकसित करने में वसन्त ऋतु की तरह शोभित होता था। [1]सुदर्शन के द्वारा शोभित और [2]पुरुषोत्तमता को धारण करते हुए उसके नाम और गुणों से शोभित **कमला** नामक स्त्री थी। जैनधर्म रूपी राजा ने उन दोनों को अपनी राजधानी बना रखा था। अतः उसे दूर करने के लिए कुतर्क रूपी तस्कर समर्थ नहीं थे। उन दोनों के परस्पर अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त प्रीतिपूर्वक धर्म, अर्थ

1.समकित नामक चक्र। 2. पुरुषों में उत्तम / कृष्ण का दूसरा नाम।

और काम के आधीन अनेक दिवस व्यतीत हुए।

एक बार वन के दावानल की ज्वाला के समान सर्व सुखों का नाश करनेवाली पुत्र के अभाव रूपी चिन्ता उनके मन को संताप देने लगी। पुत्र पिता के दारिद्र्य का नाश नहीं कर सकता, व्याधि का नाश भी नहीं कर सकता, इस भव में एकान्त रूप से हितकारक भी नहीं होता, एकान्त रूप से सद्गुणी भी नहीं होता, परलोक की गति में सहायक भी नहीं होता, क्योंकि प्राणियों की गति परलोक में अपने–अपने कर्मों के कारण भिन्न– भिन्न ही होती है, पर फिर भी प्राणियों को पुत्र न होने की चिन्ता पीड़ित बनाती है। यह मोह राजा का ही विलास है।

पुरुषों को पुण्य के वश से ही सर्व इच्छित की सिद्धि होती है। क्या बेल की उत्पत्ति जड़ के आधीन नहीं? इस प्रकार उन दोनों ने विचार करके पुण्यकार्य में अधिकाधिक प्रवृति शुरु कर दी, क्योंकि विवेकी पुरुष अच्छे कार्यों में ही प्रवृत होते हैं। फिर सम्यग्दृष्टि आत्माओं के नेत्रों को शीतलता उत्पन्न करनेवाले अनेक जिनचैत्य करवाये। उनमें श्रेष्ठ और उत्तम प्रतिमाएँ भरवाकर स्थापना करवायी। जिनचैत्यों में पूजा का उत्सव किया। भक्तिपूर्वक अतुल साधर्मिक वात्सल्य किया। जन्म को पवित्र बनानेवाली अनेक तीर्थयात्राएँ कीं। अपरिमित पात्रदान किया। शुभ का उदय करनेवाली दया पाली। जिनागम की पुस्तकें लिखवायीं। अपने द्रव्य के द्वारा बन्दियों को छुड़वाया। दुस्तप तपस्या की। अन्य भी अनेक धर्मकार्य उन्होंने प्रीतिपूर्वक किया। फिर चित्त रूपी उदयाचल पर्वत पर पुण्य रूपी सूर्य का उदय होने से रात्रि के अन्धकार समूह की तरह उनके विघ्न–समूह का नाश हुआ। अतः पुण्य की सुगन्ध से शोभित **कमला** ने, पृथ्वी जैसे श्रेष्ठ रत्नों के निधान को धारण करती है, वैसे ही अद्भुत गर्भ को धारण किया। पाप–समूह का नाश करनेवाले उसके प्रशस्त दानादि दोहद को श्रेष्ठी ने उसकी इच्छानुसार उत्साहपूर्वक पूर्ण करवाया। अनुक्रम से समय पूर्ण होने पर जैसे रोहणाचल पर्वत की पृथ्वी निर्मल मणियुगल को उत्पन्न करती है, वैसे ही उसने एक साथ दो श्रेष्ठ पुत्र प्रसव किये। धर्म अचिन्तनीय फल प्रदान करता है–यह बात सत्य ही है, क्योंकि उन्होंने एक पुत्र की इच्छा की थी और धर्म ने उन्हें दो–दो पुत्र दे दिये। पुत्ररहित उन दोनों को दो पुत्र उत्पन्न होने से इतनी प्रसन्नता हुई कि या तो उसे सर्वज्ञ ही जान सकते थे या फिर उनका मन जानता था। फिर विविध प्रकार के महोत्सव करके हर्षपूर्वक माता–पिता ने उन दोनों का नाम **भद्र** और **अतिभद्र** रखा। धायमाता के दूध के पूर रूपी जलधारा के सिंचन के द्वारा अनुक्रम से वे दोनों आम्रवृक्ष के अंकुरों की तरह वृद्धि को प्राप्त हुए। बाल्यावस्था में ही पिता ने उन दोनों को समस्त कलाएँ सिखा दीं, क्योंकि चन्द्र उगती हुई कला से युक्त ही पूज्य होता है, क्षीण होती हुई कलाओं के द्वारा नहीं।

अनुक्रम से कामदेव के क्रीड़ा करने के स्थान रूपी उद्यान के समान युवावस्था को प्राप्त वे दोनों इस प्रकार शोभित होते थे, मानो [1]अश्विनीकुमार पृथ्वी पर उतरे हों। युवावस्था के द्वारा दुगुनी सन्दरता को प्राप्त उन दोनों पुत्रों का उनके पिता ने अगणित उत्सवों के साथ उत्तम कुल की दो कन्याओं के साथ विवाह किया। फिर पुण्य के पात्र उन दोनों कुमारों पर घर का भार आरोपित करके उनके माता–पिता सम्यग् प्रकार से धर्म की आराधना करके स्वर्ग में चले गये।

उसके बाद विकस्वर पुण्ययुक्त **भद्र** ने माता–पिता की उत्तर क्रिया की और उसके बाद उनके बंधुवर्ग ने **भद्र** को उसके पिता के स्थान पर स्थापित किया। धर्म में जागृत बुद्धि युक्त, चन्द्र के समान उज्ज्वल यशयुक्त और सर्वोचित कार्य करने में विचक्षण उस **भद्र** ने पिता का कार्यभार संभाल लिया। अकृत्रिम स्नेहयुक्त वह अपने छोटे भाई को सभी कार्यों में बहुमान प्रदान करता था। ऐसा करने से ही भाइयों की प्रीति परस्पर वृद्धि को प्राप्त होती है। छोटा भाई भी अपने बड़े भाई पर निर्मल भक्ति रखता था। जैसी भक्ति पिता के प्रति होती है, वैसी ही भक्ति बड़े भाई के प्रति भी रखनी ही चाहिए। इस प्रकार चित्त और वित्त में किसी भी प्रकार का भेद रखे बिना दोनों भाइयों का कितना ही समय सुखमय व्यतीत हुआ। उसके बाद उन दोनों की स्त्रियाँ परस्पर ईर्ष्या करने लगीं, क्योंकि स्त्रियों में स्वाभाविक रूप से ईर्ष्या, क्रोधादि सुलभ होते हैं। बिना किसी कारण के वे परस्पर झगड़ने लगतीं। उनके पतियों ने उन्हें बहुत समझाया, पर फिर भी उनके कलह का निवारण नहीं हुआ, क्योंकि फैलते हुए नदी के पूर को कौन रोक सकता है? स्त्रियों के क्लेश से उन दोनों भाइयों की परस्पर प्रीति में भी कमी आने लगी। क्या खटाई के संबंध से दूध विकृत नहीं बनता? क्रमश स्त्रियों का कलह उनके पतियों में संक्रमित होने लगा। समीप रही हुई अग्नि पासवाले घर में भी पहुँच ही जाती है। **'स्त्रियाँ अनर्थ का मूल हैं'**–यह कहावत क्या गलत है? क्योंकि स्त्रियों के वचन–प्रयोग से कुलवान पुरुषों के मध्य भी कलह हो जाता है। जो स्त्री उगती हुई कलह रूपी लता को प्रफुल्लित करने में मेघ की घटा के समान है, जो दयारहित होकर माता–पिता के प्रेम रूपी गले में हाथ देकर उसे निकाल देती है और जो बंधुओं की प्रीति रूपी लता के समूह को भेदने में खड्ग की धारा के समान है, उस समग्र दोषों का सेवन करनेवाली स्त्री का वामा नाम सार्थक ही है।

फिर दोनों भाइयों ने स्वयं ही विचार करके अपनी मिल्कियत का अन्दाज लगाकर एक–एक लाख धन लेकर अलग हो गये। छोटे भाई से जुदा हुए **भद्र** की लक्ष्मी सूर्य से अलग

---

1. साथ जन्मे हुए देवों के दो वैद्य, जिनका नाम अश्विनीकुमार था, अत्यन्त सुन्दर थे।

हुए चन्द्र की कला की तरह अनेक प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हुई। उसे सभी व्यापारों में लाभ ही लाभ होन लगा। अपने शुभकर्म सन्मुख हो, तो सब कुछ शुभ ही होता है। वह अपने न्यायोपार्जित धन को अच्छे स्थान की प्राप्ति से अच्छे लाभ की इच्छा रखकर मानो थापण रख रहा हो–इस प्रकार से सुपात्रदान में खर्च करता था। उसके अत्यन्त उच्च दशा को प्राप्त पुण्य रूपी मेघ के योग से वर्षाकाल की नदी की तरह उसकी लक्ष्मी वृद्धि को प्राप्त हुई। धन की वृद्धि होने से उसकी प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई, क्योंकि दीप अधिक प्रदीप्त होता है, तो उसके प्रकाश में भी वृद्धि होती है।

उधर छोटे भाई की लक्ष्मी कृष्णपक्ष को प्राप्त चन्द्र की कान्ति की तरह क्षण–क्षण क्षीण होने लगी। उसने लाभ की आशा में हर्षपूर्वक अपने धन को व्यापार में लगाया, पर अभाग्य के कारण हाथ में रहे हुए पानी की तरह वह धन अल्प होने लगा। उसके धन पर अग्नि, चोर, जल और राजा का उपद्रव होने लगा। विधाता प्रतिकूल हो, तो सब कुछ विपरीत ही होता है। इस प्रकार अनुक्रम से दिन–दिन कम होती हुई उसकी लक्ष्मी उत्कर्ष को प्राप्त ग्रीष्मऋतु के तालाब की तरह अत्यन्त कृश हो गयी। धन के क्षीण होने से उसके गुण भी क्षीण हो गये। सूर्य के अस्त होने के बाद क्या उसकी किरणें स्फुरायमान होती हैं? उसके गुणों का नाश हो जाने से उसकी कीर्त्ति भी चारों तरफ से नाश को प्राप्त होने लगी। दीप के बुझने के बाद उसका प्रकाश भी नष्ट हो ही जाता है। सुख के विकास को सर्वथा प्रकार से नष्ट करनेवाली उसकी निर्धनता इतनी ज्यादा बढ़ी कि खाने–पीने की विधि भी सन्देहजनक प्रतीत होने लगी। निर्धनता से दुःखी होकर वह अपनी पूर्व की अद्‌भुत समृद्धि को याद कर–करके खेद रूपी समुद्र में डूबने लगा। निर्धन बनने के बाद उसे अपने बड़े भाई की संपत्ति का प्रकर्ष तृषा से पीड़ित पथिक को ग्रीष्मऋतु के ताप की तरह अत्यन्त दुःखदायक लगने लगा। किसी भी स्थान से उसे धन प्राप्त न हो सका। अतः उसका हृदय अत्यन्त खेदखिन्न हो गया। उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी। भाई पर ईर्ष्या उत्पन्न होने से वह विचारने लगा–"निरन्तर खर्च करने के बाद भी मेरे भाई का धन कुएँ के जल की तरह अखूट दिखायी देता है और मेरा धन तो खर्च न करने के बावजूद भी अरण्य में रहे हुए तालाब के जल की तरह खत्म हो गया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उस मायावी भाई ने द्वेष के कारण मुझसे छिपाकर धन को कहीं गोपनीय स्थान पर रखा हुआ है। मायावी पुरुष क्या नहीं करते?"

इस प्रकार विचार करके वह बड़े भाई के साथ कलह करने लगा। दो प्रकार के [1]जड़

1. जड़ अर्थात् मूर्ख और जल अर्थात् पानी–ये दोनों नीचे–नीचे के स्थानों पर जानेवाले ही होते हैं।

की नीच मार्ग में ही गति होती है। तब उस पुण्यवंत **भद्र** ने अत्यन्त आनन्द के साथ उससे कहा–"हे वत्स! यह तुमने बिना विचारे क्लेश क्यों शुरु किया है? समस्त कल्याण रूपी लता के समूह को जलाने में दावानल के समान क्लेश अन्य के साथ करना भी निन्दनीय है, तो फिर भाई के साथ क्लेश करने का तो कहना ही क्या? कौन बुद्धिमान मनुष्य द्रव्यादिक के लोभ से अपने ही भाई को ठगेगा, क्योंकि अन्य को ठगनेवाला अपनी आत्मा को ही ठगता है? मैं मानता हूं कि मैं कभी भी किसी को भी नहीं ठगता, तो फिर धर्म के मर्म को जाननेवाला मैं अपने भाई को कैसे ठग सकता हूं? अतः तुम मत्सर भाव का त्याग करके हृदय को निर्मल बनाओ, जिससे पत्थर की रेखा की तरह हमारी प्रीति क्षय को प्राप्त न हो। अगर कदाचित् व्यापार आदि में हानि हो जाने से अगर तुम्हारा द्रव्य क्षीण हो गया है, तो तुम्हें जितना चाहिए, उतना धन मुझसे ले जा सकते हो, क्योंकि मेरे घर में रहा हुआ धन भी तुम्हारा ही है। हम दोनों में जो अलगाव है, वह मात्र अलग–अलग स्थान पर रहने के कारण ही है।"

इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के ताप से तप्त को जैसे चन्द्र अपनी कोमल किरणों के द्वारा शांति प्राप्त करवाता है, वैसे ही प्रीतियुक्त वचनों के द्वारा पहले अपने भाई को शांत किया और फिर अत्यधिक धन देकर उसे संतुष्ट किया, क्योंकि सत्पुरुष शरद् ऋतु के बादलों की तरह वाणी मात्र के ही सार से युक्त नहीं होते। **अतिभद्र** उसके दान और सन्मान से मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ और आत्मा में विकस्वर होते हुए अपने बड़े भाई को हर्षपूर्वक कहने लगा–"आप वय से ही बड़े नहीं हैं, पर श्रेष्ठ गुणों के द्वारा भी आप बड़े हैं, क्योंकि आपकी वैसी ही धार्मिक बुद्धि दिखायी देती है। औदार्य, गांभीर्य और धैर्यादि गुणों के समुद्र के रूप में कहां आप और उत्कट क्रोधादि दोषों के संग से दूषित होकर कहां मैं? हम दोनों एक ही वंश में उत्पन्न हुए हैं, फिर भी क्षीरसमुद्र से उत्पन्न हुए अमृत और विष की तरह हम दोनों में कितना अन्तर है? अतः हे भाई! क्रोध में आकर मैंने जो कठोर वचन कहे हैं, उन्हें आप क्षमा करना। आज से आप मेरे लिए पिता की तरह पूज्य हैं।"

इस प्रकार अत्यन्त विशाल प्रेम रूपी अमृत रस से झरती हुई वाणी के द्वारा उसने बड़े भाई की श्रेष्ठ फलवाली प्रीति रूपी लता को नव पल्लव से युक्त बनाया। फिर हर्षित होकर धन लेकर अपने घर गया और युक्तिपूर्वक व्यापार आदि में उस धन का उपयोग किया। जैसे दीपक के द्वारा मध्य रात्रि में प्रकाश थोड़ी देर तक ठहर सकता है, वैसे ही उस धन के द्वारा उसे कितने ही समय तक सुख प्राप्त हुआ। फिर अनुक्रम से उस पुण्यहीन का वह धन भी क्षय को प्राप्त हुआ। छिद्रयुक्त घट में जल की स्थिति चिरकाल तक नहीं रह सकती। चन्द्र का उदय होने के पश्चात् जब उसका अस्त होता है, तब जिस प्रकार रात्रि अन्धकारमय हो जाती है, वैसे ही धन का क्षय हो जाने पर उसकी स्थिति पूर्ववत् ही दुःखमय बन गयी। उस

समय भी गाढ़ स्नेहयुक्त **भद्र** ने उसे फिर से अतुल धन प्रदान किया। समृद्धियुक्त बन्धु अगर आपत्ति में पड़े हुए बन्धु का उद्धार न करे, तो उसे दुष्ट ही मानना चाहिए। इस प्रकार बड़े भाई को छोटे भाई ने 21 बार धन प्रदान किया। महाशयवान पुरुष उपकार करने में कभी उद्विग्न नहीं होते। बार–बार उसे धन देने पर भी वह बार–बार क्षीण होता गया। बारंबार सूर्य के ताप में स्थापित किया हुआ जल क्या रह सकता है? राक्षसी के समान दरिद्रता ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। बड़ा भाई धन देने में तो समर्थ था, पर कर्म की अनुकूलता करने में समर्थ नहीं था।

"अहो! **भद्र** के भाग्य का वैभव कैसा जागृत और अभंग था। इतनी बार छोटे भाई को धन देने के बावजूद भी उसका धन वृद्धि को ही प्राप्त हुआ। उधर वह छोटा भाई नाम से ही **अतिभद्र** नहीं था, बल्कि अर्थ से भी [1]अतिभद्र था, क्योंकि अपने बड़े भाई से जिस दिन से अलग हुआ था, उस दिन से उसका भद्र नहीं हुआ। जरूर इसने पूर्वभव में किसी को दान नहीं दिया होगा अथवा देनेवाले का निषेध किया होगा, अन्यथा उसका धन बार–बार हानि को क्यों प्राप्त होगा? दोनों भाइयों का व्यापार एक समान था, लगायी गयी मूल रकम भी एक समान थी, रूप भी एक समान था और कुल भी एक समान था। पर फिर भी पुण्य और अपुण्य के प्रभाव से इन दोनों में कितना अन्तर है।" –इस प्रकार बालक से राजा–पर्यन्त सभी लोगों के जिह्वा रूपी रंगमण्डप में नटी की तरह उन दोनों की कीर्ति तथा अपकीर्ति की प्रसिद्धि नृत्य करती थी।

एक बार धर्मोपदेश का दान करने के ही स्वभाव से युक्त और विकस्वर विशेष ज्ञान से शोभित **श्रीशील** नामक सूरिराज वहां पधारे। यह सुनकर राजा, **भद्र, अतिभद्र** और सभी पुरजन अत्यन्त हर्षित होते हुए उन्हें वन्दन करने के लिए गये। सभी ने गुरुदेव को विधिपूर्वक वन्दन किया और यथास्थान बैठ गये। तब मुनीश्वर ने अमृतरस के समान धर्मदेशना प्रदान की। देशना के अन्त में राजा ने श्रीगुरु महाराज से पूछा–"हे पूज्य! ये **भद्र** व **अतिभद्र**–दोनों भाई एक साथ जन्मे हैं। दोनों का जन्म–लग्न समान होने पर भी उन दोनों के अलग हो जाने पर बड़े भाई की समृद्धि निरन्तर बढ़ती जा रही है और छोटे भाई की समृद्धि हानि को प्राप्त हो रही है। इसका कारण बताकर हमारे कर्णों का पारणा करवायें, जिससे इस परिषदा के सभी मनुष्य प्रसन्न हो जायं।"

तब श्री गुरुदेव ने स्पष्ट अर्थ का निर्णय करनेवाली वाणी के द्वारा कहा–"हे राजा! इन दोनों के विषय में शुभ और अशुभ कर्म ही कारणभूत हैं। समग्र साधन समान होने पर भी

---

1. कल्याण का उल्लंघन किया हुआ अर्थात् कल्याण / पुण्य से रहित।

जो परिणाम में विशेषता दिखायी देती है, उसका कारण प्राणियों के पूर्वकृत विविध प्रकार के कर्म ही हैं। हे राजा! इन दोनों ने पूर्वजन्म में जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, वह मैं बताता हूं। तुम सभी सावधान होकर सुनो–

अद्‌भुत लक्ष्मी द्वारा शोभित जिस नगरी ने, जैसे कमलिनी सरोवर को शोभित करती है, वैसे भरतक्षेत्र को शोभित किया है, वैसी **कांती** नामक नगरी है। उसमें शंख के समान गम्भीर ध्वनियुक्त और स्वभाव से निर्मल **शंख** नामक श्रेष्ठी रहता था। पर वह शंख की तरह अंतःकरण की कुटिलता से रहित था–यह आश्चर्य है। जैसे अगस्त्य के उदय से सभी जलाशय निर्मल हो जाते हैं, वैसे ही धर्म के उपयोग के द्वारा उसकी समग्र कलाएँ निर्मल थीं। उसके **पद्मश्री** नामक प्रिया थी। वह साक्षात् पद्म में वास करनेवाली लक्ष्मी की तरह शोभित होती थी। उसने अपने शील रूपी सुगन्ध के समूह से सर्व दिशाओं को वासित किया था। उसके असंख्य पुण्य के लावण्य से युक्त **पुण्यश्री** नामक पुत्री थी। वह वरनेवाले के लिए साक्षात् पुण्यश्री–पुण्यलक्ष्मी ही हो–उस प्रकार से शोभित होती थी।

उस श्रेष्ठी के **धन्य** और **पुण्य** नामक दो चाकर थे। वे विविध कर्म करने में निपुण, ईमानदार और विनय की खान थे। उन दोनों में से शुद्ध बुद्धि से युक्त **धन्य** साधुओं की संगति से धर्म में रागी था। दूसरा कर्म की विचित्रता के कारण वैसा न था।

एक बार श्रेष्ठी ने संसार रूपी नाटक के पूर्वरंग के समान अपनी कन्या का पाणिग्रहण उत्सव प्रारम्भ किया। उस उत्सव में अपने अच्छे पुण्य से प्रेरित हुए हों, इस प्रकार से उस श्रेष्ठी ने ओदनादि पाक–सामग्री तैयार करने में उन दोनों कर्मकरों को नियुक्त किया।

उस अवसर पर मानो संसार सागर में से भव्यों को तारने के लिए इच्छा करते हो, इस प्रकार से हाथ में तुम्बड़ा लेकर पाप रहित दो साधु उस पाकस्थान पर आये। उन्हें देखकर धन्य–पुरुषों में मुकुट के समान पुण्य बुद्धि से युक्त **धन्य** पुण्यफल लेने के लिए हर्षपूर्वक उठ खड़ा हुआ। अपने सन्मुख आती हुई सीमारहित अद्‌भुत सम्पत्ति को लेने के लिए जा रहा हो–इस प्रकार उन साधुओं के सम्मुख प्रसन्नतापूर्वक सात–आठ कदम गया। उनको भक्तिपूर्वक विधियुक्त प्रणाम करके उसने कहा–"हे पूज्यों! प्रसन्न होकर मुझे आज्ञा प्रदान करें कि आप यहां किस हेतु से पधारें हैं?"

यह सुनकर उनमें से ज्येष्ठ साधु ने कहा–"विशाल परिवार से युक्त हमारे गुरु महाराज विहार करते हुए इस नगरी के बाहर पधारे हैं। उनमें तपस्वी, शैक्षक, स्थविर और क्षुल्लक आदि मुनि लम्बे विहार के कारण थक गये हैं। वे अत्यन्त तृषित हैं। उनके लिए प्रासुक जल लाने के लिए हम नगरी में घूमते–घूमते यहां आये हैं।"

यह सुनकर **धन्य** का शरीर हर्ष से रोमांचित हो उठा। पुण्यशाली को भी मान्य करने लायक उसने उनको विनयपूर्वक विज्ञप्ति की–"जो पुरुष आपको हर्षपूर्वक श्रेष्ठ वस्तुएँ देते हैं, धरती पर वे ही पुरुष श्रेष्ठ हैं। उन्होंने ही पृथ्वी पर सारयुक्त जन्म धारण किया है। अर्थात् उन्हीं का जन्म सफल है। पर हम इस घर के स्वामी नहीं हैं। अतः हम वैसा दान देने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि धनरहित व्यक्ति कलम जाति के चावल बो नहीं सकता। अतः जो यह कुण्डी में चावलों का धोया हुआ पानी है, वह फेंकने लायक होने से हमारे स्वाधीन है। अतः इसे ग्रहण करके हम पर अनुग्रह करें।"

इस प्रकार दान रूपी कल्पवृक्ष की क्यारी रूपी वचनों को वह **धन्य** बोल रहा था, तभी अपुण्यवन्तों में अग्रसर **पुण्य** ने कहा–"हे मित्र! ये साधु मायावी, अन्य जनों को ठगने में कुशल, असत्य बोलने में चतुर और शौच आचार से रहित होते हैं। निन्दनीय इन साधुओं के मुख को देखना भी उचित नहीं है। अतः हे भाई! इनको पानी देना भी तेरे लिए योग्य नहीं है।"

इस प्रकार दान का निषेध करके अपने सुख का निषेध करनेवाले उस **पुण्य** को **धन्य** ने क्रोधित होते हुए कहा–"अरे पापी! कानों में शूल उत्पन्न करनेवाले ये पापी वचन तुम क्यों बोलते हो? ऐसे दुष्ट वचन बोलते हुए तुम्हारी जिह्वा क्यों नहीं कटी? सर्व पाप के व्यापारों से निवृत्त हुए, एकमात्र पुण्यकार्य में प्रवृत्त और गुण–सम्पदा के द्वारा अत्यधिक उच्चता को प्राप्त ये साधु जगत–पूज्य हैं। जो मदान्ध होकर इन साधुओं की निन्दा करते हैं, वे भव–भव में दुःखों की खान को ही प्राप्त करते हैं। जो मुनीश्वरों की निन्दा करते हैं, उन्हें निन्दा रूपी पापकर्म दुर्भाग्य की खान प्रदान करता है, अत्यन्त भयंकर दारिद्र्य देता है, कीर्ति का नाश करता है, दुर्गति प्रदान करता है, आपत्ति को बुलावा देता है, पाप को दैदीप्यमान बनाता है और धर्म का नाश करता है। मुनिनिन्दा प्राणियों को क्या–क्या दुःख नहीं देती? अन्य प्राणियों की निन्दा भी विविध प्रकार के अनर्थों को करनेवाली होती है, तो फिर जिन्होंने सर्व संग का त्याग किया है और जिन्होंने मुक्तिमार्ग पर ही प्रयाण किया है, ऐसे मुनियों की निन्दा अनर्थ करनेवाली होती है–इसका तो कहना ही क्या? अतः हे भाई! आज के बाद तूं मुनीश्वरों की निन्दा मत करना। आत्महित चाहनेवाला कौनसा पुरुष आत्मा के लिए अहितकारक कार्य करेगा? जगत में पूजने लायक ये मुनि ही दान के योग्य हैं, क्योंकि इन्हें दिया गया दान ही अनंतगुणा फल प्रदान करता है।"

इस प्रकार भक्तिपूर्वक वचनों की युक्ति रूपी जलधारा का सिंचन करने से दान–पुण्य रूपी कल्पवृक्ष को अत्यन्त वृद्धि प्राप्त करवाते हुए पुण्यबुद्धि से युक्त उस **धन्य** ने अपने हर्ष के समान अत्यधिक व अपनी आत्मा के समान निर्मल चावलों का धोया हुआ पानी मुनियों

को प्रदान किया। उस समय उसने पात्रदान के द्वारा सभी सुखों के कामण रूप और लक्ष्मी के भोग रूपी फल को प्रदान करनेवाला शुभ कर्म दृढ़ बन्धन से बांधा। उधर क्लिष्ट परिणामी पुण्यरहित उस **पुण्य** ने समग्र आपत्तियों के कारण रूपी अशुभ कर्म को बांधा।

हे राजन! वे दोनों अनुक्रम से मरण को प्राप्त करके यहां **भद्र** और **अतिभद्र** नाम से दो भाई बने हैं। पात्रदान के महापुण्य रूपी मेघ के आगमन से इस **भद्र** की संपत्ति रूपी लता वृद्धि को प्राप्त हो रही है। पात्र में असार वस्तु का दान दिया हो, तो भी वह महान लाभ का कारण बनता है, क्योंकि सीप में पड़ा हुआ मेघ का जल मुक्ताफल बनने के लिए ही होता है। पात्रदान के प्रभाव की महिमा कहने में कौन शक्तिमान है? कल्पवृक्ष और चिन्तामणि जैसे दिव्य पदार्थ भी पात्रदान करनेवाले के दास रूप होते हैं। प्राणियों को जो अभंग सौभाग्य प्राप्त होता है, जो विशाल अतुल्य साम्राज्य मिलता है, जो अविनश्वर माहात्म्य प्राप्त होता है, जो अत्यन्त विस्तारयुक्त कीर्ति प्राप्त होती है, जो असंख्य सुखों की प्राप्ति के साथ मनोहर दीर्घायुष्य प्राप्त होता है और जो आपत्तियों के लेशमात्र से भी रहित संपत्तियाँ प्राप्त होती हैं, वह सभी सुपात्र को दिये गये दान की महिमा के कारण ही उल्लास को प्राप्त होती हैं। जो दुर्बुद्धियुक्त मनुष्य अन्यों को दान देते हुए रोकता है, वह **अतिभद्र** की तरह निर्धन बनता है। जिन्होंने पूर्वभव में दान में विघ्न पैदा किया है, वे इस भव में घर–घर में मात्र अनाज के लिए "मुझे दो–मुझे दो"–इस प्रकार बोलते हुए भीख मांगते हैं। जो यथाशक्ति दान नहीं देते, वे निन्दनीय होते हैं और जो दान देनेवाले का निषेध करते हैं, वे तो अत्यन्त निन्दा करने लायक होते हैं। दान की विराधना करनेवाले प्राणियों को भव–भव में दारिद्र्य, दुर्भाग्य, रोग, कलंक, दुर्गति, अल्पायुष्य, दासता और शत्रु से पराभव आदि दुःख प्राप्त होते हैं। अतः हे भव्य प्राणियों! अपनी संपत्ति के अनुसार सुपात्र को दान देना चाहिए और दान देनेवाले को उत्साहित भी करना चाहिए।"

इस प्रकार बुद्धिमानों को आनन्द प्रदान करनेवाली गुरु की वाणी का श्रवण करके **जितशत्रु राजा**दि पात्रदान में अधिक से अधिक आदरयुक्त बने। उधर वे दोनों भाई अपने पूर्व के सुकृत्य और दुष्कृत्य की क्रमशः अनुमोदना और निन्दा करने लगे। उन्होंने मन में प्रतिबोध प्राप्त किया और विशेष प्रकार के शुद्ध अध्यवसाय से तत्काल विस्मययुक्त पूर्वजन्म की स्मृति को प्राप्त किया अर्थात् जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त किया। जिस प्रकार श्रीगुरुदेव ने उनका पूर्वजन्म बताया था, वैसा ही देखकर उन्हें अत्यन्त आनन्द हुआ। फिर उत्कट भक्तिपूर्वक श्रीगुरुदेव को प्रणाम करके उन्होंने कहा–"हे भगवान! आपने हमारा पूर्वभव यथार्थ ही कहा है। जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा हमने अभी साक्षात् वैसा ही देखा है। अहो! आपका ज्ञान रूपी दर्पण अद्‌भुत है! जिसमें अत्यन्त दूर रहे हुए पदार्थ भी स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होते हैं। कदाचित् पृथ्वी, आकाश

और समुद्र सीमायुक्त बन जाय, पर विश्व के पदार्थों को देखनेवाले आपके ज्ञान की कोई सीमा नहीं है।''

इस प्रकार गुरुदेव की स्तुति करके उन दोनों भाई ने उनके पास हर्षपूर्वक बारह व्रतों से मनोहर श्रावक धर्म को अंगीकार किया। राजादि अन्य लोगों ने भी उद्यम सहित समकित आदि धर्म अंगीकार किया। कौनसा सचेतन प्राणी सागर में जाकर रत्न ग्रहण नहीं करेगा?

उसके बाद सूरीश्वर को प्रणाम करके परिवार सहित राजा, पुरजन और वे दोनों भाई अपने–अपने घर गये। धर्मरंग के संबंध से उन दोनों भाइयों में परस्पर प्रीति बढ़ने लगी। क्या चन्द्र के संबंध से समुद्र का तट वृद्धि को प्राप्त नहीं होता? वे हमेशा सुपात्रादि को दान देने में विशेष प्रयत्नशील बने। जिसका अच्छा फल निश्चित हो, वैसे कार्यों को करने में बुद्धिमान पुरुष आलस्य नहीं करते। **अतिभद्र** की संपत्ति भी धर्म के योग से वृद्धि को प्राप्त होने लगी। वसन्त ऋतु के धरती पर उतरते ही क्या लताएँ विकसित नहीं होती? इस प्रकार उन दोनों भाइयों ने चिरकाल तक अनेक प्रकार से शुद्ध धर्म की आराधना की और स्वर्ग में गये। वहां से च्यवकर मनुष्य व देवसम्पदा का भोग करके अनुक्रम से कुछ ही भव करके वे दोनों मोक्ष जायेगे।

अतः हे भव्यों! अल्प भी पात्रदान के निःसीम वैभव को सम्यग् प्रकार से जानकर उस पात्रदान में ही निरन्तर यत्न करना चाहिए।''

इस प्रकार चारण मुनि की धर्म रूपी वाणी के भोजन का आस्वाद करके उस **कनकरथ** नामक विद्याधर राजा ने अत्यन्त हर्षपूर्वक मुनि से प्रश्न पूछा–''हे पूज्य! मैंने तथा इस **मदनमंजरी** ने पूर्वभव में ऐसा कौनसा सुकृत्य किया था, जिससे भोगसामग्री के बिना भी सर्वसुख हमें प्राप्त हुए?''

तब चारण मुनि ने विद्याधर राजा से कहा–''सत्पात्र–दान के प्रभाव से ही तुम दोनों को भी अपार समृद्धि प्राप्त हुई है। वह इस प्रकार है :–

इसी भरत क्षेत्र में मगध देश की पृथ्वी की शोभा रूप और सुन्दरता का एकमात्र स्थान **शालिग्राम** नामक नगर था। उसमें **धनदेव** नामक एक कपटरहित कुटुम्बी रहता था। उसके पास अल्प ऋद्धि होने पर भी वह सदैव दानधर्म में उत्सुक रहता था। उसके **यशोमति** नामक प्रिया थी। वह स्वर्णभार रूपी अलंकार के बिना भी प्रशस्त गुणों रूपी आभूषणों के द्वारा अपने अंगों को शोभित बनाती थी। संपत्ति के अभाव में भी दृढ़ प्रेम के कारण वे अपना समय सुखपूर्वक निर्गमन करते थे, क्योंकि दम्पति का परस्पर प्रेम ही सुख का हेतु है।

एक बार अनेक सद्गुण रूपी रत्नों की खान, अतिचार रहित चारित्र का पालन

करनेवाले और मूर्त्तिमान शांत रस के समान **धर्मरुचि** अणगार मासक्षमण के पारणे के लिए मानो उनकी दरिद्रता दूर करने के लिए कल्पवृक्ष के समान उनके घर पर पधारे। उन्हें घर पर आया हुआ देखकर महाबुद्धिशाली उस दम्पति ने आनन्दपूर्वक विचार किया–"अहो! आज हमारे पुण्य फलीभूत हुए। अहो! हमारे पाप नाश को प्राप्त हुए। अहो! वन्ध्या के घर पुत्र का जन्म हुआ। अहो! मरुस्थल में कल्पवृक्ष का उदय हुआ। अहो! जलरहित प्रदेश में देवगंगा आयी। अहो! अमावस्या की रात्रि में चन्द्रोदय हुआ, जिससे कि हमारे ग्राम में, हमारे घर में ऐसे साधु–महात्मा पधारे। अगर ऐसे सुपात्र को भक्तिपूर्वक कुछ भी दिया जाय, तो लक्ष्मी, जन्म और जीवन–तीनों ही सफल बन जायंगे। इन्हें जैसा–तैसा दान भी दिया जाय, तो भी वह महान फल प्रदान करता है। गाय को तुच्छ घास खिलाने पर भी वह मधुर दूध ही प्रदान करती है।"

इस प्रकार विचार करके मन के उल्लास से विकस्वर रोमांच रूपी कंचुक को धारण करके उस दम्पति ने शीघ्र ही खड़े होकर उन मुनि को नमन किया। हर्षवश नेत्रों में आये हुए अश्रुजल के प्रवाह के द्वारा पुण्य रूपी वृक्ष को मानो सींच रहे हों और मानो अपने समस्त पाप पंक को धो रहे हों–ऐसे वृद्धिप्राप्त शुभ आशययुक्त उन्होंने बहुमानपूर्वक अपने घर में रहे हुए उत्तम और शुद्ध अन्न के द्वारा मुनि को प्रतिलाभित किया। इस प्रकार सर्व उपाय से शुद्ध पात्रदान के प्रभाव से विधिपूर्वक मरण प्राप्त करके तुम दोनों सर्व अद्‌भुत समृद्धि से युक्त बने हो।

पात्रदान के अगणित प्रभाव की क्या स्तुति की जाय? क्योंकि इसके सामने तो कल्पवृक्ष भी किंकर के समान है। पात्रदान प्राणियों को जगत में अद्‌भुत सौभाग्य प्रदान करता है, अत्यन्त विशाल सौन्दर्य उसके आधीन करता है, स्वर्ग के शुभ भोगों का समूह प्रदान करता है, कीर्ति को अत्यन्त विस्तृत बनाता है और मुक्ति रूपी लक्ष्मी प्रदान करता है। पात्र के आधीन किया हुआ वित्त प्राणियों का क्या–क्या हित नहीं करता? कदाचित् कोई पुरुष चुल्लु के द्वारा समुद्र के पानी को माप सके, आकाश में रहे हुए तारों की गिनती करने में शक्तिमान बन जाय तथा नदी की रेत के कणों का भी प्रमाण कर ले, पर पात्रदान के गुणों को कहने में समर्थ नहीं है।"

इस प्रकार पात्रदान से मनोहर अपने पूर्वभव का श्रवण करके प्रिया सहित विद्याधर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। फिर मुनि के पास निधि के समान श्रावक व्रतों को ग्रहण किया। फिर मुनि को भक्तिभावपूर्वक नमस्कार करके वह विद्याधरपति अपने घर लौट आया। पात्रदान का उस प्रकार का फल जानकर वह हमेशा हर्षपूर्वक अपने न्यायोपार्जित धन को पात्र के आधीन करने लगा। वह विमान में बैठकर नन्दीश्वर द्वीपादि तीर्थों की अनेक पवित्र

यात्राएँ करने लगा। वह विचारवान राजा दुस्तर भवसागर से तिरने में नाव के समान जिनेश्वरों की त्रिकाल पूजा करता था। एकाग्र बुद्धि से युक्त वह भव रोग के समूह को हरने के लिए औषध के समान पौषध, आवश्यकादि पुण्यकार्यों का सेवन करने लगा। इस प्रकार धर्म की आराधना करते हुए अद्वितीय सुख को भोगते हुए उसने चिरकाल तक इन्द्र की तरह साम्राज्य का पालन किया।

एक बार नगरी के बाहर उद्यान में श्रीगुरुदेव पधारे। उनके पास जाकर राजा ने संसार के ताप का नाश करनेवाली इस प्रकार की धर्मदेशना का श्रवण किया–"जो प्राणी मनुष्यादि सामग्री पाकर धर्म का आदर नहीं करता, वह मूर्ख रोहणाचल पर्वत को पाकर भी मणि को ग्रहण नहीं कर पाता–ऐसा जानना चाहिए। कषाय रूपी अग्नि की ज्वाला के समूह के द्वारा भयंकर इस भव अटवी में संसार से भयभीत बने जीवों के लिए शरण के लायक धर्म ही उच्च स्थान पर आसीन है। जिनका चित्त विषय में आसक्त होता है, उन्हें धर्म उचित रूप से परिणमित नहीं होता। क्या नील से रंगे वस्त्रों पर केसर का रंग चढ़ता है? विष की तरह विषयों का त्याग करके जो अच्छी तरह से धर्म का सेवन करता है, उन्हीं का मनुष्य भव सफल है। यह शरीर नदी के किनारे रही हुई रेत से बनाये हुए क्रीड़ास्थल की तरह क्षणिक है। लक्ष्मी रुई की श्रेणि के समान चंचल है। युवावस्था हाथी के कानों की तरह चपल है। बल वायु के समान अस्थिर है। भोग विशाल तरंगों की तरह अत्यन्त भंगुर है। प्रिय वस्तुओं का समागम स्वप्न के समान है। एकमात्र धर्म ही आत्मा के साथ रहनेवाला, सुखकारक और निश्चल है। वह धर्म जिनेश्वर–कथित ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप है। उस धर्म का यथार्थ आराधन करने के लिए सर्व संवर को धारण करनेवाला पुरुष ही शक्तिमान है। उस संवर धर्म का आराधन करके ही अनंत जीव सिद्ध हुए हैं, सिद्ध होते हैं और सिद्ध होंगे। अतः धर्म में ही यत्न करना योग्य है।"

इस प्रकार श्रीगुरु रूपी मेघ ने अत्यन्त निर्मल पुण्यामृत की वृष्टि की। तब राजा के मन रूपी पृथ्वी पर चारित्र धर्म के अंकुर प्रस्फुटित हुए। समता रूपी सरोवर भर गया। लोभ रूपी अग्नि अत्यन्त शान्त हो गयी और वैराग्य रूपी नदी तत्काल चारों तरफ से अत्यन्त उत्कृष्ट पूर को प्राप्त हुई।

उसके बाद विद्याधर राजा ने तत्काल अपने पुत्र को राज्य सौंप दिया। अरिहन्तों के चैत्य में विशाल अट्ठाई महोत्सव किया। फिर पुत्र ने उनका दीक्षा–महोत्सव किया। इस प्रकार आत्मा का दमन करनेवाले उस राजा ने **मदनमंजरी** के साथ गुरुचरणों में जाकर हर्षपूर्वक दीक्षा अंगीकार की। चिरकाल तक निरतिचार चारित्र का पालन करके अन्त में उन दोनों ने विधिपूर्वक अनशन ग्रहण करके देवसंपत्ति को पाया। वहां से च्यवकर धर्मश्रद्धादि के द्वारा मनोहर मनुष्य

भव को प्राप्त करके चारित्र ग्रहण करके अल्पकाल में ही वे दोनों मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार सुपात्र को अन्नदान देने के अतुल महिमा का श्रवण करके हे पुण्यबुद्धि से युक्त भव्यों! उस अन्नदान में एक चित्त होकर प्रयत्न करना चाहिए, जिससे प्रयत्न के बिना ही तुम्हें सुख–सम्पत्ति प्राप्त हो सके।

।। इति सप्तम प्रकाश।।

अष्टम प्रकाश

श्रीवर्द्धमानस्वामी सुख की वृद्धि करनेवाले बनें। उन्होंने पूर्व में नयसार के भव में सुपात्र को विशुद्ध अन्न का दान देकर अरिहन्त पद रूपी कल्पवृक्ष का बीज बोया था। अब पुण्य की खान रूपी सुपात्र–पानदान अर्थात् सुपात्र को पानी का दान करने रूप धर्मार्थदान का पाँचवाँ प्रकार कहा जाता है। सर्व प्रकार के आरम्भ से निवृत्त हुए मुनियों के लिए प्रासुक (अचित्त/निर्जीव) जल कल्पनीय है, क्योंकि उन्होंने जीवन–पर्यन्त के लिए छःकाय के जीवों की रक्षा अंगीकार की है। जिसकी एक बूंद में असंख्य जीव रहे हुए हैं, ऐसे जल का आरम्भ संयमी के लिए कैसे उचित हो सकता है? श्रीमहावीरस्वामी ने अपने बड़े भाई के आग्रह से गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी दो वर्ष तक कच्चे पानी का आरम्भ नहीं किया था। अप्काय का आरम्भ करने से छहों काय के जीवों की विराधना होती है, क्योंकि जल में अन्य पाँचों काय सम्भव है। इस विषय में **श्रीओघनिर्युक्ति** में कहा है:–

जत्थ जलं तत्थ वणं, जत्थ वणं तत्थ निच्छिओ अग्गी।
तेऊ वाउ सहगया तसा य पच्चक्खया चेव।।

भावार्थः–"जहां जल होता है, वहां वनस्पति होती है, जहां वनस्पति होती है, वहां अवश्य अग्नि होती है। तेज के साथ वायु अवश्य रही हुई होती है तथा त्रसकाय तो प्रत्यक्ष ही जल में देखने में आती है। (पृथ्वी के बिना जल रह नहीं सकता, अतः पृथ्वीकाय का समावेश भी हो जाता है।)"

जो व्रत धारण करने के बाद भी उस जल का आरम्भ करते हैं, वे संयमी नहीं कहला सकते, बल्कि उन्हें तो वेष धारण करनेवाले पाखण्डी ही समझना चाहिए। इस विषय में **उपदेशमाला** में कहा है :–

दगपाणं पुप्फफलं अणेसणिज्जं गिहत्थकिच्चाइं।
अजया पडिसेवंती जइवेसविडंबगा नवरं ।।

भावार्थः–असंयमी अनैषणीय जलपान, पुष्पफल और दूसरे गृहस्थों के कृत्यों का सेवन करते हैं, उन्हें यतिवेष का विडम्बक मानना चाहिए।।

इस कारण से यतियों को प्रासुक पानी ग्रहण करना ही योग्य है। वह प्रासुक जल आरनाल आदि नौ प्रकार का है। ऐसा गणधरों ने कहा है। इस विषय में **कल्पादिक** में कहा है कि :–

उस्सेइम1 संसेइम3 चाउलदगं3 तिल4 तुस5 जवाणं6।
आयामं 7 सोवीरं 8 सुद्धविअडं 9 जलं नवहा।।

भावार्थ :–1. चूर्ण का प्रक्षालन जल **उत्स्वेदिम** कहलाता है। 2. पात्रादि को उकाला हो और उसके बाद उन पात्रों को शीतल जल से धोया हो, वह जल **संस्वेदिम** कहलाता है। 3. चावलों का धोया हुआ पानी चावलोदक कहलाता है। 4. तिल का धोवन, 5. तुष–व्रीहि का धोवन, 6. यव का धोवन, 7. धान्य का ओसावण, 8. सौवीर–कांजिक जल–छाछ के ऊपर की आछ और 9. शुद्ध विकट (तीन बार उबाला हुआ) उष्ण जल अथवा वर्ण, गंध, रस के द्वारा परिवर्त्तित होकर शुद्ध–अचित्त–निर्जीव हुआ जल। ये नौ प्रकार के जल बतलाये गये हैं। (इसके अलावा भी अन्य द्राक्षादि बारह प्रकार का प्रासुक जल भी कहा गया है।) (वर्त्तमान में गरम जल ही लेने कि परंपरा है।)

इन नौ प्रकार के जल में से कोई भी प्रकार का जल श्रुतज्ञानी ग्रहण करते हैं, क्योंकि जिनेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन किया जाय, तो वह दुरन्त दुर्गति को देनेवाला बनता है। आगमों में जो अन्य स्थान पर भिन्न वर्ण को प्राप्त जल प्रासुक बताया है, वह इन नौ प्रकार के जल के प्राप्त न होने पर अपवाद मार्ग में कहा गया है, पर मुख्य रूप में नहीं। इस विषय में **प्रवचन सार उद्धार** में कहा गया है कि :–

गिण्हिज्ज आरनालं अंबिलधावण तिदंडउक्कलिअं।
वन्नंतराइपत्तं फासुअसलिलं च तयाभावे।।

भावार्थ :–आरनाल व आंबिल का धोवन तथा तीन बार उकाले हुए पानी का अलाभ होने पर वर्ण, गंध, रस के द्वारा परिणमित प्रासुक (शुद्ध / निर्जीव) जल साधु को लेना कल्पता है।

उत्सर्ग मार्ग में भिन्न वर्ण को प्राप्त जल यति के द्वारा ग्रहण किया जाना योग्य नहीं है, क्योंकि वैसा जल लेने से उनकी प्रवृत्ति बढ़ती जायगी और उन्हें अनवस्था आदि दोष भी

लगेंगे। शास्त्र में सुना जाता है कि केवलज्ञान से शोभित **श्री महावीरस्वामी उदायी राजा** को प्रतिबोधित करने के लिए जा रहे थे। उस समय मार्ग में सूर्य के ताप से द्रहादि का जल उन्होंने अचित्त हुआ देखा। उनके साथ के साधु तृषा से अत्यन्त प्राणान्त कष्ट से पीड़ित थे। फिर भी अनवस्था के दोष के भय से भगवान ने जल पीने की अनुज्ञा नहीं दी।

और भी, प्रथम वृष्टि होने पर तालाब आदि का जल अलग वर्णादि का हो जाता है। तो फिर वह भी मुनि के ग्रहण करने लायक बन जायगा।

अब जो श्रुत में कथित कांजी आदि के प्रासुक जल की भी निन्दा करते हैं, उन्हें निश्चित रूप से मूढ़ बुद्धियुक्त जानना चाहिए। उन्हें साधु ही नहीं कहा जा सकता। इस विषय में **उत्तराध्ययन सूत्र** में कहा है :–

आयामगं चेव जवोदगं च सीअं सोवीरं च जवोदणं(गं) च।
नो हीलए पिंडं नीरसं तु पंतकुलाइं परिव्वए जे स भिक्खू।।

भावार्थः–आयाम अर्थात् धान्य का ओसावण, यव का धोवन–जो शीत होता है, सौवीर अर्थात् कांजी का जल और यव का धोवन–जो शीत होता है, वह और नीरस अर्थात् रसरहित या उस प्रकार के स्वाद से रहित आहार–गोचरी के निमित्त अन्त–प्रान्त कुलों में फिरते हुए मिले, तो उसकी उपेक्षा न करे, उसी को सच्चा साधु जानना चाहिए।

बुद्धिमान व्यक्ति को ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि जरत्नीर आगम में नहीं कहा गया है, क्योंकि ऊपर कहे हुए नौ प्रकार के जल की तरह जरत्नीर का पाठ भी आगम में स्पष्ट रूप से कथित है। इस विषय में **श्रीनिशीथ भाष्य** में कहा है:–

कंजिअआयामासइ संसट्ठुसिणोदगस्स वा असई।
फासुअजलं तसजढं तस्सासइ तसेहिं जं रहिअं।।

भावार्थः–कंजिक जल और आयाम–धान्य का ओसावण, इसी प्रकार संसृष्ट और उष्ण (उकाला हुआ) प्रासुक–निर्जीव जल नहीं मिलने पर त्रसमुक्त अर्थात् पोरा आदि जीवों से रहित (अन्य) प्रासुक जल (भी लेना कल्पता है)।

इत्यादि **निशीथ चूर्णि** में भी वर्णित है। वह जरत् जल ही समझना चाहिए। इसी प्रकार **श्री दशवैकालिक सूत्र** में भी **'तहेवुच्चावयं पाणं' 'अदुवा वारधोयणं'** इत्यादि भी वर्णित है।

यह सभी प्रकार का जल जिनेश्वरों ने यति के लिए ही कहा है–ऐसा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि श्रावक को आश्रित करके अन्य किसी भी प्रकार के जल का वर्णन शास्त्रों में नहीं है। अतः श्रावक को भी ऊपर कहे प्रकार के जल को ही पीना चाहिए। गृहस्थ के द्वारा

भी सचित्त वस्तु के त्याग करने का श्रुत में सुना जाता है। अतः उनके लिए भी परिशेष रूप से इतने ही प्रकार के पानी को पीने की आज्ञा सिद्ध होती है। अगर कदाचित् गृहस्थ इस प्रकार के जल को नहीं पीता है, तो यति को भी वह जल कल्पनीय नहीं है, क्योंकि गृहस्थी के द्वारा तैयार वैसा जल यतियों के लिए आरम्भ रूप कहलाता है। अतः जिनेश्वर की आज्ञा माननेवाले व प्रासुक जल को पीनेवाले गृहस्थी के द्वारा इतने प्रकार के जल में से कोई भी प्रकार का जल ग्रहण करना अर्थात् पीना चाहिए। बुद्धिमान श्रावक को वैसा ही जल भक्तिपूर्वक शुद्ध भाव से साधुओं को भी बहराना चाहिए, क्योंकि जिनेश्वरों की आज्ञा के अनुसार दिया गया दान ही मोक्ष लक्ष्मी का प्रदाता बनता है। जो मनुष्य हर्षपूर्वक चित्त में समता को धारण करनेवाले मुनियों को निर्दोष जल का दान करता है, उसने समग्र दुःखों को जलांजलि दे दी है, ऐसा मानना चाहिए। जो मुनियों को स्वच्छ निर्मल भाव से प्रासुक जल देता है, वह **रत्नपाल** राजा की तरह दिव्य संपत्ति को प्राप्त करता है। उसकी कथा इस प्रकार है :–

स्वर्ण और मणियों से सुशोभित प्रासादों की कान्ति के द्वारा सर्व दिशाओं को विचित्र वर्णयुक्त करनेवाला **पाटलिपुत्र** नामक नगर था। उस नगर में **विनयपाल** नामक राजा राज्य करता था। वह राजा सर्व गुणों की लक्ष्मी का विश्राम स्थान था। उसके राज्य रूपी लता की क्यारी के समान **श्री रत्नपाल** नामक पुत्र था। वह विनय के द्वारा उल्लसित और सभी प्रकार के गुणोदय को प्राप्त था। उसके अत्यन्त अद्‌भुत सौभाग्य के द्वारा मोह को प्राप्त सारी कलाएँ मानो एक ही समय में एक साथ उसमें निवास करती थी। उसके हृदय को कलाओं से, मुख को सरस्वती से और दोनों हाथों को लक्ष्मी से रुंधा हुआ देखकर नवयौवन को धारण करनेवाली लक्ष्मी मानो उत्कण्ठित होकर सर्वांग से उसका आलिंगन करती थी। जैसे कृपण स्त्री के हाथ से भोजन करनेवाले तृप्ति को प्राप्त नहीं होते, वैसे ही इस कुमार के श्रेष्ठ सौंदर्य को देखनेवालों के नेत्रों को तृप्ति नहीं होती थी।

एक बार विशाल सभा में बैठे हुए राजा को प्रतिहार ने आकर प्रणाम करके हाथ जोड़कर विज्ञप्ति की–"**हंसपुर** के स्वामी **वीरसेन** राजा ने अपने प्रधान पुरुषों को भेजा है। वे द्वार पर खड़े हैं। आपके दर्शन की उत्सुकता को धारण करते हैं।"

यह सुनकर राजा ने कहा–"उन्हें शीघ्र यहां लाओ।"

प्रतिहार ने उन्हें सभा में प्रवेश करवाया। उन्होंने राजा के सामने भेंट आदि रखकर उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। उसके बाद उन्हें सुखासन पर बिठाया गया। फिर राजा ने उनसे पूछा–"**वीरसेन** राजा कुशल तो है? उनका लक्ष्मीमान देश और प्रजा भी कुशल तो है?"

उन्होंने जवाब दिया–"जिनके सहायकभूत आप जैसे राजा हों, उस राजा के राज्य में विघ्न पैदा करने में देव भी समर्थ नहीं होते। पर आपसे हम यह विज्ञप्ति करने आये है कि **वीरसेन** राजा की **शृंगारसुन्दरी** नामक पुत्री है। उसने अपने सौभाग्य के द्वारा देवांगनाओं को भी जीत लिया है। सरस्वती ने सजातीय होने के कारण मानो उसकी सहायता की हो–इस प्रकार से उसने समग्र कलाओं में कुशलता प्राप्त की है। उसके हृदय के द्वारा त्याग की हुई कुटिलता ने उसके केशों का आश्रय ले लिया है। केशों के द्वारा त्याग की हुई तुच्छता (पतलापन) ने उसके मध्यभाग (उदर) का आश्रय ले लिया है। उदर के द्वारा तजी हुई विशालता उसके दोनों नेत्रों में आकर रही हुई है। नेत्रों द्वारा त्याग की हुई सूक्ष्मता उसकी मति में आकर ठहर गयी है। मति के द्वारा त्यागी हुई वक्रता ने उसकी भुजाओं का आश्रय ले लिया है। भुजाओं के द्वारा त्यागी हुई सरलता ने उसकी नासिका का आश्रय लिया है। मैं ऐसा मानता हूं कि सर्वोत्तम से भी सर्वोत्तम स्त्रियोचित परमाणुओं के द्वारा विधाता ने उसकी रचना की है और शेष रहे हुए परमाणुओं के द्वारा अन्य देवांगनाओं को बनाया है।

एक बार राजा ने उसे पाणिग्रहण योग्य देखकर विचार किया कि इस अनुपम रूप–गुण से युक्त कन्या के योग्य कौनसा वर होगा? ऐसा विचार करके उन्होंने प्रधानमंत्रियों से पूछा, तो उन्होंने कहा–'हे देव! यह कन्या तो साक्षात् स्वर्ग से उतरी हुई देवी से भी ज्यादा सुन्दर और गुणसंपन्न है। अतः ऐसे तो इसके योग्य वर मिलना मुश्किल है। दमयन्ती के सामन इसके लिए स्वयंवर करना ही उचित होगा, क्योंकि स्वयंवर में अनेक देश के राजा व राजकुमार एकत्रित होंगे, जिससे कदाचित् आपकी पुत्री के लिए कोई सुयोग्य वर मिल जाय।'

यह सुनकर राजा को उनका कथन उचित लगा और स्वयंवर का आयोजन करके सभी जगहों से युवा राजाओं और राजकुमारों को बुलवाया है। उन सभी के रहने के लिए नगर के चारों तरफ जनवास की तरह अद्‌भुत सैकड़ों आवास तैयार करवाये हैं। उनमें चावल, दाल घी, तेल, जल और घासादि का समूह तैयार करके रखवाया है। बुद्धिमान पुरुष उचित करने में सावधान क्यों नहीं होंगे?

आपको भी बुला लाने के लिए राजा ने हमें यहां भेजा है। अतः आप शीघ्रतापूर्वक वहां पधारें।"

यह सुनकर **विनयपाल** राजा ने सुन्दर व विचारयुक्त वाणी के माध्यम से कहा–"अहो! वृद्धि प्राप्त प्रीति के द्वारा **वीरसेन** राजा ने हमें आमन्त्रित किया है, पर यह अयोग्य है, क्योंकि हम जैसे वृद्धों का वहां आने का अवसर नहीं है। ऐसे लग्न–प्रसंगों में तो दूसरी वयवाले (युवावस्थावाले) लोगों की ही योग्यता घटित होती है। हम जैसे तीसरी वयवालों के

लिए तो धर्मकार्य ही घटित होता है। अतः नव यौवन से युक्त और सर्व गुणों के उपार्जन में उद्यमी हमारे **रत्नपाल** नामक पुत्र को आप ले जा सकते हैं।''

यह सुनकर उन्होंने मूर्त्तिमान कामदेव के समान कुमार को देखा और वे लोग अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुए। 'यही कन्या के योग्य है'–इस प्रकार मानकर विधाता की सृष्टि की प्रशंसा करने लगे–''अहो! विधाता की अवधानता कितनी अच्छी है! कि अनेक कार्य होने के बावजूद भी समान–समान स्त्री–पुरुष बनाने में वह कभी भूल नहीं करता।''

इसके बाद वे प्रधान पुरुष तथा सभासद राजा से कहने लगे–''ऐसा विवेक आपके सिवाय अन्य किसी को कैसे हो सकता है?''

उसके बाद राजा ने सैन्य समूह सहित उस शुभ परिणामी कुमार को स्वयंवर के लिए शीघ्र विदा किया। कुमार भी मार्ग में सभी राजाओं को अपने आधीन करते हुए तथा अपने तेज की वृद्धि करते हुए **हंसपुर** के समीप पहुँच गया। यह जानकर **वीरसेन राजा** नम्रता के साथ उसके सामने गया। आगत का स्वागत करके उसे श्रेष्ठ आवास में उतारा। अन्य भी आये हुए राजाओं की आवभगत करके उन्हें योग्यता–प्रमाण आवासों में उतारा। समग्र सुख–सुविधाओं से संपन्न उन आवासों में वे सभी राजा अपने महल की ही तरह आनन्दपूर्वक रहे।

फिर **वीरसेन** राजा ने सेवकों के द्वारा विशाल एवं भव्य मण्डप की रचना करवायी। उस मण्डप पर रहे हुए स्वर्णकलश सूर्य की तरह शोभित हो रहे थे। फिर विवाह का दिन उपस्थित होने पर **वीरसेन** राजा ने सभी राजाओं को स्वयंवर मण्डप में बुलाकर ऊँचे आसनों पर योग्यतानुसार बिठाया। उन सभी राजाओं के मध्य **रत्नपाल कुमार** तारों के मध्य चन्द्र की तरह सौंदर्य–सम्पत्ति के द्वारा विशेष रूप से शोभित हो रहा था। जैसे भ्रमरी केतकी के पुष्प पर मंडराती है, वैसे ही सभी की दृष्टि विशेषतः कुमार पर ही मंडरा रही थी।

समय होने पर राजा ने कन्या को स्वयंवर मण्डप में बुलवाया। उस समय कौटुम्बिक स्त्रियाँ मधुर स्वर में मंगल गीत गाने लगीं। मेघ के समान गम्भीर वाद्यन्त्रों के शब्दों द्वारा आकाश गूंजने लगा। उस कन्या के सर्वांग में दिव्य शृंगार था। हाथ में स्वयंवर की माला थी। वह चारों तरफ से दासियों से घिरी हुई थी। उसके मस्तक पर छत्र धारण किया हुआ था। मनुष्यों के द्वारा उठाये गये विमान में वह बैठी हुई थी। इस प्रकार मूर्त्तिमान लक्ष्मी की तरह वह स्वयंवर मण्डप में आयी। उस कन्या के मण्डप में प्रवेश करते ही उसके उछलते लावण्य रूपी जल को पीने के लिए सभी राजाओं की दृष्टि एक साथ उस पर पड़ी। उस सुन्दरता से युक्त मुखवाली कन्या ने एक ही क्षण में उन सभी के हृदय का हरण कर लिया। वे जड़वत्

बन गये।

कोई राजा तो इस प्रकार विचार करने लगा कि 'अहो! इसकी मूर्त्ति कितनी सुन्दर है! अहो! इसकी कान्ति कितनी दैदीप्यमान है!' इस प्रकार विचार करते हुए वह राजा अपने मस्तक को हिलाने लगा।

'यह कन्या तो देवों को भी दुर्लभ है, तो यह मेरा वरण कैसे कर सकती है?'–इस प्रकार विचार करते हुए एक राजा मन ही मन में स्तब्ध हो गया।

'यह कन्या तो साक्षात् लक्ष्मी ही है और स्वयं कमल में क्रीड़ा कर रही है।'–ऐसा निश्चय करके किसी राजा ने हाथ में क्रीड़ा–कमल रख लिया।

'इस कन्या को अगर कोई दूसरा राजा ग्रहण करेगा, तो मैं बलात् इसका हरण कर लूंगा'–मानो ऐसा विचार करके कोई राजा उसे देखकर बार–बार अपनी भुजाओं पर दृष्टिपात कर रहा था।

'यह कन्या मुझे प्राप्त होगी या नहीं? क्या विधाता ने मेरे कपाल पर ऐसा लेख लिखा है?'–मानो ऐसा देखने के लिए कोई राजा मणियों के कंगन में प्रतिबिम्बित हुए अपने ही तिलक को देख रहा था।

उस कन्या के लावण्य रूपी मदिरा का पान करके मानो बेभान होकर कोई राजा गवैये की तरह मधुर स्वर में गायन गाने लगा।

कोई राजा मानो कामदेव रूपी पिशाच से ग्रस्त होते हुए पागल के समान मुख ऊपर करके बिना कारण ही हँसने लगा।

इस प्रकार अनेक राजा अपनी चेष्टाओं के द्वारा अपने भावों को प्रकट कर रहे थे। उस समय उस राजपुत्री ने चारों तरफ अपनी सरल व निर्विकार दृष्टि डाली। फिर राजा की आज्ञा से प्रगल्भ वाणी से युक्त और सर्व राजाओं के नाम, कुल, आचार आदि को जाननेवाली प्रतिहारिनी ने उस कन्या से कहा–"हे देवी! आपको वरने की इच्छा से ये राजा यहां आये हैं और उन सभी की दृष्टि एकमात्र आप पर ही टिकी हुई है। अतः आप की जैसी इच्छा हो, उसी को वरें।"

यह सुनकर मनोहर नेत्रयुक्त और सभी राजाओं के नेत्रों की अतिथि रूपी वह कन्या अपने नेत्रों को और ज्यादा विकसित करके सभी को विशेष दृष्टि से देखती हुई चलने लगी। उस समय वह प्रतिहारी प्रत्येक राजा का नामादि परिचय बताने लगी। उनमें से किसी को मौन के द्वारा, किसी को मुख वक्र करके, किसी को नासिका मरोड़कर, किसी को भृकुटि के भंग द्वारा, तो किसी को हाथ की संज्ञा के द्वारा इस तरह निषेध किया, जिस तरह रुचिरहित

पुरुष उत्तम भोजन का निषेध करता है। सूर्य की कान्ति की तरह संचार करती हुई वह स्वयंवरा कन्या जिन–जिन राजाओं का उल्लंघन करती हुई आगे जा रही थी, वे–वे राजा [1]छाया–सहित होते हुए भी अत्यन्त छाया–रहित बन रहे थे–यह आश्चर्यजनक बात थी। उसके बाद अनुक्रम से **रत्नपाल कुमार** के पास आते ही उसे देखकर वह स्थिर हो गयी। मंजरीयुक्त आम्रवृक्ष को छोड़कर भ्रमरी और कहां जा सकती है? यह देखकर प्रतिहारी ने उसके मन के भाव जानकर कहा–"हे देवी! यह **रत्नपाल** नामक कुमार है। इसका अद्‌भुत चरित्र सुनिए–स्वर्ग की समृद्धि को चुरानेवाला **श्री पाटलिपुर** नामक नगर है। उस नगर में **विनयपाल** नामक राजा पृथ्वी का पालन करते हैं। उस राजा ने शत्रुओं के हृदय में चिरकाल से रही हुई शूरवीरता और अहंकृति को निकालकर उसके स्थान पर नपुंसकता और भय का निवास करवाया है। उन्हीं का पुत्र यह कुमार **कार्तिकस्वामी** के समान महापराक्रमी है। इसका रूप और दान [2]काम से भी ज्यादा शोभित है। सुन्दरता और शूरवीरता के पात्र रूप इनको देखने मात्र से ही स्त्रियों के वस्त्र और शत्रुओं के शस्त्र अपने–अपने स्थानों से च्युत हो जाते हैं। पृथ्वी के भार का वहन करने में धुरी के समान इनको जानकर कूर्म (कछुए) और शेषनागादि अब सुखपूर्वक सोने के लिए तैयार हो गये हैं।

हे देवी! यह कुमार देवकुमार के समान है और भाग्य अत्यन्त जागृत हो अर्थात् उदयप्राप्त हो, तभी यह पति के रूप में प्राप्त हो सकता है।

हे देवी! यह कुमार अपने दाहिने हाथ से पृथ्वी का भार उठाने की तैयारी में है और बायें हाथ में सुख के लिए [3]प्रतिमान बनने लायक आप हैं। आकृति, प्रकृति, यश और वय के द्वारा यह कुमार ही आपको सर्व प्रकार से योग्य प्रतीत होगा।

हे देवी! अद्‌भुत सौभाग्ययुक्त आपको रचकर विधाता ने अगर आपके ही तुल्य इस कुमार को न रचा होता, तो विधाता की क्या निपुणता कही जाती? अतः जैसे विष्णु की प्रिया लक्ष्मी है, इन्द्र की प्रिया इन्द्राणी है और महादेव की प्रिया पार्वती है, वैसे ही इस कुमार की प्राणवल्लभा आप बनो।"

इस प्रकार उस प्रतीहारी के द्वारा दुगुने उत्साह को प्राप्त कन्या ने उत्कण्ठापूर्वक उस कुमार के गले में वरमाला डाल दी। उस समय सभी कहने लगे–"अहो! इस कुमारी ने श्रेष्ठ

1. सूर्य की कान्ति जिसका उल्लंघन करती है, वह उल्लंघन करने के पहले छाया रहित होता है और बाद में छाया सहित हो जाता है। पर इसके विपरीत होने से आश्चर्य हुआ। इससे विरोध पैदा होता है। अतः उसका परिहार करने के लिए यहां छाया शब्द का अर्थ शोभा करना चाहिए।

2. रूप कामदेव से ज्यादा और दान इच्छा से ज्यादा अर्थात् याचक की याचना से भी ज्यादा है।

3. तराजू के एक पलड़े में घी आदि का भार हो और दूसरे पलड़े में तोलने के लिए जो बाट रखे जाते हैं, उसे प्रतिमान कहते हैं।

वर का वरण किया है।''

इस प्रकार कहकर सभी ने उसकी प्रशंसा की। वाद्यन्त्रों के शब्दों द्वारा आकाश व्याप्त हो गया। पर उसे कुमारावस्था से युक्त रत्नपाल को वरता हुआ देखकर कई राजा अत्यन्त कुपित भी हुए। उन्होंने कहा–''पराक्रम के द्वारा दिशाओं पर आक्रमण करनेवाले और विशाल समृद्धि से युक्त हमारे विद्यमान रहते हुए इस बिचारे बालक की इस कन्या को वरने में क्या योग्यता है? अगर हमारे देखते हुए भी यह बकरे के समान कुमार कन्या को वरेगा, तो खेद की बात है कि हम जीते जी ही मरे हुए के समान हो जायंगे। इस कन्या के पिता ने पहले से ही इस कन्या को सिखा दिया होगा कि तुझे इसी कुमार को वरना है। अन्यथा विशाल ऋद्धि से युक्त हम सभी को छोड़कर यह कन्या इसे कैसे वरती? हृदय में दुष्ट अभिप्राय को धारण करते हुए इस शत्रु रूपी **वीरसेन** राजा ने हमें केवल विडम्बना देने के लिए ही यहां बुलाया है। अतः **वीरसेन** और **रत्नपाल** को मूल से ही उखाड़कर गरीब मनुष्यों के घर से मणि की तरह इस कन्या को निकालकर हम ले जायंगे।''

इस प्रकार विचार करके उन सभी राजाओं ने अपनी तीस [1]अक्षोहिणी सेना इकट्ठी करके युद्ध की तैयारी करते हुए तिरस्कारपूर्वक कुमार से कहा–''अरे बालक रत्नपाल! तूं वरमाला को छोड़ दे। क्या तूं नहीं जानता कि इस कन्या ने तुझे वरकर अपने काल को बुलावा दिया है। गुण–अगुण की परीक्षा करने में शून्य चित्तवाली इस कन्या ने तेरे गले में वरमाला डाली, इससे तूं गर्वयुक्त बनकर व्यर्थ ही उद्धत गर्दनवाला मत बन। हमारे पास रही हुइ इस कन्या को स्वीकार करने की तेरी इच्छा व्यर्थ ही है। सिंह के गले में रही हुई केसराशि को लेने की कौन इच्छा कर सकता है? अतः तूं वरमाला यहीं छोड़ दे। अन्यथा इस तलवार के द्वारा तुझे व इस कन्या को यहीं का यहीं कमलनाल की तरह काट देंगे।''

इस प्रकार की उनकी तिरस्कारयुक्त वाणी को सुनकर **रत्नपाल** ने हंसकर कहा–''इस कन्या ने आपलोगों को नहीं वरा, तो आपलोग व्यर्थ ही मुझ पर कोप क्यों करते हैं? जिस विधाता ने आप सब को ऐसे दुर्भाग्य के द्वारा दग्ध शरीरवाला बनाया है, उस विधाता पर कोप क्यों नहीं करते? परस्त्री की कामना रूपी पाप के द्वारा तुम सभी की आत्मा मलिन हो गयी है। अतः तुम सभी को शुद्ध बनाने के लिए अभी तो मेरी असिधारा रूपी तीर्थ ही तुम सभी के लिए शरणभूत है।''

इस प्रकार कहकर कुमार भी तत्काल युद्ध करने के लिए तैयार हो गया। तेज के स्थानभूत क्षत्रिय तिरस्कार को कभी सहन नहीं करते। **वीरसेन** राजा ने भी जामाता का पक्ष

1. एक अक्षोहिणी में 21870 रथसवार, 21870 गजसवार, 65610 घुड़सवार और 109350 पदाति अर्थात् पैदल सैनिक होते हैं।

लेते हुए युद्ध करने के लिए अपनी चतुरंगिणी सेना तैयार की।

इस अवसर पर नगर के लोग व सैनिक स्थान–स्थान पर इकट्ठे होकर परस्पर वार्त्तालाप करने लगे–"अहो! यह तो हर्ष के स्थान पर खेद उत्पन्न हो गया। भोजन के प्रारम्भ में ही छींक आ गयी। मांगलिक समय में लाठी पर लाठी मारने का समय आ गया कि जिससे इस कन्या के विवाह के उत्सव पर विश्व का संहार करनेवाले इस युद्ध का प्रारम्भ अकस्मात् हो रहा है। अहो! इस कन्या पर विधाता की कैसी दुरन्त प्रतिकूलता है? कि जिससे ऐसे हर्ष के समय ऐसा अशुभ हुआ है। जगत का क्षय करनेवाले इस युद्ध में हेतुभूत बनी हुई यह कन्या राजा के वंश में कालरात्रि की तरह उत्पन्न हुई प्रतीत होती है।"

इस प्रकार कर्णों में करवत (तलवार) के समान उनके वचनों को सुनकर बुद्धिमान **शृंगारसुन्दरी** हृदय में खेदखिन्न होते हुए विचार करने लगी–"पापी प्राणियों में अग्रसर मेरी आत्मा को धिक्कार है, क्योंकि मेरे निमित्त से अपार प्राणियों का संहार करने के हेतु रूप इस रणसंग्राम का अवसर उपस्थित हुआ है। एक जीव के वध में निमित्त बना प्राणी नरक में जाता है, तो इतने मनुष्यों के वध का हेतु बनकर मैं किस गति में जाऊँगी? ये सत्यवादी लोग मेरी निन्दा कर रहे हैं, जो उचित ही है, क्योंकि आज मैं अपार पाप का कारण बनी हुई हूं।"

इस प्रकार चिन्ता में लीन उसकी प्रशस्त बुद्धि विकास को प्राप्त हुई, क्योंकि **स्त्रियों में इष्ट कार्य को सिद्ध करनेवाली तात्कालिक मति होती ही है।** फिर उसने अवसरोचित कार्य करनेवाले बुद्धिनिधान मंत्री **सुबुद्धि** को व **रत्नपाल** कुमार को अपना मंतव्य एकान्त में बताया। फिर उसने हाथ ऊँचा करके सभी राजाओं को शान्त करते हुए कहा–"हे राजाओं! स्वस्थ होकर मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनें। आपलोगों ने निरर्थक प्राणीवध का यह पापकार्य अचानक क्यों आरम्भ किया है? क्योंकि मैं किसी के साथ भी परिणय–संबंध नहीं करनेवाली हूं। मेरे निमित्त से विश्व का प्रलय करनेवाले इस युद्ध का प्रारम्भ होने जा रहा है। तो फिर मेरे पाणिग्रहण का उत्सव किस तरह योग्य हो सकता है? अतः पाप के कारण रूप मेरी देह को मैं अग्नि की ज्वाला से व्याप्त चिता में भस्मीभूत कर रही हूं।"

इस प्रकार उन राजाओं को कहकर तथा मंत्री को आदेश देकर सेवकों के द्वारा काष्ठ की चिता तैयार करवायी। **स्त्रियों की बुद्धि अगाध होती है।** फिर स्नान करके देवपूजा आदि शुभ कार्य करके वह कन्या सभी राजाओं के देखते ही देखते चिता के समीप पहुँची। उस समय **सुबुद्धि** मंत्री ने सभी से कहा–"अत्यन्त साहसिक जो राजा इस चिता में प्रवेश करेगा, वही इस कन्या के साथ परिणय करेगा।"

यह सुनकर सभी राजा एक–दूसरे के मुख को देखने लगे, क्योंकि अग्नि में प्रवेश करते ही मृत्यु होती है–इसमें कोई संशय नहीं है। 'अब क्या करें?'–इस प्रकार वे सभी विचार विमूढ़ बन गये। उनका मुख निस्तेज हो गया। सभी ने अपने मुख नीचे कर लिये और कुछ भी जवाब देने में शक्तिमान नहीं बन पाये।

तब मंत्री ने फिर से कहा–"मैं निर्णय लेने के लिए आप सभी को तीन दिन की मोहलत देता हूं। आपलोगों को तीन दिन बाद जो उचित लगे, वही करना।"

यह सुनकर आश्चर्यचकित होते हुए सभी राजा अपने–अपने आवासों में लौट गये। वह कन्या भी नगर के पास रही हुई श्वेतवती नदी के किनारे रची हुई चिता के समीप अग्नि में प्रवेश करने का निश्चय करके तीन रात्रि तक वहीं रही।

चौथे दिन कौतुक से व्याप्त चित्तवाले सभी राजा वहां आये। मंत्री ने पूर्व के समान उनसे फिर वही प्रश्न पूछा। तब उन सभी राजाओं ने अत्यन्त हास्यपूर्वक मंत्री से कहा–"जिसने वरमाला स्वीकार की है, वही उससे परिणय करेगा।"

यह सुनकर **रत्नपाल** ने खड़े होकर हाथ ऊपर करते हुए आक्षेपपूर्वक कहा–"मैं पराक्रमियों में मुख्य हूं। आप सभी की तरह कायर नहीं हूं। ऐसा दुष्कर उपाय करके भी मैं इस स्वयंवरा से विवाह करूंगा। **महासत्त्वयुक्त पुरुष प्राणान्त तक भी स्वीकृत कार्य का त्याग नहीं करते। जब तक सत्य से शोभित महापुरुष किसी भी कार्य को अंगीकार नहीं करते, तब तक ही वह कार्य विषम गतियुक्त प्रतीत होता है।** साहसपूर्वक जीनेवाले महापुरुषों के लिए तो सर्प भी पुष्पमाला की तरह ही प्रतीत होता है, अग्नि जल के समान लगती है, विष अमृत के समान प्रतीत होता है, समुद्र पृथ्वीतल के समान प्रतीत होता है, देव उनकी सेवा करने में रसिक बनते हैं और विकट व भयानक अटवी घर के आँगन के समान प्रतीत होती है। अतः हे राजाओं! आप सभी देखें। मैं इसके साथ चिता में प्रवेश करुंगा और आपलोगों की कीर्ति के साथ ही इस कन्या से पाणिग्रहण करुंगा।"

इस प्रकार वह बोल ही रहा था कि उस कन्या ने चिता में प्रवेश किया। उसके पीछे तुरन्त नेपथ्य में जैसे नटी के पीछे नट जाता है, वैसे ही रत्नपाल ने भी चिता में प्रवेश किया। उस समय हाहाकार करते हुए नगरजनों के द्वारा रोके जाने पर भी दासी ने कुमारी के कहने पर चिता में आग लगा दी। चिता में अग्नि जाज्ज्वल्यमान बन गयी। सभी लोग खेदखिन्न हो गये। पर स्वयंवर में आये हुए ईर्ष्यालू राजा हर्षित होकर हँसने लगे। उधर मंत्री ने पूर्व के तीन दिनों में चिता के अन्दर द्वारयुक्त एक गुप्त सुरंग खुदवा दी थी। वे दोनों अग्नि के प्रज्ज्वलित होने के साथ ही उसी सुरंग से होकर निर्विघ्न महल में प्रवेश कर गये। अदृश्य अंजन के द्वारा उनके नेत्र आँजे गये हो–इस प्रकार से उन दोनों को महल में प्रवेश करते

हुए किसी ने नहीं देखा। वे दोनों गवाक्ष में जाकर बैठ गये। तब उन्हें प्रत्यक्ष गवाक्ष में देखकर सभी लोग विस्मित होकर बोलने लगे–"अहो! इस कुमार की कैसी अद्‌भुत शक्ति है! उसका धैर्य कैसा अनोखा है! इसकी कला कितनी आश्चर्यकारक है! अहो! क्या इस कुमार ने सर्व कार्य को सिद्ध करनेवाली कोई विद्या साधी है? या सर्व इष्ठ कार्य करनेवाला कोई देव इसे सिद्ध है? कि जिससे इस कुमार ने ज्वाला के द्वारा दैदीप्यमान अग्नि में से भी प्रियासहित अपने–आपको सुरक्षित बचा लिया है और किसी को कुछ पता भी नहीं चला। ये दोनों अब गवाक्ष में इत्मीनान से बैठे हैं।"

इस प्रकार अंतःकरण में आश्चर्य को प्राप्त वे सभी राजा और नगरजन उन दोनों को समीप से देखने के लिए उत्कण्ठापूर्वक राजमहल में आये। फिर सभी राजाओं के देखते ही देखते विशाल महोत्सवपूर्वक **वीरसेन** राजा ने उस कुमार के साथ अपनी पुत्री का विवाह किया।

उसके बाद सभी राजाओं का वस्त्रादि से सत्कार करके उनको विदा किया। वे सभी भी लज्जा से श्याममुखी होते हुए अपने–अपने नगर की तरफ चले गये।

कुमार भी कितने ही दिनों तक वहां रहा, फिर राजा ने उसे हाथी आदि वस्तुओं के द्वारा सम्मानित करके विदा किया। कुमार भी अपने नगर की और चला। मानो मूर्त्तिमान जयलक्ष्मी हो–ऐसी शृंगारसुन्दरी और परिवार के साथ कुमार अनुक्रम से अपनी नगरी में पहुँचा। वहां अकथनीय उत्साह और उत्सव के द्वारा राजा ने उसे प्रिया सहित नगर में प्रवेश करवाया। फिर अपने पुत्र राज्य की धुरी उठाने में धुरन्धर जानकर राजा को चारित्र लेने की अभिलाषा जागृत हुई। अतः राजा ने पुत्र को शिक्षा देते हुए कहा–"हे वत्स! विशुद्ध बुद्धि, श्रेष्ठ आचरण और शास्त्रों की पारगामिता के कारण तूं वृद्धावस्था के बिना भी वृद्ध के जैसा ही है। फिर भी कुछ योग्यता होने के कारण मैं तुम्हें उपदेश दे रहा हूं, क्योंकि योग्य वस्तु में क्या–2 संस्कार नहीं किया जाता?

हे वत्स! यह राज्य अनेक कार्यों के समूह से व्याप्त है। सारा राजपरिवार केवल स्वार्थ में ही तत्पर और मुख पर मीठा बोलनेवाला होता है। करण्डक में रहे हुए सर्प की तरह यह राज्य निरन्तर सावधानता से सम्भालना पड़ता है अन्यथा तो यह स्वयं का विनाशक ही सिद्ध होता है। यह राज्य वानर की तरह अत्यन्त चपल होता है। उसे उन–उन योग्य गुणों के द्वारा नियम में रखना पड़ता है। वरना तो एक शाखा (राजा के वंश) से दूसरी शाखा (वंश) में जाते हुए उसे कौन रोक सकता है? पके हुए धान्यवाले श्रेष्ठ खेत की तरह वह राज्य प्रयत्नों के द्वारा रक्षणीय है, क्योंकि उसे उपद्रवित करने के लिए पशुओं की तरह दुष्ट मद से युक्त मनुष्य तैयार ही रहते हैं। उस राज्य में नये उद्यान की तरह निरन्तर न्यायधर्म

रूपी नवजल का सिंचन करना पड़ता है अन्यथा कुमार्ग रूपी धूप के द्वारा सूख सकता है। और भी, हे वत्स! नवयौवनावस्था के द्वारा जो मद रूपी अन्धकार उत्पन्न होता है, उसे सूर्य या चन्द्र भेद नहीं पाते, रत्नों की कान्ति उसका छेदन नहीं कर सकती, दीपक की प्रभा भी उसे दूर नहीं कर सकती।

हे वत्स! राज्यमद रूपी अन्धता विकस्वर कमल के समान नेत्रोंवाले मनुष्य को भी अन्धा बना देती है। वह अन्धता अंजन के प्रभाव से दूर नहीं हो सकती। एकमात्र यौवन की मदाग्नि गुण रूपी अरण्य को भस्मीभूत कर देती है। तो फिर वह अग्नि राज्य के मद रूपी वायु से युक्त हो जाय, तो उसका क्या कहना?

हे वत्स! क्या तुम नहीं जानते? कि यह लक्ष्मी क्षीरसागर में साथ रहने के परिचय के कारण कल्पवृक्ष के नवांकुरों से राग, विष से मोहनता, कौस्तुभ मणि से अत्यन्त कठोरता, चन्द्रखण्ड से वक्रता तथा मदिरा से उन्माद ग्रहण करके बाहर निकली है। चिरकाल से पिता समुद्र के संसर्ग–परिचय से उनके तरंगों की चंचलता प्राप्त हो जाने से लक्ष्मी किसी भी स्थान पर स्थिरता को प्राप्त नहीं होती। सरस्वती के साथ सपत्नी का भाव होने से सरस्वती का आलिंगन किये हुए पुरुष के पास वह लक्ष्मी नहीं जाती। खर्च के प्रयास से मानो भयभीत होती हो–इस प्रकार से वह दातार के पास भी नहीं जाती। शूरवीर का कण्टक की तरह वह दूर से ही परित्याग कर देती है। विनयवंत को तो वह कलंकिनी के समान सामने भी नहीं देखती। मानो अपवित्र हो–इस प्रकार मानकर गुणवानों का तो स्पर्श भी नहीं करती। उन्मत्त की तरह वह चतुर पुरुषों का उपहास करती है। रूप, राजा, कुल, बल, शौर्य, व धैर्य को देखकर भी लक्ष्मी स्थिरता को प्राप्त नहीं होती। जैसे वेश्या एकमात्र धन को ही देखती है, वैसे ही लक्ष्मी एकमात्र पुण्य को ही देखती है। अतः लक्ष्मी की चाहना रखनेवालों को एकमात्र पुण्य का उपार्जन करने में ही यत्न करना चाहिए। जिनका मन विषयों में आसक्त हो, उनके लिए पुण्यकार्य कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि व्यसन बाह्य और आन्तरिक–दोनों सम्पदाओं का नाश करता है। अपार व्यसन की आसक्ति रूपी मदिरा के द्वारा पुरुष के चैतन्य का नाश होता है। अतः उसे बाह्य और आभ्यन्तर शत्रु सरलता से छल सकते हैं। यह साम्राज्य रूपी दृढ़ मूलवाले वृक्षकेश रूपी स्कन्ध के द्वारा विशाल स्कन्धयुक्त है, राजा के द्वारा अद्‌भुत छायावाला है। पुत्र–पुत्री की संतति के द्वारा विस्तार को प्राप्त शाखा–प्रशाखाओं से व्याप्त है। विविध प्रकार के रत्न, स्वर्ण और विद्रुम के द्वारा अत्यन्त विकसित पल्लवों से युक्त है। यश रूपी पुष्पों की सुगन्ध के समूह के द्वारा याचकों रूपी भ्रमरों को लुभानेवाला है। भिन्न–2 देश के कलानिपुण लोगों रूपी पक्षियों के समूह ने उसका आश्रय लिया हुआ है। बड़े–बड़े प्रासादों के द्वारा वह ऊँचाई से युक्त है। सैनिकों रूपी पत्तों के द्वारा वह चारों

तरफ से घिरा हुआ है। उसने अन्याय रूपी विशाल तरंग–समूह से व्याप्त और मुश्किल से उलांघे जानेवाले व्यसन नामक समुद्र को क्षणभर में ही मूलसहित उखाड़ दिया है। महापराक्रमी **कृष्ण, नल, रावण और पाण्डवों** आदि ने व्यसन से ही महा–आपत्ति को प्राप्त किया था–ऐसा शास्त्रों में सुना जाता है। **सत्यकी** विद्याधर महाविद्या से युक्त और सम्यक्त्वी था, फिर भी निरन्तर विषयासक्ति के कारण अकालमृत्यु के द्वारा दुर्गति को प्राप्त हुआ। बारहवें चक्रवर्त्ती ने प्रमादासक्ति के कारण सोलह वर्ष तक अन्धेपन को प्राप्त किया और मरकर सातवीं नरक में गया। मनुष्यों को जिस भी विषय में उन्मत्तता होती है, वह बिना मदिरापान के ही उत्पन्न होती है, चिरकाल तक रहती है और औषधि के द्वारा भी दूर नहीं होती।

अतः हे वत्स! उस विषय में आसक्ति रखे बिना ही तुम प्रवर्त्तन करना। ऐसा करने से तूं लोक में उपहास का पात्र नहीं बनेगा। दुर्जनों की निन्दा का पात्र भी नहीं बनेगा। धूर्त्त तुम्हें नहीं ठग पायेंगे। स्त्रियाँ अपने मायाजाल में तुम्हें नहीं फंसा पायेंगी। कामदेव तुझे अपने वश में नही कर पायगा। राज्य का मद तुझे उन्मत्त नहीं कर पायगा। पण्डित पुरुष तुम्हारी स्तुति करेंगे। वैरी तेरा पराभव नहीं कर पायेंगे। गुरुजन तुम्हारा आदर–सत्कार करेंगे। प्रजा तुम्हारी स्तुति करेगी। इस प्रकार राज्य का पालन करने से तेरी बाह्य और आभ्यन्तर लक्ष्मी को इन्द्र भी हरण नहीं कर पायगा। दिन–प्रतिदिन वह वृद्धि को ही प्राप्त होगी। तुम स्वभाव से ही प्रवीण हो। सर्व सत्कृत्यों में अग्रणी हो। पर यह लक्ष्मी चतुर व्यक्ति को भी क्षणमात्र में चपल बना देती है। अतः हे वत्स! मैं तुम्हें बारंबार यही कहता हूं कि अब तूं पूर्वजों के द्वारा उठायी गयी राज्य की धुरा को धारण कर, जिससे मैं निष्कपट भाव से संयम रूपी ऐश्वर्य को ग्रहण कर पाऊँ। **मनुष्यों के लिए समयानुसार कृत्य करना ही कल्याणकारक है।**''

इस प्रकार शिक्षा रूपी अमृत के द्वारा अन्दर से और तीर्थों के जल द्वारा बाहर से **रत्नपाल** को स्नान करवाकर राजा ने उसे राज्य पर स्थापित किया। उसके बाद मायारहित राजा ने जिनचैत्यों में अट्ठाई महोत्सव करवाया। फिर पुत्र द्वारा किये गये निष्क्रमण महोत्सव के साथ उसने दीक्षा अंगीकार की। चिरकाल तक संयम का आराधन करके दुष्कर तपस्या का सेवन करके कैवल्य लक्ष्मी का वरण करके राजा मोक्ष में गया।

फिर अज्ञान–अन्धकार का नाश करते हुए और नीति रूपी कमल को विकसित करते हुए **रत्नपाल** राजा उदयप्राप्त सूर्य की तरह शोभित होने लगा। उसके **शृंगारसुन्दरी** आदि हजारों स्त्रियाँ थीं। वे सभी अपने–अपने सौभाग्य द्वारा देवांगनाओं को भी पराजित करती थीं। उस राजा के समग्र कार्यों में **जय** नामक मन्त्री अत्यन्त धुरन्धर था। बृहस्पति भी

उसकी बुद्धि का पार नहीं पा सकते थे। पर वह मन्त्री शंख की तरह अंतःकरण में अत्यन्त कुटिलता को धारण करता था। वह राजा का मात्र मधुर वाणी के द्वारा ही रंजन करता था। अतः सरल स्वभावयुक्त राजा सर्व प्रयत्न से सर्व कार्य करनेवाले उस मंत्री को देख–देखकर चित्त में आनन्दित होता था। 'किसी का विश्वास नहीं करना'–इस प्रकार की गुरुओं की राजनीति की शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद भी राजा ने जय को बाहर से सभी कार्यों में विश्वस्त तरीके से अंगीकार किया था। उस अप्रामाणिक मंत्री ने राजा को इतना अधिक वश में कर लिया था कि राजा ने उसे सर्व राजकार्यों में स्वतन्त्रता प्रदान की। अतः कामकाज से रहित बना राजा कामभोग में आसक्त हो गया। प्रायः **निरुद्यमी पुरुष प्रमाद के द्वारा मर्दित होता है।** स्वयं को प्रमाद के उपद्रव से दूर करने के इच्छुक पुरुष को निरन्तर धर्मकार्य में उद्यम करना चाहिए। स्वर्ण का रक्षण करनेवाले पुरुष का चित्त अन्य–अन्य स्थल में व्याकुल रहने से जैसे स्वर्णकार खुश होता है, वैसे ही निरन्तर विषयों में आसक्त राजा को देख–देखकर **जयमंत्री** खुश होता था। मुग्धता के कारण बिल्ली को दूध की रखवाली में नियुक्त करने के समान समग्र राज्य मन्त्री के आधीन करके राजा निरन्तर अंतःपुर में इच्छानुसार विलास करने लगा। वह राजा कभी सौभाग्य के द्वारा मनोहर स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करता, तो कभी पंचम राग से गाये जानेवाले संगीत में आनन्द प्राप्त करता। कभी सब कुछ भूलकर नृत्य देखने में तल्लीन बन जाता, तो कभी दीर्घ नेत्रोंवाली स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा करने लगता। कभी स्त्रियों द्वारा रचे गये पुष्पालंकार को धारण करता, तो कभी मूर्त्तिमान कामदेव के समान राजा रमणीय उद्यानों में रमण करता। कभी वासभवनों में, कभी गवाक्षों में और कभी महल की सर्वोपरि मंजिल पर विचरण करता। इस प्रकार देवों को भी दुर्लभ पाँच प्रकार के कामभोगों को भोगते हुए वह राजा मानो कामदेव रूपी वातरोग से पीड़ित की तरह कभी भी राजसभा को याद भी नहीं करता था।

जैसे भूखा मनुष्य अपने पास भोजन से भरा हुआ थाल देखकर खाने के लिए उत्सुक होता है, वैसे ही **जयमंत्री** यत्न के बिना प्राप्त हुए राज्य को भोगने के लिए उत्सुक बना। अतः उसने प्रतिहारी, पुरोहित व अन्य प्रधानादि का वेतन बढ़ाकर उन्हें अपने आधीन कर लिया। वह बारम्बार विचार करने लगा कि मैं इस राजा को यहां से कब बाहर निकालूं?

एक बार वह स्वयं राजा की तरह सभा में सिंहासन पर बैठा हुआ था। उस समय किसी विद्यासिद्ध पुरुष ने आकर उसे आशीर्वादपूर्वक नमन किया। यह तो कोई अद्‌भुत विद्वान पुरुष प्रतीत होता है–इस प्रकार विचार करके **जयमंत्री** ने उसका सन्मान करके उसकी इच्छानुसार भोजनादि का दान देकर उसे संतुष्ट किया। वह सिद्धपुरुष भी उसकी अकृत्रिम भक्ति के द्वारा प्रसन्न हुआ और अमात्य को उसने अस्वापिनी विद्या देकर संतुष्ट किया।

फिर किसी समय **जयमंत्री** ने उसी विद्या के द्वारा राजा को परिवारसहित गाढ़ निद्रा में सुला दिया। **पापी की विद्या पाप के लिए ही होती है।** फिर अपने विश्वस्त सेवकों के द्वारा पलंगसहित राजा को एक विशाल, भयंकर व शून्य वन में छुड़वा दिया। दुष्टबुद्धि से युक्त मनुष्य के लिए कुछ भी अकृत्य नहीं होता। इस दुराचारी के मन में राजा को मरवाने का ख्याल भी नहीं आया–यह तो उस राजा के पूर्व के पुण्योदय का ही प्रभाव था। उसके बाद दुष्ट चेष्टायुक्त वह **जयमंत्री** पक्वान्न की शून्य दूकान की तरह और मक्खीरहित मधु की तरह इच्छानुसार राज्य का भोग करने लगा। उसने सामन्तादि को तो पहले ही द्रव्यादि देकर वश में कर लिया था। अतः सभी उसकी आज्ञा के आधीन होकर उसकी सेवा करने लगे। फिर धीरे–धीरे एकमात्र शृंगारसुन्दरी को छोड़कर बाकी सभी रानियों के साथ वह **जयमंत्री** दुराचार का सेवन करने लगा।

एक बार अत्यन्त रागान्ध होकर वह **जयमंत्री शृंगारसुन्दरी** से भी विविध प्रकार की मधुर वाणी के द्वारा प्रार्थना करने लगा। **शृंगारसुन्दरी** ने अत्यन्त कुपित होते हुए उसकी भर्त्सना की और कहा–"अरे दुष्ट! अरे निर्लज्ज! ऐसे पापी वचन मेरे सामने बोलने की तेरी हिम्मत भी कैसे हुई? प्राणान्त आने तक भी मेरे शील का लोप करने में कोई समर्थ नहीं है। कल्पान्तकाल में भी प्रचण्ड वायु के द्वारा क्या मेरुपर्वत कम्पित होता है? मोक्षलक्ष्मी का स्थान रूप शील मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय है। अतः इस शील के लिए मैं मेरे जीवन का भी तृणवत् त्याग कर दूंगी। स्वामिद्रोह से उत्पन्न पाप के द्वारा तूं चण्डाल से भी ज्यादा निन्दनीय है। विवेकी पुरुष के लिए तेरा मुख देखना भी योग्य नहीं है।

हे दुराचारी! तूं मेरे दृष्टिमार्ग से दूर हो जा, क्योंकि तेरा मुख देखने मात्र से भी मुझे दुरन्त पाप लगेगा।"

इस प्रकार उसके द्वारा तिरस्कृत होकर **जयमन्त्री** क्रोध से धमधमायमान हुआ। अतः वह प्रतिदिन उसे पाँचसौ कोड़े मारने लगा। कसाई की तरह वह लोहे की संडासी के द्वारा उसके शरीर में से निर्दयतापूर्वक अनेक बार मांस के टुकड़े काटने लगा। कई बार तो वह दुर्बुद्धि निर्दयी उसके मुख और नासिका को बांध–बांधकर एक घड़ी तक उसे श्वासोच्छ्वास से रहित कर देता था। इस प्रकार परमाधामी देवों की तरह एक मास तक जीवन का अन्त करनेवाले निर्दयी उपायों के द्वारा उस रानी की कदर्थना की। फिर भी उस पतिव्रता ने उसके वचन अंगीकार नहीं किये। धन्य है वह सती! **सतियों को अपना शील जितना प्रिय होता है, उतना अपना शरीर या जीवन नहीं।**

एक बार **जयमंत्री** को उसके एक श्रेष्ठ बुद्धियुक्त मित्र ने कहा–"हे देव! यह **शृंगारसुन्दरी** महासती है। इसकी विडम्बना करना योग्य नहीं है। महासतियाँ शील की

महिमा के द्वारा क्या–क्या नहीं कर सकती? जल को स्थल बना सकती हैं, स्थल को जल बना सकती हैं, चतुरंगिणी सेना को लीलामात्र में स्तम्भित कर सकती हैं, जाज्ज्वल्यमान ज्वाला से युक्त अग्नि को भी शीतल बना सकती हैं, अनेक भूत–प्रेतादि को क्रौंचपक्षी की तरह बंधन से बांध सकती हैं, शत्रुओं के द्वारा की गयी सर्व आपत्ति को तत्काल संपत्ति के रूप में कर सकती हैं, रोष को प्राप्त सती स्त्रियाँ शाप के द्वारा राजा को भी उसके सप्तांग राज्य सहित तत्काल भस्मसात् कर सकती हैं। इस पर एक दृष्टान्त है। आप ध्यानपूर्वक सुनें–

'**रत्नपुर** नामक नगर में पुण्यप्रवाह को वहन करनेवाला **धनसार** नामक सार्थवाह था। उसके **धनश्री** नामक प्रिया थी। वह स्वयं तो मूर्त्तिमान पुण्यलक्ष्मी की तरह शोभित होती थी एवं अपनी आत्मा को और कुल को उज्ज्वल गुणों के द्वारा शोभित करती थी। उसका अद्‌भुत रूप और शील मणियों से शोभित स्वर्णालंकारों की उपमा का पोषण करता था।

एक बार उसको प्रत्यक्ष लक्ष्मी की तरह अपने आवास के झरोखे में बैठा हुआ देखकर आकाश में गमन करते हुए किसी दुष्ट बुद्धियुक्त विद्याधर का मन मोहित हो गया। अतः वह तुरन्त उसके पास आकर प्रकट रीति से खुशामद से युक्त वचनों के द्वारा प्रार्थना करने लगा। **कामान्ध पुरुष क्या–क्या निन्द्य कर्म नहीं करता?** क्या–क्या नहीं बोलता? पर शील को प्राणों से भी ज्यादा माननेवाली उसने उसके वचन को मान्य नहीं किया। जो संकट के समय भी शील का लोप नहीं करती, उसे ही सती कहा जाता है। उसके नहीं मानने पर वह विद्याधर अपनी विद्या के बल से उस पर उपद्रव करने के लिए तैयार हो गया। कामदेव के द्वारा उन्मत्त हुआ पुरुष मदिरा से उन्मत्त हुए पुरुष से जरा भी कम नहीं होता। उसके उपद्रवों को देखकर शील भंग हो जाने के डर से उस सती ने क्रोधित होकर उसे श्राप दिया–"रे अधम! तूं शीघ्र ही सप्तांगवाले राज्य से भ्रष्ट होगा।"

तब उसने कहा–"मुझ विद्याधर को तेरा श्राप फलित नहीं होगा, क्योंकि गारुड़ी को सर्प के क्रोध से कोई डर नहीं होता। पर हे स्त्री! अभी दिन है। अतः अभी तो मैं जा रहा हूं। पर रात्रि में फिर आऊँगा और तुम्हें जबरन पकड़कर ले जाऊँगा।"

यह सुनकर शील की अचिन्त्य महिमा से शोभित वह सती भी बोली–" मेरे वचनों से सूर्य का अस्त ही नहीं होगा। यह तूं निश्चय जान ले।"

उसके वचनों की अनसुनी करते हुए वह विद्याधर अपने नगर की तरफ चला गया। उसी समय उसका घर अग्नि में भस्मसात् हो गया। अकस्मात् व्याधि से उसके पुत्र का भी मरण हो गया। उसका हस्ती–सैन्य, अश्व–सैन्य आदि भी मरकी के रोग से मरण को प्राप्त

हुआ। उसके नगर को मानो बिना मालिक का जानकर शत्रु भी उपद्रव करने लगे। इस प्रकार राज्य से भ्रष्ट होकर तथा दुःख से अत्यन्त पीड़ित होकर वह विचार करने लगा–"हहा! मैंने दुर्बुद्धियुक्त होकर धर्म रूपी धन से युक्त सती की विराधना की, जिसके फलस्वरूप ही यह आपत्ति और विपत्ति मुझे प्राप्त हुई है। अहो! उस शीलवती की शक्ति अद्‌भुत ही है। उसके शील के प्रभाव से मेरा विशाल राज्य भी क्षणभर में नष्ट हो गया।"

इस प्रकार वह खेदपूर्वक विचार कर रहा था, कि किसी विद्याधर ने आकर उससे कहा–"हे देव! आज मैंने कोई अलौकिक विशाल कौतुक देखा है। वह यह है कि **रत्नपुर नगर** में सूर्य अस्त ही नहीं होता। किसी भी कारण से सूर्य को स्तम्भित हुए आज तीन दिन हो गये हैं। वहां के लोग इस घटना को उपद्रव मानकर भय से व्याकुल होते हुए उसकी शान्ति के लिए क्रियाएँ कर रहे हैं। यह हकीकत मैंने मेरे इन नेत्रों से देखी है। मैं वहां से सीधा आपके पास ही आया हूं। ऐसा आश्चर्य न तो कभी किसी ने देखा है और न ही सुना है।"

यह सुनकर वह विद्याधर राजा और अधिक आश्चर्यचकित होते हुए विचार करने लगा–"अहो! उस रानी के शील का प्रभाव तीन जगत से भी परे है। उसने शीलभंग होने के डर से व्याकुल होकर शील के ही प्रभाव से सूर्य को भी अपना दास बना लिया है। उस समय उस सती ने जो–जो शब्द लीलावश बोले थे, वे सभी सत्य साबित हुए हैं। उसके वचन अन्यथा नहीं हुए। मुझे भी वह अपने क्रोध से भस्मसात् कर देगी। अतः मुझे अभी ही उसके पास जाना चाहिए और अनुनय–विनय के द्वारा उसे प्रसन्न करना चाहिए।"

इस प्रकार विचार करके राजा तुरन्त ही वहां गया और सती को नमस्कार करके उसके स्वजनों के सामने ही उससे माफी माँगने लगा–"हे सती! मैंने दुष्ट बनकर रागान्ध होकर तुम्हारी विराधना की, जिससे मैं अनेक आपत्तियों को प्राप्त हो चुका हूं। मेरे अपराध को तुम क्षमा करो। हे माता! मैंने तुम्हारे शील के प्रभाव को प्रत्यक्ष देखा है। यह सूर्य भी तुम्हारे ही शील के प्रभाव से स्तम्भित होकर अस्त नहीं हो रहा है। अतः अब तुम प्रसन्न बनो। इस सूर्य को और मुझे श्राप से मुक्त करो, जिससे सूर्य अन्य देश में जा सके और मैं मेरी लक्ष्मी को पुनः प्राप्त कर सकूं।"

यह सुनकर उसने आज्ञा दी और सूर्य का अस्ताचल की और प्रयाण हुआ। विद्याधर राजा से भी रानी ने कहा–"तुम अपनी सम्पत्ति शीघ्र ही प्राप्त करोगे।"

ऐसा कहकर राजा को प्रसन्न किया। यह सब देखकर लोगों ने विद्याधर राजा से पूछा–"यह सब क्या था?"

तब विद्याधर राजा ने उन सब के सामने उस सती के शील का वैभव और अपनी दुष्ट चेष्टा का कथन स्पष्ट रूप से किया और कहा–"अहो! इसके शील की शक्ति तीन लोकों का उल्लंघन करती है।"

यह सुनकर उसके चारित्र से चमत्कृत होते हुए कौन ऐसा न होगा कि जिसने उसकी स्तुति न की होगी?

उसके बाद वह विद्याधर भी उसे प्रणाम करके अपने स्थान पर लौट गया और उस सती के आशीर्वाद के प्रभाव से अनुक्रम से अपनी ऋद्धि–वैभव को प्राप्त किया।

इसी कारण से मैं कहता हूं कि हे स्वामी! दृढ़ व्रतवाली ये सतियाँ पूजा–सत्कार के ही लायक हैं। उनकी थोड़ी भी हीलना या कदर्थना करना उपयुक्त नहीं है।"

यह सुनकर **जयमन्त्री** भयभीत होकर शान्त हुआ और उस सती से क्षमायाचना करके उसे छोड़ दिया और कहा–"तुम तुम्हारा शील पालो और सुख से रहो।"

कसाई की तरह **जय** से मुक्त होकर वह शृंगारसुन्दरी हर्षित हुई प्रशस्त मन से युक्त होती हुई विचार करने लगी–"अगर मेरे स्वामी जीवित हों, तब तो मैं स्वजनों के पास रहकर धर्मकार्यों में तत्पर होते हुए समय का निर्गमन करूं और अगर मेरे स्वामी जीवित न हों, तो धर्मविधि से मरण को अंगीकार करूं, क्योंकि स्वामी के बिना अगर जीवित रही, तो शील पर फिर संकट आ सकता है।"

ऐसा विचार करके उस सती ने श्रेष्ठ निमित्तज्ञों को बुलाकर पूछा–"मेरे पति कुशल हैं या नहीं? वे मुझे कब मिलेंगे?"

उन्होंने अच्छी तरह देखकर और विचार करके कहा–"हे माता! आप मन में शान्ति धारण करें व निरन्तर धर्म की ही आराधना करें। धर्म के प्रभाव से ही विशाल समृद्धि को प्राप्त करके आपके पति ठीक बारह वर्ष के बाद आपसे यहीं आकर मिलेंगे।"

यह सुनकर शृंगारसुन्दरी अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हुई और निमित्तज्ञ को इच्छानुसार दान देकर सन्तुष्ट किया। उसके बाद पति के लौट आने तक उसने आयम्बिल व्रत धारण किया। बीच–बीच में वह छट्ठ, अट्ठम, पाँच उपवास, पन्द्रह उपवास और मास उपवासादि दुष्कर तप भी करने लगी। वह पतिव्रता दर्पण में कभी भी अपना मुख नहीं देखती थी। शरीर पर अंगराग–विलेपन नहीं करती थी। शरीर की कान्ति के लिए स्नान भी नहीं करती थी। चमकते हुए वस्त्र भी नहीं पहनती थी। आँखों में अंजन भी नहीं आँजती थी। पलंगादि पर भी नहीं सोती थी। सदैव त्रिकाल जिनपूजा करती थी। सामायिक, पौषधादि क्रियाएँ भी करती थी। योगिनी की तरह संगरहित होकर समय का निर्गमन करती थी।

उधर **रत्नपाल** राजा को उस **जयमन्त्री** ने शून्य वन में छुड़वाया था। वह जिस समय सोया था, उसी समय पर अपने आप जागृत हुआ। चारों तरफ शून्य अरण्य देखकर भ्रान्त होते हुए मन में विचार करने लगा–"यह मुझे क्या हुआ? अच्छा! जान लिया कि दुष्ट हृदयवालों में शिरोमणि उस अधम मंत्री ने राज्य पर अपना अधिकार करके यह दुष्ट चेष्टा की है। हहा! गोद में सोये हुए का गला काटने और कुएँ में उतारकर डोरी काटने के समान यह निकृष्ट कार्य उस अधम ने किया है। पर उसका भी क्या दोष? मुझ दुष्टमति का ही यह दोष है कि मैंने मूर्ख बनकर सभी कार्यों में उसका विश्वास किया। अहो! मुझे धिक्कार है! कि मैंने पिताश्री के वचनों का निरादर करते हुए विषवृक्ष के समान विषयों का अत्यन्त आदर किया। उन पर अत्यन्त आसक्ति रखी। विद्वानों ने व्यसनों को दुरन्त आपत्ति का स्थान कहा है। यह सब मैंने आज अनुभव किया है। पर यह सब मेरे अनुल्लंघनीय पूर्व कर्मों का ही फल है। कर्म ही संपत्ति और विपत्ति के हेतु के रूप में अच्छी और खराब बुद्धि देता है। प्रलयकाल के समुद्र की तरह आ पड़नेवाले कर्म के परिपाक का इन्द्र, चक्रवर्त्ती या वासुदेव आदि कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता।"

इस प्रकार विचार करके उसने अपने मन में धैर्य धारण किया। प्रातःकाल होने पर पंचपरमेष्टि का स्मरण करके वन में घूमते–घूमते किसी पर्वत को देखकर वह उस पर चढ़ गया। वहां दृढ़ बंधन से बांधे गये किसी उत्तम आकृतिवाले पुरुष को देखा। उसका हृदय दयार्द्र हो गया। अतः तुरन्त उसके बंधन तोड़ डाले। **उत्तम पुरुष दूसरों की आपत्ति दूर करने में आलस्य नहीं करते।** कुछ समय बाद उसके स्वस्थ हो जाने पर राजा ने उससे पूछा–"हे मित्र! तुम कौन हो? तुम्हारा निवास –स्थान कहां है? तुम्हें इस तरह से किसने बांधा था?"

इस प्रकार राजा ने उपकार व मिष्ट वचनों के द्वारा उसे प्रसन्न किया। तब उस पुरुष ने राजा को अपने भाई के समान मानते हुए उसे सारी हकीकत सत्य व यथार्थ रूप में बतायी–"अद्‌भुत विद्याओं के स्थान रूप वैताढ्य पर्वत पर गगन वल्लभ नामक नगर है। वहां सभी विद्याधरों में अग्रसर **वल्लभ** नामक राजा है। मैं उनका **हेमांगद** नामक पुत्र हूं। आज मैं मेरी प्रिया के साथ नन्दीश्वर द्वीप में देवों को वन्दन करने के लिए आकाशमार्ग से जा रहा था। तभी मेरे शत्रु विद्याधर ने श्येन पक्षी की तरह अकस्मात् आकर राक्षसी विद्या के बल द्वारा मुझे बांधकर मारा और मेरी प्रिया को लेकर चला गया। वह पापी यहीं कहीं पास में ही गया है। वह पुनः मुझे मारने की इच्छा से जरूर यहां आयगा।

हे महाभाग्यवान! मेरे जागृत सौभाग्य की वजह से ही आपका यहां शुभागमन हुआ है अन्यथा यम के समान उस दुष्ट से ग्रसित मेरा जीवन कहां बच पाता?"

तभी वहां वह विद्याधर राक्षस आया। हाथ में खड्ग लेकर राजा क्रोध से उसके सामने दौड़ा। देवताओं के द्वारा भी न देखा जा सके–इस प्रकार का खड्ग से खड्ग का युद्ध हुआ। उसमें राजा ने खड्ग के बल से उस विद्याधर को जीत लिया। अतः वह स्त्री को वहीं छोड़कर कौए के समान वहां से उड़ गया। पापी मनुष्य भले ही विद्या में बलवान हो, पर वह जीत नहीं सकता। **हेमांगद** को अपनी प्रिया मिल जाने से अतीव प्रसन्नता हुई और राजा के चारित्र को देखकर उसे विस्मय भी हुआ। वह राजा की स्तुति करने लगा–"अहो! मेघ के समान आपकी कृपा सर्व लोक के लिए साधारण है, क्योंकि मेरे जन्म से लेकर आज तक मैंने कभी आपको देखा तक नहीं, पर फिर भी आपने मुझ पर कितना बड़ा उपकार किया? अहो! परोपकार करने में आपकी आसक्ति अलौकिक है, क्योंकि मृत्यु के संकट में गिरकर भी आपने मुझे मेरी प्रिया दिलवायी है। अहो! आपका अलौकिक पराक्रम विश्व का उल्लंघन करनेवाला है। विद्याबलिष्ठ विद्याधर को भी आपने लीलामात्र में हरा दिया। हे महापुरुष! मैं आपको अपना सर्वस्व दे दूं, तो भी आपके ऋण से उऋण नहीं हो सकता। फिर भी सिर्फ अपने मन की खुशी के लिए मैं आपका कुछ भी प्रत्युपकार करना चाहता हूं।"

ऐसा कहकर सर्प के विष को उतारनेवाली औषधि हर्षपूर्वक राजा को देकर वह खेचर अपनी प्रिया के साथ अपने नगर में चला गया।

उसके बाद **रत्नपाल** राजा उस औषधि को लेकर पर्वत से नीचे उतरा और धैर्यपूर्वक पृथ्वीमण्डल पर भ्रमण करने लगा। इस तरह वह **मूलस्थान** नामक पुर में गया। पुर के बाहर धर्मशाला में उसने किसी परदेशी बीमार श्रावक को मृत्यु के मुख में गया हुआ देखा। राजा दया और धर्मबुद्धि से उसकी सेवा करने लगा, क्योंकि **धर्मी मनुष्य साधर्मिकों को भाई से भी बढ़कर मानते हैं।** उदारबुद्धिवाले राजा ने उसको आराधनादि क्रिया विधि के अनुसार करवायी। उसे पंचनमस्कार का स्मरण करवाया। इस प्रकार तीन दिन तक उस श्रावक की सेवा–शुश्रूषा की। वह श्रावक शुभध्यान में मरण को प्राप्त करके देव बना। **सत्संग क्या–क्या फल नहीं देता**? उसके बाद राजा ने उसका मरण कृत्य किया। फिर नगर में प्रवेश किया।

उस समय राजा ने राजमार्ग पर पटह की उद्घोषणा सुनी–"हे मंत्रवादियों! आज रात्रि में **बलवाहन** राजा की पुत्री को निर्दयी सर्प ने डस लिया है। राजा ने अनेक उपाय करवाये हैं। पर वह चैतन्य नहीं हुई है। वह अन्त्य अवस्था को पहुँच चुकी है। अतः जो पुरुष उस **रत्नवती** नामक कन्या को जीवित कर देगा, उसे राजा प्रीतिपूर्वक आधा राज्य देकर उसके साथ अपनी कन्या का विवाह करेगा।"

यह सुनकर **रत्नपाल** राजा ने उस पटह का स्पर्श किया और अपने पास रही हुई

औषधि के द्वारा कन्या के विष को उतारकर उसे जीवित कर दिया। **सत्पुरुषों की कला पर के लिए ही होती है।** उसके बाद उस **रत्नपाल** के रूप, सौभाग्य और कलादि गुणों से रंजित होते हुए राजा ने अविलम्ब उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। फिर उसे अपना आधा राज्य भी दे दिया। **सत्पुरुष अपनी प्रतिज्ञा पालने में लोभ को आड़े नहीं आने देते।**

उसी समय उस **बलवाहन** राजा का दूत अनेक देशों में जाकर वापस राजसभा में लौटा। उसने **रत्नपाल** राजा को पहचान लिया। अतः उसने अपने राजा से कहा–"हे देव! इनके जैसे जामाता तो पुण्य से ही प्राप्त होते हैं। ये तो **विनयपाल** राजा के पुत्र **रत्नपाल** हैं। ये महापराक्रमी हैं और सर्व राजाओं में अलंकार रूप हैं।"

यह सुनकर राजा अत्यन्त हर्षित होते हुए विचार करने लगा–"अहो! अनजाने में ही पुत्री को मैंने उत्तम स्थान पर दिया है।"

फिर राजा ने पुनः जामाता का अत्यन्त स्वागत–सत्कार किया। आदरपूर्वक अलग से एक महल देकर उसमें जामाता को रखा।

एकबार किसी चारण–भाट के द्वारा गायी हुई **शृंगारसुन्दरी** की शीलसंपत्ति का श्रवण करके राजा **रत्नपाल** अत्यन्त प्रसन्न हुआ और **जयमन्त्री** पर अत्यन्त क्रोधित हुआ। अतः उसने अपने ससुर राजा को शुरु से अन्त तक का अपना सारा वृत्तान्त सुनाया। तब उन्होंने उसे प्रयाण करने की आज्ञा प्रदान की। चतुरंगिणी सेना से घिरा हुआ राजा **रत्नपाल** अपनी प्रिया के साथ उत्सुकतापूर्वक अपने नगर की तरफ चला। मार्ग में किसी विशाल अरण्य में उसने सेना का पड़ाव डाला। रात्रि में कहीं किसी दूर के स्थान से आते हुए कर्ण में अमृत के समान मधुर स्वर लहरी से युक्त गीतों की ध्वनि को सुना। सुनते ही वह तुरन्त खड़ा हो गया और विचार करने लगा कि 'यह स्वर कहां से आ रहा है? कौन गा रहा है?'

ऐसा विचार करके अकेला ही हाथ में खड्ग लेकर कौतुकपूर्ण होकर आवाज का पीछा करते हुए उस स्थान पर पहुँच गया, जहां से स्वर आ रहा था। वहां मन और दृष्टि को प्रसन्न बनानेवाले अरिहन्तों के प्रासाद को देखकर जैसे ही उसमें प्रवेश करने लगा, वैसे ही बिजली के समान प्रकाशवाली कोई विद्याधरी सखियों के साथ विमान में बैठकर आकाश में उड़ गयी।

'यह कौन होगी?'–ऐसा मन में विचार करके विस्मित होते हुए उसने प्रासाद में प्रवेश किया। उसमें रही हुई आदिनाथ प्रभु की स्वर्णमय प्रतिमा को वंदन करके उस प्रतिमा को

बार–बार निरखते हुए अपने नेत्रों को पवित्र किया। स्तुति करके अपनी वाणी को पवित्र किया और ध्यान करके अपने मन को पवित्र किया। उसके बाद जगती पर फिरने लगा और चारों तरफ की अद्‌भुत रमणीयता को देखने लगा। तभी **सौभाग्यमंजरी** के नाम से अंकित एक कंगन उसे वहां गिरा हुआ मिला। उसमें जड़े हुए रत्नों की कान्ति से आकाश जगमगा रहा था। उसने उस कंगन को उठा लिया। प्रभात होते–होते वह अपने सैन्य के पास पहुँच गया। वहां से प्रयाण करके वह अनुक्रम से सैन्य–सहित पाटलिपुत्र नगर के समीप पहुँचा। उसे आता देखकर **जयराजा** गर्व से समग्र सैन्य को तैयार करके उसके सामने युद्ध करने के लिए चला। उन दोनों के सैन्य में कहीं तलवार के साथ तलवार का, तो कहीं भाले के साथ भाले का, कहीं बाणों के साथ बाणों का युद्ध शुरु हो गया। युद्ध में **जय** राजा ने अपनी समग्र सेना को भग्न हुआ जानकर **रत्नपाल** राजा के समग्र सैन्य पर अवस्वापिनी निद्रा छोड़ी। जिससे मूर्च्छित के समान अथवा तो विष के आवेश को प्राप्त हुए के समान सभी सैनिक चेतनारहित होकर पृथ्वी पर घूर्णित होकर गिर गये। पर पुण्योदय को प्राप्त **रत्नपाल** राजा का वह निद्रा कुछ भी पराभव न कर सकी। दुष्ट मंत्र पुण्यरहित जीवों पर समर्थ बन सकते हैं, पर पुण्यशालियों पर उनका कुछ भी असर नहीं होता। **रत्नपाल** राजा अपने समग्र सैन्य को मूर्च्छित देखकर क्षणभर के लिए चिन्तातुर हुआ। 'अब क्या करूं?'–इस विचार से आकुल–व्याकुल भी बना। तभी जिस श्रावक की उसने सेवा की थी और जो मरकर देव बना था, उसने अपने अवधिज्ञान से राजा की आपत्ति को देखा, तो तत्काल वहां आया। उसने सभी की अवस्वापिनी निद्रा का हरण कर लिया, जिससे समग्र सैन्य दुगुने उत्साह के साथ युद्ध करने के लिए तत्पर हो गया। राजा ने भी दुगुने उत्साह के साथ पुनः युद्ध शुरु कर दिया और जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने कंस पर विजय प्राप्त की थी, उसी तरह **जय** का हनन किया। वह अधम मंत्री मरकर सातवीं नरक में गया। ऐसे दुष्कर्मियों का स्थान नरक में ही होता है। अन्य मंत्री, सामन्त, सेनापति आदि सभी ने पूर्व के सेवकों ने बार–बार मुख नीचा किये हुए राजा से क्षमायाचना करते हुए उसकी विनय प्रतिपत्ति की।

फिर उस देव ने प्रत्यक्ष होकर राजा से कहा–"हे राजन! आपने जिस श्रावक की शुश्रूषा की थी, मैं वही हूं, जो मरकर देव बना हूं। परदेश में बीमार पड़ने के बावजूद भी जो मैंने यह विपुल संपत्ति प्राप्त की है, यह बाह्य और आभ्यन्तर चिकित्स करनेवाले आप जैसे राजा का ही उपकार है। आपकी सहायता करने की इच्छा से ही मैं यहां आया हूं। आपके सैन्य की अवस्वापिनी निद्रादि का हरण भी मैंने ही किया है। मैं आप पर सैकड़ों उपकार करूं, तो भी आपके आपके ऋण से मुक्त नहीं हो पाऊँगा, क्योंकि धर्मोपकार करनेवाले व्यक्ति के ऋण को कभी उतारा नहीं जा सकता।

हे राजा! आप अपने साम्राज्य को अलंकृत करें, अपनी प्रजा को प्रसन्न करें और इन सब में मैं भी कुछ यथाशक्ति आपकी भक्ति करूं।''

यह सुनकर तथा उस देव की समृद्धि देखकर उसके आगमन और उसके द्वारा की गयी भक्ति से राजा भी अंतःकरण में आनन्द को प्राप्त हुआ। फिर सैन्यसहित नगर के भीतर की और चला। उस समय देव ने राजा के मस्तक पर उसका पूरा सैन्य ढ़क जाय–ऐसा विशाल छत्र धारण किया। दोनों तरफ चामरों की श्रेणि को वीजने लगा। आगे संवर्त्तक वायु की विकुर्वणा करके रास्ते के कंटकों को दूर करने लगा। सुगन्धित जल का सिंचन करके चारों तरफ उठती हुई धूल को शान्त करने लगा। पंचरंगे पुष्पों के समूह से पृथ्वी को ढ़ंक दिया। आगे–आगे सैकड़ो ध्वजों की विकुर्वणा की। ''इस राजा की जो अवज्ञा करेगा, वह अपने–आप ही प्रलय को प्राप्त होगा''–इस प्रकार की आकाशवाणी करते हुए आकाश में देवदुन्दुभि भी बजाने लगा। दिव्य संगीत की भी सृष्टि उस देव ने की। इस प्रकार उस देव ने राजा के पुर–प्रवेश का उत्सव किया। राजा ने जैसे ही महल में प्रवेश किया, वैसे ही उस देव ने इस प्रकार स्वर्ण की करोड़ों सोनैयों की वृष्टि की, जैसे मेघ जलधारा बरसाता है। ''फिर समय आने पर मैं आपका उपकार करूंगा''–इस प्रकार कहकर देव स्वर्गलोक में चला गया।

इन्द्र के समान पराक्रमी राजा ने सिंहासन पर बैठकर समस्त लोगों के साथ यथायोग्य आलाप–संलाप करके सभी को प्रसन्न किया। फिर शृंगारसुन्दरी के गुणसमूह से हर्षित राजा ने उसका अभिग्रह पूर्ण हो जाने के कारण पारणा करवाया और उसे पट्टरानी का पद प्रदान किया। इस प्रकार राजा ने चिरकाल तक विशाल राज्य का पालन किया। चन्द्र की तरह सुवृत्त पुरुष गयी हुई लक्ष्मी को भी पुनः प्राप्त कर लेते हैं।

एक बार सुधर्मा सभा में इन्द्र की तरह अपनी सभा में राजा **रत्नपाल** बैठा हुआ था। उस समय उद्यानपालक ने आकर विज्ञप्ति की–''हे देव! साक्षात् यमराज के समान वन का प्रचण्ड हाथी मदोन्मत्त होकर अपनी भयंकर सूंड के द्वारा उद्यान में उपद्रव मचा रहा है।''

यह सुनकर राजा का मुख क्रोध से कम्पित होने लगा। तुरन्त कुछ सैनिकों को साथ लेकर अश्व पर आरूढ़ होकर राजा उद्यान में पहुँचा। वहां पहुँचकर अश्व से नीचे उतरकर राजा ने धैर्यपूर्वक उस हाथी की तर्जना करते हुए कहा–''हे दुष्ट मदयुक्त! हमारे इस उद्यान को क्यों व्यर्थ ही उखाड़ रहे हो? अगर तुझमें थोड़ी भी शूरवीरता है, तो मेरे साथ युद्ध कर।''

इस प्रकार राजा द्वारा तिरस्कृत वह हाथी क्रोधोद्धत होकर राजा की तरफ दौड़ा। हाथी को शिक्षित करने में कुशल राजा ने थोड़ी देर तो उसे क्रीड़ा करवायी, फिर वेगपूर्वक

राजा हाथी पर चढ़ गया। राजा के हाथी पर बैठते ही वह आकश में उड़कर सभी के देखते ही देखते अदृश्य हो गया।

"यह हाथी मुझे किसी अन्य द्वीप में न ले जाय"–यह सोचकर नीचे कहीं सरोवर देखकर राजा ने हाथी पर से झंपापात किया और फिर तैरकर सरोवर से बाहर आ गया। फिर राजा चारों तरफ देखने लगा। तभी सरोवर के किनारे राजा को तिमंजिला एक दिव्य महल दिखायी दिया। कौतुक के कारण राजा महल में गया, तो एक मनोहर पलंग पर राख के दो ढ़ेर देखे। वहीं ऊपर लटकते हुए छींके पर लटका हुआ रस का एक तुम्बड़ा भी देखा। कौतुकपूर्ण होकर राजा ने उस तुम्बड़ें को उत्कण्ठापूर्वक ग्रहण किया। संभ्रमित होकर ग्रहण करते हुए उसमें से कुछ रस उन दोनों राख के ढ़ेर पर गिर गया और उस ढ़ेर की जगह तुरन्त ही दो सुन्दर व दिव्य कन्याएँ उठकर खड़ी हो गयीं।

"अहो! इस रस का माहात्म्य तो अचिन्त्य है! और ये दोनों स्त्रियाँ कौन हैं?"–ऐसा विचार करते हुए विस्मय से विकस्वर राजा ने उनसे पूछा–"आप कौन हैं? यहां जंगल के मध्य महल कैसे? और रस का यह तुम्बड़ा भी यहां कैसे?"

इस प्रकार राजा की वाणी का श्रवण करके आनन्दित होते हुए उन कन्याओं में से ज्येष्ठ कन्या ने कहा–"हम **महाबल** नामक विद्याधर राजा की कन्याएँ हैं। मेरा नाम **पत्रवल्ली** और इसका नाम **मोहवल्ली** है। एक बार हमलोग महल के गवाक्ष में बैठे हुए थे, उस समय किसी **मातंग** नामक विद्याधर ने हमसे विवाह करने की इच्छा के कारण चुपचाप हमारा हरण कर लिया और हमें इस शून्य अरण्य में लाकर अपनी विद्या से इस तिमंजिले महल की रचना करके हमको यहां रखा है। वह खेचर अगर कहीं बाहर जाता है, तो अपनी विद्या से हमें भस्म बना देता है और वापस आने पर तुम्बड़े के रस द्वारा हमें पुनः जीवित कर देता है। वह अभी हमें भस्म करके बाहर गया है और विवाह की सामग्री लेकर तुरन्त ही वापस आनेवाला है।

आप आकृति और प्रकृति से कोई उत्तम पुरुष प्रतीत होते हैं। अतः चण्डालों में भी उग्र चाण्डालों के समान उस मातंग से आप हमें मुक्त करवायें।"

यह सुनकर राजा उसकी मधुर वाणी से और पूर्वभव के प्रेम के उदय से उनमें अनुरक्त हो गया। उनके साथ जैसे ही धैर्यपूर्वक वार्त्तालाप करने के लिए उद्यत हुआ, तभी वह खेचर हाथों में पाणिग्रहण की सामग्री लेकर शीघ्रता में वहां आया। तभी उसी गजेन्द्र ने (जिसने राजा का अपहरण किया था) वहां आकर उस विद्याधर को अपनी सूंड के द्वारा गेंद की तरह आकाश में उछाला और नीचे गिरते हुए उसे अपने नुकीले दाँतों पर धारण करके उसके

टुकड़े–2 करके मानो चारों दिशाओं को बलि प्रदान करने के बहाने से उसके शरीर के टुकड़ों को चारों दिशाओं में उछाल दिया। **पापकर्म करनेवालों की मृत्यु इसी प्रकार ही होती है।** फिर बिजली के उद्योत की तरह वह हाथी अदृश्य हो गया। यह देखकर उन कुमारियों के साथ–साथ राजा भी आश्चर्य को प्राप्त हुआ। तभी अपनी पुत्रियों को खोजते–2 वह महाबल राजा भी अकस्मात् वहां आ गया। अपने पिता को देखकर कन्याएँ अत्यन्त हर्षित हुईं। उन्हें प्रणाम करके कहा–"भस्म हुई हम कन्याओं को इन्हीं महापुरुष ने जीवित बनाया है तथा हमारा हरण करनेवाले उस मातंग विद्याधर का अभी–2 किसी मातंग (हाथी) ने हनन किया है।"

यह सुनकर हर्षित होते हुए उस विद्याधर राजा ने **रत्नपाल** राजा से कहा–"वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणि में **रत्नसार** नामक नगर का मैं स्वामी हूं। **महाबल** नामक खेचर मैं इन कन्याओं का पिता हूं। मैंने एक बार किसी नैमित्तिक से पूछा था कि मेरी पुत्रियों के पति कौन होंगे? तब उसने स्पष्ट रूप से कहा था कि मातंग खेचर के द्वारा हरण करके भस्मीभूत की हुई तुम्हारी कन्याओं को अकस्मात् आकर जो बुद्धिमान पुरुष जीवित करेगा और जिसकी सहायता करने के लिए कोई हाथी आकर उस मातंग खेचर को मारेगा, वह तुम्हारी इन दोनों पुत्रियों का स्वामी बनेगा। उस निमित्तक के वे समस्त वचन कन्याओं पुण्य के द्वारा आज सत्य सिद्ध हुए हैं। अतः हे उत्तम पुरुष! मुझ पर कृपा करते हुए मेरे नगर को शीघ्र ही पवित्र बनायें, जिससे मैं अपनी कन्याओं का आपके साथ विवाह करके मेरे हर्ष को पूर्ण कर सकूं।"

तभी किसी देव ने प्रकट होकर कहा–"हे राजन्! मैं वही आपका मित्र श्रावक देव हूं, जिसने मंत्री के साथ युद्ध में आपकी सहायता की थी। अभी भी हाथी के बहाने से मैं ही आपको इन कन्याओं के साथ विवाह हेतु यहां लेकर आया हूं। आपके शत्रु का हनन भी मैंने ही किया है। यह दिव्य रस से भरा हुआ तुम्बड़ा भी आप ही ग्रहण करें। इस तुम्बड़े का वृत्तान्त भी अद्‌भुत है। आप ध्यानपूर्वक सुनें–

इस तुम्बड़े को पाने के लिए उस **मातंग** विद्याधर ने चौबीस वर्ष तक कन्द, मूल और फल का आहार करके दुष्कर तप किया। हमेशा शीर्षासन करके दो प्रहर तक मंत्र का ध्यान किया। हमेशा महामूल्यवान वस्तुओं का अग्नि में होम किया। इस प्रकार की आराधना करके नागेन्द्र के पास से उसने यह रस प्राप्त किया। इसका प्रभाव तीनों लोक में न समाय–ऐसा है। इसकी एक बूंद के स्पर्श से करोड़ों पल के वजनवाला लोहा उच्च कोटि का स्वर्ण बन जाता है। इसके द्वारा असाध्य बीमारियाँ भी ठीक हो जाती हैं। यह अठारह जाति के

दुःसाध्य कुष्ठ रोग का भी नाश कर सकता है। विषादि से मूर्च्छित जीवों को यह अमृत के समान जीवित बना देता है। इसके स्पर्शमात्र से भूतादिक बाधा दूर हो जाती है। इस रस से तिलक किया हुआ पुरुष युद्ध में देव व दानवों से पराभव को प्राप्त नहीं होता। चक्रवर्त्ती की निधि की तरह इसका स्व–पर–उपकार के लिए प्रयोग किये जाने पर भी यह कदापि क्षीण नहीं होता। तेरे पुण्य से प्रेरित होकर यह रस मैंने तुझे ही दिया है। यह तप किये बिना भी तुम्हारे सर्व मनोरथों को पूर्ण करेगा। हे मित्र! जीवन– पर्यन्त इस रस का रक्षण जीवन से भी बढ़कर करना।''

इस प्रकार **रत्नपाल** को कहकर फिर उस देव ने **महाबल** राजा से कहा– ''भाग्य–सौभाग्यादि सर्व प्रकार के गुणों से अद्‌भुत यह **पाटलिपुत्र** का स्वामी **रत्नपाल** नामक राजा है। अगणित पुण्य के द्वारा ही ऐसा वर किसी कन्या को मिल सकता है।''

इस प्रकार कहकर राजा को प्रणाम करके वह देव अदृश्य हो गया। फिर खेचरेश्वर ने विचार किया–''अहो! इस राजा के पुण्य की महिमा तो लोकोत्तर है, क्योंकि इसके मुश्किल–भरे कार्यों में देव सहायता करते हैं। वास्तव में मेरा भी अपार भाग्य जागृत हुआ है कि ऐसे सर्व गुणों का विधाता रूपी जामाता मुझे मिला है।''

इस प्रकार विचार करके चित्त में चमत्कृत होते हुए वह खेचरेन्द्र उस राजा को अपने विमान में बिठाकर अपने नगर में ले गया। पवित्र दिन देखकर अगण्य उत्सवपूर्वक जैसे कामदेव को रति और प्रीति परणाते हैं, वैसे ही **रत्नपाल** राजा को अपनी दोनों कन्याएँ परणायीं। फिर कितने ही दिनों तक उसे प्रीतिपूर्वक वहीं रखा। **रत्नपाल** राजा भी उन दोनों के साथ दिव्य भोग भोगने लगा।

एक बार खेचरेश्वर **महाबल** राजा **रत्नपाल** के साथ राजसभा में बैठा हुआ था। उस समय किसी दूत ने आकर राजा को प्रणाम करते हुए विज्ञप्ति की–''हे राजन्! इस वैताढ्य के ऊपर **गगनवल्लभ** नामक नगर है। उसमे **वल्लभ** नामक विद्याधर राजा राज्य करता है। उसके **हेमांगद** नामक पुत्र है। उस **हेमांगद राजा** के रूपलक्ष्मी के पात्र के समान **सौभाग्यमंजरी** नामक पुत्री है। उस पुत्री ने श्रेष्ठ वर पाने के लिए कुलदेवी की सेवा की थी, जिससे प्रसन्न होकर देवी ने उसे एक बार दिव्य वलय प्रदान किया और कहा–'इस वलय के प्रभाव से तेरे सर्व मनोरथ पूर्ण होंगे।' फिर किसी दिन रात्रि के समय अरण्य में रहे हुए जिनचैत्य में जाकर वह नृत्य कर रही थी, उस समय उसका वह वलय उपयोगरहित होने के कारण कहीं गिर गया। जब उसे पता चला, तो वह अत्यन्त दुःखित हुई और उसने खाना–पीना छोड़ दिया। भवन में या वन में–किसी भी स्थान पर उसे शांति नहीं मिलती थी। विद्याधरों ने चारों तरफ उस वलय की खोज की, पर खो गये चिन्तामणि रत्न की तरह

वह किसी भी स्थान पर नहीं मिला। तब उस कन्या ने प्रण ले लिया कि जब तक वह वलय नहीं मिल जाता, तब तक वह भोजन नहीं करेगी। उस वलय की प्राप्ति के लिए वह तपस्वी की भाँति फलाहार करने लगी। फिर राजा ने किसी दिन किसी निमित्तज्ञ से पूछा, तो उसने बताया कि उस वलय को ग्रहण करनेवाला पुरुष स्वयं ही इस कन्या के स्वयंवर में आकर इससे विवाह करेगा। **हेमांगद** राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। निमित्तज्ञ का सत्कार करके भेंटादि देकर उसे विदा किया और फिर उत्कण्ठापूर्वक स्वयंवर का आयोजन करवाया। सभी विद्याधर राजाओं को बुलाने के लिए राजसेवक भेजे गये हैं। अतः हे स्वामी! आपको आमन्त्रित करने के लिए मुझे यहां भेजा है। आपके साथ विशेष प्रीति होने से आपके आगमन की तो वे हार्दिक इच्छा करते हैं। अतः हे स्वामी! आप वहां पधारकर मित्र के हर्ष की वृद्धि कीजिए।''

यह सुनकर **महाबल** और **रत्नपाल** राजा परिवार सहित विद्याधरेन्द्र **हेमांगद** के नगर में गये। अन्य खेचरेश्वर भी वहां शीघ्रतापूर्वक आये। **हेमांगद** राजा ने योग्यतानुसार सभी का सत्कार किया। फिर शुभ दिवस पर सभी राजाओं को स्वयंवर के मण्डप में ऊँचे मचानों पर उनकी गुरुता के अनुसार आसन प्रदान किया। फिर वाद्यन्त्रों के नादपूर्वक सर्वांग से विभूषित की हुई अपनी कन्या को राजा ने सुखासन में बिठाकर वहां मण्डप में बुलवाया। फिर सभी के समक्ष राजा ने कहा–''हे पुत्री! ये सभी राजा तुझे वरने के लिए यहां पधारे हैं। तूं अपनी इच्छानुसार योग्य वर का वरण कर।''

उसके बाद राजा की आज्ञा से एक निपुण दासी प्रत्येक राजा की झलक उसे दिखलाकर उनका वर्णन करने लगी। उन सभी को देखते व उनके परिचय को सुनते हुए वह कन्या आगे बढ़ने लगी। पर वह कन्या किसी भी राजा की कान्ति, मुख, वक्षस्थल, नेत्र, मस्तक, मुकुट, वेष, नखों की कान्ति, शृंगार या आकृति को नहीं देख रही थी। एकमात्र बार–बार वलय के भूषण रूप हाथों को ही देखती जा रही थी। वलय–रहित हाथों को देखते–देखते सौभाग्य द्वारा कामदेव को भी पराभव प्राप्त करानेवाले उन राजाओं को दुर्भागी की तरह तजकर आगे बढ़ रही थी। अन्त में वलय द्वारा हाथ को शोभित करनेवाले और नेत्रों को आनन्द प्रदान करनेवाले **रत्नपाल** को देखकर वह कन्या अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हुई। उसी राजा के आगे वह उत्सुकतापूर्वक खड़ी रह गयी। दासी ने उस राजा को पहले कभी नहीं देखा था, अतः वह उसके बारे में कुछ भी नहीं बोल पायी। पर फिर भी शंखकण्ठी उस कन्या ने उसी राजा के गले में वरमाला डाल दी, क्योंकि स्वयंवरा कन्याओं की अपनी इच्छा ही प्रमाण होती है। अपनी कन्या द्वारा वरण किये हुए **रत्नपाल** राजा को बार–बार देखते हुए **हेमांगद** ने अपने मित्र को पहचान लिया। अतः वह अत्यन्त हर्षित हुआ। पर अन्य

महाबलवान विद्याधर राजा अत्यन्त कुपित हुए कि हम जैसे विद्याधरों के विद्यमान रहते हुए पृथ्वी पर चलनेवाले मनुष्य का वरण कैसे किया जा सकता है? अगर इस मुग्धा ने अपनी अज्ञानता के कारण इस मनुष्य का वरण कर भी लिया है, तो भी अगर यह भूमिचर इस कन्या के साथ पाणिग्रहण करेगा, तो हम यह सहन नहीं करेंगे।''

इस प्रकार बोलते हुए वे सभी एक जगह इकट्ठे हो गये और **रत्नपाल** राजा के साथ युद्ध करने के लिए सैन्य इकट्ठा कर लिया। यह देखकर **रत्नपाल** राजा ने अपने मस्तक पर उस तुम्बड़े के रस का तिलक किया। अपने आयुध को ऊपर उठाकर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गया। उसकी शूरवीरता के आगे वे सभी विद्याधर राजा घबराकर कौओं की तरह चारों दिशाओं में भाग गये। फिर **हेमांगद राजा** ने विशाल उत्सवपूर्वक अपनी कन्या का विवाह **रत्नपाल** राजा के साथ किया। हस्तमिलाप के समय **हेमांगद** राजा ने **रत्न्पाल** राजा को हर्षपूर्वक रोहिणी आदि महाविद्याएँ प्रदान कीं। **हेमांगद** राजा की सहायता से **रत्नपाल** राजा ने सारी विद्याएँ सिद्ध कर लीं। धर्मिष्ठ पुरुष के लिए क्या असाध्य है? उसके बाद दोनों श्रेणियों में रहे हुए विद्याधर राजा विशाल उपहारों को हाथों में लेकर चक्रवर्त्ती के समान **रत्नपाल** राजा को भेंट देने लगे। उसके बाद नवविवाहिता स्त्रियों के साथ वह **रत्नपाल** विमान पर आरूढ़ हुआ और विद्याधरों के सैन्य से घिरा हुआ वह अपनी नगरी में गया।

तीन खण्ड के साम्राज्य को अखण्ड रीति से पालते हुए और दातारों में शिरोमणि **रत्नपाल** राजा इस प्रकार दान देता था। सत्यवाणी के व्रत में स्थित वह राजा हमेशा जिनप्रासाद, जिनबिम्ब आदि सात क्षेत्रों में तीस कोटि स्वर्ण का व्यय करता था। अरिहन्तादि के गुणसमूह की स्तुति करनेवाले याचकों को वह हमेशा दो करोड़ स्वर्ण का दान करके प्रसन्न करता था। आपत्ति में पड़े हुए दीनादि का उद्धार करने में दयालू वह राजा हमेशा दस करोड़ स्वर्ण का व्यय करता था। अहो! उसकी दातारी कितनी अद्‌भुत थी। कोई भी पुरुष अपूर्व और अद्‌भुत काव्य या श्लोक अथवा कथा सुनाता, तो प्रत्येक को दस–दस कोटि स्वर्ण का दान देता था। हाथी, घोड़ा, पदाति, सामन्त और अंतःपुर आदि के खर्च में हमेशा अड़तीस कोटि स्वर्ण लगाता था। इस प्रकार उस रस के प्रभाव से प्रतिदिन सौ कोटि स्वर्ण का उत्पादन करके तथा उतना ही खर्च करके वह राजा चक्रवर्त्ती के सुखों का भी उल्लंघन करता था।

उस समय में उसी नगर में एक जुआरी रहता था। उसकी बुद्धि को कोई पराभूत नहीं कर सकता था। वह जुगार के अखाड़े में हमेशा लाख द्रव्य की हार–जीत करता था। अंतिम समय में सायंकाल होने पर उसके पास एक रुपये का तीसरा भाग मात्र ही शेष रहता था। परिमित गेहूँ का आटा बाजार से खरीदकर कुम्भार के निम्भाड़े के पास जाकर उस आटे की

रोटी पकाता था। फिर रात्रि में चण्डिका देवी के मन्दिर में जाकर उसकी मूर्त्ति के खन्धे पर पैर रखकर दीप का तेल लेकर उससे रोटी चोपड़कर वह निःशूकपने (अशुचिपने से रहित होकर) रोटी खाता था। यह सब रोज–रोज देखकर एक बार कुपित होते हुए चण्डिका देवी ने उसे डराने का विचार किया। अतः उसने सर्पिणी के समान भयंकर जिह्वा मुख से बाहर निकाली। यह देख उस जुआरी ने निःशंक होकर रोटी का एक टुकड़ा उसके मुख में डाल दिया। उस देवी ने माया द्वारा उसे खा लिया और फिर से जीभ बाहर निकाली। तब उस जुआरी ने चिल्लाते हुए कहा–"अरे रांड चण्डिका! मेरी रोटी खाने में लुब्ध बनी है?"

इस प्रकार आक्रोश करके उसके मुख पर थूक दिया। उससे खेदित होते हुए उस देवी ने विचार किया कि इस दुष्ट के थूक से झूठी हुई जीभ को अब मैं भीतर कैसे लूँ? अतः वह उसी स्थिति में रही अर्थात् जीभ बाहर निकालकर ही रही।

प्रातःकाल होने पर देवी को उस अवस्था में देखकर किसी उत्पात की आशंका से भक्तजनों ने सैकड़ों शान्तिकर्म किये और करवाये। पर देवी ने जीभ मुख के भीतर नहीं डाली। अतः अत्यन्त शंकातुर होकर लोगों ने यह उद्घोषणा करवायी कि जो पुरुष इस उत्पात का छेदन करेगा, उसे सौ स्वर्णमुद्रा दी जायगी।

यह सुनकर उस दुष्ट जुआरी ने उस पटह का स्पर्श कर लिया। फिर वह देवी के मन्दिर में गया। सभी जनों को मन्दिर से बाहर निकाला। फिर एक विशाल शिला हाथ में लेकर उद्दण्डतापूर्वक देवी से कहा–"अरे! अपने आपको पण्डित माननेवाली चण्डी! जिह्वा को वापस मुख में ले, अन्यथा अभी इस पत्थर के द्वारा तेरे सौ टुकड़े कर दूंगा।"

यह सुनकर तथा उसको निःशूक और धृष्ट जानकर देवी ने अत्यन्त शंकित होते हुए अन्य कोई उपाय न देखकर तत्काल जीभ मुख के भीतर ले ली।

यह देखकर ग्राम के लोगों ने हर्षित होते हुए स्वीकृत राशि उसे भेंट में दे दी। उस धन को उसी दिन उस जुआरी ने जुगार में गँवा दिया। फिर से पहले की तरह वह रोटी पर दीपक का तेल लगाकर खाने लगा, क्योंकि जो जिसमें लुब्ध होता है, उसके लिए उसे छोड़ना अशक्य होता है। देवी उस पर अत्यन्त क्रोधित थी, उसका कुछ भी अपकार करना चाहती थी। पर उस अत्यन्त साहसिक दुष्ट पर वक्र दृष्टि से देखने में भी समर्थ नहीं हुई। खेदित होते हुए देवी ने आखिरकार वह दीपक ही अपनी दिव्य शक्ति द्वारा मन्दिर से बाहर कर दिया। जिसे हांका न जा सके–ऐसा कुत्ता जब भोजन करनेवाले के पास आता है, तब वह भी थाली को बीच में ही आधी छोड़कर उठ जाता है। वह जुआरी भी उसके पीछे दौड़ा और कहा–"अरे दीपक! रुक। कहां जाता है? जैसे कर्म जीव की पीठ नहीं छोड़ता, उसी प्रकार मैं भी तुझे नहीं छोड़ूंगा।"

तब दीपक ने जवाब दिया–"अरे धूर्त्त! तूं रूखी रोटी खा। मैं तो दूसरे द्वीप में जाऊँगा, पर तुझे तेल नहीं दूंगा।"

तब धूर्त ने भी कहा–"भले ही अन्य द्वीप में जा, स्वर्ग में जा, पाताल में जा, जहां तेरी मर्जी हो, वहां जा। पर तूं जहां जायगा, मैं तेरे पीछे–पीछे वहां आऊँगा और तेरा तेल लूंगा।"

तब दीप ने फिर से कहा–"दिव्य शक्ति के द्वारा जाते हुए युग के अन्त में भी तूं मुझे नहीं पा सकेगा। अतः तूं वापस क्यों नहीं लौटता?"

इस प्रकार विवाद करते हुए देव के समान दीपक उस धूर्त को दूर अरण्य में ले गया और दिन के उगते ही अपने आप बुझ गया।

'बैरी को सर्प के समान दूर फेंक दिया'–ऐसा विचार करके देवी हर्ष को प्राप्त हुई। धूर्त वन में आ जाने से खेद को प्राप्त हुआ।

'देवी ने मुझे ठगकर अरण्य में भेज दिया है'–इस प्रकार विचार करते हुए वह धूर्त अरण्य में घूमने लगा। तभी उसने किसी स्थान पर एक जलता हुआ अग्निकुण्ड देखा। उस कुण्ड के किनारे दो नवयौवना एवं दिव्य लावण्य से युक्त कन्याओं को तथा दीन व समग्र अंगों से हीन एक पुरुष को देखा। उन्हें देखकर उस धूर्त ने पूछा–"तुम दोनों कौन हो और यह पुरुष कौन है? यह जलता हुआ कुण्ड किसके लिए है?"

उसके द्वारा पूछे जाने पर भी उन दोनों कन्याओं ने कुछ भी जवाब नहीं दिया। अतः आश्चर्यचकित होते हुए वापस अपने नगर में लौटकर दस करोड़ द्रव्य प्रदान करनेवाले राजा को जाकर यह अद्‌भुत बात बतायी। सुनकर राजा भी अत्यन्त आश्चर्यचकित हुआ और उसे लेकर उस वन में गया। वहां उसके कथनानुसार सारी घटना सत्य रूप में देखकर राजा ने उन दोनों कन्याओं से स्नेहपूर्वक पूछा–"इस शून्य वन में तुम दोनों क्या कर रही हो? तुम दोनों कौन हो? यह अग्निकुण्डादि किसलिए है? तुम डरो मत। मैं **रत्नपाल** नामक राजा हूं।"

उसके इन वचनों से दोनों कन्याओं को हर्ष हुआ। उनमें से ज्येष्ठ युवती ने राजा से कहा–"हमारा आश्चर्यकारक वृत्तान्त सुनिए। हम दोनों **विश्वावसु** नामक विद्याधर राजा की पुत्रियाँ हैं। मेरा नाम **विश्वसेना** है और मेरी छोटी बहन का नाम **गन्धर्वसेना** है। हमने युवावस्था को प्राप्त किया, पर हमारे योग्य कोई वर नहीं मिला। अतः एक बार हमारे पिता ने किसी निमित्तज्ञ से पूछा। तब उसने स्पष्ट रूप से कहा कि एक शून्य अरण्य में अग्नि देवता से अधिष्ठित एक कुण्ड बनाओ। उसमें ज्वाला के समूह से व्याप्त अग्नि सुलगाओ। वह अग्नि मंत्र, तंत्र, विद्या, सिद्धि और औषधि आदि के द्वारा नहीं बांधी जा सकेगी। उस

कुण्ड के अन्दर जो सात्त्विक शिरोमणि पुरुष स्नान करके अखण्डित शरीर से युक्त होकर बाहर निकल जाय, वही तुम्हारी दोनों कन्याओं का पति होगा और वह चक्रवर्त्ती होगा।

यह सुनकर हमारे पिता ने प्रसन्न होकर प्रीतिदान देकर उसे संतुष्ट किया। फिर यहां आकर कुण्डादि बनाकर हमें यहां रखा है। हमारा वरण करने के लिए सैकड़ों श्रेष्ठ युवा पुरुष यहां आ चुके हैं। पर उनमें से कोई भी कल्पान्त काल के सूर्य की तरह इस कुण्ड को देखने में भी समर्थ नहीं हो पाये हैं। मात्र इस एक विद्याधर ने हमारा वरण करने की इच्छा से इस कुण्ड में झंपापात करने की तैयारी की, पर इसके मन में शंका उत्पन्न हो जाने से अधिष्ठायिका देवी ने इसे विकलांग बना दिया है। जिसकी एकमात्र श्रेष्ठ सत्त्वप्रधान ही वृत्ति होती है, उसे ही अद्‌भुत संपत्तियाँ प्राप्त होती हैं और जिसे कायरता के कारण कुछ भी शंका होती है, उसे पग–पग पर विपत्तियाँ प्राप्त होती हैं।''

यह सुनकर मन में आश्चर्यचकित होते हुए अत्यन्त धैर्ययुक्त, सात्त्विक जनों में शिरोमणि और हृदय में जरा भी कम्पित न होते हुए उस राजा ने कुण्ड में झंपापात किया। तुरन्त ही अग्नि का वह कुण्ड अमृतकुण्ड बन गया और राजा का शरीर वज्र के समान बन गया। सत्त्व के प्रभाव से क्या–क्या वस्तु प्राप्त नहीं होती?

फिर उपरोक्त वृत्तान्त अपने सेवकों के पास से ज्ञातकर **विश्वावसु** राजा भी शीघ्रता से परिवार के साथ वहां आया। उस राजा को पूर्व में विद्याधरियों का पति होने से पहचान लिया। अतः उसकी अति सात्त्विकता को जानकर राजा **विश्वावसु** अत्यन्त प्रसन्न हुआ। विद्या के बल से समस्त विवाह सामग्री तैयार करके वहीं उन दोनों कन्याओं का उस राजा के साथ पाणिग्रहण करवाया। फिर रत्नपाल राजा दोनों पत्नियों के साथ विमान पर आरूढ़ होकर विशाल विद्याधरों के समूह के साथ अपने नगर की तरफ चला। नगर में पहुँचकर उस राजा ने जुगारी को दस के बदले बीस करोड़ द्रव्य देकर द्यूत के व्यसन का त्याग करवाया और धर्ममार्ग में प्रवर्त्तित करके नगरश्रेष्ठी का पद प्रदान किया। फिर **विश्वावसु** विद्याधर राजा आदि का यथायोग्य आदर–सत्कार करके उन्हें विदा किया और एकछत्र राज्य को निष्कंटक भोगने लगा।

एक बार ग्रीष्मऋतु के समय गंगा नदी में क्रीड़ा करने की इच्छा से **रत्नपाल** राजा स्वयं नाव पर आरूढ़ हुआ। उसी समय अकस्मात् प्रचण्ड वायु के झपाटे से वह नाव क्रोध से व्याकुल स्त्री की तरह वेगपूर्वक चलने लगी। गलत मार्ग पर जाती हुई कुलटा स्त्री को जैसे उसके बन्धुजन नहीं रोक पाते, ठीक उसी तरह उन्मार्ग पर जाती हुई उस नाव को न तो नाविक ही रोक पाये और न पानी में तैरनेवाले खलासी ही रोक पाये।

''यह क्या?''–इस प्रकार भ्रान्ति को प्राप्त राजा नदी के दोनों किनारों पर रहे हुए ग्राम,

नगरादि को कुम्भार के चक्र पर चढ़ाये गये की तरह घूमता हुआ देखने लगा। प्रचण्ड वेग से जाती हुई नाव दो घड़ी में समुद्र के पूर्वी किनारे में पहुँचकर अपने आप स्थिर हो गयी। राजा ने राहत की सांस ली और नाव से उतरकर वन में जाकर आराम करने लगा।

तभी अकस्मात् वहां एक पुरुष आया। उसने राजा को प्रणाम किया और कहा–"स्वर्ग के समान खुशहाल यह पूर्वी देश है। उस देश की अलंकार रूप तथा देवनगरी के समान यह **रत्नपुरी** नामक नगरी है। इसमें सभी शत्रुओं को त्रस्त करनेवाला **रत्नसेन** नामक राजा राज्य करता है। वह पूर्व दिशा के समस्त साम्राज्य का उपभोग करता है। वह बीस करोड़ गाँवों का स्वामी है, 11 लाख हाथियों का अधिपति है, दस लाख घोड़ों का स्वामी है, बीस लाख विशाल रथों का अधीश्वर है तथा बीस करोड़ पदातियों को दृष्टि मात्र से आज्ञा देने में समर्थ है। पर उसके पुत्र न होने से वह अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को शून्य मानता था। उस राजा के अपनी कान्ति के द्वारा कनक (स्वर्ण) का पराभव करनेवाली **कनकावली** नामक प्रिया है।

एक बार उस रानी ने अद्‌भुत सौभाग्य से युक्त दो कन्याओं को जन्म दिया। उनमें ज्येष्ठ पुत्री का नाम **कनकमंजरी** और कनिष्ठ पुत्री का नाम **गुणमंजरी** है। अनुक्रम से यौवन रूपी मेघ ने उनके रूपवृक्ष को वर्धित किया। पर पूर्वभव के अशुभ कर्मों के उदय से बड़ी कन्या का शरीर झरते कोढ़ से दूषित हो गया और छोटी कन्या अन्धता का शिकार हो गयी। राजा ने वैद्यों के समूह को बुला–बुलाकर उन कन्याओं के रोगों के अपार उपाय करवाये, पर औषध, भेषज, चूर्ण, अंजन, मंत्र या तंत्र के द्वारा उनको लेशमात्र भी गुण नहीं हुआ। उनके शरीर में दुःसह वेदना होती है, जो लेश मात्र भी शांत नहीं होती। **कुकर्म के विपाक को दूर करने में भला कौन समर्थ है?** अतः घबराकर वे दोनों कन्याएँ मृत्यु को अंगीकार करने के लिए तैयार हो गयीं। प्रायः करके **स्त्रियाँ विपत्ति में मरण को ही शरण बनाती हैं।** उन कन्याओं के माता–पिता भी उनके दुःख से दुःखी होकर उन्हीं के साथ मरण स्वीकार करने को तैयार हो गये। **मोह प्राणियों को अन्धा बना देता है।** तब मंत्रियों ने राज्य की अधिष्ठाता देवी की आराधना की। तब देवी ने आकाश में स्थित रहते हुए सभी लोगों को सुनाते हुए कहा कि नाव में बैठे हुए **पाटलिपुत्र** नगर के **रत्नपाल** राजा को मैं प्रातःकाल समुद्र के किनारे लेकर आऊँगी। वह राजा दोनों कन्याओं को स्वस्थ बनायेगा।

ऐसा कहकर देवी अदृश्य हो गयी। उसकी वाणी सुनकर राजादि सभी आनन्दित हुए। हे देव! देवी की सहायता से आपका यहां आगमन हुआ है। यहां से आपका नगर पाँचसौ योजन दूर है। हे देव! मैं अपने राजा की आज्ञा से शीघ्रतापूर्वक आपके पास आया हूं। राजा

भी देवी के आदेश से विशाल परिवार से युक्त होकर शीघ्र ही यहां पधारनेवाले हैं।''?

इस प्रकार वह पुरुष बता ही रहा था, तभी अमात्यों, सामन्तों व सेना के विशाल परिवार से परिवृत्त **रत्नसेन** राजा वाद्यन्त्रों के द्वारा आकाश को गुंजायमान बनाते हुए वहां आ पहुँचा। रत्नपाल राजा को देखकर आनन्दित होते हुए उसने उनको प्रणाम किया। फिर मनुष्यों को आश्चर्यान्वित करनेवाले शानदार महोत्सव के साथ उनका पुर–प्रवेश करवाया। अशन, पानादि के द्वारा उनका सत्कार करने के बाद **रत्नसेन** राजा ने **रत्नपाल** राजा से प्रार्थना की–''हे स्वामी! इन दोनों कन्याओं को आप स्वस्थ बनायें, क्योंकि देवी ने ऐसा ही कहा है।''

यह सुनकर **रत्नपाल** राजा ने अपने बाजुबन्ध में रखे हुए उस रस के द्वारा कोढ़ से दूषित कन्या के कपाल पर तिलक किया। तुरन्त ही ऋजुता से दुर्जनता की तरह और उदारता से अपयश की तरह उस रस के प्रभाव से उसका दुष्ट कुष्ठरोग नष्ट हो गया। दावानल से जली हुई बेल जिस प्रकार नववृष्टि के द्वारा जल के सिंचन से अधिक शोभायुक्त बनती है, उसी तरह उस कन्या की रूपलक्ष्मी भी पहले से अधिक मनोहर बन गयी। फिर राजा ने दूसरी कन्या के नेत्रों मे रस का अंजन लगाया। तत्काल उसकी भी समग्र वेदना उपशान्त हो गयी। सूर्योदय से कमल की तरह उसके नेत्र विकस्वर हो गये। दिन में भी आकाश में रहे हुए तारों को देखने में भी वह समर्थ बन गयी। फिर **रत्नसेन** राजा ने अत्यन्त प्रसन्न होते हुए **रत्नपाल** राजा से कहा–''हे स्वामी! जिस प्रकार आपने इन दोनों कन्याओं को स्वस्थ करके हम सबको दुःखसागर से उबारा है, उसी प्रकार इनके साथ पाणिग्रहण करके हमें चिन्तासागर से भी बाहर निकालें, जिससे मैं निवृत होकर आत्म साधना कर पाऊँ।''

उनकी प्रार्थना के कारण **रत्नसेन** राजा द्वारा किये हुए विशाल समारोहपूर्वक **रत्नपाल** राजा ने उन दोनों कन्याओं से विवाह किया। **जहां पुण्य हो, वहां क्या–क्या सम्पदा नहीं होती?**

उसके बाद पूर्व में अपनी पुत्रियों के असाध्य रोगों से उत्कट वैराग्य को प्राप्त राजा रत्नसेन शुद्ध चित्त से विचार करने लगा–''लाखों वर्ष बीत जाने पर भी मुझे एक भी पुत्र प्राप्त नहीं हुआ। अब उसकी आशा भी रखना मेरे लिए योग्य नहीं है। अब तो वृद्धावस्था के कारण धर्म का सेवन ही मेरे लिए योग्य है। पण्डितों के द्वारा वृद्धावस्था में विषयासक्ति रखना विडम्बना मात्र ही है। मुझे मेरे पुण्य से राज्यभार का वहन करने में धुरन्धर जामाता भी मिल गया है। अतः उस पर सारा राज्यभार डालकर मेरे लिए दीक्षा लेना ही योग्य है। जो वृद्धावस्था का मुख देखे बिना ही रजनी की तरह राज्य का त्याग करके संयम रूपी ऐश्वर्य को अंगीकार करते हैं, उन राजाओं को धन्य है। जो इस शरीर की सहायता से मोक्ष

रूपी फलयुक्त तप करते हैं, उन्हीं का तन सफल है–इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।''

इस प्रकार वैराग्य की विशाल तरंगों से युक्त हुए राजा ने हर्षपूर्वक अपना राज्य **रत्नपाल** जामाता को प्रदान किया। श्रीगुरुदेव के समीप दीक्षा ग्रहण की और दुष्कर तप करके श्रेष्ठ गति रूपी मोक्ष को प्राप्त किया।

अब **रत्नपाल** राजा पुण्य से प्राप्त राज्य का पालन करते हुए कितने ही काल तक दोनों स्त्रियों के साथ वहां रहा। फिर राज्यकार्य मंत्रियों को सौंपकर **रत्नपाल** राजा ने अपने साम्राज्य को उसी तरह अलंकृत किया, जिस तरह स्वर्ग के राज्य को इन्द्र अलंकृत करता है। उसके क्रमशः **शृंगारसुन्दरी, रत्नवती, पत्रवल्ली, मोहवल्ली, सौभाग्यमंजरी, देवसेना, गंधर्वसेना, कनकमुजरी और गुणमंजरी**–ये नौ रानियाँ हुईं। मानो पृथ्वी के नौ खण्डों से उत्तमोत्तम सौन्दर्य के परमाणुओं को लेकर उन्हें निपजाया हो–इस प्रकार से वे स्त्रियाँ शोभित होती थीं।

वह रत्नपाल तीस करोड़ ग्राम, बीस हजार नगर, दस हजार द्वीप और दस हजार दुर्गों का स्वामी था। तीस हजार खण्ड राजाओं, दस हजार मुकुटबद्ध राजाओं और बारह हजार बेलाकुलों (बन्दरगाहों) का वह नायक था। चालीस करोड़ सेना, चालीस लाख रथ, चालीस लाख घोड़ा और तीस लाख हाथियों का वह नेता था। वह पाँच हजार जलदुर्गों (जिसके चारों तरफ जल की खाई रूपी दुर्ग हो) का अधिपति था। दिन–रात हजारों विद्याधर उसकी सेवा में रहते थे। **रत्नपाल** राजा के वैभव का सम्यग् प्रकार से वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता था? वह प्रतिदिन दान और भोग में सौ करोड़ द्रव्य का व्यय करता था। उसके पुण्य की महिमा सीमातीत थी। उसका प्रमाण देने में कौन समर्थ था? उसे उस रस से प्रतिदिन उतना ही द्रव्य प्राप्त हो जाता था। प्रत्यक्ष अमृतरस के सामन उत्तम रस होने से उसके सम्पूर्ण राज्य में किसी को भी कोई बीमारी बाधित नहीं कर सकती थी। कल्पवृक्ष की तरह वह राजा सर्व मनोरथों को पूर्ण करने के कारण उसके राज्य के मनुष्यों को युगलियों की तरह दरिद्रता का उपद्रव कभी नहीं होता था। वह अपनी सन्तान के समान प्रजा का पालन करता था। अतः उसके राज्य में मरकी, शत्रु का भय, सात प्रकार की ईति–उपद्रव तथा अनीति आदि कुछ भी नहीं थे। इस प्रकार दिव्य सुखों को भोगते हुए और पृथ्वी पर शासन करते हुए उसे सुखपूर्वक दस लाख वर्ष व्यतीत हो गये। उस राजा के **मेघरथ, हेमरथ, शतरथादि** नामों से युक्त सौ पुत्र हुए।

एक बार नगर के उद्यान में **महासेन** नामक केवली पधारे। उन्हें वंदन करने के लिए **रत्नपाल** राजा अंतःपुर और परिवार सहित गया। राजा ने गुरु को तीन प्रदक्षिणा करके विधिपूर्वक नमस्कार किया। गुरु ने भी सुख का पोषण करनेवाली धर्मलाभ रूपी आशीष के

द्वारा उसे संतुष्ट किया। उसके बाद केवली ने उन सभी को धर्मदेशना दी, क्योंकि जिसके पास जो माल होता है, वह उसे वही दिखाता है। देशना इस प्रकार थी–

"पुण्य के द्वारा ही मनुष्य का उत्तम कुल में जन्म होता है। पाँचों इन्द्रियों की सुन्दरता प्राप्त होती है। अनुपम राज्यादि समृद्धि प्राप्त होती है। प्रशंसनीय अद्‌भुत भोगों की प्राप्ति होती है। स्त्री–पुत्रादि का संबंध मन में प्रीति पैदा करता है। सुकृत के द्वारा मनुष्य को क्या–क्या शुभ प्राप्त नहीं होता? इसके विपरीत नीच कुल में जन्म, कुटुम्ब का क्लेश, प्रिय वस्तु का वियोग, अप्रिय का संयोग, दरिद्रता, दुर्भाग्य और शत्रुओं से पराभव–ये सभी प्राणियों के पापों का ही प्रतिफल है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील सेवनादि समग्र पापों को छोड़कर हे विवेकीजनों! धर्मविधि में उद्यम करो, जिससे कि लक्ष्मी स्वयं आकर तुम्हारा वरण करे।"

इस प्रकार गुरु के पास से अमृतोपम उपदेश सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने गुरु को नमस्कार करके निर्मल वाणी द्वारा पूछा–"मेरे बलवान होने के बावजूद उस जयमन्त्री ने मेरा राज्य हथिया लिया–वह किस कर्म के उदय से? किस कर्म के द्वारा शृंगारसुन्दरी को दुःसह वेदना सहन करनी पड़ी? मैंने किस कर्म के द्वारा अधिकाधिक राज्यलक्ष्मी को प्राप्त किया? किस कर्म के उदय से कनकमंजरी को कोढ़ हुआ? गुणमंजरी किस कर्म के कारण अन्धता को प्राप्त हुई? किस कर्म से वे दोनों स्वस्थ बनीं? किस कर्म के द्वारा मैंने उस दुर्लभ रस को प्राप्त किया?"

इन प्रश्नों को सुनकर केवली ने कहा–"हे राजा! यह सारा वृत्तान्त मैं तुम्हें बताता हूं। तुम एकाग्रचित्त से सुनो–

इसी भरतक्षेत्र में पुरुषरत्नों से शोभित **रत्नपुर** नामक नगर है। उसमें **रत्नवीर** नामक राजा राज्य करता था। वह पुण्यकर्म के द्वारा पवित्र था। वह शत्रुओं के पंचत्व को विस्तृत करते हुए भी उनके कुल का क्षय ही करता था। उस राजा के लावण्यादि से युक्त **श्रीदेवी** आदि नौ स्त्रियाँ थीं। पृथ्वीखण्ड के सारभूत पदार्थों को लेकर उनका निर्माण किया गया हो–इस प्रकार से वे शोभित होती थीं।

उसी नगर में **सिद्धदत्त** और **धनदत्त** नामक दो वणिकपुत्र बाल्यावस्था से ही परस्पर गाढ़ मैत्री से युक्त थे। वे दोनों अल्प समृद्धियुक्त थे। अतः महाजनों के मध्य वे मान–सत्कार को नहीं पाते थे। इससे वे खेदखिन्न रहा करते थे कि–"धन के बिना मनुष्यों को दान, सन्मान, स्वजनपना, विवेकीपना आदि कुछ भी प्राप्त नहीं होता। धनहीन के समक्ष कोई देखता भी नहीं। धन के लिए हमने हजारों उद्यम किये, पर एक भी उपाय हमें अवकेशी के वृक्ष की तरह फलीभूत नहीं हुआ। अब हमें धनप्राप्ति का कोई ऐसा उपाय करना चाहिए,

जिससे वह शीघ्र फलीभूत हो सके और अखूट लक्ष्मी की प्राप्ति हो।''

इस प्रकार विचार करके कार्य के ज्ञाता वे दोनों उपवास में तत्पर रहकर माहात्म्य के द्वारा प्रसिद्ध कामदेवी की आराधना करने लगे। 21 उपवास हो जाने पर वह देवी प्रत्यक्ष प्रकट हुई और कहा–''मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हुई हूं। अतः इच्छानुसार वर मांगो।''

यह सुनकर शुद्ध बुद्धि के निधि **धनदत्त** ने कहा–''हे देवी! हमें विवेक के द्वारा शोभित लक्ष्मी प्रदान करो।''

तब देवी ने कहा–''इन दोनों में से कोई एक वस्तु मांगो। दो वरदान एक साथ मत मांगो, क्योंकि देव–देवी भी पुरुषों को उनके कर्म के अनुसार ही दे सकते हैं।''

यह सुनकर **सिद्धदत्त** ने विचार किया–''विद्वत्ता आदि सभी गुण लोक में लक्ष्मी से ही प्राप्त होते हैं।''

अतः मूढ़ बुद्धि से युक्त होकर उसने लक्ष्मी मांगी। उधर **धनदत्त** ने अपनी सद्बुद्धि से विचार किया कि विवेक ही तीन लोक में समग्र लक्ष्मी का कारण है। अतः उसने विवेक ही मांगा। उन दोनों को अपनी–अपनी इच्छानुसार वरदान देकर देवी अपने स्थान पर लौट गयी। वे दोनों भी अपने–अपने घर चले गये।

एक बार **सिद्धदत्त** के घर मध्याह्न के समय आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले विविध प्रकार के मंत्रों की सिद्धि से युक्त कोई श्रेष्ठ योगी आया। उसे देखकर लुब्ध बुद्धि से युक्त सिद्धदत्त ने सोचा–''यह किसी सिद्धि का स्थान है–ऐसा प्रतीत होता है।''

ऐसा मन में सोचकर उसे इच्छा–प्रमाण भरपेट भोजन करवाया। उसकी भक्ति से संतुष्ट होकर योगी ने उसे मंत्रसिद्ध काकड़ी के बीज दिये और उसका फल बताया–''हे वत्स! इन बीजों को विधि के अनुसार बोने से एक मुहूर्त्त में ही नव पल्लवों से युक्त फलसहित लता उत्पन्न होगी। अमृत के समान अत्यधिक रस से व्याप्त इसके फल का प्रभाव यह है कि इसका सेवन करनेवालों की क्षुधा और तृषा दोनों ही शान्त हो जाती है। इस का फल खाने से वायु के चौरासी दोष, नेत्र के सड़सठ दोष और अठारह प्रकार के कोढ़ रोग तत्काल नाश को प्राप्त हो जाते हैं। सन्निपातादि सभी दुःसाध्य बीमारियाँ भी मेघ की वृष्टि के द्वारा दावानल की तरह इस फल के द्वारा शान्त हो जाती हैं। इसके फल का सेवन करने से स्थावर (अजीर्णादि) और जंगम (सर्पादि)–दोनों प्रकार के विष का नाश हो जाता है। विशेष क्या कहूँ? इसका फल समस्त रोगों का हरण करनेवाला उत्कृष्ट रसायन रूप है। अतः इन बीजों को तुम यत्नपूर्वक सम्भालकर रखना।''

ऐसा कहकर वह योगीन्द्र अपने स्थान पर लौट गया। **सिद्धदत्त** ने भी शुभ दिन उन

बीजों को विधि–प्रमाण बो दिया। एक मुहूर्त्त में ही प्रफुल्लित पल्लवों से युक्त तथा फलवाली लता उत्पन्न हो गयी। उसके फलों के द्वारा धन्वन्तरि वैद्य के समान उसने अन्य औषधियों से ठीक न होनेवाले रोगों को भी ठीक कर दिया। उस समय वह एक–एक फल सौ, हजार, लाख आदि द्रव्य में बेचने लगा। इस उपार्जित धन द्वारा वह महा धनाढ्य बन गया। **देवों की वाणी अवश्य ही शीघ्रतापूर्वक प्रामाणिक होती ही है।**

एक बार वह वाहन में माल भरकर समुद्री मार्ग से व्यापार करने के लिए निकला, क्योंकि **अपरिमित धन होने पर भी सन्तोष के बिना तृप्ति नहीं होती।** वह अनुक्रम से अन्य द्वीप में पहुँचा। वहां माल का क्रय–विक्रय किया। वहां से भी असंख्य माल लिया। फिर वहां से वापस लौटा। मार्ग में उत्कट वायु के द्वारा समुद्र चारों तरफ से क्षोभ पाकर उछलने लगा। उसकी तरंगे गेंद की तरह वाहन को ऊपर उछालने लगीं। उस समय **सिद्धदत्त** और अन्य सभी लोगों के चित्त वाहन की तरह कम्पित होने लगा। सभी के जीवन संशय को प्राप्त होने लगे। आकुल–व्याकुल होते हुए लोगों ने सोचा कि अगर वाहन को हल्का कर दिया जाय, तो कदाचित् यह नहीं टूटेगा। ऐसा विचार करके निरुपाय बने सभी ने वाहन में से समग्र माल पानी में फेंक दिया। उसके बाद चपल तरंगों ने ज्यों–त्यों उस वाहन को एक सूने द्वीप में पहुँचा दिया। अब लोगों को जीने की आश बंधने लगी। वे लोग वाहन से उतरकर स्वस्थ होकर उस द्वीप के किनारे पर रहे। वहां रहते हुए अल्प समय में ही उनका अनाज खत्म हो गया। जल बिन मछली की तरह अनाज के बिना वे सभी अत्यन्त दुःखी हुए, क्योंकि **अन्न ही मनुष्य का जीवन होता है।**

उसके बाद **सिद्धदत्त** ने विधि के अनुसार उस भूमि पर वे बीज बोये। लता उग आयी और तुरन्त पल्लवों सहित फल प्राप्त हुए। कल्पलता की तरह उन लताओं के फल खाकर युगलिकों की तरह वे सभी उद्यम रहित होकर सुखपूर्वक वहां रहने लगे।

एक दिन उन फलों की गन्ध से आकृष्ट होकर एक जलमानुषी वहां आयी। उसने वे फल खाये। स्वादिष्ट वस्तु किसे अच्छी नहीं लगती? उसे फल खाते देखकर **सिद्धदत्त** ने उसका निषेध किया। फिर उस चतुर ने अपने हाथ में एक रत्न रखकर उसे दिखाया। उसने भी धूर्तता से जान लिया कि यह पुरुष मुझे कह रहा है कि अगर ऐसे रत्न लाकर दूं, तो वह मुझे फल खाने के लिए देगा। इस प्रकार जानकर फल में लुब्ध बनी वह जलमानुषी शीघ्रता से समुद्र के अन्दर डुबकी लगाकर रत्न लेकर आयी और **सिद्धदत्त** को दिया। उसने भी उसे फल दे दिया। वह जितने रत्न लाकर देती, **सिद्धदत्त** उसे उतने ही फल दे देता। जिसको जो वस्तु दुर्लभ होती है, उसे उसी वस्तु की इच्छा पैदा होती है। इस प्रकार उस जलमानुषी के साथ फलविक्रय में **सिद्धदत्त** ने इतने रत्नों का ढ़ेर इकट्ठा कर लिया, मानो

कोई नवीन पर्वत बनाया गया हो। उन रत्नों के द्वारा वाहन भरकर वह कुशलतापूर्वक अपने नगर में आया। वहां अविवेकपने से उसने राजा को अल्प भेंट दी। अतः **रत्नवीर** राजा रत्नों को पाने के लोभ से कोपायमान हुआ। सैनिकों को आज्ञा देकर उसके वाहन रोक लिये। अपने अविवेक के कारण **सिद्धदत्त** ने पहले भी महाजनों के साथ अच्छा बर्त्ताव नहीं रखा था। अतः महाजनों ने राजा से कुछ भी विज्ञप्ति नहीं की।

"अब मैं क्या करूं? कहां जाऊँ? क्या उपाय करूं?"इत्यादि चिन्ता से आकुल–व्याकुल होकर महाकष्ट में बारह दिन व्यतीत किये। तेरहवें दिन राजा को स्वयं ही सद्बुद्धि उत्पन्न हुई कि–"ये पराये रत्न लोभ में आकर मेरे द्वारा ग्रहण करना उचित नहीं है।"

ऐसा विचार करके **सिद्धदत्त** के वाहनों पर से अपनी आज्ञा वापस ले ली। उसके वाहन मुक्त कर दिये। क्या स्वयं के अतिरिक्त अत्यन्त भरती में आये हुए समुद्र को अन्य कोई निवार सकता है भला? फिर हर्षित होते हुए **सिद्धदत्त** ने वाहन में से मणिरत्नों के समूह को निकालकर धान्य के समान उन्हें घर के कोठारों में भर दिया। फिर उन्हें बेचकर उसने 66 करोड़ स्वर्णमुद्राएँ कमायीं। पर वह सारा धन भूतों से अधिष्ठित की तरह दान और भोग से रहित ही रहा।

जैसे चन्द्र को उसका कलंक दूषित करता है, समुद्र को उसका खारापन दूषित करता है, धर्म को मिथ्यात्व दूषित करता है, रूप को कुशील दूषित करता है, अनीति राज्य को दूषित करती है, कांजी दूध को दूषित करता है, उसी प्रकार उसकी कृपणता ने उसकी लक्ष्मी को दूषित कर दिया। मानो किसी कलंक के द्वारा उसे जाति से बाहर कर दिया गया हो–इस प्रकार वह खर्च के भय से कभी भी महाजनों के समूह के मध्य नहीं जाता था। जैसे ब्राह्मणों की पुरी के पास भी चाण्डाल नहीं जा सकता, वैसे ही वह दुष्ट बुद्धिवाला धर्मशाला के नजदीक होकर भी नहीं गुजरता था। लक्ष्मी रूपी मदिरा से मत्त होकर वह महाजनों को तृण के समान भी नहीं मानता था। अतः वह निरन्तर उन महाजनों की आँखों में खटकता था। वह कभी भी देवपूजा नहीं करता था। सद्गुरु की सेवा भी नहीं करता था। सत्पुरुषों का सत्कार नहीं करता था। दुःखीजनों पर उपकार भी नहीं करता था। लोभ की व्याकुलता से केवल धनोपार्जन के उपायों में ही व्यग्र रहकर पशु की तरह अपने अनमोल मानव जीवन को व्यर्थ ही गँवा रहा था।

उधर **धनदत्त** के चित्त को देवी द्वारा तैयार करके दिया हुआ विवेक रूपी मणि का दीप अच्छी तरह से प्रकाश कर रहा था। अतः यथायोग्य व्यापार के द्वारा वह धनाढ्य बन गया। प्रायः संपत्ति उपार्जन करने में विवेक ही चतुराई को धारण करता है। शुद्ध भाव व सद्बुद्धि से युक्त वह हमेशा देवभक्ति करता था, क्योंकि वह मानता था कि **देवभक्ति ही सर्व**

सम्पत्ति का कारण है। तत्त्व और अतत्त्व को प्रकाशित करने में गुरु ही समर्थ है–इस प्रकार जानने के कारण **धनदत्त** हमेशा मन, वचन और काया की शुद्धि के द्वारा अत्यन्त भक्तिपूर्वक गुरु की आराधना करता था। सभी व्यवहारों में वह महाजनों के साथ मिलकर चलता था। दिन–प्रतिदिन वह यश, मान और माहात्म्य के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने लगा।

कलह समग्र कल्याण–लता का उन्मूलन करने में हाथी के समान है और विपत्ति का स्थान है–यह जानकर वह किसी भी स्थान पर क्लेश नहीं करता था।

असत्य बोलने से अविश्वास, अप्रीति, लघुता, निन्दादि कौन–कौनसे दोष पुष्ट नहीं होते? ऐसा विचार करके वह कभी भी असत्य वचन नहीं बोलता था।

चोरी रूपी वृक्ष इस भव में वध, बन्धनादि फल प्रदान करते हैं और परलोक में नरक की वेदना प्रदान करते हैं–ऐसा जानकर वह कदापि अदत्त को ग्रहण नहीं करता था।

परस्त्री का सेवन करनेवाला इस भव और परभव में अनेक आपत्तियाँ प्राप्त करता है–ऐसा जानकर वह परस्त्रियों को दृष्टि के द्वारा देखता भी नहीं था।

नीति का ज्ञाता वह **धनदत्त** समझता था कि व्यसन दुःख रूपी वृक्ष का मूल है। अतः शत्रु की तरह दुर्व्यसनों को मानते हुए वह उनसे दूर ही रहता था।

विनयादि गुण ही पुरुषों को शोभित करते हैं। अलंकारों का समूह तो भारभूत ही है। ऐसा मानकर वह विनयादि गुणों का आदर करता था।

धन का दान करने से यश और मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति होती है और भोगने से तो वह मल–मूत्र रूप होता है–ऐसा विचार करके वह न्यायोपार्जित धन का आय के अनुसार दान करता था।

इस प्रकार निरन्तर सर्व स्थान पर सदाचार का ही आचरण करता था। अतः उसका दर्शन सभी को प्रिय लगता था।

एक बार नगर में कोई परदेशी वणिक किसी मठ में रोग की पीड़ा से मरण को प्राप्त हुआ। उसका अग्नि–संस्कार करने के लिए **धनदत्त** और सभी महाजन इकट्ठे हुए। **सत्पुरुष सर्वत्र उचित करने में ही तत्पर रहते हैं।** वहां **सिद्धदत्त** को बुलाने पर भी वह नहीं आया। पाँच मनुष्यों के बीच जो न आय, उससे अधिक जड़–मूर्ख और कोई नहीं हो सकता। फिर अन्य वणिकजन उस शव को लेकर श्मशान में गये। वन के काष्ठों द्वारा उसकी चिता तैयार करवायी। पर उस मरण प्राप्त व्यक्ति की जाति का पता न होने से उसे कोई अग्नि

देनेवाला नहीं मिला। प्रायः इस विधि को करने का हक स्वजनों को ही होता है। तब महाजनों ने वह विधि करने के लिए **धनदत्त** को कहा। कार्य करने की आज्ञा देने में सभी उत्सुक मनवाले होते हैं। **पंच का वचन मान्य होता है**–ऐसा विचार करके **धनदत्त** ने उनका वचन अंगीकार किया। बाकी सभी लोग दूर जाकर एक वृक्ष की छाया में बैठ गये। फिर चिता में शव को सुलाकर **धनदत्त** उसके वस्त्र हटाने लगा। तब उसने वस्त्रों के छोर पर एक गठड़ी बंधी हुई देखी। उसने गठड़ी को खोलकर देखा, तो उसमें मूर्त्तिमान पुण्य समूह के समान दैदीप्यमान पाँच मणियाँ थीं। उन्हे देखकर उसने विचार किया कि यह पराया धन लेना मेरे लिए सर्वथा प्रकार से उचित नहीं है, क्योंकि परद्रव्य को ग्रहण करना दोनों लोक में हितकारी नहीं है। इस प्रकार विचार करके तत्त्वार्थ के ज्ञाता **धनदत्त** ने उसका समस्त मरण कार्य पूर्ण किया और महाजनों के पास आकर उन्हें रत्न दिखाते हुए कहा–"ये रत्न शव के वस्त्र के छोर में बांधे हुए थे। मैं अदत्त को ग्रहण नहीं करता। अतः ये रत्न आपलोग लेवें।"

उसका यह अद्भुत सन्तोष और प्रामाणिकता देखकर महाजन विस्मित हुए और प्रीतिपूर्वक कहा–"हे वत्स! ये रत्न तुम्हीं ग्रहण करो। हम इन रत्नों को तुम्हें प्रदान करते हैं। अतः इन्हें ग्रहण करने में अब तुम्हें अदत्तादान का पाप नहीं लगेगा।"

तब **धनदत्त** ने कहा–"जिसका स्वामी मरण को प्राप्त हो जाय, उस वस्तु का स्वामी राजा होता है। अतः ये रत्न मुझे देने का आपलोगों को कोई अधिकार नहीं है।"

ऐसा कहकर उसने रत्नों को जबरन महाजनों के हाथ में रख दिया। फिर सभी लोग स्नान करके अपने–अपने स्थानों पर लौट गये। उसके बाद यह वृत्तान्त सुनकर राजा भी अत्यन्त विस्मित और आनन्दित हुआ। उसने स्वयं वे रत्न महाजनों से लेकर **धनदत्त** को दे दिये। जो मनुष्य शुद्ध अंतःकरणपूर्वक पर का अदत्त धन न लेता हो, उसे अद्भुत संपत्तियाँ चारों तरफ से आकर शीघ्र ही स्वयं वरण करती है। फिर **धनदत्त** ने उन रत्नों को पाँच लाख स्वर्णमोहरों में बेचकर उस धन का यथायोग्य–प्रमाण में दान, भोग और व्यापारादि में उसका उपभोग किया।

एक बार व्यापार का विस्तार करने के इच्छा से **धनदत्त** को यह जानने की इच्छा हुई कि उसके दिन चढ़ते हुए हैं या उतरते हुए? उसने विचार किया–"जैसे अल्प भोजन करने से उसका अजीर्ण भी कम होता है और जैसे थोड़ा ही ऊपर से गिरने से वेदना भी अल्प होती है, वैसे ही थोड़ा–2 व्यापार करने से खोट भी थोड़ी ही होती है।"

इस प्रकार का विवेक उत्पन्न होने से उसने एक बकरी खरीदकर वन में चरने के लिए

छोड़ दी। वह बकरी मानो पूर्वकर्म के वैभव का शोध कर रही हो–इस प्रकार से इधर–उधर फिरने लगी। इस प्रकार फिरते हुए उसे उसी दिन किसी वरूए ने मार दिया। इस प्रकार **धनदत्त** ने दो–तीन बार बकरी खरीदकर वन में छोड़ी, पर दोनों–तीनों बार वह मरण को प्राप्त हो गयी। अतः **धनदत्त** ने अपने गिरते हुए दिनों को जानकर कोई भी विशेष प्रकार का व्यापार नहीं किया। **विवेकी पुरुष अच्छे–बुरे दिनों की पहचान करके कार्य में यत्न करते हैं।**

कितना ही समय बीत जाने के बाद उसने फिर से बकरी खरीदकर वन में चरने के लिए छोड़ी। बकरी ने उसी दिन प्रसव किया। इसी प्रकार अन्य–अन्य बकरियाँ खरीदीं, तो वे सभी प्रसव करने लगीं। थोड़े ही दिनों में उसके घर बकरियों का एक विशाल समूह हो गया।

उसने इस घटना के द्वारा अपने चढ़ते हुए दिनों को मानकर परदेश से आये हुए जहाज में से पाँच लाख स्वर्णमोहरों के द्वारा माल खरीद लिया। उसके ठीक सातवें दिन अन्य द्वीप में से कोई वाहन का व्यापारी आया। उसने वह सारा माल उस व्यापारी को बेच दिया। उसमें उसे दुगुना लाभ मिलने से वह दस लाख का स्वामी बन गया। अपने कर्म अनुकूल हों, तो कहीं भी संपत्ति दुर्लभ नहीं है।

इस प्रकार बहते हुए पानी के निर्झर की तरह निरन्तर उसके व्यापार के द्वारा उसकी ऋद्धि उद्यान–लक्ष्मी की तरह वृद्धि को प्राप्त होने लगी। अनुक्रम से वह बारह करोड़ सोनैयों का स्वामी बना। **पुण्य जिसकी सहायता करे, ऐसा व्यापार वास्तव में कल्पवृक्ष ही है।**

एक बार **धनदत्त** और **सिद्धदत्त** ने मार्ग में कहीं राजपुत्र और सामन्तपुत्र को कलह करते हुए देखा। यह देखकर **"दावानल की तरह कलह के पास खड़े रहना योग्य नहीं है"**–ऐसा विचार करके **धनदत्त** नरक की तरह उन दोनों को देखकर दूर से ही निकल गया।

"क्या इनका कलह उछलकर मुझसे चिपक जायगा?"–इस प्रकार विचार करके उद्धत बुद्धि से युक्त **सिद्धदत्त** उनके पास चला गया। उन दोनों ने उसी को अपने न्याय–अन्याय में साक्षीभूत कर लिया। फिर वे दोनों लड़ते हुए राजसभा में पहुँच गये। दोनों ने अपने–अपने पक्ष को न्यायभूत और दूसरे के पक्ष को अन्यायभूत बताया। राजा ने पूछा–"इस बात का साक्षी कौन है?"

तब उन दोनों ने ही **सिद्धदत्त** का नाम बताया। उसे बुलाकर राजा ने हकीकत पूछी। उस समय विवेक विकल **सिद्धदत्त** ने मान्य करने लायक राजपुत्र को दोषी और सामन्तपुत्र को न्याययुक्त बताया। यह सुनकर राजा ने क्रोधित होते हुए उस साक्षी को गलत बताया

तथा झूठी साक्षी देने के कारण **सिद्धदत्त** को बीस करोड़ द्रव्य का दण्ड दिया। वह सभी के साथ द्वेषभाव रखता था, अतः किसी ने भी उसका साथ नहीं दिया, क्योंकि जो महाजनों का विरोधी होता है, वह सुखलक्ष्मी का संबंधी (भोगनेवाला) नहीं हो सकता।

एक बार मनोहर रूपयुक्त वे दोनों अर्थात् **सिद्धदत्त और धनदत्त** राजमार्ग से जा रहे थे। उस समय उन दोनों ने महल के झरोखे में बैठी हुई **रतिश्री** नामक मंत्रीपत्नी को देखा। उसने भी उन दोनों को देखा, तो मोहासक्ति के कारण उन पर अत्यन्त अनुरक्त हो गयी। **वास्तव में नदी, बिजली और स्त्री में स्थिरता नहीं होती। चक्षु अपने विषय में आये हुए रूप को देखे बिना रह नहीं सकता।** उस समय विवेकशाली **धनदत्त** ने विचार किया–**"सराग दृष्टि के द्वारा परस्त्री को देखना भी उभयलोक से विरुद्ध आचरण है।"**

यह विचार करके उद्वेग करनेवाले शत्रु से, भयंकर सर्प से और प्रचण्ड ताप से युक्त सूर्य से जिस प्रकार दृष्टि खींच ली जाती है, उसी प्रकार **धनदत्त** वहां से दृष्टि हटाकर आगे चल पड़ा। उधर कामान्ध हुआ **सिद्धदत्त** ऊपर दृष्टि रखकर उस स्त्री की और देखता हुआ जमीन में गाड़े गये स्तम्भ की तरह स्तम्भित हो गया। उसके साथ हास्य, दृष्टिविन्यास आदि क्रियाएँ करते हुए निर्लज्ज **सिद्धदत्त** को सिपाहियों ने देख लिया। तत्काल उसे पकड़कर बांधकर राजा के सामने पेश किया गया, क्योंकि इस भव में तो राजा ही पापियों को शिक्षा प्रदान करता है। राजा ने पुनः उस पर क्रोधित होते हुए उसे दस करोड़ द्रव्य का दण्ड दिया। **अन्यायी के घर कभी भी लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती।** इस प्रकार विवेक–विकलता के कारण **सिद्धदत्त** का धन कम होता गया और विवेकयुक्त होने से **धनदत्त** का धन बढ़ता ही चला गया।

एक बार **धनदत्त** के घर एकान्त में कोई व्यापारी आया। उसने उसे दस करोड़ मूल्य के रत्न दिखाये। देखकर **धनदत्त** ने उन रत्नों का मूल्य पूछा। तब उस व्यापारी ने उनका मूल्य दस हजार बताया। यह सुनकर बुद्धिमान **धनदत्त** ने विचार किया–"ये रत्न तो अत्यधिक मूल्यवान हैं। पर यह अत्यल्प मूल्य बता रहा है। जरूर यह कहीं से चोरी करके लाया है। चोरी करके लायी हुई वस्तु को जो खरीदता है, वह भी चोर के समान ही दण्ड का अधिकारी होता है।"

इस तरह विचार करने के बाद अत्यधिक लाभयुक्त सौदा होने के बावजूद भी उसने रत्न नहीं खरीदे। उसके बाद वह व्यापारी **सिद्धदत्त** के पास गया। उसे भी रत्न दिखाये। महालाभ देखकर एकान्त में उसने वे रत्न खरीद लिये। कूट व्यापार को करते हुए वणिक लाभ को ही देखता है, पर दूध पीती हुई बिल्ली जिस प्रकार लकड़ी को नहीं देखती, उसी

प्रकार उसे राजा का दण्ड याद नहीं आया।

एक बार नगर के आरक्षकों ने उसको पकड़ लिया और पूछा–"लोगों का चुराया हुआ धन कहां है? बता, नहीं तो तेरा मरण पक्का है।"

तब उस चोर ने चुराया हुआ माल जहां–जहां बेचा था, वह सभी बता दिया। लोगों ने भी अपने–2 माल को पहचाना और वापस ले लिया। उसके बाद आरक्षकों ने तिरस्कारपूर्वक चोर से कहा–"अरे! राजखजाने से चुराये हुए रत्न कहां है? उन्हें क्यों छिपाता है?"

तब उसने स्पष्ट रूप से कहा–"उन रत्नों को पहले मैंने **धनदत्त** को दिखाया था, पर पता नहीं किस कारण से उसने नहीं खरीदे। अतः जब मैंने उन रत्नों को **सिद्धदत्त** को दिखाया, तो उसने एकान्त में मुझे दस हजार द्रव्य देकर खरीद लिया।"

यह वृत्तान्त सुनकर कोतवाल उसे राजा के पास ले गया और सारी हकीकत बतायी। यह सुनकर राजा ने **सिद्धदत्त** के पास से न केवल रत्न, बल्कि उसका सर्वस्व ले लिया, क्योंकि राजा का क्रोध भयंकर होता है। उसके बाद **सिद्धदत्त** दारिद्र्य के द्वारा अत्यन्त पराभव को प्राप्त हुआ। अविवेक के कारण इसलोक में क्या–क्या दुःख प्राप्त नहीं होता? अतः दुःखगर्भित वैराग्य के कारण उसने तापस दीक्षा ग्रहण की। अविवेकी जन परलोक के लिए अच्छा साधन ग्रहण नहीं कर सकते।

फिर राजा ने **धनदत्त** को बुलाकर पूछा–"तुमने महालाभ होते हुए भी वे रत्न क्यों नहीं खरीदे?"

तब **धनदत्त** ने हकीकत बताते हुए कहा–"हे स्वामी! वह मनुष्य एकान्त में आकर मुझे रत्न बता रहा था। उसकी बातों से मुझे शंका हो रही थी। अत्यल्प मूल्य बताने के कारण वे रत्न मुझे चुराये हुए लगे। अतः मैंने नहीं खरीदे।"

यह सुनकर राजा ने विचार किया–"अहो! इसकी बुद्धि कितनी शुद्ध है! अहो! इसकी व्रत की दृढ़ता सराहनीय है।"

इस प्रकार उसकी प्रशंसा करके राजा ने उसे अत्यधिक सन्मान दिया। व्यसनादि में आसक्ति–रहित बनते हुए और विवेकयुक्त व्यापार करते हुए **धनदत्त** की लक्ष्मी मेघ के द्वारा लता की तरह निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होने लगी।

एक बार **रत्नवीर** राजा की सभा में कोई धूर्त करोड़–करोड़ मूल्यवाले पाँच रत्न लेकर आया। उसने सभासदों से कहा–"समुद्र में कादव और पानी में से क्या ज्यादा है और क्या कम है? इस विषय में जो मुझे सन्तोषजनक उत्तर देगा, उसे मैं ये आश्चर्यकारी पाँचों रत्न दे दूंगा।"

यह सुनकर उस प्रश्न का जवाब देने में तीव्रबुद्धि युक्त सभासद भी मूढ़ बन गये। किस–किसने अपने मन को सन्देह के झूले में नहीं झुलाया?

फिर देवी के प्रसाद से विकस्वर बुद्धियुक्त **धनदत्त** ने कहा–"समुद्र में कादव अधिक है और पानी अल्प है। अगर तुम्हें विश्वास न हो, तो पहले समुद्र में जानेवाली गंगा आदि नदियों के प्रवाह को रोक। उसके बाद पानी का मान कर और कादव का मान कर। अगर कादव से ज्यादा पानी हो, तो मैं तुम्हें पाँच करोड़ स्वर्णमुद्रा प्रदान करूंगा।"

इस प्रकार **धनदत्त** ने उस धूर्त को निरुत्तर कर दिया। फिर राजाज्ञा से उसने वे पाँच रत्न **धनदत्त** को सौंप दिये।

एक बार उस नगर में मनोहर रूपयुक्त, दैदीप्यमान अलंकार को धारण करनेवाला और नवयौवन से युक्त कोई कपटनिधि महेभ्य सार्थवाह बनकर आया और बारह करोड़ स्वर्ण की मालकिन **अनंगसेना** नामक गणिका के घर गया। उसे देखकर कपट करने में चतुर वह गणिका भी उसे धनाढ्य जानकर कहने लगी–"अहो! आज मेरे अगणित पुण्य उदय में आये हैं, जिससे मेरे घर में जंगम कल्पवृक्ष का पदार्पण हुआ है। आज रात्रि के अन्तिम प्रहर में मुझे स्वप्न आया था। उसमें मानो देव प्रसन्न हुआ हो–इस प्रकार से आपके पास से मुझे बारह करोड़ स्वर्णमुद्रा प्राप्त हुई। यह स्वप्न अभी सत्य साबित हुआ जान पड़ता है। पर यह लोकोक्ति भी सत्य है कि स्वप्न में प्राप्त हुई वस्तु किसे हकीकत में मिलती है?"

यह सुनकर हाजिर–जवाबी उस धूर्त ने कहा–"हे भद्रे! तुमने सत्य ही कहा, क्योंकि मुझे तुम्हारे यहां बारह वर्ष तक रहना है–ऐसा कहकर मैंने आज स्वप्न में बारह करोड़ सोनैये तुम्हारे घर पर स्थापन के तौर पर रखे हैं। तेरे सौंदर्य, चतुराई और प्रीति आदि गुणों से मैं तुम्हारे आधीन बन गया हूं। अतः मैं जीवन–पर्यन्त तुम्हारे घर पर रहूंगा। पर अभी कोई सार्थ देशान्तर में जानेवाला है। वहां अत्यधिक लाभ संभवित है। अतः मैं वहां जाने के लिए तैयार हुआ हूं, क्योंकि जहां लाभ सम्भव हो, वहां जाने में वणिक आलस्य नहीं करते।

अतः हे प्रिये! अभी तो तूं मेरे बारह करोड़ वापस दे, ताकि मैं व्यापार कर सकूं। रकम के बिना दूर देश में व्यापार नहीं हो सकता। व्यापार करने के बाद मैं जल्दी ही तुम्हारे पास वापस आऊँगा, क्योंकि मैं तुम्हारे कामण के आधीन हो गया हूं।"

यह सुनकर वह गणिका उसे जवाब नहीं दे पायी। उसकी सारी आशा उस धूर्त ने निष्फल कर दी। चंचलता रहित वानरी की तरह वह शून्य बन गयी और वह धूर्त उससे अत्यन्त वाद–विवाद करते हुए उसे चौटे पर ले आया। अत्यन्त उद्विग्न होकर गणिका ने नगर में पटह बजवा दिया कि जो कोई इस विवाद को शान्त करेगा, उसे मैं एक करोड़ द्रव्य

प्रदान करूंगी।

यह सुनकर द्रव्य के लोभ से अनेक लोग उस विषय में प्रयत्न करने लगे, पर कोई भी उस विवाद को निपटाने में समर्थ न हो सका। अन्त में **धनदत्त** की बुद्धि उस विवाद को निपटाने में अस्खलित प्रवर्त्तित हुई। उसने एक हाथ में बारह करोड़ स्वर्ण की कीमतवाले बारह रत्न रखे और दूसरे हाथ में दर्पण रखा। उस दर्पण में रत्नों का प्रतिबिम्ब दिखाते हुए उसने धूर्त से कहा–"हे भद्र! इस दर्पण में दिखनेवाले रत्नों को तुम ग्रहण करो।"

यह सुनकर धूर्त क्रोधित होते हुए बोला–"इन प्रतिबिम्बित रत्नों से क्या प्रयोजन? इन्हें कैसे ग्रहण किया जा सकता है?"

तब धनदत्त ने कहा–"हे भद्र! क्या तुमने लोकोक्ति नहीं सुनी कि पुरुष की जैसी भावना होती है, तदनुरूप ही सिद्धि होती है। जैसा प्रासाद होता है, उसमें वैसी ही प्रतिमा स्थापित की जाती है। जैसे देव होते हैं, वैसे ही पुजारी भी होते हैं। अतः जिस प्रकार इसने स्वप्न में धन लिया था, उसी प्रकार यह प्रतिबिम्ब के रूप में वापस भी लौटा रही है, क्योंकि स्वप्न और प्रतिबिम्ब में कोई फर्क नहीं है।"

यह सुनकर धूर्त निराश होकर अपने स्थान पर लौट गया। गणिका ने भी प्रसन्न होते हुए **धनदत्त** को कोटि स्वर्ण प्रदान किया। इस प्रकार विवेक रूपी कल्पवृक्ष के द्वारा **धनदत्त** का धन अनुक्रम से वृद्धि को प्राप्त हुआ, जिससे वह पचपन करोड़ स्वर्ण का स्वामी बन गया।

एक बार राजा की आज्ञा से नगर में आरक्षकों ने एक चोर को कारागृह में डाला। पापियों पर राजा ही शासन कर सकता है। वह चोर क्षुधा–तृषा आदि को सहन करता हुआ मरण को प्राप्त हुआ। अकाम निर्जरा के कारण वह राक्षस योनि का देव बना। तुरन्त उसने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया। उसने जाना कि राजा के द्वारा दिये गये कष्टों के कारण उसे मरण प्राप्त हुआ है। उसका क्रोध जागृत हुआ। जैसे सिंह हाथी को पकड़ता है, वैसे ही उसने भी हनन करने के लिए राजा को पकड़ा। जैसे कसाई बकरे को अन्त्य दशा प्राप्त करवाता है, वैसे ही उसने भी राजा को अन्त्य दशा प्राप्त करवायी। तब नगरजन उसे प्रसन्न करने के लिए इकट्ठे होकर कहने लगे–"हे देव! आप दया करें। न्यायमार्ग पर चलनेवाले हमारे स्वामी को छोड़ दें।"

तब राक्षस ने कहा–"अगर कोई वीर पुरुष अपने शरीर का बलिदान मुझे दे, तो मैं राजा को छोड़ दूंगा।"

यह सुनकर सभी कायर बन गये और दान देने में कृपण बने पुरुष की तरह सभी मुख नीचा करके खड़े हो गये। तब परोपकार में रसिक **धनदत्त** ने कहा–"हे देव! मैं मेरा शरीर

बलिदान में तुझे सौंपता हूं। तूं राजा को छोड़ दे।''

यह सुनकर **धनदत्त** के सत्त्व से प्रसन्न होकर राक्षस ने राजा को छोड़ दिया। महात्माओं का सत्त्व स्व–पर का उपकार करने में ही व्रतयुक्त होता है। फिर राक्षस ने जाते समय प्रसन्न होकर **धनदत्त** को बारह करोड़ स्वर्ण प्रदान किया। परोपकारी मनुष्य को पग–पग पर संपत्ति की प्राप्ति होती है। राजा भी अत्यन्त हर्षित हुआ। **धनदत्त** का अनेक प्रकार से सम्मान किया। हर्षपूर्वक सर्व व्यापारियों के मध्य उसे मुख्य बनाया। विवेक रूपी कामकुम्भ के द्वारा **धनदत्त** का धन वृद्धि को प्राप्त हुआ और वह अड़सठ करोड़ स्वर्ण का स्वामी बना।

एक बार **रत्नवीर** राजा वसन्त ऋतु में अंतःपुर सहित आनन्दपूर्वक नगर के बाहर उद्यान में क्रीड़ा करने के लिए गया। वहां कुछ समय गीत सुनकर, कुछ समय नृत्य देखकर और कुछ समय वनलक्ष्मी का देखते हुए मध्याह्न का समय आ गया। तब पाकशाला के अधिकारियों ने दाल–चावल आदि मनोहर रसोई शीघ्रतापूर्वक तैयार करवायी। तभी **देवभद्र** नामक आचार्य श्रेष्ठ मुनियों के परिवार के साथ बारह योजन के उस अरण्य के भीतर सार्थ के साथ विहार करते हुए रास्ता भटककर सार्थ से अलग हो गये। पर स्वार्थ से रास्ता नहीं भूले थे। तृषा से पीड़ित थे, पर लोभ से पीड़ित नहीं थे। तपस्या के कारण उनका शरीर दुर्बल हुआ था, पर साधुओं के गुणों से वे पुष्ट थे। बाहर से वे मलसहित थे, पर अंतःकरण निर्मलता से शोभित था। बाहर अटवी में भटक जाने के कारण वे अवश्य थक गये थे, पर मोक्षमार्ग पर चलते–चलते वे जरा भी न थके थे। सूर्य के ताप से वे म्लानमुख हो चुके थे, पर किसी पर भी कोप करके वे तप्त नहीं हुए थे। क्षुधा के कारण उनकी स्थिति खराब हो गयी थी, पर एषणा की गवेषणा करने में वे स्वस्थ/सावधान थे। उन्होंने तीन दिनों तक लगातार अटवी का उल्लंघन किया था, पर भव–अटवी को वे अब उल्लांघनेवाले थे। उनमें से कितने ही मुनिवर अपने गुरु से वियुक्त हुए वहां आये। उन्हें देखकर राजा अत्यन्त आनन्दित हुआ। हर्ष के आवेग में राजा उनके सन्मुख गया। उन्हें नमन किया और अत्यन्त आग्रह करके अपने आवास पर लेकर आया। अत्यन्त भक्तिपूर्वक राजा ने उनको भोजन के लिए तथा अपने चित्त के समान स्वच्छ चावलों के धोये हुए जल के लिए आमन्त्रित किया। मुनियों ने भी उस जल को प्रासुक जानकर अपना नान्दीपात्र (तुम्बीपात्र) सामने रखा। राजा ने उसे जल से और अपनी आत्मा को सुकृत के द्वारा पूरित किया। उसकी श्रीदेवी आदि नौ प्रियाओं ने आदरसहित शुभ भावपूर्वक मुनियों को भोजन बहराया। उसे वापरकर मुनि स्वस्थ बने और मोक्ष के कारण रूप विविध प्रकार के संयम योग को साधने के लिए समर्थ बने। फिर सन्ध्या होने पर राजा अंतःपुर के साथ और परिवार सहित मुनिराज के पास गया। उन्हें ज्येष्ठ–कनिष्ठ के हिसाब से

क्रमपूर्वक विशेष भक्ति के साथ वन्दन किया। मुनियों ने भी पापनाशक धर्माशीष के द्वारा उन्हें प्रसन्न किया। फिर उनमें से ज्येष्ठ मुनिराज ने राजा को पुण्यमार्ग का उपदेश दिया–

"सभी जीव सुख की अभिलाषा करते हैं और दुःख से द्वेष करते हैं। एकान्त रूप से सुख की प्राप्ति और दुःख का क्षय केवल मोक्ष में ही है। उस मोक्ष को प्राप्त करने के दो मार्ग सर्वज्ञों ने अच्छी तरह से बताये हैं।

उसमें **पहला मार्ग** यतिधर्म है, जिसमें सर्व सावद्य व्यापारों का त्याग होता है। उस यतिमार्ग अर्थात् क्षमादि दस प्रकार के धर्मों को यथार्थ रूप से प्राप्त प्राणी एक अन्तर्मुहूर्त मात्र में भी **मरुदेवी** माता की तरह मोक्षपद को प्राप्त करता है। पर पाँच मेरुपर्वत के समान पाँच महाव्रत–जिन्हें पूर्व में महाधीर पुरुषों ने धारण किया था, पर कायर पुरुष अर्थात् सुखशील पुरुषार्थहीन पुरुष के द्वारा धारण करना अत्यन्त कठिन है। पृथ्वी के भार की तरह अठारह हजार शीलांग के भार को वहन करने में कौन पुरुष सक्षम हो सकता है? देव, मनुष्य और तिर्यंचकृत भयंकर उपसर्गों को, बुभुक्षादि बावीस दुःसह परीषहों को और जगत पर जय प्राप्त करने में प्रवीण तथा चक्रवर्त्ती और इन्द्रादि के द्वारा भी अजेय राग–द्वेष रूपी विशाल सुभटों को जीतने में कौन समर्थ हो सकता है? इसी कारण से महा धैर्यवान, स्वशरीर में अपेक्षा–रहित और दृढ़व्रतधारी पुरुष ही इस मार्ग पर जाने में समर्थ होते हैं।

दूसरा मार्ग श्रावकधर्म का है। इसमें देश से सावद्य व्यापार का वर्जन है। इस धर्म को भी वही प्राणी प्राप्त कर सकता है, जो अत्यन्त लघुकर्मी होता है, क्योंकि आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति जब एक कोटाकोटि सागरोपम से भी न्यून हो, तब भव्य प्राणी समकित को प्राप्त करता है। उस स्थिति में से भी पल्योपम पृथक्त्व अर्थात् दो से नौ पल्योपम की स्थिति का क्षय करे, तब शुद्ध परिणाम होने से देशविरति प्राप्त हो सकती है। इस विषय में आगम में कहा है:–

सम्मत्तम्मी(म्मिउ) लद्धे पलिय पहुत्तेण सावओ होइ।
चरणोवसमखयाणं, सागरसंखंतरा हुंति।।

भावार्थः–समकित पाने के बाद नौ पल्योपम बीत जाने के बाद श्रावकत्व प्राप्त होता है। उसके बाद संख्याता सागरोपम बीत जाने के बाद चारित्रावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है अर्थात् क्षायोपशमिक भाव रूपी सर्वविरति चारित्र प्राप्त होता है।

कोई–कोई विरले श्रावक ही इस देशविरति धर्म का आराधन करके एकावतारी अर्थात् एक भव देव संबंधी करके फिर मनुष्य भव प्राप्त करके मोक्ष जाते हैं। उत्कृष्टतः तो देशविरति का पालन करनेवाले आठ भव के भीतर आठों दुष्ट कर्मों का क्षय करके सिद्धि प्राप्त कर लेते

हैं। इस देशविरति धर्म के तेरह सौ करोड़ से भी अधिक भेद हैं। अतः विवेकीजनों के लिए समकित सहित यह धर्म सुखपूर्वक सेवन करने लायक है।

इस प्रकार सुनकर राजा ने गुरु के पास श्रावकधर्म अंगीकार किया। विद्वान व्यक्ति कोई भी व्रत–नियमादि अपनी शक्ति के अनुसार ही धारण करते हैं। उसकी पत्नियों ने भी हर्षपूर्वक धर्म अंगीकार किया। **जो स्त्री पति के सदाचरण का अनुसरण नहीं करती, वह खराब स्त्री कहलाती है।** उसके बाद राजा मुनिराजों को नमस्कार करके घर की तरफ लौट गया। मुनि भी अनुक्रम से अपने गुरु को खोजकर उनके पास लौट गये। राजा विशुद्ध रूप से श्रावकधर्म का पालन करने लगा, क्योंकि उत्तम पुरुष अंगीकार किये हुए व्रत का पालन करने में प्रमाद नहीं करते। उसके बाद वह राजा **रत्नवीर** मरकर तुम **रत्नपाल** राजा के रूप में पैदा हुए हो। श्रावकधर्म के प्रभाव से तुम्हें यह राज्य–ऋद्धि प्राप्त हुई है। **तुम्बीपात्र मात्र में जल का दान करने से तुम्हें यह रसतुम्बी प्राप्त हुई है**, क्योंकि सुपात्र को दिया गया थोड़ा भी दान महान सम्पत्ति प्रदाता बनता है। वह **सिद्धदत्त** तापसव्रत का पालन करके तुम्हारा मंत्री **जय** बना है, क्योंकि अज्ञान तप का फल इतना ही होता है। तुमने उसका वाहन बारह दिन तक रोका था। अतः इस भव में उसने तुम्हारा राज्य बारह वर्ष तक भोगा। श्रीदेवी आदि जो नौ स्त्रियाँ तुम्हारे पूर्वभव में थीं, वे ही इस भव में **शृंगारसुन्दरी** आदि स्त्रियाँ बनी हैं। इस **शृंगारसुन्दरी** ने इस भव से सौ भव पूर्व कायोत्सर्ग में खड़े किसी मुनि पर धूल फेंककर उपद्रव किया था, उसी कर्म के द्वारा दुःसह वेदना प्राप्त हुई। कोटि जन्मों में किये गये कर्मों का भोग किये बिना छुटकारा नहीं है। **धनदत्त** का जीव मरकर परदेशी श्रावक बना, जिसकी तुमने सेवा की। वह इस भव में मरकर देव बना और उसने तुम पर अनेक उपकार किये। पूर्वजन्म में **कनकमंजरी** ने अपने सेवक को 'अरे कोढ़ी! काम क्यों नहीं करता?' तथा **गुणमंजरी** ने 'अरे अन्धे! क्या तुझे नहीं दिखता?'–इस प्रकार आक्रोशपूर्वक कहा था, उस कर्म के द्वारा इस जन्म में उन दोनों की ऐसी दुर्दशा हुई। **वचन के द्वारा बांधा हुआ कर्म भी काया के द्वारा ही भोगा जाता है।** हे रत्नपाल राजा! सुपात्र को किये गये जलदान के फलस्वरूप तुम्हारा कल्पवृक्ष जन्म–पर्यन्त अत्यन्त अद्‌भुत मनुष्य संबंधी सुख–सम्पत्ति की परम्परा के द्वारा पुष्पयुक्त बना है और अब शीघ्र ही तुम्हें मोक्षसुख रूपी लक्ष्मी के द्वारा फलदायी बनेगा।''

इस प्रकार अमृत झरती गुरुवाणी का श्रवण करके उत्कृष्ट वैराग्य रंग को प्राप्त करके प्राणियों की शुभाशुभ कर्मस्थिति को जानकर **रत्नपाल** राजा ने अपने साम्राज्य पर पुत्र को स्थापित करके श्रेष्ठ विशाल उत्सवपूर्वक नौ ही स्त्रियों के साथ दीक्षा अंगीकार की। उन राजर्षि ने अनेक वर्षों तक निरतिचार चारित्र का पालन करके सैकड़ों उग्र तपस्याओं का

आचरण करके सभी स्त्रियों के साथ देवगति को प्राप्त किया। वहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्षपद को प्राप्त करेंगे।

हे भव्य प्राणियों! इस प्रकार सत्य विचारों के द्वारा मनोहर और मुनि को जलदान करने रूप पुण्य के द्वारा दैदीप्यमान **श्रीरत्नपाल** नामक राजा का मनोहर व अद्‌भुत चरित्र सुनकर उस जलदान में निरन्तर विधिपूर्वक प्रयत्न करो, कि जिससे समग्र लक्ष्मी तुम्हें वरने के लिए तत्काल उत्सुकता धारण करे।

।। इति अष्टम प्रकाश।।

नवम प्रकाश

जिन्होंने जीवानन्द के भव में मुनि की चिकित्सा करने के द्वारा अपने भावरोग की चिकित्सा की थी, वे युगादीश आदिनाथ लक्ष्मी के लिए हों।

अब औषधदान नामक धर्मार्थ (उपष्टम्भ) दान में रहा हुआ छठा भेद कहा जाता है। उससे अक्षय सुख प्राप्त होता है। मुनियों के धर्म आराधन में मुख्य साधन शरीर ही है। वह शरीर अगर व्याधिरहित हो, तो धर्म का आराधन अच्छी तरह से हो सकता है। मुनीश्वरों को भी पूर्वोपार्जित कर्मों के द्वारा व्याधि होना संभव है। उस व्याधि के नाश के लिए बुद्धिमान पुरुषों को विधिप्रमाण औषध का दान मुनियों को करना चाहिए। उदार बुद्धि से युक्त जो पुरुष हर्षपूर्वक साधुओं की बंधुओं के समान चिकित्सा करता है, वह पुरुष वास्तविक रीति से धर्मतीर्थ का ही उद्धार करता है–ऐसा जानना चाहिए। धर्मसंबंधी सब दानों में औषधदान की ही मुख्यता है, क्योंकि अरिहन्तों ने इसके माहात्म्य को उत्कृष्ट बताया है। इस विषय में आगमों में कहा है :–

"हे भगवन्! जो ग्लान साधु की वैयावृत्य करता है, वह पुरुष धन्य है या जो आपके दर्शन अंगीकार करता है, वह पुरुष धन्य है?"

"हे गौतम! जो पुरुष ग्लान की परिचर्या करता है, वह मेरे दर्शन को ही अंगीकार करता है और जो मेरे दर्शन को अंगीकार करता है, वह ग्लान की परिचर्या करता है, क्योंकि अरिहन्त के दर्शन में आज्ञा की शरण करना ही सार–तत्त्व है। अतः हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि

जो ग्लान की परिचर्या करता है, वह मेरे दर्शन को अंगीकार करता है।''

निर्मल अंतःकरण के द्वारा मुनि की तुच्छ चिकित्सा भी की हो, तो भी वह तिर्यंचों को भी आश्चर्यकारक सम्पत्ति प्रदान करती है।

पहले **द्वारिका नगरी** में जिसका पूर्वभव **वैतरणी वैद्य** का था, ऐसा एक **वानर विंध्याचल पर्वत** की अटवी में यूथ का नायक था। एकबार वहां एक मुनि पधारे। उनके पग में कांटा विंधा हुआ था। उन मुनि को देखकर वानर को जातिस्मरण ज्ञान हुआ। अतः शुभ भावयुक्त उस वानर ने भक्तिपूर्वक **विशल्या** नामक औषधि के द्वारा मुनि को शल्यरहित बनाया। फिर समय आने पर सम्यग् प्रकार से अनशन करके मृत्यु प्राप्त करके मुनि की चिकित्सा के प्रभाव से **सहस्रार देवलोक** में अठारह सागरोपम की आयुष्यवाला **देव** बना।

जो पुरुष मुनियों को प्रासुक औषधि का दान करके उन्हें नीरुज बनाते हैं, वे धन्य पुरुष शीघ्र ही अपनी आत्मा को नीरुज स्थान (मोक्ष) में ले जाते हैं। प्रथम तीर्थंकर **श्रीऋषभदेवस्वामी** ने अपने पूर्वभव में **वैद्य** के रूप में **मुनि** के **कोढ़** की **चिकित्सा** करने के लिए उस प्रकार के तेल का दान किया था, जिससे उन्होंने **तीर्थंकर नामकर्म** का उपार्जन किया था। उस वैद्य के **मित्रों** ने भी उसके उस कार्य में सहायता की थी, अतः उन्हें भी उत्कृष्ट लक्ष्मी प्राप्त हुई थी। एक **वणिक** ने उसी रोग के उपचार के लिए **चन्दन** और **कम्बल** दी थी, वह उसी भव में **मोक्ष** को प्राप्त हुआ। साधु को रोगरहित बनाने से वह साधु जो–जो धर्मक्रिया करता है, उस क्रिया के अनुमोदन का फल उस रोगरहित बनानेवाले पुरुष को अवश्य मिलता है। जो पुरुष अखण्डित भाव से यतियों को औषधि का दान देता है, वह अद्‌भुत और अखण्डित लक्ष्मी को प्राप्त करता है और खण्डित भाव से औषधि का दान देता है, तो खण्डित लक्ष्मी को प्राप्त करता है। इस विषय पर विविध प्रकार के आश्चर्यों से युक्त वृत्तान्त के द्वारा **धनदत्त** के बड़े भाई **धनदेव** की कथा सुनो–

इस पृथ्वी पर अद्‌भुत संपत्ति का स्थान रूप **सिंहलद्वीप** नामक द्वीप है। समुद्र के जल में मानो स्वर्ग ही प्रतिबिम्बित हो रहा हो–ऐसा वह द्वीप प्रतीत होता था। उस द्वीप में शूरवीरता से शोभित और मनुष्यों में सिंह के समान **सिंहलेश्वर** नामक राजा राज्य करता था। वह हाथी के समान दुर्जय शत्रुओं का भी नाश करने में समर्थ था। विष्णु की लक्ष्मी और इन्द्र की इन्द्राणी के समान उसके **सिंहलदेवी** नामक रानी थी। श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार रुक्मिणी के द्वारा प्रद्युम्न को उत्पन्न किया था, उसी प्रकार राजा ने उस रानी के द्वारा तेजस्वी पुत्र को उत्पन्न किया। उगते हुए दूज के चन्द्र की तरह उस कुमार ने लीलामात्र में सभी कलाओं को सीख लिया। पर दोष के लेशमात्र संबंध को भी वह प्राप्त नहीं हुआ। जैसे सूर्य कमल को विकसित बनाता है, उसी प्रकार यौवन ने उसके रूप को अत्यधिक निखार दिया था। उसके

रूप पर स्त्रियों के नेत्रों रूपी भ्रमरों की श्रेणी निरन्तर विलास करती थी। उसकी बुद्धि जैसे–जैसे विशालता को प्राप्त हुई, वैसे–वैसे उसका वक्षस्थल भी विशालता को प्राप्त हुआ। उसके दोनों स्कन्ध स्थूलता को प्राप्त हुए और उसी के साथ उसकी कीर्ति भी स्थूलता को प्राप्त हुई। उसके दोनों नेत्र कर्ण के मूल में विश्रान्ति को प्राप्त हुए और गुरु (पिता) की वाणी भी वहीं विश्रान्ति को प्राप्त हुई। उसकी दोनों हथेलियाँ रक्तता को प्राप्त हुईं और पुरजन उस पर अनुरक्त हुए। उसकी दोनों भुजाएँ पुष्टता को प्राप्त हुईं और इसी के साथ उसका माहात्म्य भी पुष्ट हुआ। जैसे–जैसे उसकी दाढ़ी–मूछ उत्पन्न हुए, वैसे–वैसे पराक्रम भी उत्पन्न हुआ। जैसे पद्म को भ्रमर घेर लेते हैं, वैसे ही सौभाग्य रूपी सुगन्ध के समूह से आकर्षित समान रूप और वयवाले अनेक कुमार उसके मित्र बन गये और हर्षपूर्वक उसे घेरे रहते।

एक बार वसन्त ऋतु में कुमार परिवार सहित इन्द्रपुत्र जयन्त की तरह उद्यान में क्रीड़ा करने के लिए गया। वन के मध्य में रहा हुआ राजपुत्र ऐसे शोभित हो रहा था, मानो उद्यान में उतरे हुए वसन्त से मिलने के लिए स्वयं कामदेव आया हो। नेत्र रूपी मृगों के जाल के समान वनलक्ष्मी को वह देख रहा था। तभी उसने सुदूर लता–मण्डप के भीतर से आते हुए दीन शब्दों को सुना। वह धैर्यशाली कुमार तुरन्त उन शब्दों का अनुसरण करते हुए समीप पहुँचा, **क्योंकि महापुरुष अन्यों के प्राणों का रक्षण करने में तत्पर बुद्धियुक्त होते हैं।** कुमार जब वहां पहुँचा, तो उसने देखा कि एक कन्या किंकर्त्तव्यमूढ़ होकर 'किस दिशा में जाऊँ?'–इस प्रकार के विचार से व्याकुल होकर इधर–उधर दौड़ रही है। उसके पीछे सूंड ऊपर करके यमराज के समान भयानक व मदोन्मत्त हाथी उसका हनन करने की इच्छा से दौड़ रहा था।

वह कन्या उच्च स्वर में विलाप कर रही थी–"हे माता! तूं कहां है? हे पिता! कहां हो? हे कुलदेवी! तूं कहां चली गयी? ऐसे दुःख के समय में आप सभी मुझसे दूर क्यों हो गये? हे वनदेवी! किसी शूर–शिरोमणि को तूं खोजकर ला, जो किसी बंधु या संबंधी की तरह इस विकट संकट से मेरी रक्षा कर सके। हे जगत के चक्षु सूर्य! मेरी रक्षा करो। मेरी रक्षा करो। यह वन का हाथी मुझे यमराज के घर पर पहुँचा देगा। इससे मुझे बचाओ, क्योंकि तुम्ही जगत की साक्षी रूप हो।"

इस प्रकार करुण स्वर में विलाप करते हुए वह वन के प्राणियों को भी रुला रही थी। उसके नेत्र झरते हुए अश्रुओं से व्याप्त थे। त्रास को प्राप्त मृगी के समान सर्व दिशाओं में दृष्टि डालती हुई उस कन्या को देखकर दयालू राजकुमार ने विचार किया–"अहो! इसकी यह दयनीय अवस्था कैसे हुई? अन्य प्राणियों की विपत्ति देखकर जिनका चित्त दयार्द्र नहीं होता, माता की युवावस्था का नाश करनेवाले ऐसे पुत्र को माता जन्म ही न दे। हर किसी को विपत्ति

के समुद्र से बाहर निकालने में अपनी शक्ति का उपयोग करना महापुरुषों के लिए उचित कार्य है, तो फिर एक अबला को विपत्ति से मुक्त कराने का तो कहना ही क्या?''

इस प्रकार विचार करके उसने कहा–''हे कमलाक्षि! तूं भयभीत मत बन। मैं तेरा रक्षण करूंगा। अब मैं आ गया हूं, तो तुम्हें यमराज से भी भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। लीलामात्र में इस मदोन्मत्त हाथी का मद मैं उतारता हूं।''

इस प्रकार कुमार ने पहले वचनामृत के द्वारा उसे जीवित व स्वस्थ बनाया। फिर हाथी को नियंत्रित करने में विचक्षण कुमार ने उस हाथी को कुछ समय के लिए क्रीड़ा करवायी। फिर उसे त्रस्त और परास्त करते हुए अपना **सिंह** नाम सार्थक किया। उसका उस प्रकार का पराक्रम देखकर कन्या विस्मित हुई। आनन्दित होते हुए अपने प्राणरक्षक उस कुमार को मन ही मन में स्वामी के रूप में अंगीकार कर लिया। फिर मूर्तिमान जयलक्ष्मी के समान उस कन्या को साथ लेकर बन्दीजनों के द्वारा गुणग्राम किये जाते हुए वह कुमार राजा के पास पहुँचा और नमस्कार किया। सारा वृत्तान्त जानकर प्रसन्न होते हुए राजा ने उसकी अत्यन्त प्रशंसा की। कन्या के अद्‌भुत रूप को देखकर राजा हृदय में अत्यन्त विस्मित भी हुआ। इसी अवसर पर पुत्री का वृत्तान्त सुनकर उसका पिता **धनमित्र** श्रेष्ठी मन में आनन्दित हुआ और राजा के पास आकर प्रणाम किया। पुत्री को कुमार पर अनुरक्त देखकर श्रेष्ठी ने उस कन्या को कुमार को सौंप दिया। राजा ने शुभ दिन देखकर उस कन्या का कुमार के साथ पाणिग्रहण करवा दिया। उसके बाद देवांगनाओं को भी तृण के समान तुच्छ बनानेवाली उस **धनवती** प्रिया के साथ रति–कामदेव के समान वह कुमार शोभित होने लगा।

उस अद्‌भुत घटना के कारण उसकी कीर्ति मेघ द्वारा नदी की तरह चारों तरफ फैल गयी। शक्कर जैसे दूध को विशिष्ट बनाती है, वैसे ही उसका लावण्य प्रसरती हुई कीर्ति के द्वारा अत्यधिक विशिष्टता को प्राप्त हुआ। उस कुमार को देखने के लिए गवाक्षों में से निकले हुए स्त्रियों के मुख–समूह से आकाश इस प्रकार शोभित होता था, मानो वह लाखों चन्द्रों से युक्त हो। जब कुमार नगर में परिभ्रमण करता, तो स्त्रियाँ अपने कार्यों को अधूरा छोड़कर उसे देखने के लिए उत्सुक बनती हुई दौड़–दौड़कर आ जाया करती थीं। कुमार के दर्शन रूपी उत्सव से हर्ष को प्राप्त स्त्रियाँ गीत–संगीत आदि उत्सवों को तृण के समान मानती थीं। विकसित नेत्रों से युक्त होकर स्त्रियाँ विशाल दृष्टि से उस कुमार को देखती थीं, उसकी स्तुति करती थीं और उसके गुणों को गाती थीं। इतना सब कुछ होने के बाद भी मुनीश्वर के समान कुमार उन स्त्रियों में जरा भी अनुरक्त नहीं होता था। पर उसे देखने की इच्छा से दौड़ती हुई स्त्रियों के घर के अधूरे काम बाधित होते थे, जिससे उनके घर के पुरुष अत्यन्त खेदित होते थे। उन सभी ने जाकर एकान्त में राजा से विज्ञप्ति की, क्योंकि **प्रजा न्यायमार्ग के पथिक**

के समान राजा को पितृतुल्य मानती है।

उसके बाद जब कुमार राजा को नमन करने के लिए आया, तब राजा ने उससे कहा–"हे वत्स! बाहर घूमने से तेरा शरीर क्लेश को प्राप्त होता है और इच्छानुसार अटन करने से सीखी हुई कलाएँ भी विस्मृत हो जाती हैं। अतः तुम घर पर ही रहकर कलाओं का अभ्यास किया करो।"

यह सुनकर पिता की आज्ञा से उसने दो–तीन दिन स्वर्ण के पिंजरे में हंस की तरह अपने ही घर के भीतर रहकर क्रीड़ा की और फिर बाहर निकला। तब दरवाजे पर खड़े प्रतिहार ने उसका निषेध करते हुए कहा–"हे स्वामी! राजा ने आपको घर पर ही रहने की आज्ञा दी है।"

यह सुनकर कुमार चित्त में चमत्कृत हुआ। उसने आग्रहपूर्वक स्पष्ट सविस्तार हकीकत पूछी। तब द्वारपाल ने सारी बात सत्य रूप में व स्पष्ट रूप में बतायी। यह सुनकर कुमार के नेत्र लज्जा से मन्द हो गये। उस प्रतिहार को वाणी के द्वारा योग्यता प्रमाण संतुष्ट करते हुए वह घर के भीतर लौट आया।

फिर वह बुद्धिमान विचार करने लगा–"अहो! कर्म के उदय की विचित्रता आश्चर्यकारक है कि जिससे दूषित धातु की तरह मेरे गुण भी दोष की प्राप्ति के लिए है। अनर्थ के स्थान रूप मेरे इस सुन्दर रूप को धिक्कार है! कि जिससे इस बंधन रूपी आपत्ति को मैं प्राप्त हुआ हूं। अहो! पिता की चतुराई बेहद है। उनकी गम्भीरता अद्‌भुत है, क्योंकि उन्होंने मुझे बहुमानपूर्वक स्वेच्छा से भ्रमण करते हुए रोका है। अन्य पुत्र पिता को प्रसन्नता प्रदान करते हैं, पर मैंने तो पुरजनों का उपालम्भ दिलवाकर उनको चित्त को संतप्त किया है। आज से मेरा नगर के अन्दर भ्रमण करना योग्य नहीं है, **क्योंकि पिता की आज्ञा का लोप करने से पाप लगता है।** पर बांधे हुए पशु की तरह मैं कितने दिन घर में निर्गमन करूंगा? अतः कलंकयुक्त पुरुष की तरह मेरा परदेशगमन ही कल्याणकारी है। **मनुष्य की आत्मा जब तक स्वर्ण की तरह परदेश रूपी कसौटी पर नही कसी जाती, तब तक उसकी कुछ भी कीमत नहीं है।** कहा है कि पृथ्वी पर पर्यटन करने से उत्कृष्ट संपत्ति प्राप्त होती है, विद्वानों से परिचय बढ़ता है, विविध प्रकार की विद्या प्राप्त होती है, यश का विस्तार होता है,मन का धैर्य बढ़ता है, अलग–अलग भाषा का ज्ञान होता है और अपनी कलाओं पर प्रतीति बढ़ती है। पृथ्वी का निरीक्षण करनेवाले को क्या–क्या लाभ नहीं होता?"

इस प्रकार का मन में निश्चय करके वह बुद्धिमान कुमार ज्यों ही परदेशगमन के लिए रवाना होने लगा, तभी उसे अपनी प्रिया की याद आयी। उसने विचार किया–"नवविवाहिता

और मुझ पर अत्यन्त प्रेम धारण करनेवाली मेरी प्रिया अकस्मात् मेरे विरह रूपी अग्नि के ताप को प्राप्त करके कदाचित् मर न जाय, जिससे मुझे स्त्री–हत्या का पाप लग सकता है। अतः मुझे मनोहर वाणी के द्वारा अपनी प्रिया को समझा–बुझाकर जाना चाहिए।''

ऐसा विचार करके वह कुमार तुरन्त शयनगृह में गया। उसे देखकर उसकी प्रिया अत्यन्त प्रसन्न हुई और उठ खड़ी हुई। उसने कुमार को आसन प्रदान किया। उस पर बैठते हुए कुमार ने कहा–''हे देवी! मैं कौतुक देखने की इच्छा से देशान्तर जाना चाहता हूं। तुझ पर मेरी प्रीति की अधिकता के कारण मैं बहुत जल्दी ही वापस लौट आऊँगा। तब तक तुम यहीं मेरे माता–पिता की सेवा में सावधान होकर रहना।''

यह सुनकर उसके नेत्र अश्रुओं से भर गये। अत्यन्त खेदयुक्त वाणी में उसने कहा–''हे स्वामी! आपके बिना यहां एक क्षण भी रहना मेरे लिए शक्य नहीं है। आपका भी मुझे यों छोड़कर अन्यत्र जाना युक्त नहीं है। क्या चन्द्र चन्द्रिका को छोड़कर कभी भी अन्य द्वीप में जाता है?''

तब कुमार ने फिर से प्रिया से कहा–''हे देवी! तुम्हारा शरीर कोमल होने से तुम मार्ग में पड़नेवाले शीत, ताप आदि कष्टों को किस प्रकार सहन कर पाओगी? वाहन के बिना तुम मार्ग में पैदल किस प्रकार चल पाओगी? अतः तुम यहीं रहो। साथ आकर मेरा पगबंधन मत बनो।''

यह सुनकर वह भी बोली–''यहां महल में रहकर मुझे आपके विरह से जितना कष्ट होगा, उतना कष्ट मार्ग में आपके साथ चलने से मुझे नहीं होगा। अतः आपके बिना मैं यहां नहीं रहनेवाली हूं। शरीर की छाया की तरह मैं आपके साथ ही रहूंगी और आपका पगबंधन कभी नहीं बनूंगी।''

इस प्रकार का उसका निश्चय जानकर कुमार प्रिया को साथ लेकर रात्रि के अन्धकार का फायदा उठाकर गुप्त रूप से जल्दी से नगर के बाहर निकल गया। अनुक्रम से चलते हुए वे लोग समुद्र के किनारे पहुँच गये। वहां किसी व्यापारी का वाहन चलने की तैयारी में था। उसका भाड़ा तय करके वह अपनी प्रिया के साथ उसी वाहन में बैठ गया। फिर मूर्तिमान वायु की तरह वह वाहन वेगपूर्वक त्वरा से चलने लगा। मार्ग में कुमार अपनी प्रिया को समुद्र के विविध आश्चर्य दिखाने लगा। आगे जाते हुए कल्पान्त काल की वायु के समान दुष्ट वायु के झंझावात में पड़ने से वह वाहन टूट गया। उसी के साथ वाहन में बैठे हुए लोगों का पूर्वजन्म का शुभकर्म भी भंग हो गया। उस समय कितने ही लोगों ने हाथ में आये हुए लकड़ी के पाटियों को मित्र की तरह दोनों हाथों से आलिंगन करके समुद्र के किनारे पहुँच गये। वाहन के कितने ही लोग समुद्र के भीतर ही इस प्रकार समा गये, मानो लोभ की आकुलता के कारण

शीघ्र ही समुद्र में रहनेवाले रत्नों की इच्छा में अन्दर गोते लगा रहे हों। **धनवती** भी अपने पति के समान पाटिये का आलिंगन करके अनुकूल तरंगों के साथ समुद्र के किनारे पहुँच गयी। वहां जलकण की बरसात को बरसाती पवन की कोमल लहरों ने सखी की तरह खारे जल से दग्ध हुई **धनवती** को आश्वस्त किया।

"मेरी तरह मेरे स्वामी भी जरूर यहां किसी स्थान पर पहुँचे होंगे"–ऐसा सोचकर उनको प्राप्त करने की इच्छा से वह चारों तरफ अपने पति को ढूंढ़ने लगी। पर उस चपल नेत्रयुक्त प्रिया ने किसी भी स्थान पर खोये हुए चिन्तामणि रत्न की तरह अपने पति को नहीं देखा। विरह से विह्वल होकर आँखों से आँसू बहाते हुए वह विलाप करने लगी–"हहा! मैंने पूर्वजन्म में सौत से ईर्ष्या आदि करने का पाप किया होगा, जिस कारण से पति के वियोग का यह दुःख मुझे प्राप्त हुआ है। अहो! इस दुस्तर अरण्य में मैं कैसे अकेली हो गयी? यहां तो माता, पिता, भ्राता या पति रूप कोई भी शरण मुझे प्राप्त नहीं है। इस प्रकार दुःख से दग्ध मेरे लिए तो अब जीना ही व्यर्थ है। पति से वियुक्त स्त्रियों के लिए एकमात्र मरण ही शरण है।"

इस प्रकार विचार करके वह मरने के लिए तैयार हो गयी। पंच परमेष्टि का ध्यान करके वह जैसे ही एक वृक्ष पर अपने शरीर को बांधकर लटकाने लगी, वैसे ही मानो उसके शुभकर्म से प्रेरित काष्ठादि को लेने की इच्छा से उसके बंधु के समान कोई श्रावक आया। उस दयालू ने उसे इस प्रकार देखकर कहा–"हे भद्रे! तुम यह क्या कर रही हो? तुम्हें क्या दुःख है? तुम कौन हो? कहो।"

इस प्रकार सहोदर के समान कहे हुए उसके वचनों से प्रसन्न होते हुए उसने अपना पतिवियोग आदि सारा वृत्तान्त उस श्रावक को बताया।

तब उस श्रावक ने कहा–"धर्ममार्ग का स्पर्श करनेवाले पुरुषों के जिए जैसे अन्य प्राणियों का विनाश करना योग्य नहीं है, उसी प्रकार अपना विनाश करना भी योग्य नहीं है। स्वयं का विनाश करने से दुःख का क्षय नहीं होता। पर दुष्कर्म का नाश होने से ही दुःख का क्षय होता है, क्योंकि दुःख का मूल दुष्कर्म ही है। अनेक भवों में उपार्जित किये हुए दुष्कर्म सूर्य के द्वारा अन्धकार की तरह धर्म के द्वारा ही नाश को प्राप्त होते हैं। अतः सुख के एकमात्र कारण रूपी धर्म का तूं आचरण कर। उस धर्मकार्य में मैं एक भाई की तरह तुम्हारा सहयोगी बनूंगा।"

यह सुनकर **धनवती** ने कहा–"हे भाई! आपने बिल्कुल सत्य ही कहा है। पर ऐसी दुर्दशा को प्राप्त मुझ जैसी के द्वारा धर्म का सम्यग् आराधन दुष्कर है।"

तब उस श्रावक ने कहा–"तो भी तुम्हारे द्वारा दुस्साहसपूर्वक मृत्यु का वरण योग्य नहीं है, क्योंकि किसे पता है कि कहीं तुम्हारा पति जीवित ही हो। अतः मेरे वचन सुनो और उसी

के अनुसार आचरण करो।

यहां संपत्ति के द्वारा देवनगरी के समान **कुसुमपुर** नामक नगर है। उसके बाहर उद्यान में स्वर्ग के विमान की लक्ष्मी को गर्वरहित करनेवाला सुन्दर श्रीआदिनाथ भगवान का चैत्य है। उसी के समीप श्रीआदिनाथ प्रभु के चरण–कमल में भ्रमरपने को प्राप्त चक्रेश्वरी देवी का मन्दिर है। वह कष्ट से पीड़ित प्राणियों की विविध कामनाओं को पूर्ण करनेवाला होने से **प्रियमेलक तीर्थ** के नाम से पृथ्वी पर प्रसिद्ध हुआ है। तूं वहां आकर श्री युगादीश की सेवा में तत्पर बन और चक्रेश्वरी देवी के पास दुष्कर तप का आचरण कर। अगर कहीं तुम्हारा पति जीवित होगा, तो देवी तेरी तपस्या से प्रसन्न होकर तुम्हारा उससे मिलाप करवा देगी अथवा उसका वृत्तान्त तुम्हें बता देगी। इस प्रकार राह देखते हुए अगर तेरा पति तुझे मिल जाय, तो चिरकाल तक तूं उसके साथ धर्म का पालन करना। अगर कदाचित् अकुशल हो जाय, तो मरना तो तुम्हारे हाथ में ही है। तब तक का किया हुआ तप तुम्हारे परलोक का भाता बनेगा।''

उसके इस प्रकार के युक्तियुक्त वचन सुनकर **धनवती** ने उसे अंगीकार कर लिया। कौन पण्डित अपना हित करनेवाले वचन को अंगीकार नहीं करेगा? वह श्रावक अपने साथ भोजन लेकर आया था। उसने **धनवती** को भोजन करवाया। फिर प्रसन्नतापूर्वक उसे प्रियमेलक तीर्थ में पहुँचा दिया। वहां **धनवती** ने बावड़ी में स्नान किया। श्रीऋषभदेव भगवान की विधिपूर्वक पूजा की और चक्रेश्वरी देवी को नमन करके कहा–''हे देवी! जब तूं मुझे मेरे पति से मिलवायेगी या उसके समाचार बतायेगी, तभी मैं भोजन करूंगी, अन्यथा नहीं करूंगी। यह मेरा निश्चय है।''

इस प्रकार प्रतिज्ञा ग्रहण करके वह एकाग्र चित्त से वहां रहने लगी। फिर तीसरी रात्रि में अदृश्य रीति से आकाशवाणी हुई–''हे सुन्दरांगी! यहीं पर युगादीश की सेवा करते हुए तुझे तेरा पति मिलेगा। तूं अपने मन में जरा भी खेद मत करना। अब तूं भोजन ग्रहण कर।''

इस प्रकार कर्ण में अमृत समान वाणी का श्रवण करके उसका मन अत्यन्त हर्षित हुआ। पति का मिलाप होने तक उसने मौनव्रत का ग्रहण किया। दुष्कर तप भी करने लगी। [1]शीलोंछ वृत्ति के द्वारा आजीविका करने लगी। इस प्रकार जिनेश्वर देव की सेवा में तत्पर होकर वह अपना समय निर्गमन करने लगी।

उधर **सिंहलसिंह** कुमार भी लकड़ी का पाटिया पकड़कर समुद्र को तैरकर उसके किनारे रहे हुए वन में विश्रान्ति लेने के लिए बैठा और विचार करने लगा–''घर में मनुष्यों का

---

1. खेतादि स्थानों पर बिखरे हुए अनाज के दानों को बीनकर उससे आजीविका का निर्वाह करना अथवा अपरिचित गृहस्थों के घर से फेंकने योग्य तुच्छ अन्न मांगकर आजीविका करना शीलोंछवृत्ति कहलाता है।

उपालम्भ, परदेश में ऐसी विपत्ति और उसमें भी प्रिया का वियोग मुझे प्राप्त हुआ। अतः मेरे कर्मों की अभी विपरीत दशा चल रही है। ऐसी स्थिति में शोक करने से क्या लाभ? क्योंकि पूर्व कर्मों के उदय से ही जीव को संपत्ति या विपत्ति प्राप्त होती है। अतः निश्चय ही पूर्वजन्म में मैंने अखण्ड पुण्य नहीं किया है, जिससे राजपुत्र होते हुए भी मैं इस दशा को प्राप्त हुआ हूं। अथवा तो तत्त्वज्ञानी पुरुषों के लिए तो विपत्ति भी संपत्ति रूप ही है, क्योंकि विपत्ति भोगने से पूर्व के दुष्कर्मों का क्षय होता है।''

इस प्रकार विचार करके उसने अपने मन को धीरज बंधाया। फिर फलादि खाकर अपनी क्षुधा शान्त की। उसके बाद भूमण्डल पर अटन करते हुए वह अनुक्रम से **रत्नपुर** नामक नगर में आया। वहां **रत्नप्रभ** नामक राजा राज्य करता था। उसकी स्त्रियों के मध्य रत्न के समान **रत्नसुन्दरी** नामक प्रिया थी। उसके लावण्य रूपी अमृतधारा के समान **रत्नवती** नामक कन्या थी। उसे देखकर युवा पुरुष देवांगनाओं को भी तृणवत् मानते थे।

एक बार वह कन्या अपनी सखियों के साथ हर्षपूर्वक **प्रमद** नामक उद्यान में क्रीड़ा कर रही थी। उस समय किसी सर्प ने उसे निर्दयतापूर्वक डस लिया। चारों तरफ प्रसरती हुई उसकी विषतरंगों के द्वारा उसका सारा शरीर विष से व्याप्त हो गया। छेदी हुई जड़वाली लता की तरह वह भूमि पर गिरकर आलोटने लगी। राजाज्ञा से तुरन्त विष का उपचार करनेवाले वैद्य अनेक उपायों के द्वारा उसकी चिकित्सा करने लगे। पर जड़ पुरुष को दिये गये उपदेश की तरह सब निरर्थक सिद्ध हुआ। सैकड़ों उपाय भी कारगर नहीं हुए। तब दुःख से पीड़ित राजा ने मंत्रियों की सलाह से नगर के चौराहों पर पटह बजवाया–''जो पुरुष मेरे प्राणों से भी प्रिय पुत्री को स्वस्थ बनायेगा, वह रति के साथ कामदेव की तरह मेरी पुत्री के साथ विवाह उत्सव रचायेगा।''

इस प्रकार की उद्घोषणा सुनकर कन्या की प्राप्ति का लाभ देखकर भी कोई भी पुरुष उसी तरह पटह का स्पर्श नहीं कर पाया, जिस प्रकार पृथ्वी पर रहा हुआ पुरुष चन्द्र का स्पर्श नहीं कर पाता। पर कुमार ने निःस्पृह होने के बावजूद भी दयावश उस पटह का स्पर्श किया, क्योंकि महपुरुषों की कलाएँ परोपकार के लिए ही होती हैं। उस समय राजपुरुष प्रीतियुक्त होकर मानो कन्या का मूर्त्तिमान चैतन्य हो–इस प्रकार से उसे तुरन्त राजा के पास ले गये। राजा उसे देखते ही प्रसन्न हो गया। मेरी पुत्री अब तो जीवित ही है–इस प्रकार मानने लगा।

फिर प्रीतिपूर्वक बातचीत करके बन्धु की तरह उसे आनन्दित करके हर्षपूर्वक कहा–''हे वत्स! तुम्हारी आकृति से ही तुम्हारी कला–कुशलता प्रतीत होती है, क्योंकि आकृति ही समस्त गुणलक्ष्मी की स्वामी है। अतः हे महाशय! इस कन्या को रोगरहित करके सम्पूर्ण नगरजनों में प्रीति उत्पन्न करो। अब विलम्ब करने का अवसर नहीं है।''

यह सुनकर दया रूपी पुण्य की बुद्धि से युक्त उस कुमार ने अपने पास रही हुई विष का हरण करनेवाली मणि के जल को कन्या के ऊपर छिड़का। तुरन्त ही उसके विष का समस्त आवेग शान्त हो गया। वह स्वस्थता को प्राप्त हुई और मानो नींद से उठी हो–इस प्रकार उठकर खड़ी हो गयी। जैसे चन्द्र को देखकर कुमुदिनी खिल उठती है, उसी प्रकार उस कुमार को देखकर वह कन्या उस पर प्रीतियुक्त बनी। उसके रूप को देखकर कन्या के नेत्र विकसित हो गये।

पुत्री को जीवित देखकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने हर्षामृत को बरसानेवाली वाणी के द्वारा उस कुमार से कहा–"जगत् में करुणा रूपी पुण्य करनेवाले पुरुषों के मध्य मैं तुमको अग्रसर मानता हूं, क्योंकि तुम्हारी समस्त कलाएँ परोपकार करने में कुशल है। जो पुरुष शक्तिमान होने पर भी अन्य की पीड़ा का हरण नहीं करता, उसे कुबुद्धियुक्त जानना चाहिए। वह पृथ्वी पर मात्र भारभूत ही है। ऐसे पुत्र को कभी किसी माता को जन्म ही नहीं देना चाहिए।

हे वत्स! तुम्हारे इस अद्‌भुत आचरण के द्वारा ही तुम्हारे कुल की उच्चता का निश्चय होता है, क्योंकि रत्न की उत्पत्ति रत्नाकर के बिना अन्य स्थल पर नहीं होती। फिर भी हे मित्र! तेरे वृत्तान्त रूपी मधुर दुग्ध को झरनेवाली वाणी के द्वारा हमारे कर्ण रूपी बछड़ों को तूं पारणा करा।"

तब कुमार ने संक्षेप में अपने पिता आदि का नाम बताया, क्योंकि सत्पुरुष जिस प्रकार पर की निन्दा करने में मन्द होते हैं, उसी प्रकार स्व की स्तुति करने में भी मन्द होते हैं।

फिर उसे **सिंहलेश्वर** राजा का पुत्र जानकर राजा और भी अधिक हर्षित हुआ। फिर राजा ने कुमार से कन्या के परिणय सम्बन्ध के लिए विज्ञप्ति की। कुलवान और कलावान जामाता किसे इष्ट न होगा? यह सुनकर प्रिया के वियोग से पीड़ित कुमार ने उस कन्या के साथ पाणिग्रहण करना स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उत्तम पुरुष अंगीकार की हुई प्रीति को विपत्ति में छोड़ते नहीं। राजा ने फिर से आग्रहपूर्वक कहा–"तुम जैसा सर्व गुणों से पूर्ण पुरुष पुत्री के पति के रूप में अगण्य पुण्यों से ही प्राप्त होता है। ऐसा होने पर भी अगर कदाचित् मैं इस कन्या को तुम्हारे साथ न परणाऊँ, तो मुझे प्रतिज्ञाभंग का पाप लगेगा। अतः अधिक क्या कहूं? यह कन्या भी तुम पर अनुरक्त हो गयी है। तुम्हारे उपकार के द्वारा यह खरीद ली गयी है। अतः अब अन्य किसी को यह पति के रूप में स्वीकार नहीं कर पायेगी। अतः अमृतपान के तुल्य इसके पाणिग्रहण के द्वारा चिन्ता रूपी अग्नि से जलते हुए हमारे चित्त को शीतल करो।"

इस प्रकार अत्यन्त आग्रह करके राजा ने अतुल महोत्सव के द्वारा पवित्र लावण्ययुक्त उस कन्या को उसके साथ परणाया। हस्तमिलाप के समय प्रसन्नचित्त राजा ने अनेक हाथी, घोड़े, स्वर्णादि प्रदान किये। फिर राजा ने चूने उज्ज्वल महलादि बनवाकर उसमें प्रीतिपूर्वक अपनी पुत्री व जामाता का उतारा करवाया। इस तरह राजा ने अनेक प्रकार सें उस कुमार का सम्मान किया। **रत्नवती** भी भक्तिपूर्वक उसकी सेवा करने लगी। पर फिर भी **धनवती** के बिना कुमार को किसी भी स्थान पर प्रीति नहीं हुई। ऐसा होने पर भी उसकी आन्तरिक पीड़ा को कोई पण्डित नहीं जान पाया, क्योंकि सत्पुरुषों का हृदय समुद्र की तरह अथाह होता है। **धनवती** के वियोग के कारण वह धरती पर शय्या करके सोता था। मुनि की तरह निर्मल शील का पालन करता था। **रत्नवती** को किसी प्रकार का उद्वेग न हो–इसलिए वह निरन्तर प्रीति रूपी अमृतमय रसिक बातों से उस प्रिया को भी खुश रखता था।

एक बार परस्पर अमृतधारा के समान प्रेमगोष्ठी हो रही थी। उस समय **रत्नवती** ने प्रीतिपूर्वक अपने पति से कहा–"हे देव! सुवर्णमय अनेक पल्यंकों के होते हुए भी मुनि के समान आप पृथ्वी पर शयन क्यों करते हैं?"

यह सुनकर कुमार ने विचार किया कि निश्चय ही इस प्रिया को सौत का नाम सुनते ही ईर्ष्या होगी, क्योंकि स्त्रियों को सपत्नी का नाम विष से भी अधिक कड़वा प्रतीत होता है। अतः अपनी लघुता और अन्यों को अप्रीति हो–ऐसे वचन बोलना उचित नहीं है।

ऐसा विचार करके उसने उस समय उचित वचन बोलते हुए कहा–"हे देवी! मैं देशान्तर देखने के लिए घर से निकला हूं। उस समय माता–पिता से जल्दी मिलने की इच्छा से मैंने दो अभिग्रह धारे थे। जब तक मैं माता–पिता से पुनः नहीं मिलूंगा, तब तक भूमि पर शयन करूंगा और शीलव्रत का पालन करूंगा।"

यह सुनकर **रत्नवती** विस्मय को प्राप्त हुई। बोलने में चतुर उसने कहा–"आपकी माता–पिता के प्रति ऐसी भक्ति किसके द्वारा प्रशंसनीय न होगी? किसी–किसी महापुरुष के मानस में माता–पिता के प्रति राजहंसिनी के समान निर्मल–उज्ज्वल भक्ति विलास करनेवाली होती है। जो माता–पिता की सेवा के द्वारा पवित्र न हो, उसे कुपुत्र मानना चाहिए। जो सास–श्वसुर की सेवा न कर पाये, उसे कुबहू मानना चाहिए। अतः मेरा मन भी आपके माता–पिता की सेवा करने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित होता है। अतः हे स्वामी! अपने नगर की तरफ चलने के लिए शीघ्र ही तैयारी कीजिए, जिससे आपका अभिग्रह शीघ्र ही सफल हो।"

उसके वचन सुनकर कुमार विस्मय को प्राप्त हुआ। उसने कहा–"हाँ! अब हम जल्दी ही प्रयाण करेंगे।"

ऐसा कहकर उसके वचनों का अनुमोदन किया। फिर उसने मन में विचार किया कि इतने दिन बीत गये पर **धनवती** के कुछ भी समाचार मुझे प्राप्त नहीं हुए। क्या मेरे विरह की पीड़ा से पीड़ित वह समुद्र में ही डूब गयी? या पाटिया मिल जाने से किसी अन्य द्वीप में पहुँच गयी? इस प्रकार विचार करके उसने किसी निमित्तज्ञ से एकान्त में पूछा। ज्योतिष शास्त्र रूपी नेत्रों के द्वारा देखकर उसने बताया–"आपकी प्रिया किसी अन्य द्वीप में जीवित है। प्रयत्न करने पर वह आपको अवश्य ही मिलेगी।"

उसके अमृतमय वचनों को सुनकर कुमार अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसे स्वर्णालंकार देकर प्रसन्न किया। फिर उसने विचार किया कि मैं अभी परदेश में हूं। अभी तो इस प्रिया के बंधन में हूं। अतः **धनवती** को प्राप्त करने का क्या उपाय करूं? उधर मेरे माता–पिता भी मेरे वियोग से आतुर होकर मेरी खबर नहीं मिलने से अत्यन्त दुःखित होंगे। अतः अभी तो घर जाकर माता–पिता को नमन करके उनके पास इस प्रिया को छोड़कर **धनवती** को खोजने का उपक्रम करूं।

ऐसा विचार करके तत्काल राजा के पास गया। उन्हें प्रणाम करके विज्ञप्ति की–"हे देव! माता–पिता से मिलने के लिए मेरा मन अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है। वे मेरे वियोग से अत्यन्त दुःखी हो रहे होंगे। अतः मुझे शीघ्र ही घर लौटने की आज्ञा प्रदान कीजिए।"

कुमार के ऐसे निश्चय को जानकर राजा ने कहा–"अगर आपने जाने का निश्चय कर ही लिया है, तो हम आपको रोकने में समर्थ नहीं हैं। पर आपके वियोग से भयभीत होते हुए आपको जाने की आज्ञा देने में भी समर्थ नहीं है। बस! इतना ही कह सकते हैं कि बहुत जल्दी हमारा पुनः समागम हो।"

ऐसा कहकर राजा ने कुमार को जाने के लिए एक बहुत बड़ा वाहन समर्पित किया। हृदय को आनन्दित करनेवाले द्रव्यों से उस वाहन को परिपूर्ण भी कर दिया। फिर दृष्टि और मन को मनोहर लगनेवाले वस्त्रों और दूषण रहित भूषणों के द्वारा राजा जँवाई और पुत्री का सत्कार किया। जाने की तैयारी करके पुत्री पिता को नमन करने गयी, तब राजा ने उसे मधुर वाणी में शिक्षा प्रदान करते हुए कहा–"हे पुत्री! निरन्तर सास–ससुर की सेवा करना। पति पर अकृत्रिम प्रेमभाव रखना। सौतों से कभी ईर्ष्या मत करना। ननंद का विनय रखना। सगे–सम्बन्धियों पर स्नेहभाव रखना। परिवार के प्रति वात्सल्य भाव रखना। अशुभ कार्यों से दूर रहना। पुण्यकार्य में प्रवृत्ति करना। प्रिय वचन बोलना। लज्जाशील बनना। यथोचित दान देना। ये सभी गुण स्त्रियों को श्वसुर गृह में स्थिर प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। उत्कृष्ट शील ही स्त्रियों का मण्डन है। अतः निरन्तर उसी शील का पालन करना। यह शील ही इसलोक और

परलोक में परम लक्ष्मी का कारणभूत है। पतिव्रता धर्म का इस प्रकार से आराधन करना, जिससे अपने वंश रूपी महल के शिखर पर ध्वजा रूप बन सके।''

इसके बाद प्रशस्त मुहूर्त्त में कुमार ने प्रिया के साथ मांगलिक कृत्य करके राजा को प्रणाम किया और अपने नगर की तरफ प्रयाण किया। उस समय राजा ने कुमार की सहायता के लिए **रुद्र** नामक मंत्री को कुमार के साथ भेजा और कहा कि मेरी तरह ही मानकर इनकी सेवा करना। राजा स्वयं भी समुद्र के किनारे तक उन्हें विदा करने के लिए गया। फिर अश्रुभरे नयनों से अत्यन्त कष्ट के साथ राजा वहां से लौटा।

अब **सिंहलसिंह कुमार** प्रिया व मंत्री के साथ वाहन में बैठकर **सिंहलद्वीप** जाने की इच्छा से शीघ्रतापूर्वक चला। सरल हृदययुक्त कुमार ने सारा कार्यभार **रुद्र** मंत्री को सौंप दिया। स्वयं प्रिया के साथ अद्‌भुत कौतुक देखना आदि क्रीड़ाओं में लग गया। यह कुमार प्रिया के साथ वाहन के मध्य भाग में ऊँचे सिंहासन पर बैठा हुआ था। वहां वह पालक विमान में बैठे हुए इन्द्राणी के साथ इन्द्र की तरह शोभित हो रहा था।

एक बार पवित्र लावण्यवाली **रत्नवती** को देखकर दुष्ट आशययुक्त और अल्प बुद्धियुक्त **रुद्र** मंत्री एकान्त में विचार करने लगा–''इस **रत्नवती** का मुख पूर्ण चन्द्रमा की तरह है। दोनों होंठ श्रेष्ठ परवाले के समान हैं। दाँत निर्मल मोतियों के समान हैं। हाथों व पैरों के नख मणियों के समान हैं। स्तन वैडूर्य रत्न से ढ़के हुए स्वर्णकलश के समान हैं। इसीलिए लोग इसे **रत्नवती** के नाम से पुकारते हैं। यह योग्य भी है। यह कमल के समान नेत्रोंवाली जिस पर भी हर्षपूर्वक कटाक्ष डालती है, उसका जन्म और जीवन सफल है। तो फिर इसको जिसने स्वीकार किया है, उसके लिए तो कहना ही क्या? इस कुमार की उपस्थिति में तो यह मुझे स्वीकार ही नहीं करेगी। अतः इस कुमार को समुद्र में गिराकर इस **रत्नवती** को अपनी प्रिया बनाऊँ। अनेक लाख प्रमाणवाला इस वाहन में रहा हुआ सर्व द्रव्य बिना यत्न के मेरे आधीन हो जायगा। यह सारा परिवार तो पहले से ही मेरे आधीन है। फिर भी विशेष प्रकार से दान–सम्मान आदि देकर इन्हें अपना गुलाम बना लूंगा।''

इस प्रकार निश्चय करके जिस प्रकार राहू चन्द्र के छिद्र को देखता है, उसी प्रकार वह दुष्टात्मा कुमार का अपकार करने की इच्छा से उसके छिद्र देखने लगा। राजा के राज्य को ग्रहण करने की इच्छावाले पुरुष की तरह उसने सर्व परिवार को दुगुना वेतन देकर अपने वश में कर लिया।

'यह पापी मेरे देखते हुए कुकर्म न करे'–ऐसा विचार करके सूर्य ने अपने आपको अस्ताचल पर्वत से ढ़क लिया। सर्व दिशाओं ने मानो कुमार की आपत्ति को आता देखकर दुःख

प्राप्त करते हुए अन्धकार के द्वारा मलिनता को धारण कर लिया। कुमार को विपत्ति में देखकर दयालू हुए तारागण ने कुमार का रक्षण करने के लिए अकाश में जाल बिछा लिया। ऐसी अन्धेरी रात्रि में स्थिर अंतःकरणयुक्त कुमार शरीर–चिन्ता निवारणार्थ शय्या से उठकर वाहन के प्रान्त भाग में ऊपर की ओर गया। उस समय मौका देखने में तत्पर मंत्री अवसर प्राप्त करके हर्षित हो गया। मानो अपनी आत्मा को नरक में गिरा रहा हो–इस प्रकार से कुमार को पीछे से धक्का देकर समुद्र में गिरा दिया। ऐसा दुष्ट कार्य करके मंत्री सुखपूर्वक अपनी शय्या में सो गया। दुष्ट मनवाले प्राणी अपने कुकर्म की सिद्धि में अत्यन्त सुख मानते हैं। केवल अकेला लोभ ही अग्नि की तरह मनुष्य के लिए अनर्थकारक होता है, तो फिर अत्यन्त प्रसरते कामदेव रूपी पवन से उद्धत हुआ नर क्या–क्या नहीं करता?

उधर वासगृह में रही हुई चतुर राजपुत्री ने कुछ समय तक पति के आने की राह देखी, पर अत्यधिक विलम्ब हो जाने के बावजूद भी कुमार नहीं आया। अतः शंकाशील होते हुए उसने अपनी सखी के द्वारा चारों तरफ खोज करवायी और स्वयं भी खोजने लगी। पर उसे कुमार कहीं भी दिखायी नहीं दिया। तब वह उच्च स्वर में विलाप करने लगी–"अरे सेवकों! दौड़ो–दौड़ो। मेरे पति शायद कहीं गिर गये हैं।"

यह सुनकर सभी लोग इकट्ठे हो गये। कपट की रचना करने में निपुण मंत्री भी उद्वेगसहित 'क्या हुआ?–क्या हुआ?' बोलते–बोलते वहां आया और सेवकों से कहने लगा–"कुमार कहां गिरे? कैसे गिरे? अरे! जल्दी–जल्दी खोज करो।"

इस प्रकार कपट–वचनों के द्वारा अपनी चतुराई दिखाने लगा। तब राजपुत्री विलाप करने लगी–"हहा! कामदेव के समान आकृतिवाले! हहा! उत्तम गुणों से युक्त हे प्राणनाथ! मुझ दासी को अकेली छोड़कर आप कहां चले गये? मेरे तो एकमात्र आप ही शरण हैं।"

इस प्रकार आक्रन्दन करते हुए शोक के द्वारा आकुल–व्याकुल हुई वह पतिव्रता समुद्र में झंपापात करने के लिए तैयार हो गयी। उस समय मंत्री ने उसका हाथ पकड़कर कोमल शब्दों के द्वारा कहा–"हे देवी! आप इतना विलाप न करें। मन को स्थिर बनायें। अपने सेवकों द्वारा खोज करवाकर मैं अभी कुमार को आपके सामने लेकर आऊँगा। इस समुद्र का उल्लंघन करके भी कुमार को ढूंढ़कर लाऊँगा। कदाचित् दैवयोग से उनका मरण हो गया होगा, तो मैं आपके माता–पिता के पास आपको पहुँचा दूंगा। वहां स्वजनों की सम्मति लेकर आप अपनी इच्छा प्रमाण कुछ भी करना। पर अभी प्राणों का त्याग करना उचित नहीं है, क्योंकि कोई भी कार्य सहसा बिना विचारे नहीं करना चाहिए। फिर सहसा मरण अपनाना कैसे उचित हो सकता है? मर जाने से आपको अपना पति मिलनेवाला नहीं है, क्योंकि प्राणियों की गति अपने–अपने कर्मों के कारण भिन्न–भिन्न होती है। जीवित रहने से तो कदाचित् आपका पति आपको वापस मिल जाय, क्योंकि

जीवित नर ही भद्र को प्राप्त करता है। क्या आपने यह नहीं सुना?''

इस प्रकार माया से संस्कारित शांतिवचनों के द्वारा मंत्री ने उसे आश्वासन दिया। तब उसने मरने के विचार का त्याग किया। पर वह विरह दुःख से शोकाकुल होकर समय बिताने लगी।

फिर मंत्री ने मायापूर्वक खलासियों के द्वारा समुद्र में खोज करवायी, पर कुमार का कहीं भी पता नहीं चला, क्योंकि मंत्री ने तो बहुत दूर कुमार को समुद्र में फेंका था। 'कुमार कदाचित् समुद्र के किनारे पहुँच गया होगा'–ऐसा राजपुत्री से कहकर उसने नाविकों द्वारा वाहन को तेज गति से चलवाया। मार्ग में **रत्नवती** के चित्त को प्रसन्न करने के लिए वह मायावी पूर्व के बचपन के परिचय के कारण प्रीतिपूर्वक आलाप आदि करने के द्वारा विविध उपाय करने लगा।

एक बार **रत्नवती** पति के वियोग में अत्यधिक विलाप करने लगी। उस समय उस अधम मंत्री ने एकान्त में लज्जा का त्याग करके उससे कहा–''हे देवी! क्यों व्यर्थ ही इतना शोक कर रही हो? जो गये, वो तो चले ही गये। गये हुए कभी वापस लौटकर नहीं आते। अतः हे देवी! मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे आज्ञा प्रदान करें। मैं आपकी आज्ञा के आधीन हूं। हमारे पास अत्यधिक धन है। आप नवयौवन से युक्त हैं। अतः मन को स्थिर करके मेरा कथन अंगीकार करें।''

इस प्रकार शील को लूटनेवाले, कर्णों को कटु लगनेवाले और कालकूट विष के समान जहरीले वचनों को सुनकर राजपुत्री अत्यन्त संतप्त हुई। उसने अपनी बुद्धि से विचारा कि अवश्य ही इस दुरात्मा ने ही दुष्ट आशय के द्वारा मेरे पति को समुद्र में कहीं फेंक दिया है। इस दुष्ट हेतु से ही कुटिल अंतःकरणवाले इसने पहले ही दान–सन्मानादि द्वारा समग्र परिवार को अपने वश में कर लिया है। अतः अभी मैं असहाय और अबला हूं। मेरे शील को अखण्डित रखने का एकमात्र उपाय मरण ही है। पर अभी–अभी मेरा मन अत्यधिक उल्लसित हुआ है। मेरे बांये अंग स्फुरित हो रहे हैं। ये सभी शुभ चिह्न ज्ञानी की तरह मुझे थोड़े समय में प्रिय की प्राप्ति का ज्ञान करवाते हैं। अतः कदाचित् मेरे पति जीवित रूप में मुझे कहीं मिल जाय, क्योंकि पूर्व के कर्मों का उदय विचित्र होता है। अतः अभी तो शील का रक्षण करने के लिए इस दुष्ट मंत्री को ठगने का प्रयास करूं, क्योंकि कांटे को कांटे से ही निकाला जाता है। किनारे पहुँचने के बाद कदाचित् पति का मिलाप हो जाय, तो वे ही एकमात्र मेरे लिए शरण हैं। अगर उनकी प्राप्ति नहीं हुई, तो मरण ही मेरा एकमात्र शरण है।

इस प्रकार विचार करके कार्य में कुशल उस राजपुत्री ने हंसकर कहा–''हे मंत्री! तुमने अपना अभिप्राय बताया, यह ठीक ही किया, क्योंकि पति की आशा का भंग होने से मुझे भी वही इष्ट है। लज्जा के कारण मैं वह सब नहीं बोल पायी। बाल्यावस्था से ही हमारे साथ–साथ रहने के कारण हमारे हृदय रूपी क्यारी में प्रीति रूपी लता उगी हुई है। वह अब

फलयुक्त बने। पर उस कुमार की मरण क्रिया किये बिना अभी उस प्रकार का व्यवहार करना उचित नहीं है, क्योंकि वैसा करने से न सुनने लायक लोकापवाद हमें सुनना पड़ेगा। अतः देशान्तर में जाकर उसकी मरण क्रिया करने के बाद हम अपनी इच्छानुसार प्रवर्त्तित होंगे। ऐसा करने से हमारी अपकीर्ति भी नहीं होगी।''

इस प्रकार कर्णों को सुख उपजानेवाले राजपुत्री के वचन सुनकर मंत्री अत्यधिक खुश हुआ। फिर खलासियों के द्वारा वाहन की गति को और तेज करवाया। थोड़ी दूर जाने के बाद ही दुष्ट वायु ने उस वाहन को आवर्त्त में डाल दिया। मानो दुष्ट मंत्री के पाप के भार से भारी हुआ हो–इस प्रकार से वह वाहन टूट गया। उस समय एक पाटिया हाथ में आ जाने से **रत्नवती** उसकी सहायता से किनारे पर पहुँच गयी। शील सर्व स्थानों पर प्राणियों की रक्षा करता है। उसने विचार किया–''उस शक्तिमान विधाता को मैं क्या–क्या भेंट दूं? कि जिसने कसाई के पास से बकरी की तरह उस दुष्ट मंत्री से मेरा रक्षण किया।''

इस प्रकार विचार करती हुई और वन के फलादि खाकर आजीविका का निर्वाह करती हुई **रत्नवती** शुभकर्म की प्रेरणा से **कुसुमपुर** में आ गयी। उसने भी लोगों के मुख से **प्रियमेलक तीर्थ** का प्रभाव सुना। वह भी **धनवती** की तरह वहीं तप में तत्पर होकर रहने लगी। वह दुष्ट मंत्री भी उसी प्रकार पाटिये के सहारे से समुद्र को तैरकर फिरते–फिरते दैवयोग से मानो अपने पापफल का भुगतान करने के लिए उसी **कुसुमपुर** में आ गया। वहां वचन की चतुराई से राजा का मन जीतकर मंत्रीपद प्राप्त कर लिया। मनुष्यों को परिचय होने से ही प्रीति होती है।

उधर जब पापी मंत्री ने **सिंहलसिंह** कुमार को समुद्र में धक्का दिया था, तब किसी ने उसे अदृश्य हाथों में तुरन्त ही ग्रहण कर लिया। उसे समुद्र से तिराकर किसी तापसाश्रम में छोड़ दिया। महाविपत्ति में पड़े हुए की रक्षा भी पुण्य ही करता है। वहां स्वस्थ होकर विश्रान्ति के लिए बैठे हुए कुमार ने मन में विचार किया–''अहो! उस दुष्ट मंत्री ने कैसा विश्वासघात किया। अवश्य ही उस पापी का मन या तो मेरी प्रिया पर या तो धन पर लोभ के द्वारा व्याकुल बना होगा। इसी कारण से उसने मुझे समुद्र में गिराया है। जो लोभान्ध होता है, वह क्या–क्या कुकर्म नहीं करता? क्योंकि लोभ ही सर्व दुष्कृत रूपी लता का मूल है। अगर विचार किया जाय, तो इसमें मंत्री का कोई दोष नहीं है। मेरे पूर्व के पापकर्मों का ही दोष है। पूर्वकृत कर्म ही संपदा और विपदा प्रदान करने में समर्थ है। अरे! मेरे कर्म कितने प्रतिकूल है? जिसने पहली स्त्री का वियोग देकर भी तृप्त नहीं हुआ। इसने दूसरी प्रिया का भी वियोग दे दिया। पर फिर भी मेरा पूर्व का कुछ परिपक्व पुण्य अब भी स्फुरायमान है, क्योंकि समुद्र में डूबते हुए मुझको किसी ने यहां पहुँचाया है। अतः यह निश्चित है कि पूर्वजन्म में मैंने खण्डित पुण्य किया

है। वैसे पुण्य का ही ऐसा फल दिखायी दे रहा है।''

इस प्रकार विचार रूपी शाण पर बुद्धि को तीक्ष्ण करके कुमार ने अत्यन्त धैर्य धारण करके शेष रात्रि पूर्ण की। उसके बाद 'इस कुमार का किसने रक्षण किया?'–यह पृथ्वी पर देखने की इच्छा से मानो सूर्य उदयाचल पर्वत पर आरूढ़ हुआ। अन्धकार को दूर करता हुआ सूर्य मानो कुमार को कह रहा हो, सत्पुरुष कदम–कदम पर विपत्ति से युक्त सुख–संपत्ति को ही प्राप्त करते हैं। ऐसा लगता था कि कुमार के विघ्न दूर हो जाने से बन्दीजनों की तरह पक्षी कोलाहल के बहाने से जय–जय शब्द का उच्चारण कर रहे हों। कुमार की आपत्तियों का नष्ट जानकर आनन्दित होती हुई सर्व दिशाएँ मानो प्रसन्न मुखवाली बन गयी हों। उसके बाद देवस्मरणादि प्रातःकाल का कृत्य करके विशाल नेत्रयुक्त कुमार ने तपस्वियों की पर्णशाला में प्रवेश किया। वहां सुख के लिए धर्मकार्य करते हुए और तप द्वारा पवित्र हुए तपस्वियों को देखकर विस्मय को प्राप्त हुआ। उनमें कितने ही तपस्वी पद्मासन पर बैठे हुए थे, हरिण का चर्म उन्होंने पहना हुआ था। उनके नेत्र बन्द थे, उन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया था। इस प्रकार वे परमात्मा का ध्यान कर रहे थे। कितने ही तपस्वी शरीर का हलन–चलन त्यागकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर लक्ष्मी की वरमाला के समान जपमाला को हाथ में लेकर जाप कर रहे थे। कितने ही दयालू तपस्वी कोमल निवार के समान धान्य को जल के द्वारा आर्द्र करके अपने बालकों के समान मृग के शावकों को आदरपूर्वक खिला रहे थे। कितने ही तपस्वी मानो प्रीति के पूर हों, इस प्रकार से तालाब से लाये हुए जल के द्वारा अपने बोये हुए वृक्षों को सींच रहे थे। कितने ही तपस्वी दुष्कर्म को जलाने की इच्छा से पंचाग्नि तप कर रहे थे। जिनधर्म के बिना विवेक कैसे हो सकता है?

यह सभी देखते हुए कुमार तापसेश्वर के आश्रम में गया। वहां कल्याणकारी भक्ति से युक्त कुमार ने कुलपति को हर्ष से नमस्कार किया। तब कुलपति ने उसे प्रीति रूपी अमृत की वृष्टि के समान आशीष प्रदान की। फिर आसन और आलापादि के द्वारा उसका सत्कार किया। सर्वांग से श्रेष्ठ लक्षणयुक्त और मनोहर आकृति देखकर हर्षित होते हुए तापसेश्वर ने विचार किया–''अल्पकाल के भीतर ही इसकी अत्यन्त प्रतिष्ठा, समृद्धि आदि होनेवाली है–ऐसा अष्टमी के चन्द्र की भाँति इसका कपाल स्पष्ट रूप से कहता है। राज्यलक्ष्मी रूपी कमलाक्षी के साथ क्रीड़ा करने के लिए इसका वक्षःस्थल स्वर्ण के चतुःशाल की शोभा का आश्रय करता है। धनुष और चक्रादि चिह्न इसके हस्तकमल को शोभित करते हैं। ये सभी चिह्न क्या इसके राजसंपत्ति प्राप्त करने की बात कहते हुए नहीं प्रतीत होते? यह समस्त राजाओं में अग्रसर होगा, ऐसा इसके पदतल में रही हुई ऊर्ध्वरेखा बताती है। यह आकृति के द्वारा सर्व गुणों का एकमात्र स्थान प्रतीत होता है। अत्यधिक प्रखर भाग्य से युक्त व्यक्ति को ही ऐसा

महापुरुष जामाता के रूप में मिल सकता है।''

इस प्रकार विचार करके हर्ष की तरंगों से विकसित नेत्रयुक्त उस कुलपति ने उससे कहा–''हे सत्पुरुष! आपकी आकृति ही आपकी उत्तमता को दर्शा रही है। हम वन में रहनेवाले तापस आप जैसे अतिथि की क्या उचित सेवा करें? फल से आजीविका का निर्वाह करनेवाले हम जैसों के पास मनोहर भोजन तक नहीं है। सर्व संग का त्याग कर देने के कारण हमारे पास रत्न–स्वर्णादि धन भी नहीं है। अतः मेरी यह कन्या ही आपके आतिथ्य के रूप में प्रस्तुत है।''

यह सुनकर राजपुत्र ने कहा–''आप ऐसा असंगत वचन क्यों कहते हैं? तापस व्रत में रही हुई यह कन्या पाणिग्रहण के लायक नहीं है। इसका पाणिग्रहण करनेवाला पुरुष व्रत का लोप करने से उत्पन्न हुए पाप और सुख का नाश करनेवाले महापाप का भागी बनेगा।''

तब तापसेश्वर ने कहा–''इस कन्या ने तापस व्रत नहीं लिया है। इसका वृत्तान्त मैं शुरु से बताता हूं। आप सुनें–

समृद्धि के द्वारा स्वर्गनगरी से स्पर्द्धा करनेवाला **पृथ्वीभूषण** नामक नगर है। उसमें पवित्र चरित्र से युक्त मैं **जितशत्रु** नामक राजा राज्य करता था। एक बार रात्रि के अन्तिम प्रहर में दो प्रकार से अर्थात् द्रव्य और भाव से जागृत होते हुए मैंने विचार किया कि मैं यह विशाल राज्य पूर्व के पुण्यों के कारण भोग रहा हूं। अतः जब तक मेरा यह पुण्य अवशेष है, तब तक मुझे नये पुण्यों का उपार्जन भी कर लेना चाहिए, क्योंकि मनुष्य के पास का सारा धन खत्म हो जाय, तो वह नवीन द्रव्य का उपार्जन नहीं कर सकता। इकट्ठा किया हुआ एक पुण्य भी परलोक में सुखकारक बनता है। शरीर, बंधुजन और लक्ष्मी तो इस लोक में भी दुःखदायक है। पुण्यरहित प्राणी भाते से रहित मुसाफिर के परदेश में दुःखी होने के समान परलोक में दुःखी होता है। इस प्रकार विचार करके विशाल वैराग्य तरंगों से युक्त होकर मैंने प्रधानादि को अपने विचारों से अवगत करवाया और अपने पुत्र को राज्य पर स्थापित किया। उसके बाद मैंने प्रियासहित तापसी दीक्षा ग्रहण की। अनुक्रम से गुरु ने मुझे कुलपति के स्थान पर स्थापित कर दिया और स्वयं स्वर्गवासी हो गये। मेरी प्रिया मेरे राज्यकाल में ही गर्भवती हो गयी थी, पर व्रत में विघ्न आने के डर से उसने मुझसे यह बात छिपा ली थी। कालान्तर में शुभ समय पर जैसे पृथ्वी ने जानकी को जन्म दिया था, वैसे ही लावण्य के द्वारा पवित्र अंगयुक्त इस कन्या को जन्म दिया। इसके श्रेष्ठ लक्षणों और रूप के अतिशय को देखकर हर्षपूर्वक इसका नाम **रूपवती** रखा गया। अनुक्रम से यह जैसे–जैसे शरीर और सुन्दरता के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने लगी, वैसे–वैसे योग्य वर की प्राप्ति न होने से हमारी चिन्ता को भी यह वृद्धि प्राप्त कराने लगी। इस कन्या के उदय में आये हुए पूर्वपुण्यों की प्रेरणा से ही सर्व

गुण रूपी रत्नों की खान के समान आप जैसा वर अकस्मात् यहां आया है। अतः व्रतों को न स्वीकारनेवाली इस कन्या को हम आपको अर्पित करते हैं। अतः आप निःशंक रूप से इसे स्वीकार करके हम पर अनुग्रह करें और हमारी चिन्ता का निवारण करें।''

इस प्रकार कुलपति के आग्रह से कुमार ने उस कन्या के साथ पाणिग्रहण स्वीकार किया। तब कुलपति ने शुभ दिवस देखकर विवाहोत्सव प्रारम्भ किया। कुमार के सौभाग्य से वह बुद्धिशाली कन्या तुरन्त ही कुमार पर अत्यधिक अनुरक्त बन गयी। अतः किसी भी प्रकार से एकान्त में अवसर देखकर उसने कुमार को बता दिया कि मेरे पिता के पास दो दिव्य वस्तुएँ हैं। हस्तमिलाप के समय कुमार ने कन्या का हाथ पकड़ा। उसे छोड़ने का कहने पर भी जब कुमार ने हाथ नहीं छोड़ा, तो कुलपति ने प्रीतिपूर्वक पूछा–''हे वत्स! आप अपनी इच्छानुसार कुछ भी मांगिए।''

तब कुमार ने कहा–''दिव्य प्रभाव से शोभित खाट और कंथा (कामली)–ये दो वस्तुएँ आपके पास हैं, जिसकी मुझे स्पृहा है। कृपया वे आप मुझे प्रदान करें।''

यह सुनकर खेदयुक्त तापस ने विचार किया कि घर का भेदी ही लंका ढ़ाये। अब क्या करूं? अगर ये वस्तुएँ नहीं देता हूं, तो मेरे वचन मिथ्या साबित होते हैं। महात्मा प्राणान्त आने पर भी अपने वचनों से पीछे नहीं हटते। उन दिव्य वस्तुओं का पात्र भी इस कुमार के बिना अन्य कौन हो सकता है? पात्र को दी गयी वस्तु महागुण के लिए ही होती है।''

यह विचार करके तापसपति ने दोनों वस्तुएँ कुमार को सौंप दी। फिर कहा–''हे वत्स! इन वस्तुओं का प्रभाव सुनो। यह खाट स्वयं पर आरूढ़ व्यक्ति को विद्याधर की विद्या के समान क्षणभर में आकाशमार्ग से उड़कर इच्छित स्थान पर पहुँचा देती है और इस कंथा की विधिपूर्वक पूजा करके उसके पास मांगने से कल्पवृक्ष की मंजरी के समान हमेशा सौ स्वर्णमोहरें प्रदान करती हैं।''

फिर रूपवती, खाट और कंथा–इन तीन वस्तुओं के द्वारा साम्राज्य के कारण रूप मानो मूर्तिमान तीन शक्तियों (प्रभु शक्ति, उत्साह शक्ति और मंत्र शक्ति) के द्वारा कुमार शोभित होने लगा। फिर कुलपति के आग्रह से कुछ दिनों तक कुमार आश्रम में ही रहा। उसके बाद एक दिन कुमार ने विचार किया–''अहो! कर्मविपाक की कैसी विचित्रता है कि मुझे किसी स्थान पर संपत्ति प्राप्त होती है, तो किसी स्थान पर विपत्ति प्राप्त होती है। मेरी दूसरी प्रिया को उस पापी मंत्री ने ग्रहण कर रखा है। वह कहां होगी? जीवित भी है या नहीं? मुझे कुछ भी पता नहीं है। मेरी पहली स्त्री को तो निमित्तक ने जीवित बताया था। अतः अब मुझे उसको तो खोजना चाहिए।''

इस प्रकार विचार करके कुमार तपस्वी की आज्ञा लेकर प्रियासहित कंथा लेकर खाट के ऊपर बैठकर उसे आदेश दिया कि जिस स्थान पर **धनवती** है, मुझे वहां ले जा।

इस प्रकार कहने के साथ ही वह खाट तत्काल कुसुमपुर के उद्यान में पहुँची। उस समय **रूपवती** को अत्यन्त प्यास लगी। अतः कुमार ने खाट को आकाश से नीचे उतारा। फिर कंथा और खाट सहित **रूपवती** को एक वृक्ष के नीचे छोड़कर शीघ्र ही जल लाने के लिए समीप में रहे हुए कुएँ के पास गया। वहां जब वह कुएँ में से पानी निकालने लगा, तभी उसके भीतर रहे हुए किसी सर्प ने मित्र की तरह मनुष्य की वाणी में उससे कहा–"हे मित्र! दया करके मुझे इस कुएँ में से बाहर निकालो। महात्मा किसी भी स्थान पर परोपकार करने में पीछे नहीं रहते।"

उसे इस प्रकार के वचन बोलते देख कुमार अत्यधिक विस्मित हुआ। दयापूर्वक उसे बाहर निकालने के लिए अपना उत्तरीय वस्त्र कुएँ में डाला। उस वस्त्र के सहारे सर्प तत्काल चढ़कर बाहर आया और कुमार को ही डस लिया। सर्पजाति के लिए ऐसा कृत्य योग्य ही है। उसके विष के प्रभाव से सायंकाल में मुरझाये हुए कमल के समान कुमार का शरीर कुब्ज हो गया। ऐसा रूप देखकर खेदखिन्न कुमार ने उससे कहा–"हे सर्प! मैंने तो तुझ पर उपकार किया था, पर तुमने यह प्रत्युपकार अच्छा किया।"

यह सुनकर सर्प ने कहा–"हे मित्र! तूं खेद न कर। तुम पर जब आपत्ति आय, तब तुम मेरा स्मरण करना। उस समय मैं तुम्हारा योग्य उपकार करूंगा।"

ऐसा कहकर सर्प तत्काल अदृश्य हो गया। यह सब देखकर 'यह क्या?'–इस प्रकार मन में अत्यन्त तर्क–वितर्क के द्वारा आकुल–व्याकुल होकर कुमार पानी लेकर अपनी प्रिया के पास पहुँचा और स्नेहपूर्वक कहा–"हे प्रिया! इस जल को ग्रहण करके अपनी प्यास शान्त करो।"

पर **रूपवती** प्रिया ने विरूप हुए उसकी तरफ देखा भी नहीं। उसने उसे पति के रूप में पहचाना नहीं। अतः कुमार के अत्यधिक कहने के उपरान्त भी उस पतिव्रता ने उस पानी को स्पर्श तक नहीं किया। फिर कुमार खाट और कंथा लेने लगा, तो उसने उसका विरोध किया। उसने कहा कि इन वस्तुओं के स्वामी मेरे पति हैं। यह सुनकर कुमार लज्जित होते हुए खेद को प्राप्त हुआ। उस प्रिया का त्याग करके नगर में चला गया और मन में दुःखी होते हुए विचार करने लगा–"अहो! मेरे पूर्वकर्मों का विपाक कैसा अपरम्पार है? कि यह कर्मविपाक मुझे दुःख देते हुए जरा भी उद्विग्न नहीं होता। पहली प्रिया को मिलने जाते हुए यह प्रिया भी मुझसे दूर हो गयी। हहा! दैव की कैसी दुष्ट चेष्टा है? अथवा तो संपत्ति व विपत्ति महापुरुषों को ही होती है, क्योंकि क्षय और वृद्धि चन्द्र की ही होती है, ताराओं में नहीं होती।"

इस प्रकार धैर्य द्वारा मन के आवेश को शान्त करके कुब्ज के रूप में मानो कोई देव हो–इस प्रकार से कुमार ने उस नगरी में प्रवेश किया। उधर **रूपवती** वन में मार्गभ्रष्ट हुई मृगी की तरह अपने पति को कुएँ के चारों तरफ खोजने लगी। उद्यान में घूम– घूमकर थकी गयी, पर कुमार का कहीं कोई पता न लगा। अन्त में दुःखित होते हुए उसी **प्रियमेलक तीर्थ** में आकर उन दो स्त्रियों की तरह वह भी वहां तप करने लगी।

वे तीनों प्रियाएँ तीव्र तपस्या कर रही थीं। शीलोंछवृत्ति के द्वारा पारणा करतीं। त्रिकाल जिनेश्वरों की पूजा करतीं। प्राणनाथ का स्मरण करतीं। चक्रेश्वरी देवी की सेवा करतीं। निरन्तर मौनव्रत को धारण किये रहतीं। इस प्रकार वे तीनों अपना समय निर्गमन कर रही थीं। तप में तत्पर और अपने लावण्य के द्वारा देवांगनाओं को भी लज्जित करनेवाली उन तीनों को देखकर सभी लोग तर्क–वितर्क करने लगे–"क्या इस प्रभावयुक्त तीर्थ में ये विद्याधरियाँ विद्या सिद्धशोभित करने के लिए तीव्र तप कर रही हैं? या फिर श्मशान में रहनेवाले और दिशा रूपी वस्त्र से युक्त (नग्न) महादेव को छोड़कर अन्य श्रेष्ठ पति को वरने के लिए **गंगा, पार्वति और कृत्तिका** नामक महादेव की स्त्रियाँ तप करने के लिए आयी हैं? या फिर दैवयोग से अपने–अपने पति के वियोग से संतप्त ये कुलस्त्रियाँ अपने–अपने पति की प्राप्ति के लिए इस देवी की सेवा कर रही हैं?"

इस प्रकार अलग–अलग तर्क करके लोग कौतुक से उन्हें बोलवाने के लिए अनेक उपाय करने लगे। पर पत्थर की पुतलियों के समान उनके विविध उपायों का उन तीनों स्त्रियों पर कोई असर नहीं हुआ। अहो! उन स्त्रियों की स्थिरता कितनी अद्‌भुत थी? कि उन्हें बुलवाने के लिए लोगों ने शृंगारयुक्त, कौतुकयुक्त, हास्यक्रीड़ा से युक्त, संगीतयुक्त, अलंकारयुक्त, कामक्रीड़ायुक्त, संग्रामयुक्त, आश्चर्ययुक्त तथा काव्यविनोदयुक्त आदि अनेक प्रकार की कथाएँ कीं, पर कोई भी उन्हें बुलवा न सका।

एक बार वह कुब्ज रूपी कुमार श्रीयुगादीश को नमन करने के लिए उद्यान में गया। वहां उसने अपनी तीनों प्रियाओं को देखा और आश्चर्यचकित हो गया। उसने शीघ्रता के साथ अपनी प्रियाओं को पहचान लिया। पर उन तीनों ने विद्रूप हुए अपने पति को नहीं पहचाना। उन तीनों को देखकर विस्मित होते हुए कुमार विचार करने लगा–"अहो! मेरी तीनों प्रियाएँ कैसे स्वयं ही एक ही स्थान पर इकट्ठी हो गयी हैं? मुझे पाने की इच्छा से तापसों की तरह ये तीनों कितना कठिन व तीव्र तप इस तीर्थ में आकर कर रही हैं? अपने शील का पालन करने के लिए तीनों ने योगिनियों की तरह दुष्कर मौनव्रत को धारण किया है। अहो! शृंगार और हास्यादि से युक्त ऐसी सुन्दर कथाएँ कहकर विदूषक इन्हें क्षुभित करने का प्रयास कर रहे हैं, पर इनमें से एक ने भी अपने व्रत का खण्डन नहीं किया है। अतः इन तीनों के शील

की निश्चलता, धीरता और दक्षतादि गुण यथार्थ रीति से किसकी वाणी के मार्ग में आ सकते हैं? अगर मैं अभी इन्हें बोलाने का उपक्रम करूंगा, तो अभी तो ये नहीं बोलेंगी। अतः अवसर आने पर यथोचित व्यवहार करूंगा।''

ऐसा विचार करके वह वहां से निकल गया। इसके बाद इन स्त्रियों का वृत्तान्त राजा के कर्णपुटों तक पहुँचा। विस्मित होते हुए राजा उन तीनों को देखने के लिए शीघ्रता के साथ वहां आया। सामन्तादि के साथ राजा युगादीश को वन्दन करके चक्रेश्वरी देवी के मन्दिर में गया। देवी को नमस्कार करके उन स्त्रियों की स्वरूपलक्ष्मी को देखकर राजा आश्चर्यचकित हो गया। उसने वात्यल्यपूर्वक उन तीनों से पूछा–''हे पुत्रियों! तुम कौन हो? यहां क्यों बैठी हुई हो?''

यह सुनकर भी वे तीनों नीचा मुख करके मौन ही रहीं। राजा के बार–बार बोलाने पर भी वे नहीं बोली। तब राजा ने विदूषकों को आज्ञा दी–''इन स्त्रियों को कौतुक भरे वचन सुनाकर इनका मौन तुड़वाओ।''

तब विदूषकों ने भी एक से बढ़कर एक विनोदयुक्त कथाएँ कहीं। किसी ने सुनने मात्र से स्त्रियों को उत्सुक बनानेवाली और शृंगाररस से उछलती तरंगोंवाली कथाएँ कहीं। किसी ने आश्चर्यकारी वक्रोक्ति से युक्त कथाएँ सुनाकर सभासदों को इतना हंसाया कि उनके गाल फूलकर लाल हो गये। पर उन तीनों में से किसी एक ने भी अपने नेत्र तक ऊँचे नहीं किये। बोलना तो बहुत दूर की बात थी। उन्हें उस स्थिति में देखकर राजा का आश्चर्य बढ़ता ही जा रहा था।

तब राजा ने पूरे नगर में घोषणा करवा दी–''जो पुरुष अपनी कुशलता के द्वारा इन स्त्रियों को बोलायगा, उसे मैं अपनी **कुसुमवती** कन्या परणाऊँगा।''

इस प्रकार की घोषणा सुनकर राजपुत्री को परणने की इच्छा ये किस–किस ने पटह का स्पर्श करने की इच्छा न की होगी? पर उस कार्य में समग्र कलावानों के निष्फल उद्यम को देखकर राधावेध की तरह उस पटह के समीप भी कोई नहीं गया। फिर अत्यन्त बुद्धिमान कुब्ज रूपी कुमार ने अपनी पत्नियों को अपनी पहचान बताने के लिए उत्सुक बनकर उस पटह का स्पर्श किया। अतः मन ही मन आश्चर्यचकित होते हुए राजपुरुष उस कुबड़े को राजसभा में ले गये। उस समय कुबड़े के हाथ में एक पुस्तक थी। उसने सभा में जाकर राजा को प्रणाम किया।

राजा ने आसन देकर उसका सन्मान किया और पूछा–''हे कुब्ज! तुम्हारे हाथ में यह कौनसी पुस्तक है? तुम्हें क्या–क्या ज्ञान है?''

कुब्ज ने उत्तर दिया–"हे भूमीन्द्र! यह पुस्तक मुझे सुरेन्द्र ने प्रसन्न होकर दी है। इसके द्वारा मैं सब कुछ जानता हूं।"

यह सुनकर राजा ने वह पुस्तक हाथ में ली, खोली और जैसे ही पढ़ने को उद्यत हुआ, कुब्ज ने कहा–"हे महाराज! जो मनुष्य दो (माता और पिता) के द्वारा उत्पन्न हुआ हो, वही इस अद्‌भुत अक्षरों से युक्त पुस्तक को पढ़ सकता है, क्योंकि इन्द्र का ऐसा ही वरदान है।"

राजा ने पुस्तक खोली, तो उसमें एक भी अक्षर दिखायी नहीं दिया। अतः मन ही मन वह लज्जित हुआ और स्वयं को दो से नहीं उत्पन्न हुआ मानने लगा। लोक में मेरी लघुता न हो–इस प्रकार विचार करके पास बैठे पुरोहित को आश्चर्यसहित कहने लगा–"अहो! चतुर! इस पुस्तक में कैसे दिव्य अक्षरों की पंक्तियाँ हैं।"

यह सुनकर पुरोहित पास आकर देखने लगा। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भी उसे पुस्तक में एक रेखामात्र दिखायी नहीं दी। वह अपने मन में दुःखित होता हुआ राजा की तरह अपने पिता की विपरीतता को मानने लगा। उसने भी विचार किया कि अगर राजा मुझे ऐसा अधम जानेगा, तो क्रोधित होकर मेरा अपमान करेगा। ऐसा विचार करके उसने धूर्तता के साथ कहा–"हे स्वामी! ऐसा एक अक्षर भी अन्य किसी भी पुस्तक में दिखायी नहीं देता।"

फिर पास बैठे हुए रुद्र मंत्री ने कौतुक से उस पुस्तक को देखा। पर उसे एक अक्षर भी नजर नही आया। वह मन में विचार करने लगा कि निश्चय ही मुझमें कुलीनता नहीं है। अन्यथा राजादि को दिखायी देनेवाले अक्षर मुझे क्यों दिखायी नहीं दे रहे? अथवा तो मैं पापी हूं, अतः मुझमें तो अवश्य ही अकुलीनता होनी चाहिए, क्योंकि मैंने राजपुत्री के और स्वयं के शीलभंग का चिन्तन किया था। कहा है कि – यौवन से अन्धी बनी माताओं ने जो गुप्त कार्य किये हों, उन्हें शील का लोप करनेवाले उनके पुत्र प्रकट कर देते हैं। कहीं राजादि मेरी इस लाघवता को न जान लें, अतः विचार करके मंत्री ने बार–बार उस पुस्तक की प्रशंसा की। इस तरह वहां बैठे सभी व्यक्तियों ने बारी–बारी से उस पुस्तक की मिथ्या प्रशंसा की। यश की इच्छा से कौन मनुष्य असत्य नहीं बोलता?

फिर राजा उस कुब्ज को लेकर समग्र सभाजनों और पुरजनों के साथ चक्रेश्वरी देवी के मन्दिर में गया। वहां मंत्री ने **रत्नवती** को देखा। उसके विषय में राजा को विज्ञप्ति करने की उसकी इच्छा भी हुई, पर उस कुब्ज के कौतुक को देखने की इच्छा से उसने कुछ भी नहीं कहा। वहां स्थित लोगों ने भी उस पुस्तक को अहंपूर्विका के द्वारा देखना शुरु किया। एक हाथ से दूसरे हाथ में पुस्तक जाने लगी। अन्त में राजा ने वह पुस्तक कुब्ज के हाथ में दे दी और कहा–"हे कुब्ज! इन तीनों स्त्रियों को शीघ्र ही बुलाओ।"

तब उस कुब्ज ने 'णमो जिनेभ्यः' जिनेश्वरों को नमस्कार हो–ऐसा उच्चारण करके बोलना शुरु किया–

"हे राजा! सुनो। **सिंहलद्वीप** नामक एक द्वीप है। वहां **सिंहलेश्वर** नामक राजा साम्राज्य के सुख को भोगता है। उस राजा के सिंह समान पराक्रमवाला **सिंहलसिंह** नामक पुत्र है। एक बार उस कुमार ने **धनवती** नामक कन्या का मदोन्मत्त हाथी से रक्षण किया और बाद में उस कन्या से विवाह भी किया। फिर कुमार के सौभाग्य को लेकर पुरजनों ने राजा को उपालम्भ दिया। यह सुनकर खेदित होते हुए कुमार अपनी प्रिया को लेकर घर से निकल गया।"

यह सुनकर **धनवती** अपने पति की कथा जानकर अत्यन्त हर्षित हुई। उसने मुख ऊँचा करके उस कुब्ज को अपने पति की तरह देखने लगी। कुब्ज ने आगे कहा–"उसके बाद कुमार वाहन में बैठकर अपनी प्रिया के साथ समुद्र में अन्य द्वीप की ओर चला। मार्ग में दैवयोग से वाहन टूट गया। अतः कुमार समुद्र में गिर गया। अब इसके बाद का वृत्तान्त मैं कल सवेरे बताऊँगा।"

यह कहकर कुब्ज अपनी पुस्तक बांधने लगा। उस समय **धनवती** तत्काल उठकर उसके पास गयी, उसके पैरों में गिरकर विनति करते हुए कहा–"पोत टूटने पर कुमार समुद्र में गिरे। उसके बाद वे जीवित बचे या नहीं? कृपा करके मुझे जल्दी बताओ।"

तब कुब्ज ने राजा से कहा–"इस एक स्त्री का मौन मैंने तुड़वा दिया है। अब अन्य दो स्त्रियों को मैं कल बुलवाऊँगा।"

यह सुनकर राजा ने कहा–"इन दो स्त्रियों को भी तूं अभी ही बुलवा, क्योंकि इस विषय में सभी लोग मन में उतावले हो रहे हैं।"

यह सुनकर कुब्ज ने कहा–"तो ठीक है। आगे सुनिए–

उसके बाद कुमार के हाथ एक पाटिया आ जाने से समुद्र का उल्लंघन करके **रत्नपुर** नामक नगर में पहुँचा। वहां **रत्नप्रभ** राजा की पुत्री **रत्नवती** को सर्प ने डस लिया था। उस कुमार ने कुमारी को जीवित किया, अतः राजा ने उस कन्या का विवाह कुमार के साथ कर दिया।"

यह सुनकर **रत्नवती** अत्यन्त हर्षित होते हुए मन में विचार करने लगी कि यह मेरे पति के वृत्तान्त को भी बिल्कुल सत्य रूप में बता रहा है। ऐसा विचार करके **रत्नवती** ने भी तत्काल मुख ऊँचा करके हर्ष से विकस्वर नेत्रों के द्वारा चन्द्र के सन्मुख चकोरी देखती है, उसी प्रकार कुब्ज के सन्मुख देखने लगी। **धनवती** भी अपने पति को जीवित जानकर अत्यन्त

प्रसन्न हुई। वे दोनों अपने स्वामी को एक ही जानकर परस्पर एक–दूसरे को बहन की दृष्टि से देखने लगी। फिर वह कुब्ज कहने लगा–"उसके बाद ससुर की आज्ञा लेकर कुमार प्रिया के साथ वाहन में बैठकर अपने नगर की ओर चला। एक बार मार्ग में रौद्र–परिणामी **रुद्र** मंत्री ने **रत्नवती** पर मोहित होकर कुमार को समुद्र में धक्का दे दिया। अब इसके आगे का वृत्तान्त कल कहूंगा।"

ऐसा कहकर कुब्ज चुप हो गया और पुस्तक बांधने लगा। यह सुनकर **रत्नवती** तत्काल उठकर उसके पास आयी और **धनवती** सहित हाथ जोड़कर कहने लगी–"कृपा करके हमें बताइए कि समुद्र में गिरे हुए वे कुमार जीवित हैं या नहीं?"

इसी अवसर पर **रुद्र** मंत्री ने विचार किया–"मेरे दुष्कर्म की चेष्टा को धिक्कार है। मेरा पूरा वृत्तान्त इस कुब्ज ने प्रकट कर दिया है। अब मैं क्या करूं? राजा के सामने इस कुब्ज को मारने और **रत्नवती** के साथ विवाह करने में तो अब मैं समर्थ नहीं हूं। **रत्नवती** के पूछने पर यह कुब्ज आगे की भी सारी हकीकत इसे कह देगा। उसे सुनकर क्रोधित राजा मेरा निग्रह करेगा। तो क्या मैं यहां से भाग जाऊँ? अथवा तो अभी यह सारा कौतुक देख लूं। फिर छिपकर वाहन में बैठकर यहां से भाग जाऊँगा।"

फिर कुब्ज ने राजा से कहा–"हे राजा! इस दूसरी स्त्री को भी मैंने बोला दिया है। अब इस तीसरी को कल बुलवाऊँगा।"

राजा ने कहा–"हे कलावान! इसको भी अभी ही बोला, क्योंकि आधी कथा सुनने से सभी का चित्त उत्कण्ठित है।"

तब कुब्ज ने कहा–"जब कुमार को मंत्री ने समुद्र में गिराया, उसी समय किसी अदृश्य शक्ति ने उसे बचाकर आश्रम में पहुँचा दिया। वहां कुलपति की पुत्री **रूपवती** के साथ उसका विवाह हुआ। फिर खाट और कंथा के साथ कुमार **रूपवती** को लेकर इस नगर के उद्यान में आया। वहां **रूपवती** के लिए पानी लाने के लिए कुमार कुएँ के ऊपर गया, जहां एक सर्प ने उसे डस लिया। अब इसके आगे की कथा मैं कल सुनाऊँगा।"

ऐसा कहकर कुब्ज मौन हो गया। अपने पति का वृत्तान्त सुनकर **रूपवती** भी हर्षित हुई। तीनों का एक ही पति जानकर वे तीनों परस्पर प्रीतियुक्त बनीं। पति की आपत्ति का श्रवण करके वे तीनों खेदयुक्त भी बनीं और तीनों ही उस कुब्ज से कहने लगीं–"प्रसन्न होकर कुमार के आगे का वृत्तान्त हमसे कहो।"

उन तीनों के द्वारा अत्यन्त प्रार्थना करने के बावजूद भी कुब्ज ने आगे की कथा नहीं सुनायी। पर उस बुद्धिनिधान ने विचार किया–"अहो! इनका पातिव्रत्य कैसा अद्‌भुत है! कि

मात्र पति की कथा सुनने से ही कितनी उल्लसित हो गयी हैं। पति का आगे का वृत्तान्त नहीं जान पाने से जल बिन मछली की तरह कैसे खेदखिन्न हो रही हैं। अभी सत्य स्वरूप कहने पर भी ये पतिव्रताएँ मुझे इस रूप में देखकर मुझे नहीं पहचान पाने के कारण मुझे पति के रूप में अंगीकार नहीं करेंगी। इधर **रुद्र** मंत्री भी अपनी हकीकत सुन लेने से मुझ पर मन ही मन अत्यन्त कुपित है–यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अभी तो राजा की उपस्थिति में यह मुझे मारने में समर्थ नहीं है। पर अवसर आने पर मुझे मारने की इसकी नीयत साफ दिखायी दे रही है। अतः अभी तो इस राजा की पुत्री के साथ विवाह करके इसका जामाता बन जाऊँ, जिससे यह अधम मंत्री मुझे मारने में समर्थ न हो सके।''

ऐसा विचार करके कुब्ज ने उन तीनों स्त्रियों से कहा–''कल्याणयुक्त उस कुमार का वृत्तान्त मैं तुम्हें समय आने पर कहूंगा।''

इस प्रकार आश्वासन देकर उसने राजा से कहा–''हे राजन! मैंने आज तीन स्त्रियों को बुलवा दिया है। अब आप अपनी कन्या के साथ मेरा विवाह करके अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करें।''

यह सुनकर राजा ने कन्या की मातादि पारिवारिकजनों के निषेध के बावजूद भी अपनी प्रतिज्ञा–भंग के भय से कुब्ज के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया। कहा है कि –

''कदाचित् नदियों का पति समुद्र सूख जाय, अग्नि शीतलता को प्राप्त कर ले, सूर्य पश्चिम दिशा में उदय को प्राप्त हो, मेरुपर्वत कंपायमान हो और चन्द्र ताप प्रदान करे, फिर भी महापुरुष कभी अपनी प्रतिज्ञा का लोप नहीं करते।''

इस पाणिग्रहण की विधि में किसी का मन हर्षित नहीं हुआ, क्योंकि अयोग्य वर के साथ विवाह करना विडम्बना मात्र है। पर अपने पति का वृत्तान्त जानने से हर्ष को प्राप्त वे तीनों स्त्रियाँ विवाह उत्सव में मधुर स्वर में मंगल गीत गाने लगीं। फिर हस्तमोचन के समय कुब्ज ने राजा से कहा–''मुझे हाथी, घोड़ा, स्वर्णादि प्रदान करें।''

यह सुनकर कोप से नेत्रों को लाल करते हुए उसके साले ने कहा–''रे कुब्ज! फुफकार मारता हुआ सर्प ही तुझे सारी वस्तुएँ प्रदान करेगा।''

कुब्ज ने कहा–''ठीक है। वह सर्प ही दे।''

उसके इस प्रकार कहते ही तुरन्त ही कहीं से आकर अकस्मात् किसी सर्प ने उसे निर्दयतापूर्वक डस लिया। उसके अंग विष के आवेश से व्याप्त हो गये। वह मूर्च्छित हो गया और छेदे हुए मूलवाले वृक्ष की तरह भूमि पर गिर पड़ा। उसकी उस अवस्था को देखकर उसकी तीनों स्त्रियों का हृदय व्याकुल हो गया। उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे। वे

विलाप करने लगीं–"हा! हा! हमारे मन रूपी कमल में क्रीड़ा करनेवाले हंस! हा! कलावंत पुरुषों में शिरोमणि! न देखने योग्य यह दुष्ट दशा कैसे हो गयी? रात्रि में वियोग को प्राप्त चकवे के साथ चकवी का संयोग करानेवाले सूर्य की तरह तुम्हारे बिना हमारे वल्लभ के साथ हमारा संयोग कराने में कौन समर्थ है? हे बुद्धिमान! पृथ्वी के ताप को जैसे मेघ के बिना अन्य कोई शान्त नहीं कर सकता, वैसे ही प्रिय के वियोग रूपी दावानल से उत्पन्न हुए हमारे ताप को तुम बिन अन्य कौन उपशान्त कर सकता है? हे दुष्ट आचरण करनेवाले दैव! हमने तुम्हारा क्या अपराध किया? कि जिससे हमारे इष्ट की ऐसी दुर्दशा की? अरे पापी सर्प! हमारे दृष्टिमार्ग से दूर हो जा। ऐसी दुष्ट चेष्टा करनेवाले तुझ जैसों का दो जिह्वापना स्पष्ट ही है। हे राजा! हमारे पति के बारे में निवेदन करनेवाला इसके सिवाय अन्य कोई नहीं है। अतः हमारा जीवन और मरण इसके साथ ही रहा हुआ है।"

इस प्रकार अत्यन्त छाती को कूटती हुई, मस्तक पछाड़ती हुई और विलाप करती हुई उन स्त्रियों को देखकर ऐसा कौनसा मनुष्य होगा, जो उनके दुःख में दुःखी होकर रोने न लगे?

उसके बाद दिव्य शक्ति के कारण राजा की कन्या को वह कुमार दिव्य रूप से युक्त दिखने लगा। अतः उसे कुमार पर प्रीति उत्पन्न हो गयी। वह विचार करने लगी–"अहो! इनके सर्वांग का सौभाग्य दृष्टि को बांधनेवाला है। लोग इन्हें कुब्ज कहते हैं, यह उनकी मूर्खता ही है। पुण्यरहित मुझ पर ही विधाता की ऐसी प्रतिकूलता क्यों हुई? कि जिससे मेरे विवाह के समय ही इनकी यह दुर्दशा हुई। ऐसा पति तो पूर्व के अगणित पुण्यों के कारण ही प्राप्त होता है। तो मेरा ऐसा पुण्य कहां से हो जिससे कि मैं ऐसे पति को प्राप्त कर पाऊँ? अगर इनके साथ पाणिग्रहण संभव नहीं हुआ, तो मैं अन्य किसी के साथ विवाह करनेवाली नहीं हूं। क्या भ्रमरी मालती के पुष्प को छोड़कर अन्य स्थान पर प्रीति प्राप्त करती है? अतः अपना दाहिना हाथ देनेवाले इस पुरुष के साथ ही मेरा जीना और मरना तय है।"

इस प्रकार सत्यबुद्धि से युक्त उस कन्या ने विचार किया और उन तीनों स्त्रियों के साथ ही स्वयं भी विलाप करने लगी। यह देखकर पुत्री के भावी वैधव्य से दुःखित राजा वैद्यों आदि के पास उस कुब्ज के विष का प्रतिकार रूपी उपचार करवाने लगा। पर उन उपायों के द्वारा कुब्ज पर कुछ भी असर नहीं हुआ, *क्योंकि निदान जाने बिना किया गया प्रतिकार निष्फल* होता है। ऐसा लगता था, मानो वह मर चुका है। उस समय समग्र सभा शोकातुर हो गयी। एकमात्र मंत्री ही मन में खुश हुआ। जिनकी आत्मा मलिन होती है, वे ही अन्यों की आपत्ति देखकर मन में प्रसन्न होते हैं। उसके बाद सतियों के मध्य अग्रसर उन चार पतिव्रताओं का चित्त पति–प्राप्ति की निराशा के कारण अत्यन्त दुःखित हुआ। अतः उन्होंने छुरी के द्वारा अपने

उदर को चीरना प्रारम्भ किया। तभी उस कुब्ज ने दैदीप्यमान कान्ति को धारण करके अपने पूर्व स्वरूप को प्राप्त किया और देवकुमार की लक्ष्मी से युक्त राजकुमार बन गया। अपने पति को पहचान करके उन स्त्रियों का मन विकस्वर हो गया। वे अत्यन्त हर्षित हुईं और आत्मघात से विरमण हुई। सर्प ने भी तत्काल अपने पूर्व पुण्य के समूह के समान दैदीप्यमान और दिव्य आभूषणों से युक्त अपना दिव्य स्वरूप धारण किया। राजादि सर्व लोग उस कुमार और उस देव को देख–देखकर क्षणभर के लिए तो मानो निश्चल हो गये। फिर राजा ने आश्चर्यपूर्वक देव से पूछा–"हे देव! आप कौन हैं? कहां से आये हैं? यह कुमार कौन है?"

इस प्रकार पूछने पर उस श्रेष्ठ देव ने मधुर वाणी में बताया–"हे राजा! हमारा आश्चर्यकारक वृत्तान्त सुनो।

इसी भरतक्षेत्र में **धनपुर** नामक नगर है। उस नगर का नाम धन की समृद्धि के कारण पृथ्वी पर अन्वर्थपने को प्राप्त था। उस नगरी में समस्त पुण्यवंतों में अग्रणी **धनंजय** नामक श्रेष्ठी था। वह याचकजनों के दारिद्र्य रूपी वृक्ष का दाह करने से निश्चय ही धनंजय (अग्नि) रूप ही था। उसके मायारहित **धनवती** नामक प्रिया थी। उसका मन जैनधर्म रूपी सरोवर में मछली की तरह लीन था। उसके **धनदेव और धनदत्त** नामक दो पुत्र थे। वे जिनधर्म की निपुणता से शोभित थे। पिता की मृत्यु के उपरान्त घर और धर्म के कार्य में धुरन्धर दोनों भाइयों ने कितना ही समय प्रीतिपूर्वक व्यतीत किया। पर उनकी स्त्रियों में निरन्तर कलह होने लगा। स्त्रियों का कलह स्वाभाविक ही होता है। उनका रोज–रोज का कलह देखकर दोनों भाइयों ने धन का विभाग किया और अलग हो गये, क्योंकि बुद्धिमान मनुष्य समय के अनुकूल कार्य करनेवाले होते हैं। ऐसा करने से कृश हुई उनकी प्रीति दूज के चन्द्र की तरह दिन–दिन वृद्धि को प्राप्त होने लगी।

एक बार ग्रीष्म ऋतु में **धनदेव** के घर साधु पित्तज्वर से व्याप्त एक मुनि के लिए औषधि लेने आये। उन्हें आता देखकर मानो **धनदेव** स्वर्ग में रहे सुख को लेने की इच्छा करता हो–इस प्रकार से एकदम उठ खड़ा हुआ। विनय से झुकते हुए उसने भक्तिपूर्वक उन्हें वंदन किया। उनके चरण–कमल की रज के द्वारा अपने मस्तक पर तिलक किया। उसके बाद शुद्ध भाव से युक्त उसने उन्हें प्रासुक वस्त्र, भोजन और पानी के लिए निमन्त्रित किया। पात्रदान में किस श्रद्धालू का आदर नहीं होता? उन साधुओं ने उस समय उन सभी वस्तुओं का निषेध करते हुए औषधि की आवश्यकता बतायी। तब उसने अपने चित्त के समान उज्ज्वल दुध और शक्कर उनके सामने रखी और हर्षपूर्वक विकस्वर नेत्रों के द्वारा विज्ञप्ति की–"हे पूज्य! यह एषणीय है। मुझ पर अनुग्रह करके ग्रहण कीजिए। "

उस दूध को शुद्ध जानकर साधुओं ने संसार रूपी समुद्र में गिरे हुए उसे मानो तारने की

इच्छा से अपना तुम्बड़े का पात्र धारण किया। तुरन्त ही **धनदेव** ने भी सर्व इष्ट वस्तु के प्रदाता पुण्य रूपी कल्पवृक्ष को सींचने के समान सतत धाराबंध शक्करयुक्त दुध उसमें डाला। उस समय हर्ष से उसका सारा शरीर रोमांचित हो गया। वह रोमांच मानो महानंद (मोक्ष) रूपी फल को उत्पन्न करने के हेतु रूप दान रूपी कल्पवृक्ष का अंकुर हो–इस प्रकार से शोभित होने लगा।

एक बार **धनदत्त** ने भी आनन्दपूर्वक मुनियों को शुभ भाव से इक्षुरस के घड़े बहराये। पर उसने दान देते–देते कुटुम्ब की चिन्ता से तीन बार भाव खण्डित किये। फिर तुरन्त ही स्वयं अपने भावों को साधा। उन दोनों भाइयों ने बार–बार अपने दानधर्म की अनुमोदना की, क्योंकि अनुमोदना पुण्य रूपी समुद्र की वृद्धि के लिए चन्द्र की ज्योत्स्ना के समान है। हे राजा! अनुक्रम से वह **धनदेव** मरण प्राप्त करके मेरे रूप में स्वर्ग में देव बना है और **धनदत्त** मरकर इस राजपुत्र के रूप में पैदा हुआ है। औषधदान पुण्य द्वारा मुझे देवसमृद्धि प्राप्त हुई है और इस कुमार ने चार पत्नियाँ आदि सामग्री प्राप्त की है।''

इस प्रकार देव बोल रहा था, तभी आकाशमार्ग से कोई चारण मुनि युगादीश को नमन करने के लिए वहां आये। पुण्य के निवासस्थान और तप के निधान उन मुनि को देखकर सभी एकदम से उठ खड़े हुए। मुनि ने जिनेश्वरों को नमन किया और सभी के आग्रह से वहां पर विराजे, क्योंकि उदार अंतःकरणयुक्त सत्पुरुष दूसरों की प्रार्थना का भंग करने से भय को प्राप्त होते हैं। फिर राजा ने उस कुमार और देव का पूर्वभव पूछा, तो उन्होंने भी वैसा ही फरमाया, जैसा देव ने कहा था।

फिर कुमार ने दोनों हाथ जोड़कर मुनि को नमन करते हुए पूछा–''मैंने समुद्र का उल्लंघन किस प्रकार किया और मैं कुब्ज किस कारण से बना?''

तब मुनीश्वर ने फरमाया–''जब तुम्हें मंत्री ने समुद्र में डाला, तभी उस देव ने पूर्व प्रेम के कारण तुम्हें वहां से उठाकर तापसों के आश्रम में रख दिया और यह शत्रु मंत्री तुम्हे पहचानकर तुम्हारा अनिष्ट करेगा–इसी विचार से वैसा न होने देने के लिए इसी देव ने तुम्हें कुबड़ा बना दिया। उसने सर्पदंश आदि कष्ट तुम्हारे हित के लिए ही तुम्हें दिया था, क्योंकि वर्षाऋतु जाने के बाद शरद ऋतु का सूर्य अत्यन्त तप्त होता है। पर वह जगत को प्रसन्न करने के लिए ही तपता है। तुम दोनों ने यह अद्‌भुत समृद्धि औषधिदान के पुण्य से ही प्राप्त की है, क्योंकि पात्रदान सर्व सम्पत्तियों का कारण है। पर तुमने पूर्वभव में दान देते समय तीन बार भाव खण्डित किये थे। उस कर्म के उदय से तुम्हे इस भव में तीन प्रियाओं का विरह और समुद्र में गिरने रूप आपत्ति प्राप्त हुई। पात्र में दिया गया थोड़ा भी दान महाफल का प्रदाता बनता है, तो संयम के उपकारक रूप प्रासुक औषधि का दान विशाल फल का प्रदाता बने–तो इसमें कहना ही क्या?

शास्त्रों में सुना जाता है कि **श्रीमहावीरस्वामी** पर **गोशालक** ने तेजालेश्या छोड़ी थी, उससे भगवान को अतिसार की व्याधि हो गयी। इसके लिए **रेवती** नामक श्राविका ने कोलापाक का दान दिया था। उसके प्रभाव से **रेवती** आनेवाली चौबीसी में 17 वाँ तीर्थंकर बनेगी।''

इस प्रकार मुनियों में शिरोमणि के समान चारण मुनि की वाणी का पान करके कुमारादि सभी हर्ष को प्राप्त हुए। पर एकमात्र मंत्री ही हर्ष को प्राप्त नहीं हुआ। उस समय विशेष प्रकार के शुभ अध्यवसाय के उल्लास से कुमार को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने अपने पूर्वभव को उसी रूप में देखा। कुमार का अंतःकरण महासंवेग से भावित हुआ और उसने मुनीश्वर के पास शुद्ध श्रावकधर्म ग्रहण किया। राजादि अन्य सभी ने भी सम्यक्त्व अंगीकार किया, क्योंकि रत्नाकर के पास जाकर किसे रत्न ग्रहण करने की इच्छा न होगी? उसके बाद धर्मप्राप्त लोगों को उच्च गति में ले जाने की इच्छा करते हों–इस प्रकार से चारण मुनि आकाश में उड़ गये।

उसके बाद हर्षित राजा ने जामाता को उत्तम हाथी, जातिवंत घोड़े, स्वर्ण और रत्नादि पुष्कल भेंट देकर उसका सम्मान किया। फिर उस दुष्ट मंत्री का वध करने के लिए आरक्षकों को आदेश दिया। इस भव में राजा ही दुष्टजनों को शिक्षा प्रदान करते हैं। पर अत्यन्त करुणायुक्त कुमार ने उसके वध का निवारण किया, क्योंकि सत्पुरुष चन्दन के वृक्ष की तरह अपकार करनेवाले पर भी उपकार ही किया करते हैं। तब राजा ने उस मंत्री को अपने देश से बाहर निकाल दिया। जिसके अंतःकरण में मलिनता होती है, उसे दूर करने में ही भलाई है। वह कुमार चारों प्रियाओं के साथ सुख भोगते हुए कितने ही समय तक वहीं रहा।

एक बार **सिंहलेश्वर** राजा के द्वारा पुत्रशोध की आज्ञा दिये हुए किसी राजपुरुष ने कुमार के बारे में सुना, तो वह वहां आया। उसे देखकर कुमार ने भी प्रेमपूर्वक उसका आलिंगन किया। फिर अत्यन्त हर्षित होकर अपने माता–पितादि के कुशल समाचार पूछे। तब उसने भी कहा–''हे कुमार! आपके माता–पिता और सर्व परिवार कुशल है। पर आपके वियोग का दुःख उन्हें संतप्त कर देता है। आपके माता–पिता के नेत्रों से निरन्तर अश्रुजल की बाढ़ प्रवाहित हो रही है। आपके वियोग रूपी अग्नि की ज्वाला से उनका चैतन्य नष्ट हो गया है, जिससे मानो वे लेप्यमय पुतले बन गये हैं। इस प्रकार वे कष्टपूर्वक रहते हैं। फिर प्रधान ने मुझे और अन्य सेवकों को आपकी खोज में प्रत्येक द्वीप और प्रत्येक देश में भेजा है। अतः मैंने द्वीप, आकर, ग्राम, नगरादि में चिरकाल तक भ्रमण किया, पर पुण्यरहित मनुष्य को जिस प्रकार निधि नहीं मिलती, उसी प्रकार मुझे आप नहीं मिले। अभी–अभी चारों तरफ प्रसरती हुई आपकी कीर्ति को सुनकर आप का यहां होना मुझे ज्ञात हुआ। अतः हे देव! मेरा सारा उद्यम आज सफल हो गया। अब आपके वियोग से दुःखित माता–पितादि को आपके दर्शन के आनन्द रूपी अमृतरस के योग से आश्वस्त बनाएं।''

इस प्रकार उसके वचनों का श्रवण करके कुमार के लोचन भी अश्रुओं से व्याप्त हो गये। उसने खेदखिन्न होते हुए विचार किया–"विषय रूपी समुद्र में मग्न मुझ अधम को धिक्कार है! कि मैंने अपने माता–पितादि को इस दशा में पहुँचाया है। जो पुत्र माता–पितादि को प्रसन्न रखते हैं, वे ही पवित्र पुत्र कहलाते हैं। पर मैं तो उनका चित्त मात्र संतप्त करने में ही कारणभूत बना हूं। अतः मैं तो उनका पुत्र ही नहीं हूं। अब भी मुझे जल्दी ही वहां जाकर माता–पितादि को प्रसन्न करना चाहिए और उनके चरण–कमलों की सेवा करनी चाहिए।"

इस प्रकार विचार करके उस राजपुरुष को साथ लेकर कुमार राजा के पास गया और कहा–"मेरे माता–पितादि ने मुझे बुलाने के लिए इस राजपुरुष को भेजा है। मेरे माता–पितादि सर्व जन मेरे वियोग से अत्यन्त दुःखी है। अतः मेरा मन उन सभी से समागम करने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है। हे देव! मुझे शीघ्र ही अपने नगर में जाने की आज्ञा प्रदान कीजिए।"

यह सुनकर राजा ने प्रीति के पूर का विस्तार करनेवाली मधुर वाणी में कहा–"हे वत्स! आप पधारें–अगर मैं ऐसा कहूं, तो प्रीति की हीनता होगी। यहीं रहें–ऐसा कहूं, तो आपके प्रयाण में अमंगल होगा। अगर कुछ भी न कहूं, तो आपकी उपेक्षा होगी। अतः अब मैं क्या कहूं? अथवा तो मैं यह मानता हूं कि वियोग से संतप्त आपके माता–पितादि को शीघ्र प्रीतियुक्त बनायें अर्थात् माता–पितादि को प्रसन्नता प्रदान करें।"

इस प्रकार कुमार को आज्ञा प्रदान करके दिव्य वस्त्रादि के द्वारा उसका सन्मान करके राजा ने पुत्री सहित कुमार को विदा किया। उसके बाद कुमार, चारों पत्नियाँ तथा उस राजपुरुष को साथ लेकर कंथा के साथ उस दिव्य प्रभावयुक्त खाट पर बैठकर क्षणभर में **सिंहलद्वीप** के बाहर क्रीड़ा उद्यान में पहुँच गया। फिर उस राजपुरुष ने आगे जाकर राजा को बधाई दी–"हे देव! अब खेद का त्याग करें और हर्ष को धारण करें, क्योंकि चार प्रियाओं व अद्‌भुत वस्तुओं के साथ आपका पुत्र बाहर उद्यान में ठहरा हुआ है।"

यह सुनकर पुत्रप्राप्ति के हर्ष से राजा का अंतःकरण भर गया। उसने सेवकों द्वारा नगर में भिन्न–भिन्न उत्सवों की इस प्रकार घोषणा करवायी–स्थान–स्थान पर मन को रोमांचित करनेवाले मांचे बनवाये, प्रत्येक चौराहे पर केले के स्तम्भों से शोभित तोरणद्वार बनवाये। राजमार्ग पर केसर का पानी छिड़काया, जगह–जगह मोतियों के स्वस्तिक बनवाये, घर–घर विशाल ध्वजाएँ बंधवायीं, भ्रमण करते भ्रमरों की झंकार से शोभित मनोहर पुष्पमालाएँ चारों तरफ लटकवायीं। नृत्यांगनाएँ दर्शकों की दृष्टि में शीतलता उत्पन्न करनेवाला नृत्य करने लगीं, आकाश को ध्वनित करते हुए मृदंगों और वाद्यन्त्रों की गूंज चारों तरफ व्याप्त होने लगीं, कुलवती स्त्रियाँ रसयुक्त मंगल गीत गाने लगीं, बन्दीजन उच्च स्वर में बिरुदावलियाँ गाने लगे,

अश्वादि वाहनों को अलंकारों से विभूषित किया जाने लगा। इस प्रकार मंत्री, सामन्तादि सर्व परिवार कुमार के सन्मुख गया। इस प्रकार महा उत्सवपूर्वक कुमार ने नगर–प्रवेश किया। उस समय अपने दानपुण्य के समान उज्ज्वल छत्र उसके मस्तक पर शोभित था। मानो कुमार के प्रताप की लक्ष्मी और यश की लक्ष्मी के विलास के लिए दो श्वेत कमल हों–इस प्रकार से दो चामरों के द्वारा वह शाोभित हो रहा था। वह याचकों को उनकी इच्छा के अनुसार दान देते हुए उनकी दारिद्र्यता रूपी विधि के लेख को निरर्थक बना रहा था। उसके पीछे दिव्य खाट पर आरूढ़ उसकी चारों प्रियाएँ शोभित हो रही थीं। वह स्वयं हाथी के स्कन्ध पर आरूढ़ था।

इस प्रकार विशाल वैभवयुक्त कुमार समृद्धि के द्वारा पुरजनों को आश्चर्यचकित करते हुए पिता के महल के पास पहुँचा। वहां हाथी से उतरकर अत्यन्त हर्ष के कारण विकस्वर नेत्रयुक्त कुमार ने सभा में आकर वहां बैठे हुए राजा को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। राजा ने भी मानो अमृतवृष्टि से स्नात हो–इस प्रकार हर्षित होकर पुत्र का सर्वांग से आलिंगन किया। राजा के नेत्र हर्षाश्रुओं से पूरित हो गये।

फिर राजा ने आनंदपूर्वक पुत्र से कहा–"हे वत्स! तेरे वियोग से उत्पन्न दुःख रूपी दावानल ने इतने दिवसों तक हमें संतप्त बनाया है। वह सर्व ताप आज तुम्हारे समागम रूपी आनंद से उत्पन्न हुए अश्रुजल के प्रवाह के द्वारा शांत हुआ है। तेरे दर्शन रूपी आनंदरस के द्वारा हमारे नेत्र अत्यन्त तृप्त हुए हैं। अब तृषित हुए कर्णयुगल को तेरे वृत्तान्त रूपी अमृतपान के द्वारा तृप्त कर।"

यह सुनकर कुमार ने अपना वृत्तान्त अपने मुख से बताने में संकोच का अनुभव किया। तब उस राजपुरुष ने आद्योपान्त अद्‌भुत वृत्तान्त कहा। वह सब सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और आश्चर्य को प्राप्त हुआ। फिर पुत्र को राज्य पर स्थापित करके धर्म का आराधन करके स्वर्ग में गया।

उसके बाद **सिंहलसिंह** राजा किसी से हरा न जा सके–ऐसे पिता के साम्राज्य को भोगने लगा। वह हमेशा दीन–हीन आदि को निदानरहित दान देने लगा। उसने अपनी पृथ्वी का मध्यभाग जिनेश्वरों के चैत्यों द्वारा शोभित किया। शुद्धबुद्धि से युक्त राजा ने अनंत सुख रूपी मोक्ष के लिए श्रावकधर्म का चिरकाल तक पालन किया। इस प्रकार गृहस्थधर्म का पालन करके **सिंहलसिंह** नामक राजा **लान्तक** नामक देवलोक में गया। वहां से च्यवकर वह और उसका देव मित्र–दोनों महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर चारित्र ग्रहण करके कर्मों का उन्मूलन करके मोक्ष पद को प्राप्त करेंगे।

हे भव्यजनों! इस प्रकार पूर्वकथित दोनों भाइयों को अद्‌भुत समृद्धि प्रदान करने के कारणभूत मुनि को दिये गये औषधिदान रूपी पुण्य का श्रवण करके आप सभी को भी दान

देने में आदरबुद्धि रखनी चाहिए, जिससे सर्व प्रकार की सुख–सम्पत्ति शीघ्रतापूर्वक स्वयं ही प्राप्त हो जाय।''

।। इति नवम प्रकाश।।

दशम प्रकाश

ममतारहित होते हुए भी दयार्द्र हृदय से युक्त श्रीमहावीरस्वामी ने दरिद्र ब्राह्मण को देवदूष्य वस्त्र प्रदान किया था, वे प्रभु भव्य प्राणियों को सुख प्रदान करें।

अब उपष्टम्भ दान में रहे हुए और पुण्य को पुष्ट करनेवाला वस्त्रदान नामक सातवाँ भेद कहा जाता है। गृहस्थ को अत्यधिक भावपूर्वक साधुधर्म के उपकार के लिए मुनियों को कल्पनीय शुद्ध वस्त्र का दान देना चाहिए। यहां कोई शंका करते हैं कि वस्त्र तो अपरिग्रह व्रत का बाधक है, अतः सर्वदा परिग्रह के त्यागी यतियों को वस्त्रदान नहीं करना चाहिए। पर यह शंका योग्य नहीं है, क्योंकि संयम की रक्षा के लिए साधुओं को वस्त्र रखने की अनुज्ञा दी हुई है। इस विषय में चौदह पूर्वधारी **श्रीभद्रबाहुस्वामी** के द्वारा रची गयी **ओघनिर्युक्ति** में इस प्रकार कहा गया है :–

पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिआ।
पडलाइं रयत्ताणं, गुच्छउ पायनिज्जोगो।।1।।
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपत्ती।
एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पिआणं तु।।2।।
एए चेव दुवालस, मत्तग अइरेगचोलपट्टो अ।
एसो उ चउदसविहो, उवही पुण थेरकप्पम्मि।।3।।
जिणा बारसरूवाणि, थेरा चउदसरूविणो।
अज्जाणं पण्णवीसं तु, अउ उड्ढं उवग्गहो।।4।।

भावार्थ :–पात्र, झोली, जिस पर पात्र रखे जाय–वह ऊनी वस्त्र, पात्र का प्रतिलेखन करनेवाली चरवली, पडला, पात्र को लपेटने का वस्त्र और गुच्छ अर्थात् पात्र पर चढ़ाने का ऊनी वस्त्र–ये सात पात्र–संबंधी उपकरण हैं। तीन पछेवड़ी (गोचरी के लिए जाते समय शरीर

पर ओढ़ने के वस्त्रों में एक सूती वस्त्र, एक ऊन की कांबली और एक ऊन की कांबली के भीतर रखा जानेवाला सूती वस्त्र–ये तीन), रजोहरण और मुहपत्ती–ये बारह प्रकार की उपधि तो जिनकल्पी साधुओं को हो सकती है। उपलक्षण से जिनकल्पी साधुओं को दो से नौ प्रकार की अल्प उपधि भी हो सकती है। मात्रक (अन्नादि आहार के निमित्त खास उपकरण विशेष) और चोलपट्टा–ये दो पूर्वोक्त बारह में मिलाने पर चौदह प्रकार की उपधि साधुओं के होती है। साध्वियों के पच्चीस प्रकार की उपधि होती है। इसके उपरान्त औपग्रहिक उपधि जाननी चाहिए।

साधुओं के सचेलक और अचेलक के नाम से दो प्रकार के धर्म होते हैं। मध्य के 22 तीर्थंकरों के समय सचेलक धर्म है। सचेल शब्द में **सह** और **चेल**–ये दो शब्द रहे हुए हैं। **सह** शब्द इस जगह प्रमाण और वर्ण आदि के अनियम रूप विशेष का ज्ञान कराता है। अर्थात् वस्त्र की अमुक लम्बाई या अमुक रंगादि होना चाहिए–इसका कोई नियम नहीं है। लोक में भी अमुक मनुष्य **सरूप** अर्थात् स्वरूपवान है–ऐसा कहा जाता है। अतः यहां **स** का अर्थ स्तुति–प्रशंसायुक्त है। मध्यम जिनेश्वरों के समय में जीव ऋजु–प्राज्ञ कहे हैं। अतः उन्हें सर्व प्रकार के शुद्ध–प्रासुक वस्त्र की अनुज्ञा थी।

प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के समय में अचेल धर्म कहा गया है। यहां **अ** और **चेल**–ये दो शब्द हैं। इसमें **अ** का अर्थ सर्वथा प्रकार से वस्त्र का निषेध करने के रूप में नहीं है, बल्कि वस्त्र का अमुक प्रमाण, अमुक वर्णादि का ज्ञान कराता है। लोक में भी '**अनुदरा** कन्या शोभित होती है' ऐसा कहा जाता है। यहां **अन्** और **उदरा** दो शब्द हैं। इसमें सर्वथा उदर से रहित कन्या शोभित होती है–यह अर्थ नहीं किया जा सकता। पर प्रमाणयुक्त अर्थ यानि कि '**छोटा उदर** जिसका है, वह कन्या शोभित होती है'–ऐसा अर्थ किया जाता है। प्रथम तीर्थंकर के समय में जीव **ऋजु–जड़** थे और अभी अन्तिम तीर्थंकर के समय में जीव **वक्र–जड़** हैं। अतः दोनों के तीर्थ में वस्त्रादिक का नियम है। इस विषय में **श्रीउत्तराध्ययन सूत्र** में **श्रीपार्श्वनाथस्वामी** के सन्तानीय शिष्य **श्रीकेशीस्वामी** तथा **श्रीगौतमस्वामी** के मध्य जो संवाद हुआ, वह इस प्रकार है :–

अचेलगो अ जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महायसा।।1।।
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किंनुकारणं।
लिंगे दुविहे मेहावी, कहं विपच्चओ न ते।।2।।
पच्चत्थं च लोअस्स, नाणाविहिविगप्पणं।

जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं।।3।।

भावार्थः–"श्रीवर्धमान स्वामी ने साधुओं के लिए अचेलक धर्म बताया है और पुरुषादानीय श्रीपार्श्वनाथ स्वामी ने सचेलक धर्म बताया है। एक मोक्षमार्ग प्रपन्न उन दोनों महानुभावों ने अलग–अलग दो मार्ग क्यों कहे हैं? हे प्राज्ञ! दो प्रकार के लिंग–वेष–आकार जानकर–देखकर आपको क्या विप्रत्यय–अश्रद्धा नहीं होती?"

इस प्रकार केशी स्वामी के पृच्छा करने पर उनका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीगौतम गणधर ने कहा–"केवलज्ञान के द्वारा यथार्थ देखकर व जानकर धर्मसाधन की इच्छा की है और लोक–प्रत्यय के लिए उसके अलग–अलग विकल्प–भेद बताये हैं। संयम के निर्वाह के लिए तथा उसके आदर–सत्कार के लिए लोक में पूर्वोक्त लिंग–वेष–आकर भी सप्रयोजन–सहेतुक है।"

जो जिनेश्वर वेश पहने बिना भी लोगों की दृष्टि में विभूषित दिखायी देते हैं, वे भी दीक्षा के समय आचार के कारण देवदूष्य वस्त्र अंगीकार करते हैं। निर्ग्रन्थ वस्त्र धारण या ग्रहण करने से परिग्रहीधारी होते हैं–ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिए, क्योंकि तत्त्वज्ञानियों ने मूर्च्छा को ही परिग्रह का कारण कहा है। इस विषय में **दशवैकालिक** में कहा है–

जं पि वत्थं व पायं वा न सो परिग्गहो वुत्तो

भावार्थः–"जो भी वस्त्र अथवा पात्र रखने में आते हैं, उन्हें परिग्रह नहीं कहा है।"

जिनकल्पी के भी सभी उपधियों का त्याग नहीं होता। उनके विषय में भी दो से लेकर बारह तक उपधि रखने का कहा है। उस विषय में आगम में कहा हैः–

दुगतिगचउक्कपणगं, नव दस इक्कारसेव बारसगं।
एए अट्ठ विअप्पा, जिणकप्पे हुंति उवहिस्स।।

भावार्थ :–दो, तीन, चार, पाँच, नौ, दस, ग्यारह और बारह–ये उपधि के आठ विकल्प जिनकल्पियों के लिए कहे गये हैं।

अतः शुद्ध बुद्धि और श्रद्धा से युक्त श्रावक के द्वारा साधु को चन्द्र की किरणों के समान उज्ज्वल और स्वयं के द्वारा व्यवहार में लाने से मलिन हुआ, पर शुद्ध वस्त्र दिया जाना चाहिए। जो वस्त्र मुनि के लिए न बना हो, मुनि के लिए खरीदकर न लिया हो, चोरी किया हुआ अथवा किसी से बलात् छीनकर न लिया गया हो, धोया हुआ न हो, मांगकर लिया हुआ न हो, उस वस्त्र को शुद्ध कहा जाता है। अनेक लोग जामाता आदि को वस्त्रदान करते हैं, पर अगर वही वस्त्र सुपात्र को दिया जाय, तो वह प्रशंसनीय दान कहलाता है। उसकी दातारता अनुशंसनीय होती है। अरिहंतों की सेवा करने में जागृत रहनेवाले वे देवेन्द्र धन्य हैं,

कि जो जिनेश्वरों द्वारा दीक्षा लिये जाने के समय उनके खन्धे पर देवदूष्य वस्त्र डालते हैं। उस वस्त्र को प्रदान करते हुए उनको जिनेश्वर भी मान्य करते हैं। मुनि को शुद्ध वस्त्र देनेवाला बुद्धिमान, वास्तविक रीति से देखा जाय, तो चारित्र लक्ष्मी रूपी कुमारिका को ही पहेरामणी करवाते हैं–ऐसा समझना चाहिए। पहेरामणी करने से प्रसन्न हुई, मोक्ष को प्रदान करनेवाली वह चारित्रलक्ष्मी रूपी कुमारिका उस पुरुष को उसी भव में अथवा अगले भव में वरण करती है। जो पुरुष मुनीन्द्र को शुद्ध भाव से वस्त्र का दान देता है, वह **ध्वजभुजंग** की तरह विशाल संपत्ति को प्राप्त करता है। उसकी कथा इस प्रकार है –

इस भरतक्षेत्र में कल्याण का निवास–स्थान, दारिद्र्य को निरन्तर प्रवासी बनानेवाला और पृथ्वी का अलंकारभूत **श्रीमालव** नामक देश है। वह देश **मा** अर्थात् लक्ष्मी और उसका **लव अर्थात्** लेश–ऐसा नाम निरन्तर धारण करते हुए भी पृथ्वी पर लक्ष्मी की खान के रूप में प्रसिद्ध था। यह आश्चर्य की ही बात थी। उस देश मे **उज्जयिनी** नामक नगरी है। उसने आस–पास की सर्व नगरियों को अपनी लक्ष्मी के द्वारा जीतकर अपना नाम सार्थक बनाया है। उस नगरी में रहे हुए सत्पुरुष अपनी आत्मा का अत्यन्त हित करने की इच्छा से अर्थ अर्थात् धन को सात क्षेत्रों में व्यय करके और काम अर्थात् पाँच इन्द्रियों के विषय को पूजा, उत्सवादि धर्मकार्यों में भोगकर पवित्र करते थे।

उस नगरी के समीप **शालिग्राम** नामक नगर था। वह धन–धान्यादि ऋद्धि से परिपूर्ण था और संपत्ति में उसी नगरी के समान था। उस ग्राम में रहनेवाले लोग दूध, दही, अति स्निग्ध भोजन और शेरडी के रसादि उत्तम वस्तुओं को तृप्ति होने तक खाकर अमृत का भी तिरस्कार कर देते थे।

उस ग्राम में क्षत्रियों के मुकुट के समान, अतुल पराक्रमी और अपने वंश रूपी गुफा में सिंह के समान **सिंहपाल** नामक सुभट रहता था। उसके **यशोदेवी** नामक भार्या थी। उसमें रूपलक्ष्मी के साथ शीलव्रत, लज्जा के साथ दाक्षिण्य, मधुर वाणी के साथ दान, सरलता के साथ गम्भीरता और विद्या के साथ विनय–ये सभी गुण मानो परस्पर अत्यन्त प्रीतियुक्त होकर रहे हुए थे। उन दोनों ने त्रिवर्ग के साधन द्वारा सुन्दर और सुख के द्वारा मनोहर कितने ही वर्ष दिवसों के समान व्यतीत किये।

एक बार उस **यशोदेवी** ने दिव्य स्वप्न के साथ गर्भ को पृथ्वी के निधान की तरह धारण किया। ऋतु के अनुकूल और शरीर को हितकारक आहार तथा विहार करने में तत्पर **यशोदेवी** मानो अपना दूसरा जीवन हो–इस प्रकार से उस गर्भ का पालन करने लगी। पर उसे गर्भ के प्रभाव से शुरु–शुरु में पुण्य का नाश करनेवाले हिंसा, असत्य और चोरी संबंधी कितने ही दुष्ट दोहद उत्पन्न हुए। पर उन दोहदों को पूर्ण करने में उसका मन जरा भी प्रवर्तित

नहीं हुआ, क्योंकि क्षोभ को प्राप्त होने पर भी क्या समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ देता है? ऐसे दुष्ट दोहद आने के बावजूद भी शुद्ध मन से युक्त होकर वह जबरन दया, देवपूजा और दीन–हीन जनों को दान देकर अपने दुष्ट भाग्य का नाश करने के लिए प्रवर्तित होने लगी। अतः शुभ आशयवाली होने से उसे शुभ दोहद उत्पन्न होने लगे। **अभ्यास के अनुसार ही प्राणियों का परिणाम प्रवर्तित होता है।** उसके इच्छित शुभ दोहद पूर्ण होने मुश्किल थे, फिर भी उसके पति ने उसके सभी दोहद पूर्ण किये। प्रसन्न हुआ पति स्त्रियों के लिए जंगम कल्पवृक्ष के समान होता है। गर्भ अदृश्य था, पर फिर भी वह माता–पिता की प्रीति को बढ़ाता गया। चन्द्र बादलों में रहने के बावजूद भी क्या समुद्र को उछलती तरंगों से युक्त नहीं बनाता?

अनुक्रम से समय पूर्ण होने पर सम्पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त सूतिकागृह को उद्योतित करनेवाले पुत्र को उसी तरह जन्म दिया, जैसे रत्नों की खान रत्नों को उत्पन्न करती है। उस समय उसके पिता ने निर्मल और विशाल जन्मोत्सव किया। बारहवें दिवस माता–पिता ने उसका नाम **राजपाल** रखा। वह शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्र की तरह अनुक्रम से वृद्धि को प्राप्त होने लगा। अमृत की वृष्टि की तरह वह अपने पितादि व बन्धुजनों को आनन्दित करने लगा। आठ वर्ष की वय प्राप्त होने पर पिता ने उसे उपाध्यायों के पास पढ़ने के लिए भेजा। वहां वह सर्व कलाओं में निष्णात हो गया। स्वर्ण को घड़कर अगर अलंकार के रूप में बनाया जाय, तो ही वह लोगों के मण्डन रूप बनता है। फिर वह कुमार सभी स्त्रीजनों के नेत्रों के जीवन रूपी युवावस्था को प्राप्त हुआ। उसकी रूपलक्ष्मी कामदेव के गर्व का नाश करनेवाली बनी। उसका वक्षःस्थल उदारता के साथ विशालता को प्राप्त हुआ। उसके नेत्र पिता की वाणी के साथ कर्ण के प्रान्त भाग में विश्रान्ति को प्राप्त हुए। उसका उदर गर्व के साथ कृशता को प्राप्त हुआ। उसके दोनों हाथ यश के साथ दीर्घता को प्राप्त हुए। उसकी नासिका माहात्म्य के साथ उन्नतता को प्राप्त हुई। उसके हाथ–पैर वाणी के साथ कोमलता को प्राप्त हुए। उसके दाढ़ी–मूछ तेज के साथ उत्पत्ति को प्राप्त हुए। उसका कपाल बुद्धि के साथ विस्तार को प्राप्त हुआ। उसके दोनों होंठ लोगों के साथ राग को प्राप्त हुए। उसके पुष्ट हुए दोनों स्कन्ध विनय के साथ शोभा को प्राप्त हुए। इस प्रकार परस्पर मानो स्पर्धा करती हों–ऐसी उसकी उसकी मनोहर रूपलक्ष्मी और गुणलक्ष्मी ने उसका आनन्दपूर्वक आलिंगन किया था। कमल को भ्रमरों की तरह उसके सौभाग्य से लुब्ध हुए कौन–कौनसे अकृत्रिम (सच्चे) मित्र उसके पास नहीं मंडराने लगे? अर्थात् उसके पास हितैषी मित्रों का सदा जमघट लगा रहता। वह **राजपाल** मित्रों के साथ ग्राम के उद्यानों में क्रीड़ा करता और इच्छानुसार अनेक कौतुक देखते हुए समय व्यतीत करता था।

कितना ही समय बीत जाने के बाद जिस प्रकार उपाधि के कारण दर्पण में श्यामता आ

जाती है, उसी प्रकार **राजपाल** को भी मित्रों के साथ जुए की आदत लग गयी। जैसे चन्द्र में कलंक, धनवान में कृपणता, दातार में वाणी की कठोरता, समुद्र में खारापन, विशाल राज्य में अनीति और गुलाब में कांटे दोष को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही कुमार में द्यूत का दोष उत्पन्न हो गया। अहो! **नीच की संगति सर्व दोषों को जीवन प्रदान करनेवाली औषधि है**, क्योंकि नीच के संग ने इस गुणवान कुमार को भी जुआरी बना दिया था। नीच की संगति से बड़े–बड़े पुरुषों का माहात्म्य भी घट जाता है। क्या मदिरापात्र में रहा हुआ जल अपेय नहीं होता? छल–कपट से खेलनेवाले जुआरियों के साथ जुआ खेलते हुए वह तुच्छबुद्धि से युक्त कुमार बार–बार विशाल धनराशि हार जाता था। **पुत्र की उपेक्षा करनेवाले पिता पुत्र के पाप से लिप्त बनता है।** ऐसा विचार करके बुद्धिशाली पिता ने एक दिन उसे शिक्षा दी–"हे स्वच्छ बुद्धियुक्त वत्स! धूलयुक्त पृथ्वी पर हाथी के आलोटने की तरह सर्व गुणयुक्त तुम्हारे द्वारा जुआ खेलना योग्य नहीं है। हे पुत्र! जुआ समग्र आपत्तियों का संकेत–स्थान है। यह समस्त दोषों की अक्षय खान के रूप में प्रसिद्ध है। अत्यन्त प्रचण्ड भुजबलवाले **पाण्डव** भी द्यूत के व्यसन पर प्रीति के कारण किस–किस पराभव को प्राप्त नहीं हुए? विशाल साम्राज्य को भोगनेवाले धैर्यवान और मनोहर राजा **नल** भी द्यूत के द्वारा श्रवण न करने योग्य दुष्ट दशा को प्राप्त हुए थे–ऐसा सुना जाता है। अतः हे वत्स! सर्व पाप के स्थान रूपी द्यूत का तूं त्याग कर, कि जिससे दिन–दिन तेरा बड़प्पन बढ़ता जाय।"

इस प्रकार पिता के उपदेश से **राजपाल** कितने ही समय तक पाल से बांधे हुए नदी के प्रवाह के समान मर्यादा में रहा। पर फिर पूर्व के अभ्यास के कारण पुनः द्यूत में प्रवर्तित हो गया। ऊपर की ओर ले जाया जाता हुआ पानी अधिक देर तक स्थिर नहीं रह सकता। हितैषी पिता ने दो–तीन बार पूर्व की तरह उसे जुआ खेलने से रोकने का प्रयास किया, पर उसने उस व्यसन का त्याग नहीं किया, क्योंकि जिसको जो व्यसन लग जाता है, उसके लिए उसे छोड़ना मुश्किल होता है। विवेकवान पिता ने विचार किया–"पूर्वजन्म के कर्मों के उदय को कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता।"

ऐसा सोचकर उन्होंने उदसीनता धारण कर ली। ऐसे पुत्र का दुर्व्यसन देखने में मानो असमर्थ हो–इस प्रकार कुछ समय बाद ही पिता **सिंहपाल** का परलोकगमन हो गया। पिता का मरण कार्य करके **राजपाल** पुनः द्यूत में प्रवर्तित हो गया, क्योंकि जिसका मन जिस कार्य में आसक्त हो, उसका मन उसी कार्य में आनंद पाता है। उसका व्यसन इतना अधिक बढ़ गया था कि भोजन करते ही उसके हाथ तत्काल जुआ खेलने में व्यग्र हो जाते थे। द्यूत के कारण चारों ओर उसकी महिमा का विनाश हुआ। क्या काजल के संबंध से उज्ज्वलता की हानि नहीं होती? उसी व्यसन से अनुक्रम से उसका समग्र धन पाल से रहित सरोवर के जल की तरह

खत्म हो गया।

एक बार **राजपाल** भोजन करने के लिए घर आया, तब उसकी माता ने कहा–"हे वत्स! पकाने के लिए ईंधन नहीं है। अतः भोजन करके ईंधन लेकर आ।"

उसके बाद वह भोजन करके हाथ में कुल्हाड़ी लेकर वन में गया। वहां एक विशाल वृक्ष देखकर उसे काटने के लिए तैयार हुआ, तभी वृक्ष का अधिष्ठायक देव आकाश में प्रकट होकर बोला–"हे महाशय! यह वृक्ष मेरे रहहने का स्थान है। इसे तूं मत काट।"

इस प्रकार कान को अमृत समान लगनेवाली मीठी वाणी सुनकर **राजपाल** ने मुख ऊँचा किया और जैसे श्रद्धालू पापकर्मों से पीछे लौटता है, उसी प्रकार वह वृक्ष छेदने से रुक गया। यह देखकर यक्ष ने प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष होते हुए कहा–"हे सत्पुरुष! मैं तुझ पर प्रसन्न हुआ हूं। तूं इच्छानुसार वरदान मांग।"

यह सुनकर **राजपाल** 'अहो! मेरा भाग्य! अहो! मेरा पुण्य!'–इस प्रकार विचार करते हुए आश्चर्यचकित होकर देव को वंदन करके बोला–"हे देव! इस पृथ्वी पर विशाल राज्य भोग और सुख आदि सुलभ हैं, पर एकमात्र देवदर्शन ही दुर्लभ है। देवदर्शन की आशा से मनुष्य सैकड़ों तप तपता है, विधि–प्रमाण मंत्रादि का जाप जपता है, समृद्धि का व्यय करता है, श्मशान में कष्टपूर्वक रात्रि व्यतीत करता है और अग्नि में होमादि करने का कष्ट सहन करता है। ऐसे देव का दर्शन मुझे प्रयत्न के बिना ही पुण्य से प्राप्त हुआ है। अतः हे देव! आपके दुर्लभ दर्शन पाकर आज मैं कृतार्थ बना हूं। अतः और क्या मांगूं?"

देव ने कहा–"हे भद्र! देव के दर्शन निष्फल नहीं जाते–ऐसा कहा जाता है। अतः तुम शीघ्र ही कोई भी वरदान मांग लो।"

यह सुनकर **राजपाल** ने विचार किया–"अगर धन मांगूंगा, तो वह मेरे व्यसन के कारण टिकेगा नहीं, अतः अभी तो मैं इस वरदान को स्थापन के रूप में मांग लूं।"

ऐसा विचार करके **राजपाल** ने कहा–"हे देव! जब मैं आपका स्मरण करूं, तब आप मुझे दर्शन देना।"

"ठीक है"–ऐसा कहकर देव मानो स्वप्न में दिखा हो–इस प्रकार से तत्काल अदृश्य हो गया। **राजपाल** भी अन्य काष्ठ लेकर घर पर आ गया। उसी प्रकार द्यूत खलते हुए एक बार उसने अपने पहने हुए वस्त्र शर्त में रख दिये और वह शर्त हार गया। व्यसन से किसकी बुद्धि नाश को प्राप्त नहीं होती? उसके बाद अन्य वस्त्र नहीं होने से उसने देवमन्दिर के ऊपर से उतरा हुआ जीर्ण ध्वज–वस्त्र लेकर निरन्तर वही पहना। इससे लोग उसे **ध्वजभुजंग** के नाम से पुकारने लगे, क्योंकि मनुष्य का नाम उसके व्यापार से प्रसिद्ध होता है। उसने जुगार के

व्यसन से समस्त धन ही नहीं गँवाया, बल्कि धर्म, सुख, गुण, प्रसिद्धि और अन्त में अपना नाम भी मूल से गँवा दिया। द्यूत खेलते हुए उसे इतना दारिद्र्य प्राप्त हुआ, उसके घर पर भोजन का भी संदेह रहने लगा कि आज घर पर भोजन है भी या नहीं?

एक बार उसके घर पर अनाज न होने से उसकी माता ने भोजन नहीं बनाया, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं निपजता। उस समय जीर्ण ध्वज के वस्त्र को धारण करनेवाला, घिसे हुए नाखूनोंवाला, भुरभुरे हाथोंवाला और मानो साक्षात् कुल का कलंक ही हो–ऐसा वह भोजन करने के लिए घर पर आया। वहां उसको और चूल्हे में आलोटते हुए चूहों को देखकर खेद से पराधीन माता ने गद्‌गद स्वर में पुत्र से कहा–"हे पुत्र! तूंने कुल रूपी वन में यह कौनसा द्यूत रूपी दावानल फूंका है? कि जिससे धर्म, अर्थ और काम रूपी वृक्षों को मूल से ही जला दिया है। तेरे पिता दूसरे मनुष्यों का पेट भरते थे और तूं स्वयं का पेट भरने में भी समर्थ नहीं है। तुम्हारे पिता ग्राम के सभी अधिकारियों में मुख्य थे और तूं पास में खड़ा हो, तो भी कोई तेरी तरफ दृष्टि तक नहीं डालता। अन्य पुत्र अपने पिता की कीर्ति और धन की वृद्धि करते हैं, पर तूंने इन दोनों का ही नाश कर डाला है। अहो! तेरी सुपात्रता कैसी है? अन्य पुत्र अपनी माता को स्वर्णादि आभूषणों के द्वारा शोभित करते हैं, पर तूं तो इसके विपरीत द्यूत के व्यसन के कारण अपनी माता के सारे अलंकार हार गया है। सूर्यसमान पिता का पुत्र होते हुए भी तुमने शनि के समान समग्र ज्ञातिजनों के चित्त को संतप्त किया है। हमेशा द्यूत में धन हारने के बावजूद भी आज तक तेरे पिता के द्वारा उपार्जित धन से ही आजीविका का निर्वाह हुआ है। पर तूं तो एक फूटी कौड़ी तक लेकर नहीं आया। अतः हे कुपुत्र! हे निर्लज्ज! तेरा चित्त दिन–रात जुगार में ही लगा हुआ है, तो वहीं भोजन करने क्यों नहीं जाता?"

इस प्रकार उसकी माता ने उसका तिरस्कार किया। तब उसने लज्जा से अपना मस्तक झुका लिया। वह मन में अत्यन्त खिन्न बना। हिम के द्वारा मुरझाये हुए कमल की तरह वह ग्लानि को प्राप्त हुआ। उसके बाद उसी वक्त खेदयुक्त होकर **ध्वजभुजंग** अपने घर का त्याग करके फलादि का आहार करते हुए उज्जयिनी नगरी में आया। वहां भी दो–तीन दिन बाद पहले की तरह द्यूत खेलने लगा। प्राणी तृण की तरह कर्म रूपी वायु का ही अनुसरण करते हैं। वह जुआ तो खेलता था, पर उसकी संगति रूपी चोरी, क्रूरता व असत्य आदि दोष उसमें नहीं थे। यह भी कर्म की ही विचित्रता थी।

एक दिन वह जुगार में अगणित द्रव्य हार गया, क्योंकि जुए में धन हारना तो सरल ही है, पर जीतना अत्यन्त दुर्लभ है। अतः देनदार होने से अन्य लेनदार जुआरी उसके पास धन मांगने लगे। पर वह सर्वथा निर्धन होने से धन देने में समर्थ नहीं हुआ। अतः मानो अशुभ कर्मों से भाग रहा हो–इस प्रकार वह जुआरियों से भयभीत होकर भागकर किसी सरोवर की पाल

पर रहे हुए देव–मन्दिर में जाकर छिप गया।

इसी अवसर पर उस **ध्वजभुजंग** के पुण्य से प्रेरित होकर कोई **भामह** नामक परदेशी सार्थवाह माल लादे हुए अनेक बैलों के साथ उस तालाब पर आया। वे बैल उस सरोवर में पानी पी–पीकर आगे चलने लगे। उनमें से एक बैल के ऊपर लादी गयी बोरी सरोवर के पानी में गिरती हुई देखकर **ध्वजभुजंग** ने तुरन्त मानो अपने दुष्कर्मों की श्रेणि गिर रही हो–इस प्रकार से उस बोरी को लपक लिया। चारों तरफ अच्छी तरह देख लिया कि उसे कोई देख तो नहीं रहा है। उसके मन में अत्यन्त चिन्ता थी कि मैं उन जुआरियों का धन कैसे चुकाऊँ? फिर गिरी हुई बोरीवाले उस बैल को देखकर सार्थवाह खेद के परवश होकर मानो उसका जीवन ही नष्ट हो गया हो–इस प्रकार से म्लान मुखवाला बन गया। फिर वह अपने मनुष्यों के साथ सरोवर में चारों तरफ उस बोरी को ढूंढ़ने लगा, पर हाथ में से गिरे हुए स्वर्ण की तरह किसी भी स्थान पर वह बोरी नहीं मिली। शून्य चित्तवाला सार्थवाह चारों तरफ घूमने लगा। तभी उसने समीप में रहे हुए **ध्वजभुजंग** को देखा।

उसने उससे आदरपूर्वक पूछा–"हे महाभाग्यवान! बैल के ऊपर से बोरी पानी में गिर गयी अथवा किसी ने उसका हरण कर लिया? क्या तुमने देखा? वह बोरी स्वर्ण की मोहरों से भरी हुई थी। सम्पूर्ण सार्थ का मानो द्वितीय जीवन हो–इस प्रकार वह बोरी सर्वस्व थी। उसके बिना सारा सार्थ निष्प्राण हो जायगा, क्योंकि धन ही प्राणियों का प्रथम प्राण है। अतः हे भद्र! अगर आप उस बोरी के बारे में जानते हैं, तो शीघ्र ही बतायें, क्योंकि सत्पुरुष परहित करने में आसक्त होते हैं।"

इस प्रकार मधुर वाणी के द्वारा सार्थवाह ने उससे पूछा, तो वह अत्यन्त खुश हुआ। मन में विचार करने लगा–"निश्चय ही मैंने पूर्वजन्म में दूसरों पर द्वेषादि करने रूप पाप किया होगा, अन्यथा मेरी यह दुष्ट दशा कैसे होती? तो अब मैं वैसा दुष्कर्म क्यों करूं? इसके साथ छल करने से केवल द्रोह ही नहीं होगा, बल्कि सर्व सार्थ के मनुष्यों की हत्या का भी पाप लगेगा। मैंने अपने पिता का न्यायोपार्जित धन भी जुए में गँवा दिया, तो अन्याय से प्राप्त इस धन को कितने समय तक अपने पास टिका सकूंगा?"

इस प्रकार मन में निश्चय करके उसने सत्य बात बता दी, क्योंकि हित करनेवाले पुरुष अगर दरिद्री भी हो, तो भी वे परद्रोह नहीं करते। उसने कहा–"हे सार्थेश! तुम्हारी वह बोरी पानी पीते हुए बैल पर से इस जगह गिर गयी थी। तुम इसे सम्भाल लो।"

इस प्रकार उसके अमृत–तुल्य वचनों को सुनकर सार्थवाह खुश हो गया। उस स्थान से उसने बोरी खींचकर निकाली और अन्तर में से पीड़ा को बाहर निकाल दिया। बोरी प्राप्त करने

की खुशी से व्याप्त चित्तवाला सार्थवाह उसके पास आया और अपने अन्दर नहीं समाते हुए हर्ष को बाहर निकालता हो–इस प्रकार की वाणी में कहा–"अहो! तेरी निर्लोभता भुवन में अद्‌भुत है, क्योंकि इतना दारिद्र्य होते हुए भी तुम्हारी बुद्धि में द्रोह उत्पन्न नहीं हुआ। तुम्हारा यह परोपकार किसके द्वारा प्रशंसनीय न होगा? कि जो परोपकार समग्र गुणों को कौर बनाकर निगल जानेवाले लोभ से भी न निगला गया। कदाचित् नदियों का पति समुद्र सूख जाय, अग्नि शीतल बन जाय, सूर्य पश्चिम में उगने लगे, मेरुपर्वत कम्पायमान बन जाय, पर सत्पुरुष प्राणान्त आने पर भी परवंचक नहीं बनते। हे गुणों के भण्डार! तुम महापुरुषों अग्रिम श्रेणी में भी प्रथम स्थान को प्राप्त हुए हो। हे गुणीजनों के ईश्वर! तुमने हमें यह बोरी ही नहीं लौटायी है, बल्कि उसके आधीन आजीविकावाले हम सब का जीवन भी तुमने लौटाया है। अतः मैं अगर तुम्हें अपना सर्वस्व भी दे दूं, तो भी तुम्हारे उपकार से उऋण नहीं हो सकता। पर फिर भी अपने चित्त की शान्ति के लिए मैं तुम्हारा कुछ प्रत्युपकार करना चाहता हूं अन्यथा मेरी कृतज्ञता मूल से ही नाश को प्राप्त हो जायगी। अतः मुझे खुश करने के लिए तुम इन स्वर्णमोहरों का आधा भाग तुम ग्रहण करो। ऐसा करने से तुमने अपनी मित्रता मेरे साथ शोभित की–ऐसा मैं मानूंगा।"

यह सुनकर **ध्वजभुजंग** ने बहुमानपूर्वक उससे कहा–"हे सार्थेश! तुमने मुझे इतना सम्मान दिया, इससे ही मेरा अर्थ सिद्ध हो गया–ऐसा मैं मानता हूं। परोपकार से उत्पन्न हुए शाश्वत और अगण्य पुण्य को छोड़कर मात्र इस भव में ही रहनेवाले क्षणिक और असार धन को किसलिए ग्रहण करूं? अथवा तो मैंने तुम्हारा क्या उपकार किया है? जिससे कि तुम अपने आपको इस तरह देनदार बना रहे हो? यह स्वर्णमोहरों की बोरी तुम्हें तुम्हारे पुण्य से ही प्राप्त हुइ है। हे धन्य! मैंने तो मात्र तुम्हें बतायी है। मुझ नीच का इतना सम्मान करके क्या तुमने प्रत्युपकार नहीं किया? हे महाशय! तुम मुझे कितना भी द्रव्य दोगे, पर मैं द्यूत का व्यसनी होने से हाथ में रहे हुए पानी की तरह धन मेरे पास टिकेगा नहीं। अतः मैं तुम्हारा थोड़ा भी धन ग्रहण नहीं करूंगा। अतः इसके बदले हमारी निर्मल प्रीति सदाकाल के लिए बनी रहे।"

यह सुनकर दरिद्र होते हुए भी उसका इतना अधिक सन्तोष देखकर सार्थवाह अत्यन्त हर्षित हुआ। अत्यन्त मैत्रीभाव से युक्त होते हुए सार्थवाह ने उससे पूछा–"हे भद्र! तुम कौन हो? कहां रहते हो? तुम्हारी यह दशा कैसे हुई? किस कारण से तुम अत्यन्त दुःखी दिखायी देते हो?"

तब उसने अपना सारा वृत्तान्त शुरु से सुनाया। मित्रता होने के बाद झूठ बोलने का कोई कारण नहीं रहता। यह सब सुनकर निर्धन अवस्था में भी उसकी ऐसी निःस्पृहता देखकर सार्थवाह अत्यन्त आश्चर्यचकित हुआ। कुछ धन देने के लिए उसने फिर से प्रार्थना की–"हे मित्र! यह बोरी

जाने के बाद तुम्हीं ने वापस लौटायी है। अतः यह पूरी की पूरी तुम्हारे द्वारा खरीदी हुई के समान है। तो फिर अर्ध भाग लेने के लिए तुम क्यों निषेध करते हो?"

इस प्रकार बार–बार मनुहार करने पर भी उस बुद्धिमान ने कुछ भी नहीं लिया, क्योंकि **महापुरुष दारिद्र्य अवस्था में रहने के बावजूद भी परधन की स्पृहा नहीं करते।**

उसके बाद पृथ्वी पर उसकी ही अद्‌भुत निर्लोभता देखकर सार्थवाह **भामह** ने उस पर निःसीम प्रेमभाव धारण किया। ऐसे व्यक्ति पर किसको प्रीति नहीं होगी? फिर उदार बुद्धियुक्त सार्थवाह ने भेंट के रूप में उसे एक रत्न से शोभित मणि और स्वर्णमय एक चौपाट दी। अत्यधिक प्रेमभाव व मित्रता का वास्ता देने पर **ध्वजभुजंग** ने उसे ग्रहण कर लिया, क्योंकि **महापुरुषों में स्वभावतः अगण्य दाक्षिण्य होता है।** उसे लेकर **ध्वजभुजंग** ने विचार किया–"मैं जुआ खेलता हूं। अतः ये वस्तुएँ मेरे पास एक दिन भी टिकनेवाली नहीं हैं। अतः यह चौपाट किसी महापुरुष को भेंट करके उस पर उपकार करना योग्य होगा, क्योंकि **परोपकार ही विद्वानों का जीवन है।**"

इस प्रकार मन में विचार करके निश्चय करके उसने **भामह** से पूछा–"तुम किस देश की तरफ जा रहे हो?"

उसने कहा–"मैं व्यापार करने के लिए दक्षिण दिशा की तरफ जाने का उद्यम कर रहा हूं।"

यह सुनकर **ध्वजभुजंग** ने कहा–"उस देश का जो भी राजा हो, उसे यह चोपाट आदि मेरी तरफ से भेंट कर देना।"

यह सुनकर सार्थवाह विशेष रूप से विस्मित हुआ–"अहो! ऐसी दारिद्र्य अवस्था में भी इसमें कितनी परोपकारिता है!"

फिर सार्थवाह ने यह कहकर चौपाटादि ग्रहण की कि तुम्हें भी अब मेरा वचन मानना होगा। ऐसा कहकर उदार बुद्धियुक्त सार्थवाह ने उसके न चाहते हुए भी जबरन उसे कितना ही धन दिया, क्योंकि प्रीति रूपी लता का यही फल है।

उसके बाद चित्त में प्रसन्नता लेकर सार्थवाह आगे रवाना हुआ। फिर **ध्वजभुजंग** भी उसको कुछ दूर पहुँचाकर निर्भयता के साथ नगर में गया। उसने उस धन के द्वारा अपना सारा देना चुका दिया, क्योंकि समझदार पुरुष धन पास होने पर उधार सिर पर नहीं रखते। फिर हर्षपूर्वक कितना ही धन अपनी माता के पास भेजा, क्योंकि निर्धनता में भी अपने माता–पिता की सम्भाल करनेवाले ही पुत्र कहलाते हैं। वह कुमार बीच–बीच में जुआ खेलते हुए वहीं रहा। मानो अपने पुण्योदय की राह देख रहा हो–इस प्रकार से कितना ही काल वहां निर्गमन

किया।

उधर **भामह** सार्थवाह वहां से चलकर कितने ही दिनों बाद दक्षिण देश के स्वामी **अरिमर्दन** राजा की नगरी में पहुँचा। उसने सभा में जाकर राजा को भेंट देकर प्रणाम किया। राजा ने भी उसका यथायोग्य सम्मान किया। उसके बाद **ध्वजभुजंग** के मूर्तिमान उज्ज्वल भक्तिराग के रूप में मणि और चोपाट राजा को समर्पित किया और कहा–"हे देव! उज्जयिनी नगरी के निवासी **ध्वजभुजंग** कुमार ने हर्षपूर्वक यह भेंट आपके लिए भेजी है।"

मणि और स्वर्णमय अद्‌भुत पट्ट को देखकर राजा तथा सभी सभासद अत्यन्त आश्चर्यचकित हुए। फिर उछलते विस्मय रूपी समुद्र की तरंगों रूपी वाणी में राजा ने हर्ष से सभा के समक्ष कहा–"अहो! यह भेंट भेजनेवाले की उत्तमता किसके लिए विस्मयकारक नहीं है? कि जिसने मुझे देखे बिना ही मेरे लिए यह उपहार भेजा है। महात्मा परोपकार करने में मेघ के समान स्वजनपने की, बातचीत के परिचय की, प्रेम की या दर्शन की अपेक्षा नहीं रखते। शास्त्र में सत्पुरुषों का सर्वत्र ही उपकार सुना जाता है। वह आज इस महाशय ने सत्य रूप में दर्शा दिया है। उसने अकृत्रिम मित्रता के द्वारा स्वयं आगे बढ़कर मुझ पर ऐसा उपकार किया है। अतः मैं उसे अपना सारा साम्राज्य दे दूं, तो भी उसके उपकार से उऋण नहीं हो सकता। फिर भी हे सार्थेश! मेरे चित्त को आनन्द प्रदान करने के लिए मैं तुम्हारे साथ उसके लिए पाँचसौ मदोन्मत्त हाथी भेजूंगा। तुम जाते वक्त उन्हें ले जाना।"

यह कहकर राजा ने उस सार्थवाह का सत्कार करके उसे महल में उतारा। सार्थवाह वहां राजा की प्रीति से अत्यन्त पराक्रम को प्राप्त हुआ। क्रय–विक्रय करते हुए कितने ही काल तक वहां सुखपूर्वक रहा। फिर उसका व्यापार का प्रयोजन पूर्ण हुआ। अतः राजा की आज्ञा लेकर और पाँचसौ हाथी साथ में लेकर वह अपने घर की तरफ वापस मुड़ा। उसने विचार किया–"अहो! परोपकार नामक कोई अद्‌भुत कल्पवृक्ष है, जो तत्काल बिना विचारे ऐसा फल प्रदान करता है।"

इस प्रकार अंतःकरण में आश्चर्यचकित होते हुए और मित्र का अहर्निश स्मरण करते हुए वह सार्थवाह कितने ही दिनों में उज्जयिनी नगरी पहुँचा।

लोगों के मुख से सार्थेश का आगमन सुनकर श्रेष्ठ बुद्धियुक्त **ध्वजभुजंग** अत्यन्त हर्ष के साथ उसके सामने गया। दूर से ही परस्पर एक–दूसरे को देखकर वे दोनों अत्यन्त प्रीति व उल्लास को प्राप्त हुए। फिर पास आने पर दोनों ने इस प्रकार हर्षपूर्वक परस्पर गाढ़ आलिंगन किया कि वे एक शरीर रूप ही नजर आने लगे। उसके बाद दोनों ने परस्पर कुशल वार्त्तादि प्रश्न किये, क्योंकि सत्पुरुष सर्वत्र औचित्य व्यवहार करने में सावधान होते हैं। फिर सार्थवाह

ने उसी सरोवर के पास अपना सार्थ ठहराया। उसके बाद अपने तम्बू में **ध्वजभुजंग** को बुलाकर कहा–"हे मित्र! तुमने मेरे साथ मणि व चोपाट भेंट देने के लिए भेजी थी, वह मैंने दक्षिण देश के राजा को प्रदान कर दी। उसे देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुए राजा ने मेरे साथ तेरे लिए पाँचसौ हाथी भेजे हैं। हे महाप्रभावी! तेरा अभंग भाग्य जागृत है कि जिससे राजा ने तेरे लिए पाँचसौ हाथी भेजे। प्रायः करके अन्य सभी धर्म दूसरे भव में फलित होते हैं। पर परोपकार तो इसी भव में तत्काल फलदायक होता है। परोपकारी को अपने आप ही संपदाएँ प्राप्त हो जाती हैं–यह योग्य ही है, क्योंकि ऐसी दारिद्र्य अवस्था में भी तेरी परोपकारी बुद्धि जागृत है। जैसे व्रत की परीक्षा में प्राणत्याग कसौटी है और शूरता की परीक्षा में महायुद्ध कसौटी है, वैसे ही उपकार की परीक्षा में निर्धन भी कसौटी रूप है। उत्तम जातियुक्त इन पाँचसौ हाथियों के द्वारा तूं विशाल राज्य का उपभोग कर, क्योंकि साम्राज्य प्राप्त करवाने में तो एक ही हाथी भी समर्थ है।"

इस प्रकार सुनकर और पाँचसौ हाथियों की प्राप्ति से आनन्दित हुए कुमार ने प्रीति के विस्तारपूर्वक उससे कहा–"अहो! उस राजा की अद्‌भुत उदारता तो देखो, कि जिसने एक पट्टमात्र भेजने से उसके बदले में इतने हाथी भेजे। उदार चित्तवाले व्यक्ति स्वयं पर जितना उपकार किया गया हो, उससे ज्यादा ही प्रत्युपकार करने की कोशिश करते हैं। देखो! विशाल वृक्ष पानी पिलानेवाले पुरुषों को पानी के प्रमाण से ज्यादा स्वादिष्ट फल प्रदान करते हैं। और भी, मुझे जो यह संपत्ति प्राप्त हुई है, वह भी तुम्हारी कृपा से ही प्राप्त हुई है, कमल की शोभा सूर्य के प्रताप से ही है। उस राजा ने प्रेमपूर्वक मुझे इतने अधिक हाथी भेजे हैं, उसका उपकार मेरे सिर पर भार रूप हो गया है। यह भार मैं कैसे उतार पाऊँगा? दूर रहे हुए उस राजा का मैं कुछ भी प्रत्युपकार करके उसका ऋण उतारने में समर्थ नहीं हूं। इन हाथियों को मैं वापस राजा के पास भेजूं–यह भी मेरे लिए शक्ति से परे है। अगर मेरे पास रखूं, तो जिन्दगी–पर्यन्त उस राजा का देनदार बना रहूंगा। अतः इन हाथियों के द्वारा किसी का उपकार करना ही श्रेयस्कर है। सार में सार यही है कि किसी का भी उपकार करो। शालवृक्ष फल के द्वारा उपकार करता है, मेघ जल के द्वारा उपकार करता है, शीप मुक्तफल के द्वारा और पृथ्वी धान्य के द्वारा उपकार करती है। इस प्रकार अचेतन पदार्थ भी जब परोपकार करने में आसक्त है, तो मनुष्य तो चैतन्ययुक्त है। वह कैसे परोपकार करने में आसक्त न हो?"

ऐसा विचार करके **ध्वजभुजंग** ने **भामह** से पूछा–"अब यहां से तुम कहां जाओगे?"

भामह ने कहा–"मैं कन्यकुब्ज नामक पुर में जानेवाला हूं।

ध्वजभुजंग ने पूछा–"उस पुर में कौन मुख्य है?"

उसके पूछने पर सार्थवाह ने कहा–"उस पुर में कुबेर जैसी लक्ष्मीवाले अनेक धनाढ्य है। पर उपमारहित और अगण्य लावण्य रस की नदी के समान **देवदत्ता** नामक गणिका है। वह उस नगर का भूषण है। वास्तव में तो देवताओं ने मनुष्य के आनन्द के लिए मानो देवी प्रदान की हो–यह उसका सार्थक नाम है, ऐसा पुरजन कहते हैं। सर्व प्रकार के गुण उत्पन्न करने में द्वेषी विधाता ने सर्वथा प्रकार से दोषरहित इसकी सृष्टि घुणाक्षर न्याय से ही की है। तीन भुवन में उसका अद्‌भुत सौभाग्य देखकर कामीजन देवांगनाओं को भी तृणवत् मानते हैं। मणि के द्वारा जैसे स्वर्ण अधिक शोभित होता है, वैसे ही चातुर्यादि गुणसमूह के द्वारा उसके सौभाग्य का वैभव विशेष रूप से शोभित होता है। वह नीच वंश में उत्पन्न होने के बावजूद भी सदाचार के द्वारा अद्वितीय मनोहरता को भजती है। क्या कमलिनी कादव में उत्पन्न होने के बावजूद भी निर्मलता का आश्रय नहीं करती? उसके केशपाश में ही कुटिलता रही हुई है, उसकी दृष्टि में ही चपलता रही हुई है और उसके मुख में ही दोषाकर (चन्द्र) रहा हुआ है। पर उसके मन में ये दोष सर्वथा प्रकार से नहीं है। चपलता, कुटिलता, कुशीलता और स्नेह–रहितता आदि दोष तजने के कारण उसने अपनी जाति की अपकीर्ति को दूर ही किया है।"

इस प्रकार चित्त को चमत्कृत करनेवाले उस गणिका के चारित्र का श्रवणकर **ध्वजभुजंग** ने विस्मित होते हुए सार्थवाह से कहा–"स्त्रियों के मध्य शिरोमणि और गुणीजनों में अग्रसर उस गणिका को तुम मेरे ये हाथी भेंट कर देना। मेरे जैसा दरिद्री और जुआरी भी परोपकार करने में शक्तिमान बन सकता है, तो वह तुम्हारे ही आश्रय से। क्या मृग चंद्र के आश्रय से आकाश का पार नहीं पाता?"

यह सुनकर सार्थपति ने कुमार की परोपकारिता और निःस्पृहता से आश्चर्य पाकर आनन्दपूर्वक उसके वचन अंगीकार किये। उसके बाद वह हाथियों को लेकर वहां से रवाना हुआ। कुमार भी कितनी ही दूर उसे पहुँचाकर वापस लौटा। अनुक्रम से चलते हुए वह सार्थ **कन्यकुब्ज** नगरी में पहुँचा। उस समय उस नगरी का क्या वृत्तान्त था, उसे सुनो–

एक बार उस नगरी का राजा **देवदत्ता गणिका** के साथ हाथियों की शर्त लगाकर द्यूत खेलने लगा। अनुक्रम से खेलते हुए गणिका पाँचसौ हाथी हार गयी। धनाढ्य होने के बावजूद भी इतने हाथी एक साथ न मिलने से वह राजा को हाथी नहीं दे पायी। अतः वह राजा को पाँचसौ हाथियों का मूल्य देने लगी। पर राजा उसके रूप में लुब्ध हो चुका था। अतः उसे ही पाना चाहता था। इसलिए राजा ने गणिका से कहा–"हे सुन्दरी! जब तक तूं मुझे साक्षात् पाँचसौ हाथी नहीं दे देती, तब तक तुझे मेरे ही आधीन रहना पड़ेगा।"

इस प्रकार कहकर राजा ने उसे देनदार होने से अपनी वाणी के बंधन में बांधकर अपने आधीन कर ली। उसके बाद दूर न कर सकने योग्य पराधीनता को वह सत्यव्रतयुक्त गणिका निरन्तर शल्य की तरह वहन करती हुई दिन–रात खेद को प्राप्त करने लगी। इस अवसर पर उसके पुण्योदय से सार्थवाह वहां आया और उसको पाँचसौ हाथी प्रदान करते हुए कहा–"**ध्वजभुजंग** ने तुम्हारे गुणों का श्रवण करके चित्त में हर्षित होते हुए इन हाथियों को भेंट के रूप में तुम्हारे पास भेजा है।"

उस समय गणिका उन हाथियों को पाकर इतनी अधिक हर्षित हुई कि उस हर्ष के सामने मेरुपर्वत को भी तृण के समान मानने लगी और समुद्र को भी लघु मानने लगी। अवसर पर प्राप्त होनेवाला चुल्लु–भर पानी भी अत्यन्त प्रीति को उत्पन्न करता है। तो फिर सैकड़ों हाथी समय पर प्राप्त होने पर तो कितना हर्ष होगा? उसके बाद गणिका के नेत्र हर्ष के आवेश के वश से विकस्वर हो गये।

उसने सार्थवाह से पूछा–"वह कुमार कौन है और कैसा है?"

तब सार्थवाह ने उस गणिका को उसकी जाति, दरिद्र स्थिति, द्यूत का व्यसन और सर्व अद्‌भुत गुणादि वृत्तान्त अच्छी तरह विस्तार से बताये।

फिर वेश्या ने पूछा–"इतने अधिक हाथी उसे कहां से प्राप्त हुए?"

ऐसा पूछने पर वह सारी घटना भी बतायी। यह सुनकर उसकी उदारता आदि अद्‌भुत गुण कर्ण के अतिथि होने से उस श्रेष्ठ गणिका का अंतःकरण अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने कहा–"राजा के साथ द्यूत में मैं पाँचसौ हाथी हार गयी थी। उस कर्ज के कारण राजा ने मुझे विशाल संकट में डाल रखा है। अतःअसीम चिन्तासागर में मैं डूबी हुई थी। उस कुमार ने हाथी भेजकर मुझे बहुत बड़ा सहारा दिया है। अहो! उसकी उदारता कैसी है? मैं नीच जाति की तथा परिचयरहित थी, पर फिर भी लीलामात्र में इतने अधिक हाथी भेज दिये। वडवानल की तरह मात्र अपना ही पेट भरनेवाले लोग दुनिया में कौन नहीं है? पर मेघ के समान वह एक कुमार एकमात्र परोपकार करने में तत्पर है। शेषनाग पृथ्वी के भार को धारण करता है–यह मात्र कहावत ही है। पर सही दृष्टि से देखा जाय, तो ऐसे मैत्रीभाव से युक्त महापुरुष ही पृथ्वी का भार उठाते हैं। अहो! जिसको कभी देखा ही नहीं, उसने मुझ पर इतना बड़ा उपकार कैसे कर दिया? अथवा तो क्या बादलों से ढ़का हुआ सूर्य कमलिनी को विकसित नहीं करता? अतः कारण के बिना उपकार करनेवाले इस महापुरुष को अगर मैं अत्यधिक धन भी दूं, तो उसके इस उपकार से मैं उऋण नहीं हो सकती। अतः मैं उसे अपने प्राण ही सौंपती हूं, क्योंकि सर्व दानों में प्राणदान ही उत्तमोत्तम है। जिस प्रकार लता के अंकुरों का उपकार करनेवाला वृक्ष ही एकमात्र

गति–आश्रय है, उसी तरह मेरे प्राणों के लिए भी जिन्दगी–पर्यन्त वह एक ही पति और गति है।''

इस प्रकार कहकर उसने फिर से कहा–''हे सार्थपति! मुझे भक्तिपूर्वक एक विज्ञप्ति पत्रिका उसे भेजनी है। वह तुम जाते समय साथ में ले जाना। तुम अपने मुख से भी यह संदेश दे देना कि एक बार अपनी दासी की सेवा देखने के लिए मुझ पर कृपा करके अपने चरण–कमल के द्वारा इस पृथ्वी को पावन करें।''

इस प्रकार कहकर उस गणिका ने सार्थवाह को मनोहर वस्त्रादि देकर उसका अत्यधिक सत्कार किया, क्योंकि अगर पति के मित्र पर भक्ति हो, तो ही पति की सच्ची भक्ति कहलाती है। उसके बाद राजा को वे पाँचसौ हाथी देकर स्वयं को ऋणमुक्त बनाया और वाणी के बंधन रूपी समुद्र से तर गयी।

राजा ने उससे पूछा–''ये हाथी तुम्हें कहां से प्राप्त हुए?''

उस गणिका ने कहा–''हे राजा! **ध्वजभुजंग** कुमार ने प्रीतिपूर्वक मुझे भेजे हैं।''

यह सुनकर राजा अत्यन्त विस्मित हुआ, क्योंकि ऐसी उदारता किसे विस्मित न करेगी?

उसके बाद वह **देवदत्ता** बार–बार कुमार को याद करते हुए कामातुर हो गयी। प्रियमिलन के लिए उत्कण्ठित चकवी की तरह वह भी अपने प्रिय से मिलने के लिए आतुर हो गयी। कुमार के बिना उसे वस्त्र, ताम्बूल, स्नान, विलेपन, गीत, संगीतादि कुछ भी आनन्द नहीं देता था। वह उस कुमार के बिना अपने धन से भरे हुए महल को बिल्कुल सूना मानती थी। इतना ही नही, वह सम्पूर्ण नगर को भी शून्यवत् मानने लगी।

हे सभ्यों! परोपकार का प्रभाव तो देखो कि उस वेश्या ने कभी कुमार को देखा भी नहीं था, पर फिर भी उस पर कितना विपुल स्नेह धारण किया। फिर जब सार्थवाह वहां से रवाना हुआ, तब उसने मानो अपने विवाह की कुमकुमपत्रिका ही हो–इस प्रकार हर्षपूर्वक लेख लिखकर भेजा। उस लेख को लेकर वह **भामह** सार्थपति क्रयविक्रय से कृतार्थ होकर वहां से रवाना हुआ। अनुक्रम से वह उज्जयिनी पहुँचा। वह **ध्वजभुजंग** से प्रीतिपूर्वक मिला। **देवदत्ता** को हाथी देने का आद्योपान्त विवरण सुनाया। फिर उसने कहा–''हे मित्र! तेरे उपकार की मनोहर कपूर के द्वारा उसका मन चारों तरफ से इतना अधिक वासित बना है कि जिससे कि राजा और अन्य अनेक धनवानों के द्वारा वृद्धि प्राप्त करवायी हुई उसकी समग्र वासना मूल सहित दूर हो गयी है। तेरे ऊपर उत्पन्न हुई अद्‌भुत प्रीति के कारण उसने मुझे अत्यधिक मूल्यवान वस्त्रादि भेंट करके मेरा महा–सम्मान किया है। तूं तेरे नेत्रों के द्वारा पवित्र उन्हें पवित्र कर अर्थात् देख। वह गणिका अपने हृदय में तेरे समागम की अत्यन्त उत्कण्ठा धारण करती है। अतः उस सुमुखी ने हर्ष से अपने हाथ से लेख लिखकर तुझे भेजा है।''

ऐसा कहकर **भामह** ने उसे लेख दिया। कुमार भी हर्षपूर्वक उसे पढ़ने लगा–

"स्वस्ति! श्री स्वामी के चरण–कमलों के द्वारा शोभित उज्जयिनी पुरी के मध्य पूज्य **ध्वजभुजंग** नामक भर्त्तार के दुर्लभ चरण–कमलों की सेवा में। **श्रीकन्यकुब्ज** पुर से आपकी दासी **देवदत्ता** मस्तक पर दोनों हाथ जोड़कर स्नेहपूर्वक विनति करती है कि यहां आप पूज्यपाद के प्रसाद से कुशलता है। आपका कुशल ज्ञात करवायें। अब यह कार्य–निवेदन है कि हे नाथ! आपने इस प्रकार का उपकार करके मुझे इतना बड़ा देनदार बना दिया है कि मैं अपना सर्वस्व भी दे दूं, तो भी आपके उपकार से उऋण नहीं हो सकती। अतः हे स्वामी! मैं आपके उपकारों द्वारा खरीदी गयी दासी बन गयी हूं, क्योंकि जब अत्यधिक कर्ज चुकाना हो, तो दासपने के सिवाय अन्य कोई उपाय शेष नहीं रहता। जैसे रात्रि चकवी चकवे को देखने के लिए उत्सुक बनी रहती है, वैसे ही मैं आपके दर्शनों के लिए उत्सुक हूं। हे देव! जब मेरा जीवन और यौवन आपके संगम के महा आनन्द के द्वारा सौभाग्ययुक्त बनेगा, तभी वह सफल होगा। आपके बिना मेरा उद्यान सूना है, मेरा घर सूना है, सर्वदिशाएँ सूनी हैं और मेरा मन भी सूना है। मेरी दृष्टि में तो सारा जगत ही सूना है। हे सुभग! तुम्हारे वियोग में मुझे विलेपन, भोजन, स्नान, हास्य, नृत्य व उत्सवादि सभी विष के समान लगते हैं। आपके वियोग का दुःख आपके दर्शन से ही नाश को प्राप्त होगा, क्योंकि ग्रीष्मऋतु से उत्पन्न हुआ पृथ्वी का ताप मेघ के द्वारा ही शान्त होता है। अतः हे देव! आपकी इस दासी का जीवन अब आपके ही हाथ में है। प्रसन्न होकर शीघ्र ही मुझे मिलने या बुलाने के लिए जल्दी ही यहां पधारें। मेर नेत्र आपके लावण्य रूपी अमृत रस के लिए तरस गये हैं। अतः अमुतरस का पान करके वे तृप्त बनें–ऐसा कोई उपाय तृप्ति पाने के लिए करें। इति शम्।"

इस प्रकार का लेख पढ़कर कुमार हर्ष से रोमांचित हो गया। वाचालयुक्त होकर वह आश्चर्य से बोला–"अहो! उसकी सज्जनता! अहो! उसके प्रेम की प्रधानता! अहो! उसके विनय की निपुणता! अहो! उसकी वचन–रचना! ये सभी अद्‌भुत है।"

यह सुनकर सार्थवाह ने कहा–"इस लेख में जो लिखा हुआ है, उसका प्रत्येक अक्षर सत्यरूप ही है, उसकी यह सम्पूर्ण दशा मैंने अपनी आँखों से देखी है। अतः हे मित्र! जिसने अन्य पुरुषों की आसक्ति का त्याग किया है और जो तेरे वियोग से पीड़ित है, उस पतिव्रता से अब शीघ्र ही मिलना तेरे लिए योग्य है। हे मित्र! अब मैं जाना चाहता हूं। कार्य होने पर तुम मुझे जरूर याद करना।"

ऐसा कहकर सार्थवाह वहां से रवाना होकर अपने स्थान पर लौट गया।

उसके बाद बुद्धिमान **ध्वजभुजंग** ने विचार किया–"कृतज्ञजनों में शिरोमणि वह गणिका

भी धन्यवाद की पात्र है, क्योंकि उसने आज तक मुझे देखा भी नहीं है, मेरे जुआ खेलने के दुर्व्यसन को भी स्पष्ट रीति से जानती है, पर फिर भी पतिव्रता की तरह मुझ पर अकृत्रिम प्रेम रखती है। वह वेश्या होने पर भी मुझ पर अत्यन्त प्रीतियुक्त होकर स्वयं पर आसक्त होते हुए राजा और लक्ष्मीसंपन्न युवानों को भी तृणवत् मानती है। मेरे विरह से पीड़ित वह अकुलीन होने पर भी कुलवती स्त्रियों में दुर्लभ और दुष्कर पतिव्रता धर्म को पाल रही है। अतः वह सामान्य स्त्री नहीं हो सकती। वह तो मनस्वी जनों के द्वारा मान्य करने लायक है। अतः मुझे उसे देखने के लिए वहां जाना चाहिए। मुझ पर अत्यन्त रागभाव रखनेवाली उसने मेरे वहां जाने की इच्छा ही दर्शायी है। इसीलिए उस चतुर नारी ने मुझे प्रेम की भेंट नहीं भिजवायी। वहां जाने से अनेक आश्चर्यों से युक्त **कन्यकुब्ज** नगर के भी दर्शन हो जायंगे। देशान्तर देखने से धीरपुरुषों को गुणप्राप्ति होती है।''

इस प्रकार विचार करके वह मनस्वी शीघ्र ही वहां से चला। विविध प्रकार के आश्चर्यों द्वारा मनोहर पृथ्वी को देखते हुए वह उस श्रेष्ठ पतिव्रता को देखने के लिए थोड़े ही दिनों में **कन्यकुब्ज** नगर की सीमा में पहुँच गया।

नीति के जानकार उस कुमार ने विचार किया–''यहां भोजन करके फिर पुर में प्रवेश करूं।''

ऐसा विचार करके वह कुछ देर के लिए नगर के बाहरवाले उद्यान में ठहर गया। थोड़ी ही देर में वहां एक पुरुष आया। वह सुंथारादि कार्य करनेवालों को देखकर कुमार ने उस नगर–पुरुष से पूछा–''यह क्या काम चल रहा है?''

तब उस पुरुष ने कहा–''इस पुर में **नीतिसार** नामक राजा है। वह नीति में प्रधान होने से उसका नाम सार्थक ही है। उस राजा ने पुण्यकार्य के लिए यहां वापी बनवाने का कार्य शुरु किया है। देख–रेख के लिए अपने अधिकारी नियुक्त किये हैं। उस राजा ने इस कार्य में नौ लाख स्वर्णमुद्राएँ खर्च की हैं। जिसने जो पात्र माना हो, वह उसी में आदरयुक्त रहता है। इस कार्य में पृथ्वी खोदने के लिए, धूल उठाने के लिए और खान गढ़ने के लिए आदि विविध कार्य करने के लिए यहां अनेक लोग मजदूरी करते हैं। यहां जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट–तीन प्रकार का कर्म करनेवाले पुरुष हैं। उन्हें योग्य भोजन करने के लिए भोजनशाला भी तीन रखी हुई है। उन्हें परोसने के लिए भी तीन प्रकार के लोग हैं, क्योंकि नीति के ज्ञाता पुरुष किसी भी स्थान पर अपने औचित्य से चूकते नहीं।''

ऐसा कहकर वह पुरुष वहां से चला गया। तब **ध्वजभुजंग** भी भोजन करने की इच्छा से वहां कार्य करने लगा। उसके बाद मध्याह्न के समय समग्र कार्य करनेवालों की परीक्षा

कर–करके उन्हें योग्यताप्रमाण भोजन करने के लिए भोजनशाला में बिठाया। उस समय धूल से सनी हुई मणि की तरह और जीर्ण तथा मलिन वस्त्रवाले कुमार को हीन जानकर अधिकारियों ने उसे हीन पंक्ति में बिठाया। उन्हें परोसने के लिए एक दासी आयी। उसका नाक चपटा था, होंठ लम्बे थे, नेत्र पिंजरे के समान थे, पेट मोटा था, गाल धंसे हुए थे, कान सूपड़े के समान थे, केश पीले थे, रूप में वह कद्रूप थी, नाभि–पर्यन्त उसके स्तन लटक रहे थे, फटे हुए मलिन वस्त्र उसने धारण किये हुए थे। वह श्लेष्म और पसीने के हाथों को अपने वस्त्र से पोंछ रही थी। अतः साक्षात् प्राणियों की अलक्ष्मी ही हो–ऐसी वह दासी अनुक्रम से परोसते–परोसते कुमार के पास आयी। मूर्तिमान कुत्सा को देखकर कुमार के मन में दुगुंछा उत्पन्न हुई। अतः उसने 'हे अमेध्य! यहां से दूर हो जा'–इस प्रकार कहकर उसका निषेध किया। उसको निषेध करते हुए देखकर अधिकारियों ने कहा–"तुम इसको क्यों रोक रहे हो?"

तब उस कुमार ने कहा–"यह जुगुप्सनीय है। मल से व्याप्त और कद्रूप से युक्त यह परोसनेवाली मुझे पसन्द नहीं है। पिशाचिनी की तरह इसे देखकर मेरा हृदय कम्पित होता है। मेरी अत्यन्त तीव्र भूख भी इसे देखकर मूल सहित नष्ट हो गयी है। तुमलोग चाहे जैसा रूखा–सूखा भोजन दो, पर परोसनेवाली तो कम से कम सुरूपा हो।"

यह सुनकर वह अधिकारी हंसकर बोला–"ऐसे सौभाग्य से शोभित तुझे परोसने के लिए **देवदत्ता** गणिका ही आयगी।"

इस तरह विविध प्रकार की उक्तियों के द्वारा परस्पर मुख देखते व हास्य करने में तत्पर उन अधिकारियों को कुमार ने आक्षेपपूर्वक कहा–"हे अधिकारियों! तुम क्यों हंसते हो? तुम्हारे द्वारा अत्यधिक धन देने और अनेकों खुशामद करने के बावजूद भी वह तुम्हारी तरफ देखती भी नहीं है। वही **देवदत्ता** गणिका अगर यहां आय और भक्तिपूर्वक भोजन करवाय, तो तुम क्या हारोगे?"

इस प्रकार उसके वचन रूपी मदिरा का पान करके उन्मत्त हुए पुरुष के प्रलाप जैसा मानकर उन अभिमानी और उद्धत राजपुरुषों ने उससे कहा–"अगर ऐसा हो, तो हम हमारा सर्वस्व हार जायंगे और अगर ऐसा न हुआ, तो तूं क्या हारेगा?"

उनके इस प्रकार आक्षेपपूर्वक कहने पर कुमार ने कहा–"मेरे पास तो सिर्फ मेरा मस्तक ही है। यही मेरा द्रव्य है।"

इस प्रकार उसने धैर्ययुक्त वचन कहे। उस समय अन्य लोगों ने कहा–"अरे! निर्भागी! अपने जीवन को ही बाधित करनेवाली प्रतिज्ञा तूं मत कर।"

पर उसने अनसुना करके अपने मस्तक की शर्त रखी। उस विषय में कितने ही मध्यस्थ

वृद्धजनों को साक्षी बनाया। फिर उन साक्षी लोगों की आज्ञा लेकर **ध्वजभुजंग** ने किसी व्यक्ति के साथ तत्काल उस **देवदत्ता** को आकर्षित करनेवाला सिद्धमन्त्र ही हो–इस प्रकार संदेश कहलवाया–''यहां **उज्जयिनी नगरी** से **ध्वजभुजंग** नामक जुआरी तेरी गौरवता देखने के लिए आया है। अतः उसकी सेवा कर।''

ये वचन सुनते ही अकस्मात् आये हुए अपने पति को जानकर वह गणिका आश्चर्य, उत्सुकता और हर्ष आदि भावनाओं की मिश्रता से व्याप्त हो गयी। तुरन्त ही पति के दर्शनों की उत्सुकता से व्याप्त उसने सर्वांग में दैदीप्यमान अलंकार धारण करके और दिव्य वस्त्र पहनकर अपनी सखियों के साथ चली। शीघ्र चलते हुए पैरों के आघात द्वारा प्रतिज्ञा करनेवालों के चित्त को कम्पित करते हुए मनोहर झांझर के शब्दों द्वारा मानो उस कुमार के गुण गाती हुई और चारों तरफ फैलते हुए स्वर्ण व रत्नों के आभरणों की कान्ति के समूह द्वारा मानो उसकी कीर्ति का विस्तार कर रही हो, इस प्रकार से वहां आयी। वहां अनेक पुरुषों ने अलंकारादि धारण कर रखे थे, पर उसकी दृष्टि जीर्ण वस्त्रों को धारण किये हुए कुमार पर ही गिरी, क्योंकि आदर का कारण प्रेम ही होता है। कामदेव के समान मनोहर आकृतियुक्त कुमार को देखकर उस विकस्वर नेत्रोंवाली ने विनयपूर्वक मस्तक नमाकर विज्ञप्ति की–''हे स्वामी! मेरे पूर्व का अभंगुर भाग्य जागृत हुआ है, जिससे कि आज आपने स्वयं यहां आकर मुझे दर्शन देकर मुझ पर अनुग्रह किया है। हे देव! मुझ पर प्रसन्न होकर अपने चरण– कमलों की रज के द्वारा शीघ्र ही मेरे घर को पवित्र बनायें।''

यह सुनकर कुमार ने उससे कहा–''हे सुन्दरी! अभी तो यहीं भोजन तैयार करो। यहां भोजन करने के बाद ही घर चलूंगा।''

'ठीक है'–ऐसा कहकर उसके वचन अंगीकार करके तुरन्त ही उसने दासियों के द्वारा सर्व भोजन–सामग्री तैयार करवायी और स्वयं भक्तिपूर्वक उसकी सेवा करने लगी। उसके समस्त दुर्भाग्य रूपी कलंक को मानो धो रही हो–इस प्रकार से स्नेहपूर्वक सुगंधित जल से उसे स्नान करवाया। हृदय रूपी क्यारी में प्रफुल्लित हुई प्रीति रूपी लता के पत्रों के समान चित्त के अनुकूल वस्त्र उसे पहनाये। हृदय के बाहर प्रसरता मानो स्नेहरस हो–इस प्रकार चंदन के रस के द्वारा उसने सर्वांग में लेप किया। उसके औदार्यादि गुणों को मानो प्रकट कर रही हो–इस प्रकार मणि और सुवर्ण के आभूषणों द्वारा उसे भूषित किया। लावण्य सहित नवीन और सर्वांग से मनोहर अपनी काया के समान ही मीठा भोजन उसे करवाया। फिर भोजनोपरान्त हाथ और मुख धुलाकर कपूर के चूर्ण द्वारा मनोहर व प्रेम रूपी वृक्ष की मूल के समान ताम्बूल का बीड़ा दिया। इस प्रकार उसने स्वयं अपने द्वारा सेवा करके उसकी ऐसी आवभगत की कि कुमार को सार्थेश के वचनों की सत्यता प्रतीत होने लगी। कुमार की सेवा

करती हुई **देवदत्ता** को देखकर जिन्होंने सर्वस्व की प्रतिज्ञा की थी, वे अग्नि के बिना भी चारों तरफ से जलने लगे।

इस प्रकार के कौतुक को देखकर अत्यन्त विस्मित हुए नगरजन इकट्ठे होकर परस्पर बातें करने लगे–"जो **देवदत्ता** राजा के भवन में भी बिना वाहन नहीं जाती, वह पैरों से चलकर इसके पास आयी है। अहो! कैसा आश्चर्य है! राजा आदि प्रमुख पुरुष धन देकर प्रार्थना करते हैं, पर फिर भी यह अपना मुख टेढ़ा कर लेती है। वही **देवदत्ता** आज कुमार की दासी के समान सेवा कर रही है। अहो! इस कुमार की अद्‌भुत शक्ति का परिमाण कौन जान सकता है? कि जिसने धन, संपत्ति आदि किसी भी उपाधि से रहित होते हुए भी खरीदी हुई दासी की तरह इस गणिका को वश में कर लिया है। क्या इस कुमार के रूप में कृत्रिम वेश को धारण करके कोई देव आया है? या विद्या के बल से रूप परिवर्तित करके कोई विद्याधर आया है?"

इस प्रकार स्थान–स्थान पर समूह रूप में इकट्ठे हुए लोग अनेक कल्पनाओं से रंगी हुई अपनी जिह्वाओं को नचाने लगे।

उधर गणिका ने ग्राम में जाकर राजा की आज्ञा लेकर ग्राम में तोरणों की श्रेणियाँ बंधाकर उसे ध्वजाओं के समूह से शोभित करवायी। फिर शमियाना, घोड़ों आदि अद्‌भुत सामग्री तैयार करवाकर नगर के लोगों के साथ **ध्वजभुजंग** के सामने गयी। उसके पास जाकर उस गणिका ने विज्ञप्ति की–"हे स्वामी! राजा को नमस्कार करके मेरे घर को पवित्र करो। आत्मा रहित शरीर की तरह आपके बिना मेरा घर सूना है।"

इस प्रकार राजा के द्वारा भेजे गये हाथी पर चढ़ने के लिए कहा। एरावत पर इन्द्र की तरह वह कुमार उस हाथी पर आरूढ़ हुआ। उसके परोपकार के पुण्य के समान उज्ज्वल छत्र गणिका ने मस्तक पर धारण करवाया। प्राप्त हुए नवीन यश के समान उज्ज्वल चामर उसके दोनों ओर वींजे जाने लगे। उसके पीछे **देवदत्ता** सुखासन पर बैठकर हर्षपूर्वक चली जा रही थी। प्रसन्नतापूर्वक अन्य वेश्याजन मंगल गीत गाने लगीं। 'यह कुमार परोपकार से उपार्जित पुण्य के द्वारा इतनी अधिक समृद्धि को प्राप्त हुआ है'–इस प्रकार स्तुति करते हुए बन्दीजनों को वह प्रीतिदान देता हुआ संतुष्ट कर रहा था। सर्वांग में धारण किये हुए अलंकारों से उत्पन्न हुई कान्ति के समूह के बहाने से मानो अपने पूर्व के पुण्य को मनुष्यों को दिखा रहा हो–इस प्रकार शोभित हो रहा था। बजते हुए विशाल वाद्यन्त्रों के शब्द सुनकर पुर की स्त्रियाँ अपने रोते हुए बालकों तथा रसोई को बीच में ही छोड़कर शीघ्रता के साथ अपने–अपने भवनों के द्वार पर आकर विकस्वर नेत्र रूपी अंजलियों के द्वारा उस कुमार के लावण्य रस के पूर का पान कर रही थीं। जिनकी सैकड़ों प्रार्थनाएँ उस गणिका ने व्यर्थ की थीं, वे कामुकजन उस

कुमार को विशेष रूप से देख रहे थे। कौतुक देखने के लिए उतावले हुए पुरजन उस कुमार के चारों तरफ घूम रहे थे। उसके आगे पग–पग पर संगीतपूर्वक नृत्य हो रहा था। मानो बावड़ी के अधिकारियों का मूर्तिमान उद्वेग हो–इस प्रकार अनुपम कान्तिवाला कुमार इस प्रकार के विशाल उत्सवपूर्वक राजमहल के द्वार के पास आया। वहां वह हाथी के हौदे पर से नीचे उतरा और **देवदत्ता** द्वारा दिये गये उपहारों को राजा को समर्पित करके विनयपूर्वक राजा को प्रणाम किया। **अश्विनीकुमार** के समान उसके रूप को देखकर राजा विस्मित रह गया। स्वागत के वचनपूर्वक उसका सत्कार किया।

फिर **देवदत्ता** ने राजा से कहा–"हे देव! जिसने मुझे लीला–मात्र में पाँचसौ हाथी भेजे, वह उत्तम पुरुष यही है। अमूल्य दान के व्यसन से शोभित इस सत्पुरुष ने अपने द्वारा कृत उपकार रूपी मूल्य के द्वारा मानो मुझे खरीद लिया है–मैं इस प्रकार की हो गयी हूं। अतः मैंने इन्हें जिन्दगी–भर के लिए प्राणनाथ के रूप में स्वीकार कर लिया है। इस विषय में रूपयों के मध्य लक्ष्मी के सिक्के की तरह आपकी अनुज्ञा प्राप्त हो।"

उसके इस प्रकार विज्ञप्ति करने पर राजा ने विस्मय के साथ कहा–"कौन बुद्धिमान योग्य के साथ संबंध को मान्य नहीं करेगा? यह कुमार गुणीजनों में अग्रसर है और तूं अद्‌भुत कलाओं का स्थान है। अतः रति और कामदेव के समान तुम दोनों का सम्बन्ध होना ही चाहिए।"

उसके बाद राजा की प्रसन्नता से कुमार को बल मिला। अतः जैसे क्षीरसागर अपनी तरंगों को उछालता है, उसी तरह उसने अपनी वाणी को उछालते हुए कहा–"हे देव! मैंने बावड़ी के अधिकारियों का समग्र धन जीता है। अतः उनके पास से मेरा लेन मुझे दिलवायें। इस बात में सभ्यजन मेरी साक्षी के रूप में हैं।"

तब राजा ने उन सभ्यजनों की साक्षी में ही बावड़ी के अधिकारियों से कहा–"शर्त में हारा हुआ धन तुम **ध्वजभुजंग** को क्यों नहीं देते?"

यह सुनकर दीन मुखवाले उन अधिकारियों ने राजा से कहा–"हे पृथ्वीपति! हमने मूर्खता में आकर घर का सर्वस्व शर्त में लगा दिया था। अतः अब आपका हुक्म ही हमारे लिए प्रमाण रूप है, पर हमारी आजीविका का निर्वाह हो–इतनी तो हम पर कृपा कीजिए।"

तब अत्यन्त दयाभाव से युक्त होकर **ध्वजभुजंग** ने राजा से कहा–"ठीक है, मैं दया के कारण आधा धन छोड़ता हूं, पर आधा धन तो दिलवायें।"

यह सुनकर राजा प्रसन्न हुआ। उसने अपने मंत्री के द्वारा अधिकारियों के समस्त धन का आधा भाग करवाकर मानो उसका भाई ही हो–इस प्रकार वह आधा धन **ध्वजभुजंग** को

दिलवाया।

इस प्रकार राजा के द्वारा अपार सन्मान को प्राप्त कुमार को वह पतिव्रता महोत्सवपूर्वक अपने घर पर लायी। फिर उस कुमार के तेज से मानो पराभव को प्राप्त सूर्य लज्जित होकर दृष्टिपथ से दूर हो गया अर्थात् अस्त हो गया। प्रिय के दर्शन से हुए हर्ष के द्वारा विकस्वर हुए उसके नेत्र मानो स्वयं का ही पराभव करनेवाले हों–इस प्रकार विचार करके भयभीत होकर कमलों की श्रेणियाँ मुरझा गयीं। अपने तेज का हरण करनेवाले सूर्य की किरणें हों–इस प्रकार से उसके घर में रहे हुए दीप दैदीप्यमान दिखायी दे रहे थे। उसके घर और आकाश में कलाओं का स्थान, सौम्य, मनोहर, सुवृत्त (कुमार के अर्थ में सदाचरणयुक्त और चन्द्र के अर्थ में गोल) और सुमनःप्रिय (कुमार के अर्थ में सज्जनों को प्रिय और चन्द्र के अर्थ में रात्रिविकासी पुष्पों को प्रिय) कुमार तथा चन्द्र एक साथ उदय को प्राप्त हुए। समग्र लक्ष्मी कमल का त्याग करके हर्ष से विकस्वर होकर मानो गणिका के मुखकमल पर विराजी हो–इस प्रकार उसका मुख शोभित होने लगा। उस समय केवल कुमुदिनियाँ ही विकसित नहीं हुईं, बल्कि उसकी सखियों का मुख भी विकस्वर हो गया। ऐसा लगता था कि जब रात्रि ने तरुणावस्था को पाया, तब आकाश में रहा हुआ राग (रक्तिमा) मानो उसके हृदय में समा गया था अन्यथा वह राग कहां गायब हुआ? वह आकाश में क्यों नहीं दिखायी दिया? ऐसी रात्रि के समय अगरु के धूप से सुवासित मोतियों के झुमके जिसमें लटकाये हुए थे, ऐसे विस्तार को प्राप्त उल्लोल के द्वारा शोभित शयनगृह में उद्धत कामदेव रूपी अश्व को खेलाने की अभ्यास–शाला हो–ऐसी मनोहर चादर से युक्त विशाल शय्या सजाकर उस गणिका ने विविध प्रकार के स्थानों का आश्रय करनेवाली, मनोहर व्यंजनवाली और सुन्दर स्वर से युक्त समग्र भोग रूपी मातृका उस कुमार को सिखायी। उसने दिव्य अंगराग, शृंगार और ताम्बूलादि के द्वारा उसका उपचार करके उस रात्रि को सार्थक माना। वह **देवदत्ता** उसे मनवांछित भोजन, वस्त्रादि देकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक चिन्तामणि की तरह उसकी आराधना / सेवा करने लगी।

अहो! चर्मचक्षु से युक्त जन धर्म के महत्त्व को जान ही नहीं सकते, क्योंकि इस कुमार को वह वेश्या इच्छित धन प्रदान कर रही थी। तृप्ति को प्रदान करनेवाली प्रीति रूपी अमृत–बावड़ी में इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए उन दोनों के अनेक दिवस मुहूर्त्त की तरह व्यतीत हो गये।

एक बार वह कुमार अत्यन्त सुख में लीन था, तभी उसे अपनी माता का स्मरण हो आया। अतः मन में पीड़ित होते हुए वह अपने कुलाचार के अनुरूप उचित विचार करने लगा–"अधम पुरुषों में शिरोमणि मुझको धिक्कार है! कि मैंने तीर्थ की तरह आराधना करने लायक मेरी निराधार माता का त्याग करके स्वच्छन्दता का आश्रय लिया। जो हर्ष के साथ

प्रयत्नपूर्वक देने की तरह निरन्तर माता की सेवा करते हैं, वे ही पुत्र पवित्र हैं। जो पुरुष प्रतिदिन प्रातःकाल होने पर अपनी माता के चरणों में नमस्कार न करता हो, माता की युवावस्था का नाश करनेवाले वैसे पुत्र का जन्म ही न हो। जिस दिन और जिस क्षण माता के चरण–कमल की रज मेरे कपाल पर तिलक रूप बनेगी, वही दिन मेरे लिए आनन्दकारी होगा। वही क्षण मेरे लिए उत्सव रूप होगा।''

इस प्रकार चित्त में चिन्ता से व्याप्त उसको देखकर बुद्धिमान गणिका ने प्रेम के प्रवाह का विस्तार करते हुए मधुर वाणी के द्वारा चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा–''हे देव! आज आपको कोई आधि, व्याधि या विचार तो नही बाधित कर रहा? क्योंकि पूर्व में कभी भी आपको इस तरह चिन्ताग्रस्त नहीं देखा। आपका दुःख दर्पण की तरह मुझमें यानि मेरे हृदय रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित हो रहा है। अतः हे नाथ! अगर कोई गोपनीय बात न हो, तो मुझे शीघ्र बतायें।''

यह सुनकर **ध्वजभुजंग** ने कहा–''हे प्रिये! यह तुम क्या बोल रही हो? तुमसे छिपाने योग्य क्या कोई बात हो सकती है भला? कोई भी आधि–व्याधि मुझे बाधित नहीं कर रही है। बल्कि माता के विरह से व्याप्त व्यथा ही मुझे उद्वेलित कर रही है।''

यह सुनकर गणिका ने विचार किया–''जो पति के चित्त का अनुसरण करती है, वही पतिव्रता कहलाती है।''

ऐसा विचार करके मानो पति के वचनों की ही प्रतिध्वनि हो–इस प्रकार से बोली–''मेरा चित्त भी आपकी माताजी से मिलने के लिए उत्सुक हो रहा है, क्योंकि सास की आज्ञा ही सतियों के सिर का मुकुट होती है। मुझे आपका नगर देखने की भी अत्यन्त इच्छा है, क्योंकि पति की मातृभूमि किस पत्नी के लिए तीर्थरूप नहीं होती? अतः आप प्रसन्न होकर शीघ्र ही मुझे साथ लेकर अपने नगर की तरफ प्रस्थान कीजिए, क्योंकि चन्द्र चन्द्रिका का त्याग करके कहीं जाता है क्या?''

इस प्रकार गणिका की वाणी रूपी द्राक्षा का स्वाद लेकर वह हर्षित हुआ और बोला–''हे प्रिया! तुमने अपनी प्रीति के अनुकूल ही वचन कहे हैं। पर मुझे घर का त्याग किये बहुत समय हो गया है। अतः घर के बारे में मुझे कुछ भी पता नहीं है। अब वहां रहना योग्य भी है या नहीं? यह भी मुझे ज्ञात नहीं है। यहां तो राजा की कृपा फले हुए कल्पवृक्ष की तरह है। अतः हे प्रिया! पहले तो मैं अकेला ही वहां जाऊँगा। अगर वहां रहने की व्यवस्था होगी, तो मैं तुम्हें वहां बुलवा लूंगा। अन्यथा मैं मेरी माता को लेकर शीघ्र ही तुम्हारे पास लौट आऊँगा। हे पवित्र आचार को धारण करनेवाली प्रिया! तब तक तुम यहीं रहना।''

इस प्रकार कहकर हर्षपूर्वक उसके द्वारा किये गये मंगलपूर्वक अल्प परिवार के साथ वह

कुमार शीघ्र ही वहां से चला।

अनुक्रम से प्रयाण करके थोड़े ही दिनों में वह **शालिग्राम** की सीमा में आ पहुँचा। वहां वह एक वृक्ष की छाया में विश्राम लेने के लिए बैठा और विचार करने लगा–"मुझे घर से निकले अनेक दिन हो गये हैं। पर मैंने कहीं भी आश्चर्यकारी विशाल समृद्धि प्राप्त नहीं की, जिसे देखकर नवीन मेघों की घटा को देखकर ग्रीष्मऋतु की ताप को प्राप्त पृथ्वी की तरह चिरकाल से मेरे विरह के द्वारा पीड़ित मेरी माता प्रसन्न हो जाय। सर्वगुणसंपन्न जिस स्त्री को मैंने प्राप्त किया है, वह जाति से वेश्या होने के कारण मेरी हीलना का ही कारण बनेगी। समृद्धि से उत्पन्न होनेवाली उज्ज्वलता को नहीं प्राप्त हुआ मेरा मुख मैं अपनी दुःखी माता को किस प्रकार दिखाऊँ? मुझे जिन–जिन इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति हुई है, उससे लगता है कि मेरा नसीब अनुकूल है। नसीब अनुकूल होने पर ही मनुष्यों का उद्यम सफल होता है। पर अभी संपत्ति प्राप्त करने के लिए मैं तात्कालिक उपाय क्या करूं?

हां! ठीक है। याद आया। उस वृक्ष के यक्ष के पास मेरा वरदान स्थापन के रूप में है। देववाणी पत्थर पर खींची गयी रेखा की तरह खोटी नहीं होती।"

इस प्रकार विचार करके प्रशस्त मनयुक्त वह कुमार उस वृक्ष के समीप गया। उस वृक्ष की तीन बार प्रदक्षिणा करके पुष्पादि के द्वारा उसकी पूजा की और धूप के द्वारा वृक्ष को सुवासित किया। इस प्रकार सुख देने में निपुण उस यक्ष की पूजा करके जैसे धरोहर रखनेवाला अपनी धरोहर वापस मांगता है, वैसे ही उसने यक्ष से अपना वरदान मांगा। तब यक्ष ने प्रत्यक्ष होते हुए कहा–"तेरे वरदान के रूप में तुझे क्या दूं?"

कुमार ने कहा–"मेरे लिए सर्व पदार्थों से युक्त एक विशाल नगर की रचना करके मुझे दो।"

यह सुनकर देव ने तत्काल ही उस स्थान पर वन में दैवीय शक्ति से स्वर्ग जैसा मनोहर एक पुर बना दिया। उस पुर के मध्य में राजा के रहने लायक एक मणिमय महल था, जो **ध्वजभुजंग** के उज्ज्वल पुण्यसमूह के समान शोभित हो रहा था। कमल के चारों तरफ फिरते हुए राजहंसों की तरह उस महल के चारों ओर मंत्री, सेनापति, सामन्त, श्रेष्ठी आदि के महल थे। उन महलों के चारों ओर सामान्य मनुष्यों के रहने लायक हजारों घर मानो अभी–अभी पृथ्वी के भीतर से स्वयं उभरकर बाहर आये हों–ऐसा प्रतीत हो रहा था। उस नगर के बाहर चारों तरफ विशाल किला बना हुआ था, वह मानो पृथ्वी का भार उठाने से उद्विग्न होकर बाहर निकले हुए शेषनाग की तरह शोभित हो रहा था। उस किले के चारों तरफ जल से भरी हुई खाई थी। वह स्नेह के द्वारा लक्ष्मी (पुत्री) से मिलने आये हुए समुद्र की तरह शोभित हो रही

थी। नगर में स्थान–स्थान पर बावड़ी, जलाशय, तालाबादि बने हुए थे, जो मानो **ध्वजभुजंग** की कीर्ति रूपी लता को सींचने के लिए बनाये गये थे। जैसे मेघ जलधारा को बरसाता है, वैसे वह यक्ष अलग–अलग स्थानों में से ला–लाकर स्वर्ण, रत्न और मुक्ताफलों को बरसा रहा था। फिर उस नगर के अलग–अलग ग्रामों में रहनेवाले हजारों मनुष्यों को ला–लाकर अच्छे राजा की तरह उन्हें वहां बसाया। वनादि में रहनेवाले हिनहिनाते हुए हाथी, घोड़ों आदि को लाकर सेनापति की तरह उस यक्ष ने तत्काल चतुरंगिणी सेना इकट्ठी की। इस प्रकार उस पुर को बसाकर यक्ष ने हर्षपूर्वक उस पुर का नाम **सुरपुर** के रूप में प्रसिद्ध किया।

उसके बाद उस यक्ष ने **ध्वजभुजंग** को राजसभा–मण्डप में स्वर्ण के सिंहासन पर बिठाया। उस समय उदयाचल पर्वत पर आरूढ़ हुए सूर्य की तरह वह शोभित होने लगा। उसके मस्तक पर धारण किया हुआ, पूर्णिमा के चन्द्र के गर्व को सर्व प्रकार से नष्ट करनेवाली लक्ष्मी से युक्त मूर्तिमान कीर्ति के समूह के समान वह छत्र से शोभित होता था। उसके सर्वांग में धारण किये गये अलंकारों की कांति से सर्व दिशाओं के मुख दैदीप्यमान हो रहे थे। दोनों कुण्डलों से उत्पन्न हुई कान्ति के दो प्रवाह हों–इस प्रकार दो चामरों के द्वारा उसे दोनों ओर से वींजा जा रहा था। उस समय उस यक्ष के द्वारा स्थापित मंत्री, सामन्त और महाजनों आदि ने देव की आज्ञा से रजतमय व स्वर्णमय कलशों के द्वारा उसका राज्याभिषेक किया।

'इसी राजा की सेवा करो'–इस प्रकार अन्य राजाओं को बताते हों–ऐसे वाद्यन्त्रों के शब्दों द्वारा सम्पूर्ण आकाश पूरित हो गया। अन्य कुराज्य रूपी विष से दुःखी हुए मनुष्यों को अमृतवृष्टि के समान स्नेहभरी अपनी दृष्टि से वह नगर जीवित बना रहा था। इस प्रकार उस यक्ष ने विशाल उत्सवपूर्वक उस पुर के राज्य पर **ध्वजभुजंग** को स्थापित किया। अहो! पुण्य का प्रभाव कितना अद्‌भुत है!''

'मैंने मित्रता के कारण इस महात्मा **ध्वजभुजंग** को राज्य प्रदान किया है, उस पर कोई मूढ़ मनुष्य द्रोह करेगा, तो मैं उसके प्राणों का घात करके उस पर द्रोह करूंगा'–इस प्रकार की उद्‌घोषणा करके यक्ष अदृश्य हो गया। फिर **ध्वजभुजंग** राजा राज्य का पालन करने लगा।

फिर राजा को अपनी माता को नमन करने की इच्छा बलवती हुई, क्योंकि प्राप्त हुई लक्ष्मी स्वजन और परजन को दिखाने से सफल होती है। अतः चतुरंगिणी सैन्य के समूह के द्वारा दो प्रकार के भूभृतों (राजा व पर्वत) को कम्पित बनाते हुए इन्द्र के साथ स्पर्द्धा करनेवाली विशाल समृद्धि के साथ वह **शालिग्राम** में गया। वहां पुरजनों सहित ग्राम के स्वामी ने भी विस्मयसहित उसे प्रणाम किया। उस राजा ने प्रीतिपूर्वक अपनी माता को प्रणाम किया। सूर्य की तरह निर्मल और अद्‌भुत कांति को धारण करनेवाले उस पुत्र को देखकर माता कमलिनी

के समान अत्यन्त उल्लास को प्राप्त हुई। उस **ध्वजभुजंग** राजा ने वृद्धिप्राप्त अपनी समृद्धि के द्वारा केवल अपनी माता को ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण लोगों को भी विस्मित किया। उसने अपनी माता को रसभरे मीठे वचनों के द्वारा ही नहीं, बल्कि आदरपूर्वक अनुपम वस्त्रों व आभूषणें के द्वारा भी आनन्दित किया। उसके स्वजन तत्काल फलयुक्त वृक्ष पर पक्षियों की तरह उसके आस–पास मंडराने लगे।

फिर अपनी माता को हस्ती पर आरूढ़ करके तोरणों से शोभित सुरपुर में ले गया। देवप्रदत्त राज्य के अधिपति के बारे में सुनकर कौन–कौनसे राजा हाथ में भेंट लेकर उसके सामने नहीं झुके? विविध राजाओं द्वारा प्रदत्त विशाल भेंटों के द्वारा उसकी समृद्धि अन्य नदियों के द्वारा गंगा नदी की तरह वृद्धि को प्राप्त हुई। अन्य–अन्य राजाओं ने अपनी–अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ रचाया। बड़े व्यक्तियों के साथ कौन संबंध नहीं बनाना चाहेगा? प्रीतिपूर्वक अंतःपुर की स्त्रियों के द्वारा सेवा करवाते हुए भी **ध्वजभुजंग** राजा जैसे मालती के पुष्प को देखकर भ्रमर मंडराता है, उसी प्रकार **देवदत्ता** को स्मरण करता था। अतः उसने अपने विशेष चरों को उसे लिवा लाने के लिए हर्षपूर्वक उस गणिका के ग्राम में भेजा। **विवेकी पुरुषों की प्रतिज्ञा कभी असत्य नहीं होती।**

वे चर **कन्यकुब्ज** ग्राम में पहुँचे। गणिका ने उनका हर्षपूर्वक स्वागत किया। उन्होंने भी गणिका से कहा–"**ध्वजभुजंग** को साम्राज्य प्राप्त हुआ है, अतः वे आपको बुला रहे हैं।"

स्वामी की अद्‌भुत संपत्ति का श्रवण करके उसे भी अत्यन्त आनन्द हुआ। प्रिय को संपत्ति प्राप्त होने पर कौन हर्षित नहीं होता? उसने भी हृदय में हर्षित होते हुए विचार किया–"अहो! उनकी कैसी कृतज्ञता! कि इतनी विशाल सम्पत्ति प्राप्त होने के बावजूद भी उन्होंने तुरन्त मुझे याद किया। भक्ति के द्वारा झुके हुए राजाओं द्वारा अपनी कन्याओं का उनके साथ विवाह करने के बावजूद भी मुझ पर असीम प्रेम रखते हुए मुझे बुलाने के लिए अपने चर भेजे हैं। अतः उनकी सेवा से रहित मेरा एक दिन भी बकरी के गले के आँचल की तरह व्यर्थ है–ऐसा मेरा मन मानता है।"

उसके बाद देवदत्ता ने तुरन्त राजा की आज्ञा ली और अपने परिवार व मिल्कत को लेकर उनके साथ चली। शीघ्र ही प्रयाण के द्वारा वह थोड़े ही दिनों में **सुरपुर** पहुँच गयी। दिव्य किले से युक्त पति की पुरलक्ष्मी को देखकर अत्यन्त आश्चर्यचकित हुई। हृदय में न समाता हुआ प्रेम का पूर ही हो–इस प्रकार अपनी सारी मिल्कियत को भेंट स्वरूप प्रदान करते हुए वह राजा **ध्वजभुजंग** के चरणों में झुकी। विशेष रूप से हर्षित होते हुए राजा ने सरस आलाप के द्वारा उसे प्रसन्न किया। फिर उत्कृष्ट गुणों के समूह रूप उसे पट्टरानी बनाया, क्योंकि प्रमाण रहित अर्थात् असाधारण मान को प्रदान करनेवाला गुणसमूह ही होता है, कुलादि नहीं।

बिना यत्न के प्राप्त विशाल समृद्धियुक्त राज्य को भोगते हुए राजा उस प्रिया के साथ इन्द्र–इन्द्राणी के समान शोभित होता था।

एक बार उस **सुरपुर** के उद्यान में उत्कृष्ट श्रुतज्ञान के धारी और अतिशय माहात्म्य रूपी वैभव से युक्त **श्रीयशोधर्म** नामक आचार्य पधारे। इन्द्र को देवों की तरह और राजा को मनुष्यों की तरह उन गुरुदेव का नमन करने के लिए प्रीतिपूर्वक पुरजन आये। **ध्वजभुजंग** राजा भी गुरु के आगमन का श्रवण करके अत्यन्त हर्षोल्लास के साथ तत्काल वंदन करने के लिए गया। कल्याणकारक भक्तियुक्त उस राजा ने कपूर की तरह पृथ्वी के रजसमूह द्वारा अपने कपाल में तिलक करते हुए उन्हें हर्षपूर्वक वंदन किया। उस समय गुरु ने राजा को अमृतवृष्टि के समान धर्माशीष के द्वारा सन्तोष प्राप्त करवाते हुए कल्याणकारक धर्मदेशना प्रदान की–

'इस असार संसार में प्राणियों को चिन्तामणि रत्न की तरह मनुष्य जन्मादि धर्म की सामग्री मिलना दुर्लभ है। पहले तो निगोद में प्रतिक्षण सतरह बार मरण प्राप्त करते प्राणी अनन्तकाल का निर्गमन करते हैं। वहां से निकलकर पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय और वायुकाय–प्रत्येक में असंख्यात उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी काल तक रहते हैं। वहां से निकलकर बोधिरहित विकलेन्द्रियता प्राप्त करके उसमें भी संख्यात लाख वर्षों तक अत्यन्त दुःखी अवस्था में रहते हैं। वहां से निकलकर तिर्यंच पंचेन्द्रिय योनि में उत्पन्न होकर जलचर, स्थलचर और खेचर की जाति में वे पापी प्राणी महाकष्ट के द्वारा करोड़ों पूर्व वर्षों का निर्गमन करते हैं। वहां से निकलकर नरक में उत्पन्न होते हैं। वहां पापसमूह के भार के कारण सुख का लेशमात्र भी प्राप्त किये बिना असंख्यात काल का निर्गमन करते हैं। उसके बाद पर्वतनदी के प्रवाह से गोलाकार को प्राप्त पत्थर के न्याय से कितने ही प्राणी मनुष्यत्व को प्राप्त करके भी अनार्य देश में उत्पन्न होने के कारण धर्म का नाम तक नहीं जानते। कितने ही प्राणी आर्यदेश में उत्पन्न होने के बावजूद भी म्लेच्छ जाति में उत्पन्न होने के कारण ऐसे–ऐसे दुष्कर्म करते हैं, जिससे संसार में अनंत दुःखों को प्राप्त होते हैं। कितने ही प्राणी शुभ जाति में उत्पन्न होने के बावजूद भी मिथ्यात्व से वासित होने के कारण सद्धर्म को नहीं प्राप्त कर पाते, जैसे कि मदिरा को पीनेवाला पुरुष सुस्थिति को प्राप्त नहीं होता। कितने ही प्राणी श्रावक कुल में उत्पन्न होने के बावजूद भी इन्द्रियों की विकलता के दोष से दूषित होने के कारण धर्म का आराधन उसी तरह नहीं कर पाते, जैसे अल्प धनवाला मनुष्य दानधर्म नहीं कर पाता। कितने ही प्राणी मनोहर इन्द्रियाँ होने के बावजूद भी व्याधिग्रस्त शरीर होने के कारण व्यापार करने में आलसी मनुष्य की तरह धर्मकार्य करने में समर्थ नहीं होते। कितने ही मनुष्य व्याधिरहित होने के बावजूद भी अत्यल्प आयुष्ययुक्त होने के कारण वैसे ही पुण्य का वहन करने में अर्थात् धर्म का साधन करने में समर्थ नहीं होते, जैसे दरिद्र मनुष्य गृहस्थाश्रम का वहन नहीं कर सकता।

कितने ही प्राणी दीर्घ आयुष्य होने के बावजूद भी अंतःकरण में उग्र मोह व्याप्त हो जाने के कारण धर्म के नाम का श्रवण करना भी नहीं चाहते, जैसे मृत्यु को धारनेवाला मनुष्य औषध के समीप भी नहीं जाना चाहता। कितने ही प्राणियों की धर्मश्रवण की इच्छा होने के बावजूद भी जैसे राजा के दर्शनों की इच्छा होते हुए भी द्वारपाल उसे रोक देता है, वैसे ही आलस्यादि प्रमाद के द्वारा वे जबरन निषेध कर दिये जाते हैं। कितने ही धर्मश्रवण करने के बावजूद भी अल्पबुद्धि से युक्त होने के कारण जैसे नमक और तेल का व्यवसायी स्वर्ण का व्यापार नहीं कर सकता, वैसे ही सम्यग् प्रकार से वे धर्म को हृदय में धारण नहीं कर सकते। कितने ही प्राणी अपने हृदय में धर्म को धारण तो कर लेते हैं, पर निकाचित कर्म के कारण उन्हें धर्म पर श्रद्धा नहीं होती, जैसे दुष्ट पुरुष अन्यों के गुणों पर श्रद्धा नहीं करते। कितने ही मनुष्य धर्म पर श्रद्धा रखते हुए भी उनके मन विषयों में आसक्त होने से दिन–रात भूत–प्रेत से आविष्ट की तरह धर्म का अनुष्ठान नहीं कर पाते। इस प्रकार एक भी अवयव के बिना मनुष्यों का धर्म रूपी रथ मोक्ष के मार्ग पर प्रयाण करने में समर्थ नहीं होता।

अतः हे भव्य प्राणियों! ऐसे दुर्लभ धर्म के अंग की सर्व सामग्री को प्राप्त करके सुख के एकमात्र कारण रूपी धर्म में जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। कुकर्म का मथन करनेवाला धर्म अपार संपत्ति का महल है। भावशत्रु से भयभीत होनेवाले प्राणियों के लिए धर्म ही एकमात्र बख्तर है। जैसे मेघ से वनस्पति उत्पन्न होती है, वैसे ही धर्म से सुख उत्पन्न होता है और कुल्हाड़ी से वनस्पति की तरह पाप के द्वारा सुख मूल से उखाड़ा जाता है। धर्म के द्वारा ही सर्व संपत्ति प्राप्त होती है और पाप के द्वारा सर्व आपत्ति प्राप्त होती है। इस विषय में हे पृथ्वीनाथ! तुम्हीं दृष्टान्त रूप हो।''

इस प्रकार सुनकर **ध्वजभुजंग** राजा तथा सभी लोग आनन्द को प्राप्त हुए। मन को इष्ट कथा का श्रवण करने से किसे आनन्द नहीं होगा? उसके बाद हर्षित **ध्वजभुजंग** राजा ने मन में विचार किया कि अहो! मुझ पर गुरु की कैसी निःसीम कृपा है कि मेरे द्वारा न पूछे जाने पर भी स्वयं ही मेरा पुण्य प्रकट किया है। अतः राजा ने हाथ जोड़कर प्रत्यक्ष विज्ञप्ति की–''हे पूज्य! कृपा करके मेरा पूर्ण वृत्तान्त बताइए।''

तब श्रीगुरुदेव ने उसका पूर्वभव बताना प्रारम्भ किया–''पाप की विशाल लता के समान किसी पल्ली में अतुल भुजबल से युक्त और प्रचण्ड **चंडपाल** नामक पल्लीपति था। उसका पराक्रम उद्धत भुजदण्डवाले शत्रुओं के गर्व रूपी ज्वर का नाश करने में उग्र औषधि रूप था। समर्थ, अमित धनयुक्त और अगणित सार्थों को लूटकर पाप के समूह की तरह धन का समूह उसने इकट्ठा किया था। किसी से पराभव को न प्राप्त होनेवाले उस अनार्यबुद्धि युक्त पल्लीपति ने समृद्धि में मनोहर ग्रामों को तोड़–तोड़कर अपने राज्य की वृद्धि की थी। निर्दयतापूर्वक

स्त्रियों के वस्त्रों को खींचकर और मुनियों के वस्त्रों का हरण करते हुए वह कदापि लज्जा को प्राप्त नहीं होता था।

एक बार वह पापी अपने सिपाहियों के साथ शिकार करने के लिए किसी वन में गया। वैसे दुष्टों का कार्य भी वैसा ही होता है। उस समय वहां समीप के मार्ग से अनेक साधुओं के परिवार से युक्त और देवों को भी आकर्षित करनेवाले विशेष अतिशय से युक्त सूरि महाराज वहां से निकले। उन श्वेताम्बर मुनियों को देखकर वह निर्दयी, दुष्टविचारी पल्लीपति चकवे के पीछे चकवी की तरह धनुषबाण हाथ में लेकर उनके पीछे दौड़ा और कहा–"रे रे निर्लज्ज मुण्डों! जल्दी से अपने कपड़े उतार दो, अन्यथा मेरा बाण त्वरा से तुम्हारे प्राणों का हरण कर लेगा।"

इस प्रकार क्रोध करते हुए वह जैसे ही मुनियों पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ने लगा, वैसे ही उन सूरि के अतिशय से प्रभावित किसी देव ने उसे स्तम्भित कर दिया। वह आगे या पीछे एक कदम भी नहीं चल पाया। रोपे हुए थम्भे की तरह स्थिर हो गया। उस समय वह शरीर में एक साथ सैकड़ों बिच्छुओं के डंक मारने से होनेवाली वेदना के समान दिव्य शक्ति से उत्पन्न की गयी दुःसह्य वेदना का अनुभव करने लगा।

वह उच्च स्वर में आक्रन्दन करते हुए वृक्षों को रुलानेवाली वाणी में चिल्लाने लगा–"हे सेवकों! मैं मर रहा हूं। जल्दी से मेरी रक्षा करो।"

उसकी उस अवस्था को देखकर हाहाकार करते हुए उसके सिपाही उसे वहां से हिलाने की कोशिश करने लगे, पर पर्वत की तरह निश्चल उसे वहां से रंचमात्र भी नहीं हिला पाये। उसकी पीड़ा को शान्त करने के लिए भी सेवकों ने अनेक उपाय किये, पर वे सभी उपाय अग्नि में घी का होम करने के समान उसकी पीड़ा बढ़ाने में कारणभूत ही सिद्ध हुए।

उसे इस तरह देखकर दयालू गुरुदेव परिवार के साथ वहां आकर खड़े हुए और सोचने लगे–"हहा! यह इसे क्या हो गया?"

"इस यति को मारने की इच्छा करने से इसकी यह दशा हुई है"–ऐसा विचार करके उसके सेवक गुरुदेव को प्रणाम करके बोले–"हे स्वामी! आपकी अपार महिमा को न जानते हुए इन कुबुद्धि से युक्त हमारे स्वामी ने जो आपका अपराध किया है, उसे क्षमा करें। हे विश्वपूज्य! हृदय को अन्धा बनानेवाली जिसकी कुबुद्धि स्वेच्छा से विकास को प्राप्त हुई है, वैसा मनुष्य अगर सन्मार्ग से स्खलना को प्राप्त हो, तो इसमें उसका क्या दोष? क्योंकि वैसा मनुष्य तो कुमार्गगामी ही होता है। अतः हे मुनीश्वर! कृपा करके हमारे राजा को छोड़ दें, क्योंकि **महात्मा तो महा अपराध को भी माफ कर देनेवाले होते हैं।**"

यह सुनकर गुरुदेव ने फरमाया–"मैंने इसका कुछ भी अपकार नहीं किया है, क्योंकि **यति तो मित्र और शत्रु पर तुल्य दृष्टि से युक्त होते हैं।** यह तो हमें मारने की इच्छा से एकदम तीव्र गति से दौड़ रहा था और अकस्मात् अपने आप ही स्तम्भ की तरह जड़ हो गया। हमने तो ऐसा ही देखा था। इसके सिवाय हमें तो और कुछ भी पता नहीं है। हमारे प्राणों का नाश होने पर भी हम चींटी जैसे क्षुद्र प्राणी पर भी द्रोह नहीं करते, तो फिर इतना अधिक दुःख हम कैसे दे सकते हैं? बल्कि हमारा मन तो इसके अकस्मात् संकट को देखकर अत्यन्त संतप्त हो रहा है।"

यह सुनकर वे सेवक और स्तम्भित शरीरवाला **चण्डपाल** विचार करने लगा–"अब क्या करें?"

इस प्रकार विचारमूढ़ होकर सेवक अत्यन्त दुःखी होने लगे। तभी अपने तेज के द्वारा सूर्य का तिरस्कार करनेवाली तथा दैदीप्यमान आभूषणों से युक्त शासनदेवी प्रकट हुई और गुरु महाराज को नमस्कार करके कोपयुक्त वाणी में उन सेवकों से कहने लगी–"मैं जिनेश्वरों के चरण कमलों में भ्रमर के समान शासनदेवी हूं। तुम्हारा स्वामी इन मुनियों का हनन करने की इच्छा कर रहा था। उपयोग से यह सब जानकर मैं शीघ्र ही यहां आयी और मैंने ही इसे स्तम्भित किया है। दुराचारी इस पापी को मैं छोड़नेवाली नहीं हूं, क्योंकि समस्त विश्व के लिए बन्धु–स्वरूप साधुओं का अपकार करने की इच्छा करता है।"

यह सुनकर पल्लीपति के सेवक मुख में पाँचों अंगुलियाँ डालकर कातर स्वर में बोले–"हे देवी! वेदना के कारण इनके प्राण निकल जायंगे। आज से हम मुनिजनों का कभी भी अपमान नहीं करेंगे। आप हम पर प्रसन्न होकर हमारे राजा को छोड़ दो, क्योंकि **सज्जनों का क्रोध चिरकाल तक नहीं रहता।**"

यह सुनकर देवी ने कहा–"अगर यह पल्लीपति इन उत्तम गुरु महाराज से क्षमायाचना करके जैनधर्म अंगीकार करे, तो गुरुदेव के चरण–कमलों की रज के स्पर्श से सूर्य के उदय से भ्रमर की तरह इसके कष्ट का नाश होगा। अगर यह ऐसा नहीं करेगा, तो इन्द्र भी इसे मुक्त करने में समर्थ नहीं है।"

ऐसा कहकर देवी विद्युत् की तरह अदृश्य हो गयी। उस पल्लीपति के सेवकों ने तत्काल गुरुदेव के चरण कमलों की रज के द्वारा चन्दन की तरह पल्लीपति के कपाल पर तिलक किया। उसी समय पल्लीपति स्वस्थता को प्राप्त हुआ। हर्षित होते हुए विनयावनत होकर गुरु को प्रणाम करके क्षमायाचना करने लगा। उस समय गुरुदेव ने भी पाप के सन्ताप को दूर करने में निर्झर के समान अत्यन्त प्रीति को उत्पन्न करनेवाली वाणी के द्वारा कहा–"हे भद्र! मुझे कुछ भी कष्ट नहीं हुआ है। अतः क्षमायाचना की जरुरत नहीं है। निरोगी को औषधि की

जरुरत कहां होती है? पर मैं तुम्हें इतना ही कहना चाहता हूं कि तुम इस दुष्ट आचरण से युक्त कुबुद्धि का त्याग करो, क्योंकि रस्सी के समान यह कुबुद्धि जीव को घसीटकर नरक रूपी कुएँ में डाल देती है। हे राजा! महा ऐश्वर्य को भोगते हुए भी तुम अत्यन्त निन्दनीय लूटपाट आदि पापकर्म क्यों व्यर्थ ही करते हो? धन में लुब्ध जो पुरुष कूटकपट से अन्यों पर द्रोह करते हैं, वे अपनी ही आत्मा को दुःख पहुँचाकर स्वयं पर ही द्रोह करने का कार्य करते हैं। जो मूढ़ अधम पुरुष अन्य पर द्रोह करके समृद्धि प्राप्त करते हैं, वे अपने ही घर को जलाकर प्रकाश करने की इच्छा करते हैं। अन्य का बंधन, वध, द्रोहादि तथा द्रव्य हरण करने से प्राणी परभव में जघन्य से दस गुणा फल प्राप्त करता है। अन्य के घर में दास बनना अच्छा है, चिरकाल तक निर्धन बने रहना अच्छा है, पर अन्य के साथ द्रोह करके प्राप्त हुआ विशाल वैभव अच्छा नहीं है। जो स्वयं को अच्छा लगे, अन्यों के साथ भी वैसा ही करना चाहिए। यही अहिंसामय धर्म का रहस्य है–ऐसा पण्डित पुरुष कहते हैं। अतः ऐसे कुमार्ग का दूर से ही त्याग करके मित्र के समान सुखकारी धर्म को ही अंगीकार करना चाहिए।''

इस प्रकार कतक के चूर्ण के समान गुरु के उपदेश के द्वारा पाप रूपी कादव का नाश होने से पल्लीपति का मन रूपी जल सर्वथा प्रकार से शुद्ध हो गया। फिर प्रतिबोध को प्राप्त पल्लीपति ने निरपराध त्रस जीव की हिंसा तथा स्थूल चोरी का जीवनभर के लिए त्याग किया। मार्ग से भ्रष्ट हुआ मनुष्य जैसे मार्ग को प्राप्त करता है, वैसे ही सम्यग् धर्म को पाकर उस पल्लीपति ने हर्षांकुरों से पुष्ट हुए मन के द्वारा गुरुदेव को विनति की–''हे प्रभु! मुझ पर कृपा करके अपने चरण–कमलों के द्वारा मेरी पल्ली को पवित्र कीजिए। क्या चन्द्रमा अपनी किरणों के द्वारा नीच घरों में प्रकाश नहीं करता?''

इस प्रकार उसके आग्रह से गुरु महाराज परिवार सहित उसकी पल्ली में पधारे, क्योंकि **महात्मा कभी भी किसी की भी प्रार्थना का भंग नहीं करते।** फिर पल्लीपति ने अपनी भक्ति के पुंज के समान उज्ज्वल स्वर्ण से भरा हुआ थाल गुरुदेव के चरणों में भेंट के रूप में रखा और हाथ जोड़कर विज्ञप्ति की–''हे प्रभु! आपकी कृपा से ही मैंने सन्मार्ग प्राप्त किया है। अतः कृपा करके इस गुरुदक्षिणा को स्वीकार कीजिए।''

यह सुनकर श्रेष्ठ मुनिराज ने कहा–''जैनधर्म सर्वथा संगरहित है। अतः ब्राह्मणों की तरह हमलोग गुरुदक्षिणा ग्रहण नहीं करते। न ही हम स्वर्णादि द्रव्य ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि छाया और धूप की तरह द्रव्य और चारित्र परस्पर विरोधी है। साधु को वित्त का दान देना सत्पुरुषों के लिए भी उचित नहीं है, क्योंकि **वित्त के द्वारा व्रत का नाश करनेवाले काम–क्रोधादि वृद्धि को प्राप्त करते हैं।** साधु के संयम योग का उपकार हो–इसलिए उसे शुद्ध आहार और वस्त्रादि देना चाहिए।

हे पल्लीपति! तुमने हमारे उपदेश से इस शुद्ध धर्म को अंगीकार किया है। अतः हमें राज्यदान से भी ज्यादा देकर प्रसन्न किया है।''

इस प्रकार गुरु का सन्तोष देखकर पल्लीपति विस्मित हुआ, क्योंकि दम्भरहित निर्लोभता किसके आश्चर्य का कारण नहीं बनती? उसके बाद अंतःकरण में हर्षित होते हुए उसने सत्पुरुष के मन के समान निर्मल और निर्दोष वस्त्र गुरु को बहराये। दान की वस्तु और दातार की शुद्धि देखकर गुरु ने उसके पुण्य से प्रेरित होकर उन वस्त्रों को ग्रहण किया। फिर पल्लीपति के द्वारा अंगीकृत धर्म का निर्वाह करने में उसका मन दृढ़ करने के लिए मुनि महाराज ने स्वयं निःसंग होने पर भी उसकी अत्यन्त श्लाघा की–''जन्म से ही कुमार्ग में तत्पर रहने के बावजूद भी तुम्हारा चित्त धर्मतत्त्व में लीन बना है। अतः तुम मुनियों के लिए भी मानने योग्य बन गये हो। कल्पवृक्ष के समान दुर्लभ धर्म को पाकर उसका पालन करने से तुम्हें मनुष्य व देवसमृद्धि सुलभ बनेगी। पर इस गृहीत धर्म को अपनी आत्मा के समान सम्यग् प्रकार से पालन करना, क्योंकि सत्पुरुष प्राणान्त आने पर भी अंगीकार किये हुए व्रत का त्याग नहीं करते।''

इस प्रकार उसे अच्छी तरह उपदेश देकर गुरु महाराज ने अन्यत्र विहार किया, क्योंकि सूर्यकी तरह मुनियों का प्रकाश भी एक ही स्थान के लिए नहीं होता।

उसके बाद वह पल्लीपति अपनी बुद्धि सद्धर्म रूपी बख्तर से युक्त होने से पूर्वोपार्जित पापकर्म का नाश करनेवाली भावना से भावित होने लगा–''मेरे अभी तक के जो दिन दुराचार के सेवन में गये, वे अब मुझे शत्रु की तरह पीड़ित बनाते हैं। मुझे इस भव में जो मनुष्यादि सामग्री मिली है, वह अब सफल हुई है, क्योंकि मुझ पापी को अब ही सद्धर्म प्राप्त हुआ है। अहो! इस सम्यग् धर्म में दया रूपी पुण्य कितना अधिक है? अहो! कितनी अधिक सत्यता है? अहो! चोरी के निषेध में कितनी अधिक प्रवृत्ति है? इस धर्म में क्या–क्या सुन्दर नहीं है? मेरी इस तुच्छ पल्ली में गुरु महाराज पधारे, तो मानो मरुस्थली में कल्पवृक्ष का अवतार हुआ–ऐसा मैं मानता हूं। पापों ने मुझे नरक रूपी कसाईखाने के समीप पशु की तरह ले जाने का कार्य किया, तो भी दयालू गुरुदेव ने मेरा रक्षण किया। उन गुरु के अतुल तप की प्रभा किसके लिए आश्चर्यकारक नहीं होगी? क्योंकि उसी प्रभा रूपी चाबुक के द्वारा अच्छे अश्व की तरह देवता भी सन्मार्ग पर गति करते हैं। अहो! उनकी निःस्पृहता तीन भुवन में प्रशंसा करने योग्य है, क्योंकि उन मुनीश्वर को मैंने स्वर्ण दिया, तो भी उन्होंने ग्रहण नहीं किया। मेरे पापी होने के बावजूद भी मुझ पर गुरुदेव की कितनी महान कृपा है! कि जिन्होंने निःसंग होने पर भी मेरे आग्रह से वस्त्र ग्रहण किये। भव–भव में मुझे ऐसे कल्याणकारी गुरु का समागम मिले और व्याधि से पीड़ित जीवों को जीवातु नामक औषधि के समान यह सम्यग् धर्म प्राप्त हो।''

इस प्रकार शुभ ध्यान रूपी शुद्ध जल से उस पल्लीपति ने स्वयं के बहुत से पापों का प्रक्षालन कर दिया, फिर अनुकम्पा से निर्मल बना हुआ वही पल्लीपति आयुष्य पूर्ण कर हे ध्वजभुजंग तुम बने हो। पूर्वभव में हर्ष से मुनियों को शुद्ध वस्त्र का दान करने के पुण्य से यह विशाल राज्य तुझे प्राप्त हुआ है। सौभाग्य, उज्ज्वल यश, दीर्घायुष्य, दैदीप्यमान पराक्रम, अतुल समृद्धि, उत्तम कुल में जन्म, सर्व इच्छित की प्राप्ति, अनिष्टों का नाश–यह सब पूर्वजन्म के बोये हुए पुण्य रूपी वृक्ष के फल हैं। पूर्वजन्म में डकैती आदि के द्वारा जो दुष्कर्म किये थे, वह पाप प्रायः कर गर्हा, निन्दा आदि के द्वारा उसी भव में नष्ट किया था। फिर भी शेष रहे कर्म का विपाक इस भव में तुझे द्यूतरमण, दरिद्रता आदि के द्वारा दुःख के रूप में भोगने पड़े।''

इस प्रकार **श्रीयशोधर्म** सूरि के मुख से अपना पूर्वभव सुनकर **ध्वजभुजंग** राजा ने अंतर में आश्चर्य और आनंद प्राप्त करते हुए शुद्ध बुद्धि के द्वारा हृदय में विचार किया–''अहो! पात्रदान का प्रभाव वाणी के मार्ग का पथिक कैसे बन सकता है? क्योंकि वस्त्र मात्र का दान करने से मुझे विशाल राज्य प्राप्त हुआ। पाप के द्वारा मैं नरक के कुएँ में गिर रहा था, तो भी इस सद्धर्म का ध्यान करने से ही वह मुझे आलम्बन रूप बना है।''

इस प्रकार विचार करके ऊहापोह करते हुए शुद्ध अध्यवसाय के कारण कर्म का क्षयोपशम होने से उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसके बाद उस राजा ने अपने पूर्वभव का अतीत के वृत्तान्त की तरह स्मरण होने से हर्ष के द्वारा नेत्रों को विकस्वर करते हुए गुरुदेव से कहा–''हे भगवान्! मेरा पूर्वभव आपने बिल्कुल सही रूप में फरमाया है, क्योंकि मैंने जातिस्मरण ज्ञान के कारण अपना वह भव उसी प्रकार देखा है, जैसा आपने फरमाया है। अहो! आपका ज्ञान सीमातीत है, क्योंकि इस ज्ञान के द्वारा भूत और भविष्य संबंधी वृत्तान्त प्रत्यक्ष की तरह देखा जा सकता है। जिस धर्म के द्वारा मुझ जैसा पापी इतनी अधिक समृद्धि को प्राप्त हुआ, वह धर्म मुझ पर कृपा करके इस भव में भी प्रदान करें।''

यह सुनकर श्रीयशोदेव गुरु ने मोक्षसंपत्ति की साक्षी रूप बारह व्रत के द्वारा मनोहर श्रावक धर्म उसे प्रदान किया। उसने भी हर्षपूर्वक ग्रहण किया। चिन्तामणि के समान दुर्लभ जैनधर्म को प्राप्त करके प्रसन्न हुआ राजा **ध्वजभुजंग** गुरु महाराज को वंदना करके अपने घर लौट आया। फिर उसने जनसमूह की दृष्टि को आनंद प्रदान करनेवाले अरिहंतों के चैत्य, स्वर्णमयी प्रतिमाएँ, भक्तियोग से अमूल्य साधर्मिक वात्सल्य, पाप का नाश करनेवाली और मनोहर रचना से युक्त जिनपूजा, अगणित धन को पवित्र करनेवाली अनेक तीर्थयात्राएँ और कृपारस रूपी जल की नीक के समान अमारी (जीवदया) आदि पुण्यकार्य को अपने समग्र देश में विस्तारित करके केवल अपनी आत्मा का ही उद्धार नहीं किया, बल्कि अरिहंत मत को भी उसने अत्यन्त उन्नति प्राप्त करवायी।

इस प्रकार चिरकाल तक राज्य को भोग करके तथा धर्म का आराधन करके वह **ध्वजभुजंग** राजा सौधर्म देवलोक में गया। वहां से च्यवकर कुछ ही भवों के बाद समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करेगा।'

इस प्रकार सुपात्र को वस्त्रदान करने के पुण्य द्वारा माननीय **ध्वजभुजंग** राजा का अद्‌भुत चरित्र सुनकर पुण्य बुद्धियुक्त भव्य प्राणियों के द्वारा मुनियों को शुद्ध वस्त्र का दान करने में निरन्तर तत्पर रहना चाहिए।।

।। इति दशम प्रकाश।।

एकादशम प्रकाश

जिन्होंने खीर के एकमात्र पात्र में से पन्द्रहसौ तापसों को पारणा करवाया, वे श्री गौतमस्वामी सत्पुरुषों के सुखप्रदाता बनें।

अब इस ग्यारहवें प्रकाश में धर्म के विषय में उपष्टम्भ दान देने के विषय में पुण्य द्वारा पुष्ट हुआ, सुपात्र को पात्रदान देने रूप आठवां भेद कहा जाता है। विवेकी पुरुषों को अपनी आत्मा को पात्र बनाने के लिए सुपात्र (मुनि) को पात्र का दान देना चाहिए, क्योंकि मुनिधर्म का उपकारक होने से वह पात्र का दान मोक्ष का कारण है–ऐसा गणधरों ने कहा है, क्योंकि मोक्ष का कारण कर्म का क्षय है, कर्मक्षय का कारण चारित्र है, चारित्र का पालन शरीर के आधीन है, शरीर की स्थिति का कारण आहार है और लब्धिरहित पुरुष पात्र के बिना आहार करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः आहार का कारण पात्र है, क्योंकि लब्धियुक्त तीर्थंकरादि ही हाथ रूपी पात्र में भोजन कर सकते हैं। लब्धिरहित पुरुष पात्र के बिना भोजन करते हैं, तो पशु की तरह विडम्बना को ही प्राप्त होते हैं, अनेक प्राणियों की विराधना करनेवाले होते हैं और इस युग के मुनियों को तो अल्प भी लब्धि नहीं होती। अतः धर्म के रहस्य को जाननेवाले पण्डितों ने पात्र को मुक्ति का कारण बताया है। जिनके हाथ में जल के हजारों घड़े डालने के बावजूद भी मानो मंत्र से स्तम्भित किया हो–इस प्रकार उनके हाथों से एक बिन्दू भी नीचे नहीं गिरती, ऐसे जिनेश्वर भी दीक्षा लेने के पश्चात् अपने शिष्यों को मार्ग दिखाने की इच्छा से प्रथम पारणे समय पात्र ग्रहण करते हैं। ऐसा होने पर भी जो जिनेश्वरों का दृष्टान्त देकर कर रूपी पात्र में भोजन करते हैं, वे जिनेश्वरों की आज्ञा का भंग करने से मार्ग में प्रवर्तित होनेवाले नहीं कहला सकते। इस विषय में **श्रीदशवैकालिक सूत्र** में कहा

है :–

पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य।
अकप्पियं न इच्छिज्जा, पडिग्गहिज्ज कप्पिअं।।

भावार्थः–आहार, शय्या, वस्त्र और चौथा पात्र–ये चार अकल्प्य हो, तो उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिए। पर कल्प्य हो, तो ही ग्रहण करना चाहिए।।

वह पात्र तुम्बड़े आदि का बना हो, तो यतियों को देना योग्य है, क्योंकि वैसे पात्र को ग्रहण करने की ही जिनेश्वरों की आज्ञा जिनागमों में है। उस विषय में **स्थानांग सूत्र** में कहा है:–

"साधु अथवा साध्वी तीन प्रकार के पात्र को धारण करते हैं अथवा त्याग करते हैं। वे इस प्रकार हैं–तुम्बड़े का पात्र, लकड़ी का पात्र और मिट्टी का पात्र।"

अन्यमत के शास्त्रों में भी कहा है :–

अलाबु दारुपात्रं च, मृन्मयं विदलं तथा।
एतानि यतिपात्राणि, मुनिः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।।

भावार्थः–तुम्बड़े का पात्र, काष्ठ का पात्र, माटी का पात्र और बांस का पात्र–ये ही पात्र यतियों को कल्पते हैं। ऐसा **मनु** नामक मुनि ने कहा है।।

आचार से शोभित मुनियों को धातु के पात्र नहीं कल्पते हैं, क्योंकि धातुमय पात्र का परिग्रह करने से उनकी निर्ग्रन्थता नष्ट होती है। इस विषय में दशवैकालिक में कहा है :–

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो।
भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सई।।

भावार्थः–कांस्य में, कांस्य के पात्र में अथवा अन्य धातु के गृहस्थ संबंधी बर्तन में गृहस्थ के घर में आहार–पानी को वापरते हुए साधु आचार से भ्रष्ट होता है।।

धातु का पात्र रखने से उस पर मूर्च्छा होती है, चोरी की आशंका होती है, पलिमंथ (उपाधि) होती है और क्लेश होता है। इस प्रकार अनेक अनर्थों के समूह की प्राप्ति होती है। अतः मुनियों को शास्त्रोक्त पात्र का दान करना ही योग्य है, क्योंकि पुण्य क्रिया जिनेश्वरों की आज्ञानुसार करने से वह हितकारक होती है। मोक्ष के कारण रूप योगों में प्रवृत्ति करनेवाले तपस्वियों को पात्र का दान करने से कौन मोक्ष रूपी संपत्ति का पात्र नहीं बनता? जो बुद्धिमान पुरुष विधिपूर्वक सुपात्र को पात्र का दान देता है, वह **धनपति** की तरह स्वयं ही लक्ष्मी को प्राप्त करता है। उसकी कथा इस प्रकार है :–

अपनी समृद्धि के द्वारा इन्द्र के नगर का पराभव करनेवाला और समग्र पृथ्वी का अलंकार रूप **अचलपुर** नामक नगर था। उस नगर में धनिकों के महल मणियों की कान्ति के द्वारा चारों तरफ से प्रकाशित होते थे। फिर भी रात्रि में मात्र मंगल के लिए वे धनिक अपने महलों में दीप जलाते थे। उस नगर में पराक्रम के द्वारा सर्व दिशाओं पर आक्रमण करनेवाला, इन्द्र के तुल्य बलवाला और शत्रु रूपी अन्धकार का नाश करने में सूर्य के समान **सूरतेज** नामक राजा राज्य करता था। उस राजा का [1]धाराधर (तलवार) युद्ध में [2]धाराजल का विस्तार करता था, उसी समय शत्रुओं के मुख में [3]तृण की उत्पत्ति होती थी–यह [4]आश्चर्य ही था।

उस नगर में सर्व व्यापारियों में शिरोमणि **धनपति** नामक श्रेष्ठी रहता था। उसका मन रूपी मत्स्य निरन्तर धर्म रूपी जलाशय में निमग्न रहता था। वह हमेशा उचितता के अनुसार सुपात्रादिक में दान देकर अपने धन के समूह को अत्यन्त कृतार्थ करता था। जैसे मेघ की वृष्टि से नदियाँ विस्तार को प्राप्त होती हैं, वैसे ही उसकी सम्पत्ति प्रत्येक व्यापार में पुण्योदय से पग–पग पर वृद्धि को प्राप्त होती थी। परोपकार से शोभित और निरन्तर वृद्धि को प्राप्त मनोहर संपत्ति के द्वारा वह साधारण उद्यान की तरह प्रसिद्धि को प्राप्त था।

उसके पड़ोस में एक **धनावह** नामक वणिक रहता था। वह कृपणतादि दोषों का निवास स्थान और अभाग्यवंत पुरुषों में शेखर रूप था। वह दुर्भागी जिस–जिस व्यापार में धन डालता था, उस व्यापार में हाथ में रखे हुए जल की तरह खोट ही आती थी। चोरादि भी उसके धन को उपद्रवित कर देते थे, क्योंकि दैव के प्रतिकूल होने पर सब कुछ प्रतिकूल ही होता है। जैसे दावानल वन का नाश करता है, वैसे ही थोड़े ही काल में उसने अपने पिता का सारा धन नष्ट कर दिया। उसके बाप–दादा का पुराना घर फाल्गुन महीने के [5]वृक्ष के समान हो गया, क्योंकि निर्धनता के कारण उस घर की सार–सम्भाल अच्छी तरह नहीं हो पाती थी। लक्ष्मी के पति **धनपति** सेठ के [6]दृष्टि दोष का नाश करने के लिए मानो काजल का टीका हो–इस प्रकार वह पड़ोसी शोभित होता था।

उन दोनों की वैसी अवस्था देखकर लोग उन्हें पूर्वजन्म के वृद्धिप्राप्त मूर्तिमान पाप और पुण्य हो–इस प्रकार मानते थे। उस **धनावह** वणिक की निरन्तर विकास को प्राप्त निर्धनता ऐसा उपद्रव करने लगी कि वह अपने रहने के घर को बेचने के लिए भी तैयार हो गया। उस समय

---

1. दूसरे पक्ष में धाराधर अर्थात् मेघ।
2. तलवार की धारा रूपी जल, मेघ के पक्ष में धाराबंध जल।
3. शरण में जाते समय मुख में तृण लेने का रिवाज है।
4. जल की वृष्टि होते ही तुरन्त घास नहीं उगती, पर शत्रु के मुख में तुरन्त तृण उत्पन्न हुआ–यह आश्चर्य ही है।
5. फाल्गुन मास में वृक्षों के पत्ते झड़ जाने से वह ठूंठ के समान हो जाता है।
6. किसी को नजर लगने का दोष दूर करने के लिए कपाल में काजल का टीका लगाया जाता है।

उसके घर का पूरा मूल्य देकर **धनपति** सेठ ने उस घर को खरीद लिया, क्योंकि पुण्यवान पुरुष ही सर्व संपत्ति का शरण रूप होता है। फिर निष्कपट बुद्धियुक्त **धनपति** ने उस घर को गिराकर वहां नया मकान बनवाना प्रारम्भ किया, क्योंकि धन की वृद्धि होने से घर आदि की समृद्धि भी बढ़ती है। उस **धनपति** की आज्ञा से कर्मकर मानो उसकी गुप्त रही हुई विशाल समृद्धि को प्रकट करना चाहते हों–इस प्रकार से हर्षपूर्वक खुदाई का कार्य करने लगे। तभी **धनपति** के अगणित पुण्यों के समूह के रूप में महानिधि उस भूमि में से प्रकट हुई। उसके पूर्व के उदय में आये हुए महापुण्य रूपी भोजन को जीमने के लिए उस निधान में से बड़े–बड़े स्वर्णथाल निकले। मानो वहां के लोगों के यश रूपी अमृत का पान करने के लिए ही हों–इस प्रकार से मनोहर रजत की कटोरियों का समूह निकला। उस सेठ के घर आयी हुई लक्ष्मी के बैठने के लिए ही हो–इस प्रकार से सुन्दर स्वर्ण का सिंहासन उस निधान में से निकला। पुण्यलक्ष्मी रूपी नवीन कन्या के साथ मानो परिणय की इच्छा करते उस सेठ के अलंकार के लिए अलंकारों–आभूषणों की श्रेणी उस निधान में शोभित थी। उस सेठ का मनोरथ पूर्ण करने के लिए मानो कामकुम्भ हो–ऐसे अद्‌भुत और दैदीप्यमान स्वर्णकलश भी उसमें से निकले। सेठ के मूर्तिमान गुणों के समूह के समान निःसीम कांतियुक्त श्रेष्ठ जातिवंत रत्नों का समूह भी उस निधान में निकला। इस प्रकार की निधि को देखकर उसके नेत्र आश्चर्य से विकस्वर हो गये। तत्काल हर्षपूर्वक सेठ वह निधि अपने घर ले गया।

यह बात जानकर उस घर का पूर्वस्वामी **धनावह वणिक** लोभान्ध होकर उस निधान को लेने के लिए **धनपति** श्रेष्ठी के साथ कलह करने लगा। उसने कहा–"मेरे पूर्वजों ने इस निधि का स्थापन किया था–ऐसा मैंने अपने बुजुर्गों के मुख से सैकड़ों बार सुना है। पर वह निधि किस स्थान पर गड़ी हुई है–यह ज्ञात न होने के कारण मूढ़मति मैंने उसे खोजने का उपक्रम कभी नहीं किया। अतः मेरी यह निधि बिना विचार किये मुझे सौंप दो। पराया धन होने से यह तुम्हारे द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है।"

इस प्रकार उस वाचाल ने झूठी कल्पना करके वचन रचना रची। मृषा भाषा से जीनेवाले पुरुष कभी स्खलना को प्राप्त नहीं करते। उसके बाद **धनपति सेठ** ने उत्तम पुरुषोचित वचन कहे–"हे भद्र! अगर यह तुम्हारी निधि है, तो खुशी से ग्रहण करो। पर इस बाबत में उत्तम पुरुषों की साक्षी में उस बात का विश्वास दिलाओ कि यह तुम्हारे पुरखों की संपत्ति है, जिससे शीघ्रता के साथ यह सम्पत्ति तुम्हें प्राप्त हो।"

यह सुनकर उस वणिक ने कहा–"अहो! तुम्हारी कैसी चतुराई! मेरे घर में निकले हुए निधान के लिए तुम मेरे लिए ही साक्षी मांग रहे हो। ऐसी चतुराई का त्याग करके मेरी निधि मुझे सौंप दो। अन्यथा मैं अभी राजा के पास जाकर फरियाद करूंगा।"

इस प्रकार उन्मत्त की भांति स्वेच्छापूर्वक असंबद्ध प्रलाप करते उसके ऊपर क्रोध को प्राप्त मार्ग के मुसाफिर की बुद्धिवाले ज्ञाति के वृद्ध पुरुषों ने कहा–"असत् कल्पनाओं को विस्तृत करनेवाले हे वाचाल! उल्लंठ की तरह संबंधरहित और धर्म व न्याय का उल्लंघन करनेवाले वचन क्यों बोलते हो? तुम्हारे पूर्वजों ने यहां इस जगह निधि का स्थापन किया था–यह बात आज तक मेरे वंश के किसी भी व्यक्ति अथवा अन्य किसी ने भी नहीं सुनी। अब इस सेठ के भाग्य से यह निधि प्रकट हुई है, तो मूर्ख मनुष्य की तरह व्यर्थ असंबद्ध प्रलाप करते हुए तुझे शर्म नहीं आती? प्राणियों को पुण्य के प्रभाव से ही पग–पग पर पृथ्वी पर अनेक प्रकार के निधान मिला करते हैं। तेरे घर की पृथ्वी का मालिक अब यह सेठ है। अतः इस निधि का स्वामी भी यही है, क्योंकि जो गाय का स्वामी होता है, वह क्या उसके गर्भ में रहे बच्चे का स्वामी नहीं होता? बिना कारण विवाद करने से कुछ भी फल मिलनेवाला नहीं है, बल्कि इसके विपरीत अनेक विपत्तियाँ आ पड़ने का अंदेशा रहता है। जो दुर्बुद्धि अन्यायपूर्वक धन की अभिलाषा करता है, उसे चार मित्रों की तरह आपत्तियाँ ही प्राप्त होती हैं। वह इस प्रकार है :–

हेमपुर नामक नगर में राजा, मंत्री, श्रेष्ठी और पुरोहित–इन चारों के चार पुत्र बाल्यावस्था से ही मित्र थे। वे समान वयवाले थे। एक के सुखी होने पर सभी सुखी होते थे और एक के दुःखी होने पर सभी दुःखी हो जाया करते थे।

एक बार उन सभी ने देशान्तर जाकर विविध कौतुक देखने का विचार किया। अतः वहां से चलकर अनुक्रम से अत्यधिक मार्ग का उल्लंघन करते हुए रात्रि के समय किसी अरण्य में पहुँचे। वहां धैर्ययुक्त उन्होंने एक वृक्ष के तले रेत पर निवास किया। **जागृत को भय नहीं रहता**–इस नीति को जानने के कारण उन्होंने अनुक्रम से एक–एक प्रहर बारी–बारी सभी के लिए जागने का निर्धारित किया।

उनमें सबसे पहले श्रेष्ठीपुत्र की बारी थी। अन्य तीन कुमार सो गये। उस समय उस वृक्ष के शिखर पर शब्द हुआ–"यहां अत्यधिक द्रव्य है, पर वह अनर्थ सहित है। अगर तेरी इच्छा हो, तो तुझे प्राप्त हो सकता है।"

ऐसी वाणी को सुनकर अनर्थ के भय से श्रेष्ठी पुत्र ने "नहीं–नहीं"–इस प्रकार शब्द करके उसका निषेध किया, क्योंकि वणिक लोग भय के स्थान होते हैं।

फिर दूसरे और तीसरे प्रहर में मंत्रीपुत्र और पुरोहित पुत्र की बारी में भी उन्होंने भय के कारण उस द्रव्य को ग्रहण करने का निषेध किया। फिर राजपुत्र की बारी आयी। उन तीनों के सो जाने के बाद उसने भी वही वाणी सुनी। उग्र साहस के कारण उसने विचार किया–"जो धीर होता है, वही प्रकट रूप से लक्ष्मी को भोगता है। पर कष्ट को न सह सकनेवाला कायर

पुरुष लक्ष्मी को भोग नहीं सकता, क्योंकि **कान स्वर्ण के अलंकारों से शोभित होता है और नेत्रों में काजल आंजा जाता है।"**

इस प्रकार विचार करके उसने कहा–"इच्छानुसार आ।"

तब तुरन्त ही उसके पास दैदीप्यमान शरीर से युक्त स्वर्ण पुरुष आकर गिरा। फिर प्रातःकाल होने पर वे सभी जागृत हुए और उस स्वर्ण पुरुष को देखकर प्रसन्न हुए और आगे चले। रात्रि की कथा को परस्पर कहते हुए मार्ग को छोटा बनाने लगे। फिर भोजन की बेला होने पर किसी ग्राम के समीप पहुँचे। वहां भोजन लेने के लिए श्रेष्ठीपुत्र और मंत्रीपुत्र ग्राम के मध्य गये। उन्होंने मार्ग में विचार किया–"हमें ही उस स्वर्णपुरुष का स्वामी बनना चाहिए।"

इस प्रकार विचार करके उन दुर्बुद्धियों ने भोजन को विषमिश्रित बना दिया। फिर भोजन लेकर वे दोनों ग्राम के बाहर गये। उस समय बाहर रहे हुए राजपुत्र और पुराहित पुत्र ने भी दुष्ट बुद्धि से वैसा ही विचार किया। अतः उन दोनों के आने पर तुरन्त तीक्ष्ण तलवार से उन दोनों को मार डाला। फिर उन दोनों का लाया हुआ विषमिश्रित भोजन खाकर यमराज के घर पहुँच गये। अत्यन्त **उग्र पाप का फल तुरन्त ही मिलता है।**

इस प्रकार अन्याय से उन चारों मित्रों ने धन की इच्छा की, अतः उसी भव में वे मरण को प्राप्त हुए और परलोक में नरक की व्यथा को प्राप्त हुए। अतः हे **धनावह**! अगर तेरा आत्महित चाहता है, तो इस अन्याययुक्त दुष्ट मति का दूर से त्याग कर और इस व्यर्थ के मिथ्या विवाद को छोड़ दे।"

इस प्रकार वृद्धजनों के द्वारा निषेध के बावजूद भी **धनावह** कलह का त्याग नहीं किया। **सैकड़ों प्रयास करने के बावजूद भी कुत्ते की पूंछ वक्रता का त्याग नहीं करती।** फिर उसने कहा–"तुम मुझे मेरी निधि नहीं दे रहे हो, तो ठीक है। जब कल प्रभात होगा, तो मैं राजा के समक्ष वह निधि तुमसे ग्रहण करूंगा। उस समय मेरी शक्ति का प्रमाण तुम देखना।"

यह कहकर तुरन्त वहां से उठकर वह अपने घर चला गया। असत्य भाषण करनेवाले उस दुष्ट पुरुष का मुख देखने में असमर्थ होकर मानो सूर्य अस्ताचल की ओर प्रयाण कर गया। उस समय आकाश में रहे हुए व्यक्ति मानो कोलाहल करते हुए उसे कहने लगे–"हे दुष्ट! असत्य भाषण मत कर। तेरी मौत नजदीक ही है।"

उस समय केवल दिशाएँ ही अन्धकार के समूह से मलिनता को प्राप्त नहीं हुई, बल्कि उसकी आत्मा भी चारों तरफ से पाप के समूह के कारण मलिनता को प्राप्त हुई। फिर वह पापी अपने घर जाकर विचार करने लगा–"मैं निधि को किस प्रकार ग्रहण करूं? उसे किस प्रकार दण्ड दिलवाऊँ?"

ऐसे क्लिष्ट परिणाम का चिन्तन करते हुए उसे निद्रा आ गयी। रात्रि में मानो उसके रौद्र ध्यान से उत्पन्न मूर्तिमान पाप ही हो–इस प्रकार से कृष्ण सर्प ने आकर उसे डस लिया। उस समय मानो नरक के दुःख का स्वाद ही भोग रहा हो–इस प्रकार एक घड़ी तक विष के आवेश की तरंगों से युक्त उग्र वेदना को वह भोगने लगा। जैसे ब्राह्मण चाण्डाल का दूर से ही त्याग करता है, वैसे ही उस पापी का संग योग्य नहीं है–ऐसा विचार करके मानो प्राणों ने भी उसका साथ छोड़ दिया। **असत्य भाषण कीर्ति का नाश करता है, सैकड़ों विपत्तियों को प्राप्त करवाता है, दुःखों को प्रदान करता है, सुख का नाश करता है, धर्म की जड़ को काट डालता है और पाप का विस्तार करता है।** ऐसे असत्य भाषण को कौन बुद्धिमान पुरुष स्वीकार करेगा?

उसके बाद **धनपति** सेठ के पुण्य और **धनावह** वणिक के उस प्रकार के पाप को दिखाने के लिए सूर्य आकाश में चढ़ आया। **धनावह** के मरण का वृत्तान्त जानकर मनुष्य परस्पर कहने लगे–"वास्तव में **धनपति** के पुण्य से ही वह निधि प्रकट हुई है। **धनावह** ने धनान्ध होकर असत्य ही कहा है। पुण्यरहित वह **धनावह** उस निधि को देखने तक में समर्थ नहीं था। हहा! वह अकाल में ही कैसे मरण को प्राप्त हुआ? अथवा तो असत्यवादी के लिए यह योग्य ही हुआ है। उसने निधियुक्त अपना घर बेचकर दूर से ही उसका त्याग कर दिया। अतः निश्चय ही वह निर्भागियों में शिरोमणि व दरिद्रों में अग्रसर था। **धनपति** सेठ का अगण्य पुण्य जागृत है कि उसे पराये घर में रहा हुआ निधान भी प्राप्त हुआ। निश्चय ही उसने पूर्वभव में उग्र तपश्चर्या की होगी कि जिससे समुद्र में नदियों की तरह उसके पास लक्ष्मी अपने आप ही आ गयी।"

इस प्रकार लोगों में उन दोनों की कीर्ति और अपकीर्ति (श्वेत जलयुक्त) गंगा और (मलिन जलयुक्त) यमुना के संगम की तरह शोभित होने लगी।

फिर किसी पुरुष ने इस निधान की बात राजा तक पहुँचा दी। दुर्जन व्यक्ति अन्यों को संतप्त करने में सर्प के समान होता है। राजा ने **धनपति** सेठ को बुलवाया। वह तत्काल राजसभा में गया, क्योंकि पवित्र आचरण से युक्त पुरुष सर्वत्र निःशंक होते हैं। राजा ने उससे पूछा, तब उसने सारा वृत्तान्त सच्चाई के साथ राजा के समक्ष कह दिया, क्योंकि कभी भी असत्य का आश्रय नहीं लेना चाहिए और राजा के सामने तो बिल्कुल भी असत्य नहीं बोलना चाहिए। उसके वचनों को सम्यग् प्रकार से श्रवण करने के बाद राजा का मुख विस्मय से विकस्वर हो गया। अतः हर्षपूर्वक उसे बहुमान देकर राजा ने कहा–"हे सेठ! तुम्हारे उत्कृष्ट पुण्य के द्वारा तुम्हें निधि प्राप्त हुई है। अन्यथा आज तक यह निधि अन्यों को प्राप्त क्यों नहीं हुई? इस निधि को ग्रहण करने के लिए **धनावह** ने तुम्हारे साथ कलह किया, तो मानो

अन्याय के ज्ञाता उस सर्प ने उसे डस लिया। ऐसा होना योग्य भी है। अतः मेरे द्वारा भी उस निधि को ग्रहण करना किसी भी रीति से योग्य नहीं है, क्योंकि न ग्रहण करने योग्य वस्तु को ग्रहण करता हुआ राजा भी शुभ फल को प्राप्त नहीं करता। इस विषय में नीतिशास्त्र में भी कहा है :–

अनादेयं न गृह्णीयात्, परिक्षीणोऽपि पार्थिवः।
न चादेयं समृद्धोऽपि, सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत्।।

भावार्थः–राजा अगर धन से क्षीण भी हो गया हो, तो भी उसे न ग्रहण करने योग्य वस्तु को ग्रहण नहीं करना चाहिए और समृद्धिवान हो, तो भी उसे ग्रहण करने योग्य अल्प वस्तु का भी त्याग नहीं करना चाहिए।।

अतः वह निधान निश्चित रूप से तुम्हारा ही है। तुम ही उसे ग्रहण करो और इच्छानुसार उपभोग करो। जैसे तुम्हारे सुकृत्यों ने तुम्हें वह निधि प्रदान की है, वैसे ही मैं भी तुम्हें वह निधि प्रदान करता हूं।''

ऐसा कहकर राजा ने उस उत्तम श्रेष्ठी को सत्कारपूर्वक विदा किया। तब वह अपने घर गया और चुगली करनेवाले खल पुरुष का मुख स्याह हो गया। फिर शुभ दिन सर्व शुभ लक्षणों से युक्त उस नये घर में श्रेष्ठी ने निवास किया। वर्षाऋतु के मेघ की तरह लोगों को प्रसन्न करते हुए और पुण्य रूपी उद्यान की वृद्धि करते हुए उत्सव उसके घर में प्रवर्तित होने लगे। उस निधि के द्वारा उसके तीनों पुरुषार्थ निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होने लगे, क्योंकि सत्पुरुषों की लक्ष्मी दान और भोग के लिए ही होती है।

जिनके ज्ञान रूपी दर्पण में तीनों लोक का प्रतिबिम्ब पड़ता हो और जिन्होंने अंतःकरण के कर्म रूपी मैल को धो डाला हो–ऐसे केवली भगवान एक बार उस नगर के उद्यान में पधारे। उस समय भक्ति से दैदीप्यमान देवताओं ने मानो धर्म रूपी लक्ष्मी के क्रीड़ा करने के लिए एक विशाल स्वर्ण कमल की रचना की। शुद्ध [1]पक्ष के द्वारा शोभित और तत्त्व और अतत्त्व के विवेक को करनेवाले वे श्वेताम्बर मुनि हंस की तरह उस कमल पर बैठे। उनके आगमन का श्रवण करके हर्ष के समूह से शोभित राजा, श्रेष्ठी और पुरजन उन्हें वंदन करने के लिए आये। तीन प्रदक्षिणा देकर चन्दन की तरह उनकी चरणरज को कपाल पर तिलक के रूप में लगाकर उन्होंने केवली को प्रणाम किया। उसके बाद उन मुनीश्वर ने कुमार्ग पर जाते हुए प्राणियों को सन्मार्ग पर लाने के लिए मानो शब्द कर रहे हों–इस प्रकार धर्मजल से भरे हुए मेघ की गर्जना के समान गम्भीर वाणी में देशना प्रदान करते हुए कहा–''रूप, आयुष्य, नीरोगता और वीर्य

1. साधु–परिवार अथवा माता–पिता का पक्ष। हंस के पक्ष में पक्ष अर्थात् पंख।

आदि सामग्री के साथ मनुष्य जन्म को प्राप्त करके अपनी आत्मा का हित करने में तत्पर हुए बुद्धिमान मनुष्यों को निरन्तर धर्म के विषय में यत्न करना चाहिए। शरीर, धन और बान्धवों से भी ज्यादा विशिष्टता धर्म में होती है, क्योंकि यह धर्म प्राणियों के लिए एकान्त हितकारक और परलोक में साथ जानेवाला है। शरीर, बन्धुजन आदि परलोक में साथ नहीं जाते। जिनका प्रभाव सर्वविदित है, ऐसे कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामकुम्भ आदि पदार्थ धर्म रूपी राजा के वश में है। उसी के राज्य में ये सभी वस्तुएँ दास के रूप में रहती हैं। जैसे गुणों के समूह के द्वारा विशाल यश प्राप्त होता है, वैसे ही इस धर्म के द्वारा विशाल राज्य प्राप्त होता है। कुल्हाड़ी के द्वारा वन की तरह धर्म के द्वारा समग्र दुःखों का समूह मूलसहित उखाड़ा जा सकता है। जैसे मलिन वस्त्र जल के द्वारा शुद्ध होते हैं, वैसे ही अनंत भवों में पाप के द्वारा मलिन जीव भी धर्म के द्वारा क्षणभर में निर्मल बन जाता है। दुर्गति में गिरते हुए पापी प्राणियों को तुरन्त धारण करने के कारण और सुगति में स्थापित करने के कारण पण्डितों ने इसका धर्म नामकरण किया है। धर्म इस भव में कीर्ति, सद्बुद्धि, प्रतिष्ठा और विविध प्रकार की समृद्धि प्रदान कराता है और परलोक में अविचारणीय अद्भुत स्वर्ग और मोक्ष रूपी सम्पत्ति को प्रदान करता है। अतः आत्महित चाहनेवाले पुरुषों को दिन–रात श्रीजैनधर्म की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि यथार्थ उपाय किये बिना सम्यग् प्रकार से उपेय की सिद्धि नहीं होती। वह धर्म दान, शील, तप और भाव के भेद से चार प्रकार का है। इनमें भी दान सर्व सम्पत्तियों का कारण है। देश अथवा सर्व से पालन किया हुआ शील सुख का विकास करता है, गृहस्थों के यश की वृद्धि करता है और लक्ष्मी को प्राप्त करवाता है। छः प्रकार का बाह्य और छः प्रकार का आभ्यन्तर तप पूर्वोपार्जित दुष्कर्म रूपी वृक्ष जलाने में दावानल के समान है। पण्डितों के मन रूपी पृथ्वी पर उगे हुए समस्त प्रकार के पुण्य रूपी धान्य शुद्ध भावना रूपी जल के योग से फलप्रदाता बनते हैं। गृहस्थों का विशेष रूप से सभी प्रकार के दानों में उपयोग होना चाहिए, क्योंकि दान के द्वारा शृंगारित लक्ष्मी गृहस्थ पर स्नेहभाव से युक्त बनती है। जैसे कतक के चूर्ण द्वारा जल शुद्ध बनता है और जल के द्वारा वस्त्र शुद्ध बनता है, वैसे ही दान के द्वारा गृहस्थों का धन शुद्ध बनता है। सर्व दानों में पात्रदान श्रेष्ठ है, क्योंकि दान की श्रेष्ठता के बिना फल की श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती। अहो! पात्र का कैसा प्रभाव है? क्योंकि चित्त के आह्लाद के साथ थोड़ा भी दान किया हो, तो भी वह स्वर्ग और मोक्ष की संपत्ति का कारण बनता है। सुपात्रदान करने से भव्यप्राणी परभव में संपत्ति के स्थान बनते हैं और पात्रदान की विराधना करने से आपत्ति का स्थान बनते हैं। इस विषय में **धनपति** सेठ और **धनावह** वणिक का उदाहरण स्पष्ट ही है। आपलोग प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं।''

इस प्रकार गुरु के वचनों को सुनकर राजादि सभासदों ने हर्ष और आश्चर्य को धारण

किया। फिर **धनपति** विचारने लगे–"अहो! गुरु महाराज की मुझ पर कितनी कृपा है! कि मेरा ही उदाहरण सबके सामने रखा।"

ऐसा विचार करके **धनपति** के नेत्र हर्ष से विशेष विकस्वर हुए। फिर उस सेठ के पूर्वभव के पुण्यों को सुनने की इच्छा से कौतुकी हुए राजा ने हर्षपूर्वक केवली भगवान को पूछा–"हे प्रभु! पूर्वजन्म में **धनपति** ने किस प्रकार पात्रदान की आराधना की? और **धनावह** वणिक ने किस प्रकार पात्रदान की विराधना की?"

तब गुरु महाराज ने कहा–"**सुन्दर** नामक ग्राम में **सूर** और **धीर** नामक दो कुटुम्बी रहते थे। उनमें **सूर** स्वभाव से ही दयालू और सरल था। जिनका कल्याण समीप हो, उनकी बुद्धि सन्मार्ग का ही अनुसरण करती है। उनके हृदय में साधुओं के प्रति शुद्ध रागभाव होता है। आलते का रंग स्त्रियों के भूषण के लिए ही होता है। पर **धीर** तो अपने दुष्कर्म के अत्यन्त उदय के कारण द्राक्ष के वन में ऊँट की तरह धर्म से विमुख था। उन दोनों के घर पास–पास होने से उनमें परस्पर प्रीति थी। पर हंस और बगुले की तरह उनके स्वभाव में अन्तर था।

एक बार **सूर** के घर में उसके पुण्य से प्रेरित मुनि शिष्य के लिए पात्र की याचना करने के लिए आये। उन्हें देखकर **सूर** ने पहले भक्तिपूर्वक उन्हें नमन किया और फिर हाथ जोड़कर कहा–"अहो! आपका मन मुझ पर प्रसन्नता के द्वारा कितना निर्मल है? क्योंकि इस ग्राम में समृद्धियुक्त व्यापारियों के अनेक घर हैं। पर फिर भी उन्हें छोड़कर अकस्मात् बिना बुलाये आप मुझ गरीब के घर पर पधारे। आप पूज्यों की समदृष्टि जगत में आश्चर्यकारक है। क्योंकि धनाढ्य और निर्धन के विषय में आपकी वृत्ति तुल्य है। मुझ पर कृपा करके शुद्ध आहारादि को ग्रहण करें अथवा अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता हो, तो बतायें।"

इस प्रकार शुद्ध भक्तियुक्त बोलते हुए **सूर** को मुनि ने कहा–"हम शिष्य के लिए पात्र लेने तुम्हारे घर आये हैं।"

यह सुनकर हर्षित होता हुआ **सूर** घर के भीतर गया। कहीं रखा हुआ शुद्ध पात्र लेकर मुनि को देने के लिए जैसे ही बाहर आया, तभी किसी कार्य से **धीर** वहां पर आया। उसने उसे पात्र का दान करते देखकर कहा–"हे मित्र! नेत्रों को प्रिय यह पात्र बिना मूल्य लिये मुनियों को क्यों दे रहे हो? ये यति शौच आचार से रहित, दूसरों को ठगने में चतुर और माया–कपट के घर हैं। इन्हें दान देना उचित नहीं है। इस पात्र को बेचने से तो तुम्हें धनलाभ होगा। अतः व्यर्थ ही यतियों को देकर तुम अपना नुकसान मत करो।"

इस प्रकार कर्ण में करवत के समान उसके कठोर वचन को सुनकर **सूर** के मन में क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने स्पष्ट रूप से कठोर वचनों में प्रत्युत्तर दिया–"अरे मूढ़! तूं ऐसा निन्द्य

वचन क्यों बोलता है? कौन बुद्धिमान इन तपस्वियों की निन्दा करेगा? सर्व पाप से निवृत्ति को प्राप्त और पुण्यकर्म में ही प्रवर्तित ये यति पूजा के ही योग्य हैं। उनकी निन्दा करते हुए तुझे कैसे लज्जा नहीं आयी? हे मूर्ख! तीन जगत के द्वारा वन्दन के योग्य इन पवित्र मुनियों को दान न दिया जाय, तो अन्य कौन दान के योग्य हो सकता है? यह तुम ही बताओ। इन यतियों को दान देने से श्रेष्ठ क्षेत्र में बोये हुए बीज के समान अत्यन्त उत्कृष्ट फल की प्राप्ति होती है।''

इस प्रकार कहकर उसे निरुत्तर किया। पर उसके दुष्ट परिणामों को वह नष्ट नहीं कर सका। फिर पात्र साधु के पास लेकर आया। अंतःकरण में न समाने से बाहर व्याप्त हर्ष के साथ रोमांच की श्रेणी को धारण करते हुए तथा अपने चित्त के समान निर्दोष उस पात्र को हाथ में लेकर मानो पुण्य की याचना कर रहा हो–इस प्रकार विनयपूर्वक उसने मुनि को विज्ञप्ति की–''मुझ पर कृपा करके इस शुद्ध पात्र को ग्रहण कीजिए।''

तब मुनि ने भी पात्र को शुद्ध जानकर उसे ग्रहण किया और अपने उपाश्रय की तरफ लौट गये। उस समय **सूर** भी मानो पात्र देकर सम्पदा ग्रहण करने के विनिमय को दृढ़ कर रहा हो–इस प्रकार हर्षपूर्वक उन मुनि के पीछे–पीछे सात–आठ कदम तक गया। सम्यग् प्रकार की भक्ति के साथ मुनि के पीछे जाकर फिर वापस घर आकर हर्ष से पूर्ण हुआ **सूर** शुद्ध बुद्धिपूर्वक विचार करने लगा–''मैं मानता हूं कि आज मेरी आत्मा पुण्यशालियों में अग्रसर बनी है, क्योंकि आज मुनियों ने अपने चरण–कमलों के द्वारा मेरे घर को पावन किया है। आज मेरा पात्र मुनियों के लिए उपकारक हुआ। अतः मेरी सम्पत्ति भी कृतार्थ हुई और मेरा जीवन भी सफल हुआ।''

इस प्रकार निरन्तर प्रसरती अनुमोदना रूपी भावधारा के द्वारा उसने अपना पात्रदान रूपी पुण्य वृक्ष प्रफुल्लित किया। अनुक्रम से निर्मल अंतःकरणवाला वह **सूर** शुद्ध विधियुक्त मरण को प्राप्त करके शिष्टजनों में अग्रसर यह **धनपति** सेठ बना है। इसने पूर्वभव में शुद्ध भावों के द्वारा साधुओं को श्रद्धापूर्वक जो पात्रदान किया, उसी पुण्य के प्रभाव से यह स्वर्णकुम्भ आदि संपत्ति का स्वामी बना है। प्राणियों को जो अखण्ड सौभाग्य प्राप्त होता है, जो विशाल राज्य प्राप्त होता है, जो शाश्वत प्रभाव प्राप्त होता है, अत्यन्त कीर्ति प्राप्त होती है, निरन्तर सुख के द्वारा मनोहर दीर्घ आयु प्राप्त होती है, आपत्ति रहित संपत्ति प्राप्त होती है, वह सभी सुपात्र को दिये गये वित्त की महिमा ही दम्भरहित जयवन्त वर्तित होती है। उधर दुष्ट अध्यवसाय के द्वारा **धीर** ने अत्यन्त अशुभ कर्मों का उपार्जन किया। अतः मरकर वह दरिद्र **धनावह** वणिक बना। उसने पूर्वजन्म में दुष्टबुद्धि से पात्रदान का निषेध किया था, अतः उस पाप के कारण उसे जीवन–भर दरिद्रता का ही दुःख भोगना पड़ा। अकाल में कालसर्प ने उसे कालधर्म को प्राप्त करवाया। दानधर्म की विराधना करनेवाला पग–पग

पर आपदाओं को प्राप्त करता है। जो मनुष्य दान धर्म नहीं करता, वह अधम होता है और जो दानधर्म करते हुए अन्य जनों को निषेध करता है, वह अधमों में भी अधम है। अतः हे बुद्धिमान भव्य जीवों! पात्रदानादि धर्म में यत्न करना चाहिए और अन्यों को भी उस धर्म में उत्साहित करने का प्रयास करना चाहिए।''

इस प्रकार गुरु–वचनों को सुनकर राजादि सभी सभासद अत्यन्त प्रसन्न हुए और पात्रदानादि धर्म करने में आदरयुक्त बने। अपने पूर्वभव का श्रवण करके **धनपति श्रेष्ठी** मन में अत्यन्त हर्षित हुआ और 'सुपात्र को पात्र मात्र का दान करने पर मुझे कितना ज्यादा फल मिला?'–इस प्रकार शुभ ध्यान करने से तत्काल जातिस्मरण ज्ञान को प्राप्त किया। गुरु द्वारा कथित वृत्तान्त को उसने साक्षात् देखा। फिर उसने गुरुदेव से कहा–''हे भगवान! आपके वचन रूपी दीप के द्वारा अज्ञान रूपी अन्धकार के समूह के मध्य भी मैंने अपना पूर्वभव साक्षात् देखा है और जैन धर्म का श्रेष्ठ फल मिलता है–ऐसा मैंने जाना है, क्योंकि वह कल्पवृक्ष के समान तत्काल मनवांछित लक्ष्मी को प्रदान करता है। अतः संसार पर्यन्त मुझे भव–भव में यही धर्म शरण रूप बने। हे प्रभु! अभी भी मुझे यही धर्म कृपा करके प्रदान करें।''

इस प्रकार विनति करके उसने गुरु के पास से हर्षपूर्वक मुक्ति रूपी स्त्री की दूती के समान देशविरति ग्रहण की। 'आज से मैं मुनियों को शुद्ध पात्र का दान निरन्तर करूंगा'–इस प्रकार शुद्ध भाव से जीवन–पर्यन्त के लिए अभिग्रह धारण किया। उस समय राजादि अन्य लोगों ने भी सम्यक्त्वादि ग्रहण किया। जिस धर्म का प्रत्यक्ष फल दिखायी दे रहा हो, वैसे श्रेयकारक धर्म को कौन अंगीकार नहीं करेगा?

उसके बाद राजा, पुरजन और **धनपति** श्रेष्ठी आदि सभी केवली भगवान को नमस्कार करके अंतःकरण को धर्ममय बनाकर अपने–अपने घर चले गये। सदाचार पालने में आदरयुक्त वह सेठ विशाल राज्य के समान अरिहन्त धर्म को प्राप्त करके हर्षपूर्वक उसका पालन करने लगा। श्रेष्ठ भक्तिपूर्वक वह जिनेश्वरों की पूजा करता। उसने चित्त को प्रसन्न करनेवाले जिनचैत्य बनाये। वह शुद्ध अन्न–जल के द्वारा मुनियों को प्रतिलाभित करता। साधर्मिकों का भोजनादि के द्वारा अत्यन्त सम्मान करता। तीर्थयात्रादि के द्वारा प्राप्त हुई शासनोन्नति रूपी शाण पर निरन्तर समकित रूपी रत्न को अत्यन्त तेजस्वी बनाता था। हितकारक धर्मक्रिया में कुशल बुद्धिवाला वह पाप रूपी व्याधि का हनन करने के लिए औषधि की तरह दो बार आवश्यक क्रिया करता था। पाँच समिति पालने में प्रयत्नयुक्त और धैर्य की निधि के समान वह पर्वदिवस पर आभ्यन्तर शत्रुओं का हनन करने के लिए खड्ग के समान पौषधव्रत को ग्रहण करता था। उदार चित्तयुक्त वह निरन्तर मोक्ष रूपी लक्ष्मी को वश में करने के मंत्र के समान नमस्कार मंत्र का स्मरण करता था।

इस प्रकार चिरकाल तक अद्‌भुत पुण्य–क्रियाओं के द्वारा पवित्र हुए अपने आयुष्य को पूर्ण करके वृद्धिप्राप्त अध्यवसाय के द्वारा शुद्ध वह श्रेष्ठीश्वर स्वर्ग की समृद्धि को प्राप्त हुआ। वहां से च्यवकर उत्तम कुल में जन्म लेकर पहले उत्कृष्ट समृद्धि को प्राप्त करके और बाद में चारित्र को अंगीकार करके समग्र कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करेगा।''

हे बुद्धिमान भव्यों! इस प्रकार मुनि को पात्रदान करने से प्राप्त हुए पुण्य के प्रभाव से मनोहर **धनपति** सेठ का अद्‌भुत चरित्र सुनकर पात्रदान करने में सावधान बनना चाहिए, जिससे मोक्ष सुख रूपी लक्ष्मी स्वयं अपनी इच्छानुसार तुम्हारा वरण करे।

।। इति एकादश प्रकाश।।

द्वादश प्रकाश

जिनका आगम गुण–दोष का विवेक करने में अत्यन्त समर्थ है, वे श्री वर्द्धमानस्वामी हमारी समृद्धि को वृद्धियुक्त बनायें।

अब इस बारहवें प्रकाश में गुण–दोष का व्याख्यान किया जायगा, क्योंकि गुणयुक्त और दोषरहित जो दान दिया जाता है, वही मुक्ति का कारण बनता है।

दान के पाँच दोष बताये गये हैं–1. आशंसा, 2. अनादर, 3. पश्चात्ताप, 4. विलम्ब और 5. गर्व।

इनके विपरीत गुण कहलाते हैं।

अल्पबुद्धियुक्त दातार दान के फल मोक्ष के सिवाय अन्य किसी फल की आकांक्षा करते हैं, पण्डितों ने उसे **आशंसा दोष** कहा है। यह आशंसा इसलोक और परलोक से संबंधित दो प्रकार की होती है। उसमें से दातार को जो इस लोक संबंधी कीर्ति आदि की इच्छा होती है, वह पहली **इहलोक आशंसा** कहलाती है। सर्व समृद्धि को प्रदान करनेवाले दान के द्वारा इस लोक संबंधी फल की वांछा करनेवाला रंक प्राणी एक मुट्ठी अनाज के द्वारा महारत्न को बेच देता है। पुण्य की इच्छावाले पुरुष के द्वारा कीर्ति के लिए दान देना योग्य नहीं है, क्योंकि कीर्ति की इच्छा से बुद्धि में क्लिष्ट परिणाम उत्पन्न होते हैं। उससे वह दान का पुण्य हार जाता है। इसी प्रकार कीर्ति प्राप्त करने के हेतु से उसके उपाय रूप गीतादि में आदर करने से वह सत्य कीर्ति को प्राप्त नहीं करता, बल्कि सत्पुरुषों में हँसी का पात्र बनता है। जोती हुई भूमि

में बीज की तरह पात्र में दिया गया दान अत्यन्त फलयुक्त बनता है, क्योंकि सुपात्रदान में ही दातार का शुद्ध परिणाम संभवित है। जिसको कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा हो, उस पुरुष की बुद्धि प्रायः पात्र के विषय में आनन्द प्राप्त नहीं करती, क्योंकि अपनी कीर्ति रूप वांछित की सिद्धि के लिए उसका आदर पात्र को छोड़कर अन्य विषय में होता है। उत्तम पुरुष को अपने वांछित कार्य की सिद्धि के लिए अथवा तो अनर्थ का नाश करने के लिए कभी भी दान नहीं देना चाहिए, क्योंकि प्राणियों के इच्छित कार्य की सिद्धि अथवा अनर्थों का नाश तो पूर्वकृत कर्मों के आधीन ही है। किसी भी आशंसा से रहित प्राणी सुपात्र के योग और अपने भावों की उग्रता के कारण कदाचित् इसी भव में भी उसका फल प्राप्त कर सकता है, पर आशंसा रखनेवाला तो कभी भी प्राप्त नहीं कर पाता। इस विषय में पड़ोस में रहनेवाली दो वृद्ध स्त्रियों की कथा इस प्रकार है :–

श्रीमहावीरस्वामी छद्मस्थावस्था में विचरण करते हुए पारणे के लिए किसी दिन किसी वृद्ध स्त्री के घर पर पधारे। उस वृद्धा के शरीर की सातों धातुएँ जीवादि तत्त्वों के वचन द्वारा वासित थीं। अतः वह आनन्द रस की तरंगों से रोमांचित हुई, एकदम खड़ी हुई, भगवान के सन्मुख गयी और आदरपूर्वक उसने भक्ति से जिनेश्वर को शुद्ध आहार बहराया। उस समय उसके आंगन में देवों ने हर्षपूर्वक सुगन्धित पुष्प व जल की वृष्टि की, साढ़े बारह करोड़ सोनैयों की वृष्टि की, आकाश में दुंदुभि का नाद किया और 'अहो दान! अहो दान!'–इस प्रकार बार–बार स्तुति करके देव स्वर्ग में चले गये।

उसके पड़ोस में रहनेवाली एक दरिद्र वृद्ध स्त्री ने यह सब देखा। वह विचार करने लगी–"अहो! धन की प्राप्ति का उपाय मेरे हाथ में लग गया।"

फिर एक दिन उसने मन में हर्षित होते हुए किसी साधु के वेश से आजीविका करनेवाले को निमन्त्रण दिया। उत्सुक मन से उसे मिष्ठान्न देने के लिए आयी। हर्षपूर्वक मिष्ठान्न देते हुए वह विकस्वर नेत्रों से बार–बार आकाश की तरफ देखने लगी। इस प्रकार चेष्टा करती हुई उसे देखकर उस वेषधारी ने पूछा–"हे भद्रे! तूं बार–बार मुख ऊपर करके क्या देख रही है?"

वृद्धा ने कहा–"आकाश में से कब स्वर्ण की बरसात होगी? अब तक क्यों नहीं हुई? यही देख रही हूं।"

यह सुनकर यति ने पूछा–"आकाश में से स्वर्ण वृष्टि होना कैसे सम्भव है?"

तब उसने कहा–"पहले मेरी पड़ोसन वृद्धा ने एक साधु को अन्न का दान किया था, तब स्वर्णवृष्टि हुई थी।"

यह सुनकर यति ने उसका रहस्य जानकर हास्यपूर्ण वाणी में कहा–"तब तो हे भद्रे! तूं

तो जल्दी से घर से बाहर निकल, क्योंकि तेरी इस भावना के अनुरूप और मेरे इस दुष्कर तप के फलस्वरूप तो आकाश में से पत्थर की वृष्टि ही संभव है।''

इस प्रकार कहकर वह वेषधारी अपने स्थान पर लौट गया। वृद्धा ने भी अत्यन्त कष्टपूर्वक काल का निर्गमन किया।''

हे बुद्धिमान जनों! इस दृष्टान्त से यह जानना चाहिए कि आशंसा रहित होकर ही दानधर्म में प्रवृति करनी चाहिए।

इस प्रकार महाबुद्धियुक्त मनुष्य परभव में ऐश्वर्यादि पाने की इच्छा से दान न करे, क्योंकि वैसी इच्छा रखने से प्राणियों द्वारा कृत दान का फल कम हो जाता है। आशंसा के कारण अगर कदाचित् परभव में भोग–प्राप्ति होती भी है, तो वह विकार को प्राप्त होता है। वासुदेव और प्रतिवासुदेव की तरह मरकर वह दुर्गति में ही जाता है। आशंसा रहित दान करनेवाला शुद्ध अध्यवसाय से युक्त बनता है और स्वर्गादि सुख की आशंसा करनेवाला शुभ अध्यवसाय से युक्त नहीं बन पाता। इस पर **यक्ष** श्रावक की कथा है, जो इस प्रकार है :–

लक्ष्मी के स्थान रूप **वसंतपुर** नामक नगर में मोटी बुद्धि से युक्त **यक्ष** नामक श्रावक रहता था। अपने कृत्य को जानकर वह **यक्ष** अपने वित्त को पात्र के आधीन करके पवित्र करता था। पुण्यशाली के पुण्य से उत्पन्न हुई ऋद्धि पुण्य का ही बंध करनेवाली होती है। एक बार उसके घर अनंत शुभ गुणों से युक्त, महा तपस्वी और व्रत पालन करने में ही बुद्धि को धारण करनेवाले **सुदत्त** नामक मुनि पधारे। उन्हें आता हुआ देखकर **यक्ष** अति प्रसन्न हुआ। तुरन्त उठकर घी का पात्र हाथ में लेकर हर्षपूर्वक बोला–''हे पूज्य! यह घी ग्रहण करके मुझ पर कृपा कीजिए।''

यह सुनकर और उसके भाव जानकर **सुदत्त** मुनि ने उसके सामने अपना पात्र रखा। उस समय हर्ष के अत्यन्त उल्लास से **यक्ष** का समग्र शरीर रोमांच से व्याप्त हो गया। दान देने में चतुर बुद्धियुक्त वह मुनि के पात्र में घी डालने लगा। उस समय मुनि को विचार हुआ–''यह श्रद्धालू ऐसे विशुद्ध अध्यवसाय के द्वारा कैसे शुभ कर्मों का उपार्जन कर रहा है?''

ऐसा विचार करके उस पर उपयोग लगाया। वह श्रावक घी के द्वारा पात्र को और पुण्य के द्वारा अपनी आत्मा को भरने लगा। अन्य स्थान पर उपयोग होने के कारण मुनि ने पात्र भर जाने के बाद भी निषेध नहीं किया। घी बाहर निकलकर पृथ्वी पर गिरने लगा। उधर **यक्ष** श्रावक के मन के अध्यवसाय भी गिरने लगे। उसने विचार किया–''अहो! ये मुनि कैसे प्रमादी हैं? कितने लोभी हैं? घी से पात्र भर गया, पर इनका मन नहीं भरा। अतः वाणी से निषेध भी नहीं किया। इन्हें दान देने का क्या फल?''

इस प्रकार अशुभ परिणाम के कारण देवायुष्य के बंध से नीचे गिरते हुए **यक्ष** को देखकर मुनि ने कहा–"हे महाभाग्यवान्! मत गिर–मत गिर।"

यह सुनकर **यक्ष** ने क्रोधपूर्वक कहा–"हे मुनि! क्या तुम पागल हो गये हो? मैं तो कहीं नहीं गिर रहा हूं। यह घी गिर रहा है। इसका तो तुम निषेध नहीं कर रहे।"

उस समय 'घी गिर रहा है' सुनकर मुनि ने घी पर दृष्टि डाली, तो उसे गिरता हुआ देखकर मुनि ने खेदपूर्वक मिथ्या दुष्कृत दिया।

यह सुनकर **यक्ष** ने क्रोधपूर्वक मुनि से कहा–"हे मुनि! इतने समय तक तुम कहां चले गये थे? कि अब मिथ्या दुष्कृत दे रहे हो। घी को गिरते देखकर तुमने उसे रोका, तो भी वह रुका नहीं, क्योंकि वह तुम्हारे आधीन नहीं था, कि रोकने से रुके।"

यह सुनकर **सुदत्त** मुनि ने उससे कहा–"ऐसे उद्धत कथन के द्वारा तुम क्यों अपनी आत्मा का नाश कर रहे हो? क्योंकि जले हुए पर नमक छिड़कने के समान है।"

यह सुनकर **यक्ष** ने सोचा कि यह साधु असंबद्ध प्रलाप क्यों कर रहा है? उसने आक्षेपपूर्वक कहा–"हे मुनि! तुम क्रोध में ऐसा विपरीत वचन क्यों बोल रहे हो?"

मुनि ने कहा–"हम क्षमावान हैं। हमें कुछ भी क्रोध नहीं है। पर यथार्थ वचन ही मैंने कहे हैं।"

यह सुनकर **यक्ष** ने पूछा–"हे मुनि! वह सत्य क्या है?"

तब साधु ने कहा–"हे श्रावक! सावधान होकर सुन। मैं जब तुम्हारे घर आया, तब तुम मुझे घी देने के लिए तैयार हुए। तुम्हारे शुद्ध वृद्धि को प्राप्त होते भावों को देखकर मैं विस्मित रह गया। अतः मैंने श्रुतज्ञान का उपयोग लगाया, तुम्हें देवायुष्य को बांधते हुए पाया। अर्थात् तुम सौधर्म देवलोक से भी ऊपर का आयुष्य बांधने में वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे। शुभ ध्यान के कारण तुमने अच्युत देवलोक तक के आयुष्य के दलिकों को इकट्ठा कर लिया था। इस प्रकार तुम्हारे आयुष्य के बंध में मेरा उपयोग होने के कारण घी में तो मेरा उपयोग ही नहीं था। पात्र में से घी नीचे गिरने लगा। पर मेरा उपयोग तो वहां था ही नहीं। मैं तो तुम्हारे आयुष्य बंध के उपयोग में था। तुम अच्युत देवलोक के बंध से नीचे गिर रहे थे। अतः मैंने कहा था–'मत गिर–मत गिर'। उस समय क्लिष्ट परिणाम के कारण तुमने देवगति के शुभ आयुष्य को तोड़ दिया। फिर जब तुम्हारी बुद्धि मुझ पर द्वेषयुक्त बनी, तुम क्रोध से उद्धत वचन बोलने लगे, तब तुम्हारा समकित नष्ट हो गया। तुम तिर्यंचायु का बंध करने लगे, तब मैंने तुमसे कहा कि यह जले पर नमक छिड़कने के समान है, क्योंकि तुमने देवायु का नाश करके तिर्यंचायु का बंध किया। इस प्रकार मैंने सत्य ही कहा है। पर मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति कुछ भी रोष

नहीं है।''

इस प्रकार की घटना सुनकर **यक्ष** श्रावक मन में खेदखिन्न हो गया। पश्चात्तापपूर्वक उसने कहा–''हे पूज्य! मुझ पर प्रसन्न बनें। अब फिर से पात्र सामने रखें। जिससे फिर से घी का दान करके मैं देवायु का बंध कर पाऊँ।''

मुनि ने कहा–''हे भद्र! मात्र घी का दान देने से आयुष्य का बंध नहीं होता, बल्कि देवायु के बंध में अध्यवसाय ही एकमात्र कारण है। वह शुद्ध अध्यवसाय मन में कुछ भी आशंसा रखे बिना सुपात्र को दान देने से ही बनता है। आशंसायुक्त दान देने से दातार के मन में क्रय–विक्रय करनेवाले के समान स्थिति बनती है। अतः पण्डितजन आशंसारहित दान की ही प्रशंसा करते हैं।''

इस प्रकार कहकर मुनि वहां से लौट गये। शुद्ध बुद्धि से युक्त होकर **यक्ष** श्रावक ने अपनी आत्मा की खेदपूर्वक निन्दा की। फिर आशंसा–रहित विधियुक्त दानधर्म की आराधना करके सद्गति को प्राप्त किया और अनुक्रम से मोक्ष को प्राप्त किया।

इस भव और परभव संबंधी आशंसा रखे बिना कोई भी पुरुष पात्रदान करके इस लोक में भी **धन** के समान कीर्ति और संपत्ति को प्राप्त करता है। उस **धन** की कथा इस प्रकार है :–

लक्ष्मी से मण्डित **सुसीम** नामक एक ग्राम था। उसमें जगत के जीवों को आनन्द प्रदान करनेवाला **धन** नामक व्यापारी रहता था। जैसे रोहणाचल पर्वत में स्वभाव से ही मणियाँ रही हुई होती हैं, वैसे ही **धन** में उदारता, विनय, लज्जा और चतुराई आदि सद्गुण स्वभाव से ही शोभित थे। उसी के गुणों के अनुरूप उसके **धनश्री** नामक प्रिया थी। पुण्य की वृद्धि होने पर ही समान शीलवाले दम्पति का मिलाप होता है।

एक बार वहां **समयामृत** नामक आचार्य पधारे, क्योंकि सूर्य के समान धर्मगुरु अन्यों के उपकार के लिए ही विचरण करते हैं। उसके बाद पुरजनों के साथ **धन** भी गुरुदेव के पास गया और उन्हें नमन किया, क्योंकि भद्र परिणाम से युक्त जीव अन्यों को साथ लेकर धर्मकार्य में जुड़ते हैं। गुरु की देशना का श्रवण करके **धन** ने देशविरति धर्म को अंगीकार किया, क्योंकि बुद्धिमान मनुष्यों का संस्कार स्वर्ण की तरह सरलता से हो सकता है। फिर उसने घर आकर अपनी भार्या से स्वयं के द्वारा धर्म के अंगीकार की बात कही। तब उसने भी श्रावक धर्म को अंगीकार किया। सती स्त्रियाँ पति का ही अनुगमन करती हैं। वह **धन** श्रेष्ठी हमेशा त्रिकाल में जिनपूजा आदि धर्मकार्य करने लगा। विवेकी पुरुष कभी भी कर्त्तव्य में प्रमाद नहीं करते। वह पात्रदानपूर्वक एकान्तर से भोजन किया करता था, क्योंकि भोजन तो वही होता है,

जो पात्रदान के अनन्तर किया जाय। सचित्त के त्यागादि नियमों को वह अपने प्राणों की तरह पालता था, क्योंकि महापुरुष अपने व्रत का पालन करने में दृढ़ होते हैं। इस प्रकार धर्म की आराधना करने के बाद भी उसके पूर्वजन्म के अन्तराय कर्म का उदय आया, क्योंकि अपनी छाया के समान कोई भी पूर्वकर्म का उल्लंघन नहीं कर सकता। अतः थोड़े ही दिनों में चोर, अग्नि आदि के उपद्रव से उसका धन पाल टूटे हुए सरोवर की तरह क्षीण हो गया। इस भव में धर्म की आराधना की हो, तो ही परभव में सुख मिलता है और इस भव में जो भी सुख–दुःखादि मिलता है, वह उसका कारण पूर्व के कर्मों का उदय ही होता है। **धन** निर्धन हो जाने के बावजूद भी अपने धर्म पर पूर्णतया दृढ़ था। क्या भीषण गर्मी के बावजूद भी समुद्र विस्तार को प्राप्त नहीं होता? तुच्छ मनुष्यों के विविध प्रकार के वचनों के द्वारा भी उसका धर्म मलिन नहीं हुआ, क्योंकि पृथ्वी की धूल के द्वारा क्या जात्य रत्न का तेज कभी कम होता है?

एक बार **धन** को उसकी भार्या **धनश्री** ने कहा–"हे स्वामी! आप मेरे पिता के घर पर जायं और वहां से धन लाकर कुछ व्यापार करें।"

उसके इस प्रकार कहने के उपरान्त भी उसकी वहां जाने की इच्छा नहीं हुई, क्योंकि स्वाभिमानी पुरुष निर्धन होने के बाद सहायता की इच्छा से स्वजनों के पास भी जाने की इच्छा नहीं करते, तो ससुराल की तो बात ही क्या? पर जब उसकी भोली भार्या बार–बार उससे अपने पीहर जाने के लिए दबाव डालने लगी, तो फिर उसने जाने का विचार बनाया। फिर शुभ दिन देखकर उपवासवाले दिन उपवास करके अगले दिन का भाता साथ लेकर वह रवाना हुआ। अगले दिन पारणा होने के कारण वह किसी स्थान पर मार्ग में पारणे के लिए रुका। उस समय उसने विचार किया–"आज पात्रदान के बिना मैं कैसे भोजन करूं? क्या मेरा उग्र भाग्य आज भी जीवित है? कि इस अरण्य में भी कहीं से मुनीश्वर पधार जायंगे।"

इस प्रकार विचार करते हुए वह दिशाओं की सन्मुख देखने लगा, क्योंकि साधुओं का योग मिले या न मिले, दिशाओं के सन्मुख देखना श्रावक के लिए उत्तम फलदायक है। तभी पन्द्रह उपवास का पारणा करने के लिए भिक्षा लाने जाते हुए मूर्तिमान धर्म के रूप में एक मुनिराज को उसने उस वन में देखा। उन्हें देखकर वह चित्त में अत्यन्त आनन्दित हुआ। तुरन्त उठकर उनके पास गया और साथ में लाया हुआ भाता उन्हें बहराया। फिर अपनी आत्मा को कृतार्थ मानते हुए बचे हुए भाते से स्वयं पारणा किया। फिर आगे बढ़ते हुए चौथे दिन अपनी ससुराल पहुँचा। वहां श्वसुरादि ने न तो उसका सत्कार किया, न ही थोड़ा भी धन दिया, क्योंकि गरीब व्यक्ति को स्वजन भी आदर नहीं देते। प्रायः करके वापस लेने के लिए ही लोग अन्यों को धन देते हैं। अगर ऐसा न हो, तो लोग क्यों दरिद्र का मुख भी नहीं देखना चाहते?

फिर सन्तोष रूपी अमृत से तृप्त **धन** आकुलता रहित होकर अपने घर की तरफ चला, क्योंकि महापुरुषों की वृत्ति मान और अपमान में तुल्य ही होती है। चलते–चलते वह अपने ग्राम की नदी के किनारे पहुँच गया। वहां आकर उसने विचार किया–"मेरी प्रिया ने बहुत ही आशा के साथ मुझे वहां भेजा था। पर मेरे साथ धन न देखकर वह अत्यन्त दुःखी होगी। अतः उस दुःख को न सह सकने के कारण कहीं मरणादि अनिष्ट स्थिति न उपस्थित हो जाय।"

इस प्रकार विचार करके उसने नदी में से गोल–गोल चिकने और सूर्य की किरणों के समान चमकीले छोटे–छोटे पत्थर चुनकर रत्नों की तरह एक गांठड़ी में बांध लिये। फिर उस पोटली को मस्तक पर रखकर अपने घर की तरफ चला। उसकी प्रिया ने दूर से ही उसको आते हुए देखकर आनन्दित हुई। उठकर उसके सामने गयी और उसके सिर पर से पोटली लेकर उसे सुरक्षित स्थान पर रखा। फिर कुशल–क्षेमादि की बात पूछकर उसने पति के लिए भोजन तैयार किया। वह खा–पीकर क्षणभर आराम करने के लिए सो गया।

उसके बाद उसकी भार्या ने उत्सुकता के साथ वह पोटली खोली, तो उसमें से जगमगाते रत्नों को देखा। यह देखकर उसके पास बैठी हुई उसकी पड़ोसिनों ने कहा–"अहो! तुम्हारे पिता की कैसी उदारता है! तुम पर अद्‌भुत प्रीति है कि अगणित अमूल्य रत्नों को देकर उन्होंने अपने जामाता का सत्कार किया है।"

इस प्रकार उसकी सखियाँ प्रशंसा करने लगीं। वह स्वयं भी आनन्दित होती हुई जोर–जोर से हंसने लगी। उनकी बातचीत से **धन** की निद्रा भंग हो गयी। भ्रान्ति पाते हुए शय्या से उठकर तुरन्त अपनी प्रिया के पास गया और पत्थरों को रत्नों व मणियों के रूप में देखकर विस्मित हो गया। आश्चर्य से उसके नेत्र विकस्वर हो गये। तभी उसकी प्रिया ने कहा–"हे स्वामी! आपने मानो इन रत्नों को कभी न देखा हो–इस प्रकार आश्चर्य से क्यों देख रहे हैं?"

तब **धन** ने सर्व हकीकत बतायी कि जब तुम्हारे पिता ने मुझे कुछ भी नहीं दिया, तब मैंने नदी में से पत्थर लेकर यह पोटली बांधी थी। यह सुनकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। तभी शासनदेवी ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा–"हे मुग्धजनों! इसमें आश्चर्य की क्या बात है? इस विषय में यथार्थ वृत्तान्त सुनो–

धन ने मार्ग में मुनियों को आहार दान का जो पुण्य बांधा, उसी के फलस्वरूप ये पत्थर रत्न बने हैं। पात्रदान के प्रभाव से तलवार के प्रहार भी हार रूप में परिणत हो जाते हैं, आपत्ति संपत्ति के रूप में परिणत हो जाती है और पत्थर मणियों के रूप में रूपान्तरित हो जाते हैं।"

इस प्रकार कहकर देवी अदृश्य हो गयी। यह सब देखकर लोग बार–बार **धन** की

प्रशंसा करने लगे और पात्रदान में आदरयुक्त बने। फिर उन रत्नों के द्वारा वह दानेश्वरी **धन** महान प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ। उदारता रूपी भूषणवाली लक्ष्मी किस–किस महिमा को प्रदान नहीं करती? पात्रदान से पवित्र हुए धर्म की चिरकाल तक आराधना करके वह **धन** देवगति को प्राप्त हुआ और अनुक्रम से मोक्ष को भी प्राप्त हुआ।''

अतः हे बुद्धिमान पुरुषों! इसलोक और परलोक की आशंसा के बिना ही सुपात्रदान में प्रवृत्ति करनी चाहिए, जिससे निर्विघ्न रूप से दोनों लोकों की समग्र सम्पदाएँ स्वयं ही आकर तुम्हारा वरण करे।

विवेकी पुरुषों को कभी भी अनादरपूर्वक दान नहीं देना चाहिए, क्योंकि अनादरपूर्वक दिये गये दान से इसलोक में तो कीर्ति प्राप्त होती ही नहीं, परलोक में भी कल्याण रूपी शुभगति प्राप्त नहीं होती। बुद्धिमान पुरुषों को अपनी–अपनी सम्पत्ति के अनुसार थोड़ा या ज्यादा दान आदरपूर्वक ही देना ही चाहिए, क्योंकि आदर ही कल्याणकारी व फलदायी है। आदर के बिना दिया गया दान, विनय के बिना ग्रहण की गयी विद्या और क्षमा के बिना तपस्या–ये तीनों क्लेश के लिए ही होते हैं। सुपात्र में तो लेशमात्र भी अनादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि सुपात्र की अवज्ञा करने से तो दातार को अशुभ फल ही प्राप्त होता है। सुपात्र की अवज्ञा करनेवाला उसके गुणों की ही अवज्ञा करता है। उन गुणों की अवज्ञा के द्वारा गुण दुःखी होते हुए उस पुरुष के पास कभी भी नहीं जाते। उन गुणों के अभाव में वह पुरुष दोषयुक्त ही बनता है। दोष के कारण उसकी पापकर्मों में प्रवृति बढ़ती है, जिसके कारण वह दुर्गति प्राप्त करता है। अनादर से दान देनेवाले का शुभभाव हीन होता है और जैसे तेल के हीन होने से दीपक का प्रकाश क्षीण होता है, वैसे ही उसका पुण्य भी क्षीण हो जाता है। पुण्य के क्षीण हो जाने से दान के शुभ फल की भी हानि हो जाती है, क्योंकि कारण की हीनता के कारण कार्य की भी हानि हो जाती है। अतः निर्मल चित्तवाले पुरुषों को आदरपूर्वक दान देना चाहिए। यह आदर मन, वचन व काया के रूप में तीन प्रकार का हो सकता है। पात्र को देखकर एकदम खड़े हो जाना, उसके सन्मुख जाना, हर्षाश्रु आ जाना, मुख का विकस्वर होना और सर्वांग से रोमांचित हो जाना आदि आनन्द के प्रभाव के समूह से जिसका शरीर सौभाग्ययुक्त बन जाता है, ऐसा पुरुष उत्तम पात्र को जो दान देता है, वही दान गौरव के लायक है और यह दान ही काया का आदर कहलाता है।

'अहो! मेरे पुण्य आज फलीभूत हुए। अहो! मेरा आज का दिन पवित्र हुआ, जिससे कि हे स्वामी! आप जंगम कल्पवृक्ष के समान मेरे घर पर पधारे हैं। यह सभी एषणीय अन्न, जल, खादिम और स्वादिम है। आप इन्हें ग्रहण करके मुझे कृतार्थ करें।'–इस प्रकार आदरपूर्वक वचन की युक्ति के द्वारा जिसकी भक्ति का स्पष्ट निश्चय होता हो, ऐसे बुद्धिमान पुरुष को पात्र

में दान करना चाहिए, क्योंकि सुन्दर वचन दान में प्रशंसित होते हैं। जो दान प्रिय वचनों के साथ दिया जाता है, वही शुभ फल का प्रदाता बनता है। उसके सिवाय अन्य दान शुभ फल प्रदान नहीं करते, क्योंकि वैसे दान परलोक में अत्यन्त शिथिल फलयुक्त हो जाते हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त पुराणों में कहा जाता है, उसे सुनो–

किसी समय **हस्तिनापुर** में **युधिष्ठिर** राजा राज्य करता था। वह **'लक्ष्मी का फल दान है'**–ऐसा जानने के कारण हमेशा स्वर्ण के पात्रों में अठारह हजार तापसों को भोजन करवाता था। उन तापसों को निमन्त्रित करने के लिए उसने अपने छोटे भाई **भीम** को आज्ञा प्रदान कर रखी थी, क्योंकि पात्र को स्वयं ही निमन्त्रण करना चाहिए अथवा स्वयं के पारिवारिक सदस्यों के द्वारा ही निमन्त्रण करवाना चाहिए। **भीम** तो स्वभाव से ही भीम था और फिर गदा से युक्त हो, तो उसका तो कहना ही क्या? अतः वह जैसे–तैसे अनादरयुक्त वचनों के द्वारा आक्रोशपूर्वक उनको शीघ्रता के साथ निमन्त्रित करता था। अतः वे तापस बाघ के समीप रहे हुए बकरों की तरह अच्छा–अच्छा भोजन करने के बावजूद भी भयसहित होने के कारण कृश होने लगे।

एक बार **युधिष्ठिर** राजा उन तापसों को कृश देखकर विचार करने लगे–"हहा! भक्तिपूर्वक भोजन करवाने के बावजूद भी ये तापस इतने अधिक कृश कैसे हो रहे हैं?"

राजा ने उसका कारण महाबुद्धिशाली **विदुर** से पूछा। तब उन्होंने अच्छी तरह निश्चय करके यथार्थ हकीकत **युधिष्ठिर** से कही। वह सुनकर **युधिष्ठिर** ने विचार किया–"यह **भीम** जन्म से ही उद्धत प्रकृतिवाला है। अतः इसके दुर्वाक्यों का परिणाम दिखाये बिना उसे सीख नहीं मिलेगी।"

ऐसा विचार करके **युधिष्ठिर** ने निमन्त्रित करने के बहाने से **गंधमादन** पर्वत पर यक्ष के पास **भीम** को भेजा। उसे आता हुआ देखकर यक्ष ने अपना मुख वस्त्र से ढंक लिया। पर **भीम** तो निर्भय था, अतः उसने उसके मुख पर से वस्त्र हटा दिया। उस समय **भीम** ने उसका मुख भुण्ड के समान भयंकर देखा और शरीर स्वर्ण के समान देखा। अतः विस्मित होते हुए उसने यक्ष से पूछा–"हे यक्ष! तूं तो अकेला ही इस **गंधमादन** पर्वत पर रहता है, फिर तुम्हारी काया स्वर्ण के समान और तुम्हारा मुख भुंड के समान क्यों है?"

यह सुनकर यक्ष ने कहा–"मैंने काया के द्वारा तो स्वर्ण व रत्नों का दान किया, पर मुख के द्वारा कभी आदरयुक्त वचन नहीं कहे। अतः मेरी काया तो स्वर्ण के समान है और मुख भुण्ड के समान है। जीवों को शुभाशुभ की प्राप्ति में उसके पूर्वकृत कर्म ही कारण रूप होते हैं। मैंने पूर्वजन्म में दान दिया है, पर मुख से अच्छे वचन नहीं बोले। अतः मेरे शरीर में इस प्रकार की

विपरीतता दिखायी देती है। इस भव में जो कर्म जिस प्रकार किया जाता है, उस कर्म का वैसा ही फल परलोक में प्राप्त होता है। मैं ऐसा मुख किसी को दिखा भी नहीं सकता। अतः मैं नगर में भी नहीं जाता हूं। अगर कोई यहां आ जाता है, तो मैं अपना मुख वस्त्र से ढंक लेता हूं। हे मित्र! तुझे सीख देने के लिए ही तुम्हारे बड़े भाई ने तुम्हें यहां भेजा है। अतः किसी को भी दुर्वचन नहीं बोलने चाहिए। दान देते समय तो विशेष रूप से इस बात का ख्याल रखना चाहिए।''

इस प्रकार सुनकर **भीम** ने उसकी शिक्षा को स्वीकार किया और लज्जापूर्वक नगर में लौट आया। उसके बाद वह तापसों को निरन्तर प्रिय वचनों के द्वारा निमन्त्रित करने लगा।

'ये महात्मा ज्ञान और क्रिया के पात्र हैं, सर्व गुणों की खान हैं। अतः मेरे घर में जो भी अच्छी वस्तु है, वह मुझे इनको देना योग्य है। इन्हें भावपूर्वक विधि–प्रमाण अल्प भी दिया जाता है, तो भी वह **संगमादि** के समान महान लाभ के लिए ही होता है।''–इस प्रकार मन में आदर व उल्लासपूर्वक उदार चित्तवाले पुरुष को पात्रदान करना चाहिए, क्योंकि उत्तम वित्त और उत्तम पात्र का योग शुभ चित्त के साथ रहा हुआ हो, तो ही वह सफल होता है। सर्व धर्मों का उत्कृष्ट कारण शुभ भाव ही है। उसके बिना किसी भी प्रकार के दान का अतिशय फल प्राप्त नहीं होता। भावरहित दान देने पर कई लोगों को तो उसका फल ही प्राप्त नहीं होता और दान न देने पर भी कई लोगों को केवल भावना के द्वारा उत्तम फल प्राप्त होता है। इस विषय में **जीर्ण श्रेष्ठी** की कथा शास्त्रों में सुनी जाती है, वह इस प्रकार है–

वैशाली नामक नगरी में शुद्ध बुद्धियुक्त **जिनदत्त** नामक परम श्रावक रहता था। वह **जीर्णश्रेष्ठी** के नाम से प्रसिद्ध था। एक बार उस नगरी के उद्यान में चार मास की तपस्या के साथ **श्रीमहावीरस्वामी** ने चौमासा किया। उन्हें पारणा करवाने की भावना के साथ **जीर्णश्रेष्ठी** हमेशा उनकी सेवा किया करता। चौमासे के अन्तिम दिवस पर वह पारणे के लिए प्रभु को निमन्त्रित करके हर्षपूर्वक अपने घर गया। जिनपूजा आदि नित्यकर्म करके अपने घर के आँगन में खड़े होकर जिनेश्वर के मार्ग के सम्मुख दृष्टि रखकर **जीर्णश्रेष्ठी** विचार करने लगा–''आज मैं स्वामी को अमुक–अमुक प्रासुक भोजन दूंगा। वास्तव में मुझे धन्य है! मैं कितना पुण्यशाली हूं कि मेरे घर आज विश्व के नाथ स्वयं पधारेंगे और पारणा करेंगे। प्रभु को आता देखकर मैं हर्षपूर्वक उनके सम्मुख जाऊँगा, आदरपूर्वक उनकी प्रदक्षिणा करूंगा और उनके चरण–कमलों में वंदन करूंगा। उन्हें पारणा करवाकर मैं अपने हाथों में मोक्षलक्ष्मी को ग्रहण करूंगा। भगवान का तो दर्शन मात्र ही मुक्ति का कारण है, तो फिर उन्हें पारणा करवाने से तो मुक्ति की प्राप्ति का तो कहना ही क्या?''

इस प्रकार क्षण–क्षण वृद्धि को प्राप्त शुद्ध अध्यवसायों के कारण दान दिये बिना ही

उसने अच्युत देवलोक के आयुष्य का बंध कर लिया।

उसी समय लक्ष्मी के मद से अपनी ग्रीवा को ऊँचा रखनेवाले **अभिनव** श्रेष्ठी के घर भगवान पधारे। सेठ की आज्ञा से दासी ने प्रभु को पारण करवाया। उस समय **जीर्णश्रेष्ठी** ने आकाश में देवों द्वारा बजाया हुई दुन्दुभि का नाद सुना। अतः खेदखिन्न होकर वह विचार करने लगा–"हहा! मैं मन्दभागी हूं। मेरे सारे मनोरथ निष्फल हुए।"

उस समय अगर उसने उस देव–दुन्दुभि का नाद न सुना होता, तो उस प्रकार के चढ़ते परिणामों की धारा से उसने कुछ ही समय में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया होता। दान दिये बिना ही मात्र शुभ परिणामों से जीर्ण सेठ ने उस प्रकार की दिव्य ऋद्धि प्राप्त कर ली। उधर **अभिनव श्रेष्ठी** के घर पर भगवान का पारणा होने के बावजूद भी वह भावरहित होने के कारण वह कुछ भी फल प्राप्त नहीं कर सका। उसके घर पर जो रत्न–वृष्टि हुई, वह तो अरिहंतों की भक्ति के पराधीन रहे हुए देवों ने ही की। उन्होंने **अभिनव श्रेष्ठी** के भावों से प्रसन्न होकर रत्नवृष्टि नहीं की। उस सेठ ने तो अरिहन्त की आशातना के द्वारा पापकर्मों का ही बंध किया, क्योंकि किसी भी पात्र की अवज्ञा करना ठीक नहीं है, फिर जिनेश्वरों की अवज्ञा का तो कहना ही क्या? अतः सम्पूर्ण फल की इच्छा रखनेवाले पुरुष को तो सभी पात्रों को शुभ भावपूर्वक दान देना चाहिए। सुपात्र को तो और भी विशेष रूप से शुद्ध भावों के साथ दान देना चाहिए।

इस प्रकार तीन तरह के आदर से मनोहर दान जो देता है, वह श्लाघनीय संपत्ति को प्राप्त करता है और जो आदर रहित दान देता है, वह विपत्ति को प्राप्त करता है। उस पर **निधिदेव** और **भोगदेव** की कथा है, जो निम्न प्रकार है :–

तमालिनी नामक प्रसिद्ध नगर चैत्यों के शिखर पर लहराती ध्वजाओं के द्वारा शोभित था। उसमे विशाल चतुरंगिणी सेना का स्वामी **श्रीमित्रसेन** नामक राजा राज्य करता था। उसके सार्थक नाम को धारण करनेवाला **सुमंत्र** नामक मंत्री था। जैसे समग्र नदियाँ समुद्र का आलिंगन करती हैं, वैसे ही समग्र बुद्धियाँ उस मंत्री का आलिंगन करती थीं।

उस नगरी के उद्यान में एक बार **श्रीविनयंधर** नामक गुरुदेव पधारे। उनका आगमन सुनकर हर्षपूर्वक राजा, मंत्री और पौरजनों ने आकर उन्हें वंदन किया। गुरुदेव ने कानों को अमृत के समान लगनेवाली धर्मदेशना उन्हें प्रदान की–"बुद्धिमान मनुष्यों को दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त करके निरन्तर धर्म करना चाहिए। नये मेघों के द्वारा लता के समान धर्म के द्वारा सर्व सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं और उदयप्राप्त सूर्य के द्वारा रात्रि के अन्धकार की तरह विपत्तियाँ अवश्य ही नाश को प्राप्त होती हैं। यह धर्म दान, शील, तप और भाव के भेद से चार प्रकार का है। उनमें भी दान मुख्य है, क्योंकि जिनेश्वर देव भी दानधर्म का आदर करते हैं और

समवशरण में सबसे पहले उसी का उपदेश देते हैं। सभी प्रकार के दानों में भी शास्त्र के ज्ञाता पण्डित पात्रदान को प्रधान मानते हैं, क्योंकि जैसे बरसात का जल सीप में पड़ने से उसका मोती बनता है और समुद्र में गिरने से खारा बन जाता है, वैसे ही पात्र और अपात्र में दान देने से उसके फल में महान अन्तर आ जाता है। वह पात्रदान भी दम्भरहित आदरपूर्वक करनेवाले को उत्तम फल की समृद्धि प्राप्त होती है–ऐसा पण्डित पुरुष कहते हैं, क्योंकि आदर का उत्कर्ष हो, तो शुभ फल प्राप्त होता है और आदर का अपकर्ष हो, तो अशुभ फल प्राप्त होता है। हे राजा! जो अनादरपूर्वक सुपात्र को दान देते हैं, वे दूसरे भव में धनी बनते हैं और जो आदरपूर्वक दान देते हैं, वे भोगयुक्त बनते हैं।''

इस प्रकार सुनकर राजा के चित्त में संदेह उत्पन्न हुआ। अतः उसने मुनीश्वर से कहा– ''धनिक व भोगी में क्या अन्तर है? क्योंकि दोनों शब्दों का अर्थ तो समान ही होता है।''

प्रश्न सुनकर गुरुदेव ने विचार किया–''प्रत्यक्ष उदाहरण के बिना मन्द बुद्धिवाले मनुष्य को सत्य की प्रतीति नहीं हो सकती।''

अतः गुरुदेव ने फरमाया–''हे राजा! दोनों शब्दों के अर्थ में अत्यन्त अन्तर है। **कान्यकुब्ज** नामक पुर में रहनेवाले **निधिदेव और भोगदेव** नामक दो उत्तम श्रेष्ठी तुम्हारे इस संशय को दूर करेंगे, क्योंकि उसी से तुम्हें वास्तविक प्रतीति होगी।''

यह सुनकर राजा ने ''ठीक है'' कहकर उस बात का निश्चय करने की इच्छा को मन में धारकर गुरुदेव को नमन किया और अपने स्थान पर लौट गया। वही पुरुष उत्तम बुद्धियुक्त कहलाता है, जो गुरुदेव की वाणी को उस प्रकार से अंगीकार करता है। फिर बुद्धिमान राजा ने **सुमंत्र** मंत्री को उस बात का निश्चय करने के लिए उस पुर में भेजा। आप्तपुरुष द्वारा कथित अपने कार्य की सिद्धि के लिए कौन बुद्धिमान प्रमाद करेगा?

उसके बाद **सुमंत्र** मंत्री शीघ्र ही कान्यकुब्ज पुरी में गया। वहां मनुष्यों को पूछते–पूछते वह बीस करोड़ स्वर्ण के स्वामी **निधिदेव** नामक अधम श्रेष्ठी के घर गया। उसका घर गरीब के घर के समान शोभा से रहित था। उसके द्वार में प्रवेश करते ही उसे मूर्तिमान दारिद्र्य के समान एक कद्रूप मनुष्य को देखा। उसके नेत्र बिलाड़े के समान पीले थे। उसकी नासिका धुवड़ के समान चपटी थी। उसके कान चूहे के समान अति लघु थे। उसके केश पिशाच के समान धूसर थे। उसके होंठ और कंठ ऊँट के समान लम्बे थे। उसके दाँत हाथी के सामन बाहर निकले हुए थे। उसका पेट इस तरह फूला हुआ था, मानो जलोदर की व्याधि व्याप्त हो गयी हो। उसने जीर्ण और मलिन दो वस्त्रों को धारण कर रखा था। उसका शरीर नखादि संस्कार से रहित और मुनीश्वरों की तरह स्नानादि से रहित था। उसके हाथ डोरी बनानेवाले

मुंज अथवा ऐसे ही किसी अन्य पदार्थ को बुनने में व्याकुल चित्त से युक्त थे। वह वणिकजनों के साथ कलह कर रहा था। ऐसे पुरुष को देखकर मंत्री ने उससे पूछा–"हे भद्र! **निधिदेव सेठ** कहां है? मैं परदेशी मंत्री उससे मिलने के लिए आया हूं।"

यह सुनकर उस पुरुष ने शंका से व्याकुल होते हुए कहा–"तुम्हें उससे क्या काम है?"

तब मंत्री ने कहा–"मैं उसके घर मेहमान बनकर आया हूं।"

कानों में करवत के समान उसके वचन सुनकर मृत्युदशा को प्राप्त होने के समान उसका मुख स्याह हो गया। उसने मंत्री से कहा–"वह मैं ही हूं। अहो! महाकष्ट है कि अत्यन्त दारुण घुण की तरह मेहमान काष्ठ के समान मुझे निरन्तर भीतर ही भीतर कुतर रहे हैं। उसमें भी कुछ कमी रह गयी है, तो उसे पूरी करने के लिए तूं भी आ।"

इस प्रकार उसके द्वारा अनादर किये जाने पर भी अपने इच्छित कार्य की सिद्धि की आशा में मंत्री उसके घर के भीतर गया। जहां अपने इच्छित कार्य की सिद्धि हो रही हो, वहां अपमान भी हो, तो भी वह सुखकारक ही है। घर में जाते ही उस सेठ की स्त्री को देखा। मानो विधाता ने वर के रूप को देखकर उसी के अनुरूप वह स्त्री बनायी हो–ऐसी ही वह प्रतीत होती थी। पिशाच के बालकों के समान धूल–धूसरित वर्ण से युक्त क्षुधा से पीड़ित बालक उसे खेदित कर रहे थे। उसका वर्ण कौए के समान था, उसकी चाल ऊँटनी के समान थी, उसका स्वर गधी के समान था, उसकी आकृति भुंडणी के समान थी। उसने काचादि के अत्यन्त तुच्छ आभूषण धारण किये हुए थे। साक्षात् अलक्ष्मी के समान वह दिखायी दे रही थी। उस मंत्री को जिनपूजादि कर्म करने की इच्छा थी, पर उस घर का आचार न होने के कारण वह पूजा नहीं कर पाया, क्योंकि पराये घर में बैलों की तरह मेहमानों की स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

फिर मध्याह्न के समय उस सेठ के साथ मंत्री भोजन करने के लिए जीर्ण आसन पर बैठा। झूठे बर्तनों में श्लेष्म से सने हाथोंवाली उसकी स्त्री ने उड़द के बाकुले और तेलादि तुच्छ अन्न को परोसा। ऐसा तुच्छ अन्न कभी भी पूर्व में मंत्री के मुख में नहीं गया था। अतः सम्यग् प्रकार से मार्ग को न जानने के कारण वह अन्न मंत्री के गले से नीचे नही उतरा। पर सेठ तो उसी अन्न को शीघ्रतापूर्वक खाने लगा, क्योंकि उसे तो हमेशा से उसी को खाने की आदत थी। मंत्री की भोजन में अरुचि देखकर सेठ को जरा लज्जा आयी। अतः उसने अपने चाकर के पास से दूध मंगवाया। चाकर दूध लेकर आ ही रहा था कि उसका पाँव अखड़ने के कारण वह औंधे मुख धरती पर गिर पड़ा और वह दूध बिखर गया। उसी के साथ मंत्री की आशा भी बिखर गयी। फिर जैसे–तैसे मंत्री ने वही भोजन थोड़ा किया और थोड़ा छोड़ा। फिर हाथ

धोकर उठ गया। सेठ ने अपने मुख में सुपारी की जगह खेर के लकड़े की छाल डाली और अतिथि को भी वही दी।

इस प्रकार उसके घर की यह निन्दित चेष्टा देखकर मंत्री मन में विस्मय, खेद और हास्य से पूर्ण हुआ। उस सेठ की तरह मंत्री ने भी मुख में वही छाल डाल ली, क्योंकि विद्वान समय का अनुसरण करनेवाले होते हैं।

उसके बाद वह सेठ मंत्री को साथ लेकर नगर में निकला। थोड़ी–सी लेन–देन के लिए ग्राम में जगह–जगह वणिकों के साथ कलह करते हुए शाम तक बिना विश्राम लिए पूरे नगर में हवा की तरह भटकता रहा। रात्रि में घर आकर खुद के सोने के लिए जो टूटी हुई खाट और चीथड़ों का बना हुआ बिस्तर मंत्री को सोने के लिए दिया और स्वयं पैरों को धोये बिना ही रंक की तरह भूमि पर ही सो गया। उसके धन और दुष्ट आचार–विचार संबंधी तर्क–वितर्क से, खाट के कचकच शब्द और बिस्तर की दुर्गन्ध से खराब स्थिति में रहे हुए उस **सुमंत्र** मंत्री को छोड़कर अपमान को प्राप्त स्त्री की तरह निद्रा उससे दूर चली गयी।

"यह तीन प्रहरवाली रात्रि आज करोड़ पहरवाली हो गयी है, यह कैसे खत्म होगी?"–इस विचार से मंत्री मन में पीड़ित होने लगा। तभी अकस्मात् उसके कान में कहीं से शब्द आया–"हे मूर्ख वंठ! तूं कैसे स्वयं को दूध देता? वास्तव में तो तूं योग्यतारहित ही है। तेरे उस अयोग्य आचरण को ही मैंने दूध का पात्र गिराकर दूर किया था।"

ऐसे शब्दों को सुनकर मंत्री के नेत्र खुल गये। उसने अपने समीप एक दिव्य स्त्री को देखा। यह वृत्तान्त उस वंठ के भी जानने में नहीं आया। फिर स्त्री चली गयी। मंत्री ने भी अपने मन में ही तर्क–वितर्क करते हुए रात्रि व्यतीत की।

प्रातःकाल होने पर वह **निधिदेव** की आज्ञा लेकर **भोगदेव** श्रेष्ठी के घर गया। वह घर अत्यन्त शोभा से युक्त था। उस घर पर अनेक स्वर्णकलश स्थापित किये हुए थे, अतः मानो स्वर्गलोक से विमान उतरा हो–इस प्रकार प्रतीत हो रहा था। वह जब श्रेष्ठी के घर में प्रवेश करने लगा, द्वारपाल उसे देखकर तुरन्त खड़ा हुआ। मंत्री को बैठने का आसनादि देकर उसका उचित सत्कार किया। विवेकी के घर पर रहे हुए चाकर भी विवेकी ही होते हैं। तभी **भोगदेव** राजसभा से घर लौटा। वह श्रेष्ठ विशाल अश्व पर आरूढ़ था। उसके चारों ओर सिपाही चल रहे थे। बन्दीजनों की स्तुति के द्वारा चारों ओर कोलाहल व्याप्त था। शरीर पर मूल्यवान वस्त्र धारण किये हुए थे। चारों तरफ फैलती हुई कान्ति के द्वारा मानो अपने पुण्य–समूह को दिखा रहा हो–इस प्रकार स्वर्णाभूषणों के द्वारा दिशाओं को दैदीप्यमान बना रहा था। पृथ्वी पर आये हुए इन्द्र की तरह वह शोभित हो रहा था। इस तरह उसको आता

हुआ देखकर मंत्री तुरन्त ही उसके सन्मुख चला। उस समय मंत्री को सामने आता हुआ देखकर श्रेष्ठी भी तत्काल अश्व पर से नीचे उतरा और मंत्री को गले लगाया। कुशलक्षेम के प्रश्न रूपी अमृत द्वारा मंत्री को आनंदित करके उसे साथ लेकर श्रेष्ठी ने घर में प्रवेश किया। वहां चतुर, विनयी और सुभाग्यवान उसके परिवार को देखकर मंत्री विस्मित हुआ। फिर मंत्री और सेठ ने उष्ण जल से स्नान किया। दिव्य और उज्ज्वल वस्त्र पहने और फिर मानो दो रूप धारण किये हों–इस प्रकार उसने भक्तिपूर्वक स्वर्ण की निर्मित जिनप्रतिमा की पूजा की। उसके बाद पशु, बालक, वृद्ध और बीमारादि को संभालकर **भोगदेव** मंत्री को साथ लेकर भोजनशाला में गया। उसके सर्वत्र औचित्य को देखकर मंत्री चमत्कृत रह गया। मंत्री व परिवार सहित वहां रखे हुए श्रेष्ठ भद्रासन पर वह बैठा। विवेकी पुरुष कौए की तरह मात्र अपने ही पेट को भरनेवाले नहीं होते। उनके सामने मोतियों से जटित स्वर्ण की चौकियाँ रखी गयीं। उन पर सज्जनों की चेष्टा के समान [1]सुवृत्त कुण्डलियाँ रखी गयीं। उसके ऊपर रजत की कटोरियों की श्रेणी के साथ स्वर्णथाल रखे गये। तारों के साथ सूर्य के माण्डले आकाश से नीचे उतरे हों–इस प्रकार से वे थाल शोभित हो रहे थे।

फिर सेठ की पत्नी वहां आयी। उसका मुख पूर्ण चन्द्र के समान मनोहर था। उसके नेत्र विकस्वर कमल के समान थे। उसकी दृष्टि से मानो अमृत झर रहा था। वह अपने सर्वांगों में दिव्य अलंकारों को धरण करने के कारण दुगुने सौभाग्य को धारण किये हुए थी। वह विनय गुण से युक्त थी। मानो मूर्तिमान घर की लक्ष्मी हो–इस प्रकार दिखती थी। फिर उसने परोसने के लिए सौभाग्यवती स्त्रियों के पास से उत्तम भोजन की सामग्री मंगवायी। तभी जैसे प्रातःकाल सूर्य आकाश के आँगन को शोभित करता है, वैसे ही पवित्र चारित्र से युक्त **तपस्तेज** नामक मुनीश्वर ने उसके घर के आँगन को शोभित किया। मूर्तिमान धर्म के समान उन मुनि को देखकर स्वच्छ भक्तियुक्त वह वणिक एकदम से उठ खड़ा हुआ। उनके सन्मुख गया और उन्हें प्रणाम करके उनसे विज्ञप्ति की–"हे प्रभु! आज मेरे घर कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामकुम्भादि दिव्य पदार्थ प्राप्त हुए हैं कि जिसके कारण पूर्वजन्म के उदयप्राप्त पुण्यों के समूह के रूप में आप स्वयं मेरे घर पधारे हैं। हे नाथ! मुझ पर कृपा करके इस शुद्ध अन्न को ग्रहण करें।"

यह सुनकर मानो संसार समुद्र से तारने की इच्छा से साधु महाराज ने उसके सामने तुम्बड़े का पात्र रखा। उसने उस पात्र को शुद्ध अन्न–पानादि के द्वारा भर दिया और अपनी आत्मा को अपार पुण्य से भर दिया। पुण्यक्रिया करने में तत्पर मुनियों ने नगर के बाहर उद्यान में जाकर

---

1. गोल आकारवाले और चेष्टा के पक्ष में सुंदर व्यवहार।

उस आहार के द्वारा पारणा किया।

उसके बाद उसकी पत्नी ने हर्षपूर्वक विविध प्रकार के मनोहर और दिव्य भोजन का तिरस्कार करनेवाली रसोई परोसी। वह सेठ परिवार और मंत्री के साथ भोजन करने लगा। तभी रसोइए की नजर चूकने से बिल्ली ने दही के पात्र को नष्ट कर दिया। यह देखकर रसोइया निराश हो गया और विचार करने लगा कि अहो! आज मुझसे कितना बड़ा अपराध हुआ है? अब मैं क्या करूं?

इस प्रकार रसोइया अत्यन्त चिन्तातुर हुआ, पर तभी अन्य ग्राम से बहुत अधिक दही उस सेठ के घर भेंट के रूप में आया। अमृत के पिण्ड के समान चिकनाईयुक्त उस दही को खाकर अत्यन्त चिकने हुए हाथों को कपूर के चूर्ण से सुवासित किये जल के द्वारा **श्रीभोगदेव** व मंत्री ने परिवार के साथ हाथों को धोकर आचमन किया। फिर **भोगदेव** तेरह गुणों से युक्त सुगन्धित ताम्बूल का स्वयं भक्षण किया और अपने हाथों से मंत्री को भी दिया। फिर कुछ समय तक स्वर्ण के पलंग पर आराम करके जागृत होने के बाद शरीर पर चन्दन का लेप करके उस बुद्धिमान मंत्री के साथ विविध प्रकार की धर्मचर्चा आदि की। सायंकाल होने पर विधियुक्त श्रीजिनेश्वर की पूजा की और देव–गुरु के स्मरणपूर्वक आत्मा को पवित्र करके श्रेष्ठी और मंत्री ने हंस के समान रूई की रजाई के साथ स्वर्ण के पलंग को अलंकृत किया।

ऐसी विविध प्रकार की **भोगदेव** की समृद्धि का हृदय में ध्यान करते हुए मंत्री की निद्रा दूर चली गयी। तभी उसने मध्यरात्रि को आकाशवाणी सुनी–"हे अधम रसोइया! तूं इस घर में से निकलने लायक है, क्योंकि दही के पात्र के विषय में तुमसे प्रमाद हुआ है। फिर भी मैंने दही लाकर तुम्हारे प्रमाद को ढंक दिया है।"

ऐसी वाणी को सुनकर मंत्री ने इधर–उधर चारों तरफ दिशा–विदिशा दृष्टि डाली, तभी कान्ति के द्वारा दिशाओं को दैदीप्यमान करती हुई और अलंकारों से शोभित किसी दिव्य स्त्री को देखा। मंत्री तुरन्त पलंग पर से उठ खड़ा हुआ और आश्चर्यपूर्वक कहा–"हे भद्रे! तुम कौन हो? तुमने अभी–अभी यह क्या कहा?"

उस देवी ने कहा–"हे मंत्री! मैं **निधिदेव** और **भोगदेव**–दोनों की कुलदेवी हूं। हे निष्कपट! मैंने तेरा संशय दूर करने के लिए ही यहां आकर इस प्रकार के वचन कहे हैं। अथवा तुम इन दोनों श्रेष्ठी के पूर्वभव के बारे में सुनो–

इस **भोगदेव** ने पूर्वभव में आदरपूर्वक पात्रदान किया था, अतः उसे अद्‌भुत भोग प्राप्त हुआ है, क्योंकि विधिपूर्वक दिया गया दान किस शुभ के लिए नहीं होता? पर इस मूढ़ **निधिदेव** ने पूर्वभव में पात्रदान देकर भी आदरभाव को जीवन में नहीं उतारा। अतः भोगरहित

समृद्धि इसे प्राप्त हुई है। तुमने स्वयं धनी और भोगी का भेद देख लिया है। अतः अपने राजा को जाकर बताओ।''

ऐसा कहकर वह देवी अदृश्य हो गयी। मंत्री ने भी शेष रात्रि आनन्द के साथ निर्गमन की। फिर प्रातःकाल **सुमंत्र** मंत्री ने सेठ से जाने की आज्ञा मांगी। उस समय **भोगदेव** ने उसका सत्कार करके उसे विदा किया। वह मंत्री अपने नगर में गया और उन दोनों श्रेष्ठियों के वृत्तान्त रूपी अयस्कान्त मणि के योग से राजा के सन्देह रूपी शल्य को दूर किया। फिर राजा तथा मंत्री धर्म का पालन करके स्वर्ग में उत्पन्न हुए और अनुक्रम से मोक्ष को प्राप्त हुए। अतः बुद्धिमान मनुष्यों को सुपात्रदान में अत्यन्त आदरयुक्त होना चाहिए।

पुण्यबुद्धि से युक्त मनुष्य को सुपात्रदान देने के बाद पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए, क्योंकि जैसे मुख का श्वास स्वर्ण के वर्ण का नाश करता है, वैसे ही पश्चात्ताप दान के फल का नाश करता है। अल्प बुद्धि से युक्त जो पुरुष सत्पात्र को दान देकर पीछे से पश्चात्ताप करता है, वह निश्चय ही कल्पवृक्ष का वपन करके उसे विष से सींचने का कार्य करता है। दान देने के बाद अगर उस दान की अनुमोदना की जाती है, तो वह फलदायक ही बनती है, क्योंकि वर्षाकाल की बरसात से पकी हुई खेती को अगर श्रेष्ठ वायु मिले, तो वह खेती सफल फलवाली बनती है। जैसे चन्द्र की किरणें समुद्र के जल को वृद्धि प्राप्त करवाती है और नये मेघों की श्रेणियाँ वन की औषधियों को वृद्धि प्राप्त करवाती हैं, वैसे ही विधिपूर्वक की गयी अनुमोदना पुण्य को अत्यन्त वृद्धि प्राप्त करवाती है। स्वयंकृत पुण्य के पीछे की हुई अनुमोदना मात्र ही उत्कृष्ट समृद्धि का कारण नहीं है, बल्कि अन्यों के द्वारा किये हुए पुण्य की अनुमोदना भी अद्‌भुत समृद्धि की साक्षी बनती है। जो पुरुष दान देकर उसकी अनुमोदना करता है, उसे लक्ष्मी सुलभ होती है। अन्यों को वह लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती। इन दोनों विषयों में एक साथ **सुधन** और **मदन** का दृष्टान्त है–

इस भरतक्षेत्र में **दक्षिण मथुरा** नामक नगरी है। उसमें स्थान–स्थान पर आकाश को स्पर्श करते चैत्यों के शिखर पर स्वर्ण के कलश स्थापित थे। वे कान्ति के द्वारा निरन्तर सूर्य का भी उल्लंघन करते थे। उस नगर में धन की समृद्धि के द्वारा कुबेर के समान **धनद** नामक धनिक रहता था। उसका मन जिनधर्म रूपी अमृत के द्रह में निरन्तर मत्स्य का आचरण करता था। देह को धारण करनेवाली गृहलक्ष्मी के समान उसके **धनमती** नामक पत्नी थी। मणि के द्वारा स्वर्ण की तरह उसका रूप शील गुण के द्वारा शोभित था।

उस नगरी के पास एक अन्य **उत्तर मथुरा** नामक नगरी थी। वह स्वर्ग की नगरी के समान विशाल थी और अनेक सम्पत्तियों का आश्रयस्थल थी। उसमे **मदन** नामक धनिक रहता था। एक बार **मदन** व्यापार करने की इच्छा से **दक्षिण मथुरा** में गया, क्योंकि लक्ष्मी

का निवास स्थान व्यापार ही है। कई मनुष्य कमल को लक्ष्मी का स्थान कहते हैं, वह तो मात्र रूढ़ि ही है। वहां **मदन** की क्रय–विक्रय करते हुए **धनद** के साथ मित्रता हो गयी, क्योंकि परदेश में गये हुए विद्वानों की महात्माओं के साथ मित्रता होना उचित ही है। फिर दोनों ने मित्रता रूपी लता के विलास मण्डप रूप इस प्रकार वाणी से प्रतिज्ञा की–"हम दोनों में से अगर एक को पुत्र और दूसरे को पुत्री होगी, तो हम उन दोनों का आपस में विवाह कर देंगे।"

उसके बाद **धनद** पर प्रीति धारण करते हुए **मदन** कितने ही दिनों तक वहां रहा और अपना कार्य सिद्ध हो जाने के बाद उत्कण्ठापूर्वक अपने घर चला गया। धर्म, अर्थ और काम रूपी तीन पुरुषार्थों का बाधारहित सेवन करते हुए **धनद** को अनुक्रम से विनय से शोभित और बुद्धिमान **सुधन** नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। **मदन** के भी विनयादि गुणों से मनोहर **मनोरमा** नामक पुत्री उत्पन्न हुई। परस्पर संतति के जन्म को ज्ञात करके वे दोनों अत्यन्त आनन्दित हुए। अनुक्रम से **सुधन** ने स्त्रियों के प्राण रूपी यौवन को प्राप्त किया। तब **मदन** ने अपनी पुत्री का विवाह विशाल महोत्सवपूर्वक उसके साथ कर दिया। महापुरुषों ने जो अंगीकार किया हो, क्या वह अन्यथा हो सकता है? **मदन** ने आनन्दपूर्वक **सुधन** को उत्तम वस्त्राभूषणादि देकर उसका श्रेष्ठ सत्कार किया। उसके बाद **सुधन** भी श्वसुर की आज्ञा लेकर प्रिया के साथ अपनी नगरी में गया।

उस ईभ्य पुत्र **सुधन** के सभी मनोरथ उसके पिता ने पूर्ण किये। अतः उसने अपनी प्रिया के साथ कितना ही समय विविध प्रकार के भोगों के द्वारा सुखमय व्यतीत किया। अनुक्रम से उसके पिता स्वर्ग सिधार गये। तब वह अत्यन्त शोकाकुल हो गया। उसने पिता की उत्तरक्रिया करके घर के भार को धारण किया।

कुछ समय बीतने के बाद उसके घर में से **धनद** के साथ ही मानो जा रही हो–इस प्रकार से लक्ष्मी धीरे–धीरे हानि को प्राप्त होने लगी। व्यापार के लिए चारों तरफ देशावरों के मार्ग में रही हुई उसकी लक्ष्मी को चोरों ने लूट लिया। वाहनों में रही हुई लक्ष्मी मानो प्रेमपूर्वक उसके पिता से मिलने की इच्छा कर रही हो–इस प्रकार से समुद्र में डूब गयी। उसके घर में रहा हुआ धन भी निरन्तर राजदण्ड और अग्नि आदि उपद्रवों से नाश को प्राप्त हो गया। अपने कर्म प्रतिकूल हो, तो क्या–क्या विपरीतता प्राप्त नहीं होती?

उसके पिता के स्नान के लिए स्वर्ण का बाजोट और कुण्डी आदि थे तथा सोने, चाँदी और मणियों से निर्मित चार–चार कलश थे। एक दिन **सुधन** स्नान करने लगा। उस समय मानो दिव्य शक्ति से पंख लग गये हों–इस प्रकार वे कलश एक ही बार में शीघ्रता से आकाश में उड़ गये। उसी प्रकार स्वर्ण के बाजोटादि जितनी भी मूल्यवान वस्तुएँ थीं, वे सभी पक्षियों के समूह के समान उसके घर में से उसके देखते ही देखते एक साथ आकाश में उड़ गयीं।

यह देखकर बुद्धिनिधान **सुधन** को आश्चर्य भी हुआ और दुःख भी।

उसके बाद जिनपूजा आदि करके वह जैसे ही स्वर्णथाल, स्वर्ण कटोरे आदि में भोजन करने लगा, उस समय जैसे–जैसे वह खाली कर–करके पात्रादि रखने लगा, वैसे–वैसे वे पात्रादि मानो छोड़ने के अपमान से क्रोधित हुए हों–इस प्रकार से उसे छोड़कर आकाश में गमन करने लगे। उसके बाद वह हाथ धोने लगा, तो उस समय थाल को चपल देखकर अर्थात् आकाश में जाते हुए देखकर आश्चर्यचकित होते हुए भागते हुए चोर की लंगोटी को पकड़ने के समान उस थाल के किनारे को हाथ से कसकर पकड़ लिया। पर फिर भी उन अन्य गये हुए पात्रों के साथ की इच्छा से वह थाल भी चला गया। **जाते हुए अथवा मरते हुए को भला कोई कभी रोक भी पाया है?** उस थाल का एक टुकड़ा टूटकर उसके हाथ में रह गया।

यह देखकर **सुधन** दुःखी होते हुए विचार करने लगा–"मुझे अत्यन्त दुःखदायक पुण्यरहितता कैसे प्राप्त हुई? कि जिससे मेरे पिता की लक्ष्मी ने एक साथ मेरा त्याग कर दिया। ज्यादा क्या कहूं? मेरे पूर्वकर्मों का उदय अत्यन्त विषम रूप में हुआ है कि जिससे दृढ़ता के साथ हाथ से पकड़ा हुआ थाल भी टूटकर मुझसे दूर चला गया। **धन और युवावस्था आदि देखते ही देखते क्षणभर में नाश को प्राप्त हो जाते हैं**–यह बात प्रसिद्ध ही है। पर जिसने स्वयं सतत सुकृत किया हो, तो वैभव भी निश्चल प्राप्त होता है। निश्चय ही मैंने पूर्वभव में सर्व सुखों को प्रदान करनेवाले धर्म को विधिप्रमाण नहीं किया है, क्योंकि अद्‌भुत संपत्ति को प्राप्त करने के बावजूद भी वर्त्तमान में मैं वैभव –रहित बन गया हूं। अतः अब मुझे यतिधर्म अंगीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि धर्म ही सूर्य की तरह अन्धकार समूह रूपी विपत्ति का हनन करनेवाला है और कमल रूपी संपत्ति को विकसित बनानेवाला है।"

इस प्रकार विचार करके उछलती अभंग भावना से उत्पन्न हुई वैराग्य तरंगों के द्वारा **सुधन** का अंतःकरण व्याप्त हो गया। अतः उसने आनंदपूर्वक **विनयंधर** नामक सूरि के पास चारित्र ग्रहण किया। स्वयं ममतारहित होते हुए भी कौतुक से उस थाल का टुकड़ा अपने पास ही रख लिया, पर लज्जा के कारण कभी भी अन्य किसी साधु को उन्होंने नहीं बताया।

अनुक्रम से उन **सुधन** मुनि ने ग्रहण और आसेवन शिक्षा में निपुणता प्राप्त की। उनका चित्त उत्कृष्ट आगम के द्वारा भावित हुआ। तब गुरु ने उन्हें अकेले विचरण करने की आज्ञा प्रदान की। अनुक्रम से भूमण्डल पर विचरते हुए वे मुनि **उत्तर मथुरा** में गये। वहां गोचरी के लिए नगर में भ्रमण करते–करते वे **मदन** के घर गये। वहां स्वर्णथाल आदि अपनी सारी वस्तुएँ उसके घर में देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ। मानो उन वस्तुओं को देखने के लिए तरस रहे हों–इस प्रकार से एकटक उन्हें देखने लगे। यह देखकर **मदन** ने कहा–"कनक और कांकरे

में मुनि समान बुद्धिवाले होते हैं। तो फिर मेरी लक्ष्मी के विषय में मानो अभिलाषा हो–इस प्रकार से आप क्यों देख रहे हैं?''

यह सुनकर उत्तम मुनि ने कहा–''हे श्रेष्ठी! तुम्हारी लक्ष्मी पर मेरी कोई स्पृहा नहीं है। पर तुम्हारी इस समृद्धि को देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। अतः मैं तुमसे पूछता हूं कि इस वैभव का विस्तार तुम्हें कहां से प्राप्त हुआ?''

यह सुनकर **मदन** हृदय में शंकित हुआ। पर बाहर से हंसते हुए बोला–''यह स्वर्णासन आदि सामग्री तथा यह समस्त लक्ष्मी पिता की परम्परा से मुझे प्राप्त हुई है। पर आपने यह क्यों पूछा?''

साधु ने स्मित हास्य के साथ कहा–''हे भद्र! क्यों झूठ बोलते हो? यह भोजन के पात्रादि सारी वस्तुएँ पूर्व में मेरे घर पर थीं। मेरा पुण्य क्षीण हो जाने के कारण ये सारी वस्तुएँ मेरे घर से चली गयीं। यह स्वर्णथाल तो जब जा रहा था, तो मैंने इसे पकड़ने का प्रयास भी किया था, पर इसका यह टुकड़ा टूटकर मेरे हाथ में रह गया और थाल चला गया। अतः कौतुक के कारण ही मैं तुम्हें पूछ रहा हूं, तुम्हारे वैभव के लोभ से नहीं पूछ रहा हूं। हम मुनि तो बाह्य वैभव को सर्प के समान मानकर उससे डरते हैं।''

यह कहकर मुनि ने थाल का वह टुकड़ा थाल के समीप रखा, तो मानो अत्यधिक समय के वियोग से दुःखी हुआ वह टुकड़ा तुरन्त थाल के साथ चिपक गया। यह देखकर **मदन** की शंका दूर हो गयी। मुनि को सत्यवादी जानकर उसने हर्षपूर्वक कहा–''एक दिन मैंने मेरे घर में स्वयं ही निधि के समूह को आया हुआ देखा। फिर एक दिन स्नान करने के समय यह स्वर्ण का बाजोट आदि सामग्री भी आकाश मार्ग से मेरे घर पर आ गयी। भोजन करते समय अकस्मात् भोजनपात्रों का समूह भी अपने आप मेरे घर पर आ गया। इस प्रकार यह समग्र लक्ष्मी पूर्वकृत सुकृत्य के कारण कहीं से भी आकर मुझे प्राप्त हुई है। **प्राणियों को अपने भाग्य के योग से क्या अत्यन्त दुर्लभ वस्तु भी सुलभ नहीं होती?** मैंने पहले आपके सामने असत्य कहा था। मेरे उस अपराध के लिए मुझे क्षमा कीजिए।

हे भगवान! आप कौन हैं? किस ग्राम के रहनेवाले हैं? किसके पुत्र हैं?''

तब मुनि ने अपने नगर आदि का वृत्तान्त उसको बताया। यह सुनकर **मदन** ने उसे अपनी पुत्री के पति के रूप में जाना। हर्ष और दुःख के साथ रोते हुए गद्‌गद स्वर में उसने कहा–''हे मुनि! आप मेरी पुत्री के स्वामी हैं। मेरी इस पुत्री को देखो। हे मुनि! यह घर आपका ही है। यह धन और यह निधि भी आपकी ही है। अधिक क्या कहूं? यह सर्व परिवार आपकी ही आज्ञा के आधीन है। अतः अभी तो अतुल्य सुख को प्रदान करनेवाले श्रेष्ठ भोगों को

इच्छानुसार भोगें और सुखोपभोग करने के बाद वृद्धावस्था में चारित्र ग्रहण करें।''

उसके इस प्रकार के वचनों को सुनकर भोगों से पराङ्मुख हुए मुनि ने उत्तम वचन कहे–''**विषयों का परिणाम अत्यन्त दुःखदायी है। अतः विष के समान विषय अत्यन्त भयंकर है।** जो दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य चारित्र का त्याग करके विषय सुख में मन को धारण करता है, वह अमृतरस का त्याग करके प्रारम्भ में सुखकारक ऐसे विष को पीने की इच्छा करता है।

हे मदन श्रेष्ठी! **जो प्राप्त विषयों का त्याग करके चारित्र को अपनाता है, वही मनुष्य जगत में उत्तम है।** जो अप्राप्त विषयों की इच्छा करता है, उन्हें तत्त्वज्ञानियों ने अधम कहा है। विषयों के स्वतः ही दूर हो जाने के बाद भी जो उन पर प्रीति को धारण करता है, वह अधमों में भी अधम है। अतः उन विषयों को अब मैं क्यों ग्रहण करूं? इन विषयों ने ही मेरा त्याग किया है, वह मेरे लिए महान लाभदायक हुआ है, क्योंकि उनके त्याग के कारण ही आज मैंने इस चिन्तामणि के समान दुर्लभ चारित्र को ग्रहण किया है।''

इस प्रकार कहकर निःस्पृह मुनि अन्यत्र विहार कर गये। **मदन** अपने जामाता की ऐसी घटना को जानकर अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुआ। उसने मन में विचार किया–''किस कर्म के कारण लक्ष्मी ने उसका एकदम से त्याग किया और मुझे एकदम से अपना लिया? कोई उत्कृष्ट ज्ञानी मुनि पधारें, तो मैं इसका कारण पूछूं और शल्य के समान अपने हृदय के संशय को दूर करूं।''

इस प्रकार **मदन** विचार कर ही रहा था कि कुछ दिनों बाद कोई ज्ञानी मुनिराज वहां पधारे। यह सुनकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। **पुण्यशाली का मनोरथ कभी भी निष्फल नहीं होता।** नगरजनों के साथ उत्सुक मनवाला **मदन** भी मुनि को नमन करने के लिए गया। वहां विधिपूर्वक मुनि को वन्दन करके उनके पास बैठकर देशना का श्रवण किया। फिर **मदन** ने अपने हृदय में रहा हुआ संशय मुनि से पूछा। मुनि ने उसकी जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा–''इसी नगरी में पहले **धनमित्र** और **सुमित्र** नामक दो मित्र थे। **धनमित्र** के पास वैभव तो था, पर वह स्वभाव से कृपण था। **सुमित्र** के पास अल्प वैभव था, पर वह दान देने में उदार था। वास्तव में रत्न को दोषयुक्त करनेवाले विधाता ने दान और धन को अलग–अलग स्थान पर रखकर उन दोनों को ही विडम्बना प्राप्त करवायी है। स्वजनों तथा लोगों के कहने पर **धनमित्र** ने जिनपूजा, मुनिपूजा आदि अनेक प्रकार के पुण्यकार्यों में अत्यधिक लक्ष्मी का व्यय किया।

फिर पूर्वकृत कुकर्मों के योग से वह कुबुद्धि से युक्त होकर स्वयं के द्वारा किये गये

दानादि में धन के व्यय के लिए बार–बार पश्चात्ताप करने लगा–"हा! हा! दूसरे मनुष्यों के द्वारा ठगे जाने से मैंने व्यर्थ ही कितने धन का व्यय कर दिया?"

इस प्रकार के विचार के द्वारा पश्चात्ताप करने से उसने अपने पुण्य की हानि की। चारों तरफ से सूर्य का ताप पड़ने पर क्या जलाशय का जल सूख नहीं जाता? उन मलिन परिणामों के द्वारा उसने अशुभ कर्मों का उपार्जन किया। **प्राणियों के परिणामों को अनुसार ही शुभ–अशुभ कर्म प्राप्त होते हैं।**

उधर पवित्र बुद्धि से युक्त **सुमित्र** ने अल्प ऋद्धि होने के बावजूद भी अपनी आय के अनुसार थोड़ा–थोड़ा धन सुपात्र में व्यवहृत किया और "मेरा धन जिनपूजादि पुण्य कार्यों में उपयोगी हुआ, यह उत्तम हुआ"–इस प्रकार हमेशा बार–बार उसकी अनुमोदना भी की। इसी कारण से चन्द्र के उदय से क्षीरसागर के जल की तरह उसका दान–पुण्य निरन्तर तरंगित होने लगा और वृद्धि को प्राप्त हुआ।

कालान्तर में उस **सुमित्र** को एक पुत्र हुआ। वह किसी व्यसन में आसक्त था, क्योंकि अग्नि कितनी ही तेजस्वी क्यों न हो, उसमें से निकलता हुआ धूम क्या मलिन नहीं होता? अतः **सुमित्र** अपने द्रव्य के नाश के डर से अपने पुत्र से सार–सार वस्तुओं को छिपाकर रखता था। **जिस पुत्र पर पिता का विश्वास ही न हो, ऐसे पुत्र का जन्म न लेना ही ठीक है।**

एक बार दूर देश में जाकर व्यापार करने की इच्छा से **सुमित्र** ने पुत्र के दुर्गुणों के भय से अपने मित्र **धनमित्र** के यहां स्वर्णादि निधि का स्थापन किया। फिर वह अपने घर से रवाना हुआ। मार्ग में जाते हुए अकस्मात् गुप्त विसूचिका की व्याधि के कारण वह मरण को प्राप्त हो गया। प्राणियों की मृत्यु तो सामने ही रही हुई होती है। वह **सुमित्र** मरण को प्राप्त होकर निर्मल दान– पुण्य के कारण इसी नगरी में **मदन** बना है। विधिपूर्वक थोड़ा भी आराधित–सेवित जिनधर्म अद्‌भुत लक्ष्मी का विस्तार करता है। उसके बाद **सुमित्र** की भार्या, जो **धनमित्र** के यहां धन रखने का सारा वृत्तान्त जानती थी, उसने **धनमित्र** से अपनी निधि अनेक प्रकार से और कई बार मांगी, पर लोभवश उसने नहीं दी। अनुक्रम से वह **धनमित्र** भी मरण को प्राप्त करके तुम्हारे जामाता **सुधन** के रूप में उत्पन्न हुआ है। शुभ दान के पश्चात्ताप से उत्पन्न हुए कुकर्म के द्वारा लक्ष्मी ने सहसा उसका त्याग कर दिया। पूर्व में तुम्हारी निधि को छलपूर्वक **धनमित्र** ने अपने घर पर रखी थी, अतः इस भव में **सुधन** की निधि स्वयं ही तुम्हारे घर पर आ गयी। हे **मदन**! शुद्ध अनुमोदना के द्वारा दानपुण्य का विस्तार करने से तुमने अद्‌भुत संपत्ति को प्राप्त किया है और दान के पश्चात्ताप से उत्पन्न हुए अशुभ कर्मों के कारण धन के समूह ने रंक की तरह **सुधन** का त्याग किया है।"

इस प्रकार ज्ञानी गुरुदेव के मुख से अपना चारित्र सुनकर **मदन** हर्षित हुआ। फिर

श्रावक धर्म अंगीकार करके वह अपने घर गया। शुद्ध आशययुक्त होकर उसने सात क्षेत्रों में अपने धन का व्यय किया और लक्ष्मी को सफल बनाया। उसके बाद **सुधन** मुनि के पास चारित्र अंगीकार करके बुद्धिमान **मदन** मुनि ने उसका निरतिचार पालन किया। निर्मल चारित्र का पालन करने से वे दोनों स्वर्ग में गये। वहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वे दोनों मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

अतः पात्रदान करने में थोड़ा भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। उससे मनोहर अर्थ की सिद्धि होती है, क्योंकि विलम्ब करने पर दातार के भावों में हीनता आ जाती है और भावहीनता से पुण्य खण्डित हो जाता है। पुण्य का उत्कर्ष और अपकर्ष एकमात्र भाव के आधीन ही है। पुण्य खण्डित होने से दातार उसके अनुसार ही परभव में **कृतपुण्य** की तरह खण्डित सम्पत्ति को प्राप्त होता है। उस **कृतपुण्य** की कथा इस प्रकार है :–

कल्याण की लक्ष्मी के निवास के लिए घर रूप **राजगृह** नामक नगर था। उसमें अनेक गुणों की श्रेणि से शोभित **श्रेणिक** नामक राजा था। उसके **अभय** नामक मंत्री था।

उसी नगर में अत्यधिक वैभव से युक्त **धनावह** नामक श्रेष्ठी था। उसके पुण्य कर्म में तत्पर **भद्रा** नामक भार्या थी। उसके **कृतपुण्य** नामक पुत्र था। वह उदयप्राप्त सूर्य की तरह तेजस्वी, दूज के चन्द्र की तरह दर्शनीय और अद्‌भुत सौभाग्यलक्ष्मी के विश्राम के स्थान के समान शोभित होता था। उसके दर्शन लोगों के लिए प्रीतिकारक थे। दूज के चन्द्र की तरह निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करते हुए वह समग्र कलाओं के द्वारा सम्पूर्ण बन गया। युवावस्था प्राप्त होने पर पिता की आज्ञा से कुलवान, पवित्र लावण्यवाली और **कृतपुण्य** को प्राप्त करने से अपने को धन्य मानती हुई एक कन्या के साथ उसने विवाह किया। पर वह साधुओं की संगति के कारण भोगों में आसक्त नहीं हुआ। प्रायः करके जल और जीव को जैसा संयोग मिलता है, वे वैसा ही फल प्रदान करते हैं। अतः उसमें भोगासक्ति पैदा करने के लिए श्रेष्ठी ने उसे जुआरियों की संगति करवायी। **तत्त्वतः हितकारक माता– पिता का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।** वैसे मित्रों की संगति के कारण वह मर्यादा रहित होकर इच्छानुसार वेश्याओं के साथ रमण करते हुए भोगासक्त बन गया। मालती के पुष्प में भ्रमरों की तरह वह **अनंगसेना** नामक वेश्या में अत्यधिक आसक्त बन गया। उस वेश्या ने भी उसे स्नान, मान, भोजनादि द्वारा इस तरह वश में किया कि जिससे कामातुर बनकर वह माता–पिता तक का भी स्मरण नहीं करता था। उस वेश्या की अक्का ने भी कपट रूपी रेंट के द्वारा पाताल में भी रहे हुए उसके धन रूपी जल को निरन्तर करोड़ों मार्गों द्वारा खींचने का प्रयत्न किया। **कृतपुण्य** के पिता ने भी पुत्रस्नेह के कारण उसकी इच्छानुसार धन दासी के हाथ हमेशा भिजवाया। अहो! मनुष्यों की मोहान्धता आश्चर्यकारक है!

इस प्रकार दिवसों के समान उसने बारह वर्ष उस वेश्या के घर व्यतीत किये। **स्त्री के संगम में आसक्त पुरुष का समय शीघ्र गति करनेवाला होता है।** चिरकाल से इकट्ठी की हुई उसकी अखूट लक्ष्मी भी क्षय को प्राप्त हुई। उसके माता–पिता भी परलोक सिधार गये। फिर भी निर्दयी अक्का ने अधिक धन पाने की लालसा से मधुर वचन बोलनेवाली दासी को उसके घर धन लाने के लिए भेजा। वह दासी तत्काल **कृतपुण्य** के घर गयी। उस समय वह घर गिरने की तैयारी में था। उसकी भींते व देहरी गिर चुकी थी। अतः उसके वैभव की क्षीणता स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रही थी। उस घर में उस दासी ने नवयौवन से युक्त उसकी पत्नी को देखा। उसने अपने स्वामी के मंगल का सूचक एक मोटा व कुसुमल वस्त्र पहन रखा था। इस प्रकार उस **कृतपुण्य** के घर की दुर्दशा और उसकी पत्नी की शांति देखकर दासी अत्यन्त विस्मित हुई। उसने उसकी पत्नी से कहा–"हे सखी! तेरे पति ने तेरी कुशलता जानने और धन लाने के लिए मुझे यहां भेजा है।"

यह सुनकर चकोर पक्षी के समान नेत्रोंवाली उस स्त्री का मुखकमल विकस्वर हुआ। स्वामी का आदेश सुनकर वह हर्ष से रोमांचित हुई। फिर उसने कहा–"हे सखी! उन कान्त की आज्ञा मेरे मस्तक पर मुकुट के समान है। कर्म की विपरीतता से क्षेम– कुशल की बात तो मैं क्या कहूं? मेरे वात्सल्य से युक्त श्वसुर और स्नेहमयी सास स्वर्ग सिधार चुके हैं। मेरे दैव की दुष्टता को धिक्कार है! उन दोनों ने मेरे पति को धन भेज–भेजकर सर्व लक्ष्मी का क्षय कर दिया है, क्योंकि प्रिय पुत्र से बढ़कर किसको धन पर मोह हो सकता है? मेरे पिता द्वारा मुझे कुछ आभूषण दिये गये थे। वे तुम ले जाओ, क्योंकि मेरे लिए तो **शील ही भूषण है**।"

इस प्रकार कहकर उसने अपने शरीर पर से सारे अलंकार उतारकर दासी को दे दिये। कुलवन्त स्त्रियाँ पति पर अन्यथा भाव धारण नहीं करतीं। दासी उन अलंकारों को लेकर चली, पर उसका मन विस्मय से विकस्वर हो गया। उसके औचित्य का विचार करती हुई वह शीघ्र ही अक्का के पास पहुँची। **अनंगसेना** और **कृतपुण्य** की मौजुदगी में ही उसने वे सारे आभूषण अक्का को सौंपे और जो कुछ भी देखा–सुना, वह सभी अक्का को बताया। फिर कहा–"खाली किये हुए धन रूपी जल के कुएँ के तलिये की माटी के समान ये अलंकार उस कुलवती स्त्री ने भेजे हैं।"

यह सुनकर "कुसुंबी रस की कूपी के समान इन अलंकारों से बस!"–इस प्रकार विचार करके तथा उसकी पत्नी के औचित्य को देखकर दयालू बनी अक्का ने अपनी तरफ से हजार स्वर्णमोहरें उन आभूषणों के साथ मिलाकर उन अलंकारों को तत्काल उसी दासी के साथ वापस भेज दिया। फिर अक्का ने अपनी पुत्री **अनंगसेना** को एकान्त में कहा–"हे पुत्री! वेश्याजनों को निर्धन मनुष्यों से क्या लाभ? अब **कृतपुण्य** को भी निर्धन–शिरोमणि मानो,

क्योंकि अभी–अभी उसकी स्त्री ने अपने शरीर के सारे अलंकार उतारकर भेजे हैं। अतः हे पुत्री! तूं इसका अब त्याग कर दे, क्योंकि धन पर ही एकमात्र दृष्टि रखनेवाली वेश्याएँ रूप या विद्या की अपेक्षा नहीं रखती।''

इस प्रकार न सुनने योग्य कानों में करवत के समान लगनेवाले अक्का के वचनों को सुनकर **अनंगसेना** ने क्रोधित होते हुए चतुर वाणी के द्वारा कहा–''हे माता! आज से तुम मेरी माँ नहीं हो, क्योंकि कर्ण में शूल के समान ऐसे प्रतिकूल वचन तुमने कहे हैं। इसने बारह वर्ष तक हमे धनाढ्य करनेवाला करोड़ से भी ज्यादा धन प्रदान किया है। क्या तेरी उससे भी तृप्ति नहीं हुई? इसके गुणों ने तो मेरे चित्त को बांध लिया है। इसके बिना मैं एक पग भी अन्यत्र नहीं रख सकती।''

इस प्रकार उसके अत्यन्त दृढ़ आग्रह का निश्चय जानकर अक्का का मुख उतर गया। मानो उसका सर्वस्व चला गया–इस प्रकार वह निस्तेज हो गयी। फिर अक्का की प्रेरणा से दासियाँ बार–बार **कृतपुण्य** का अपमान करने लगीं, क्योंकि सूर्य जब किरणों से रहित होता है, तब कौन उसे अर्ध्य देता है? **कृतपुण्य** अपने अपमान के कारणों पर विचार करने लगा। तब उसे एहसास हुआ–''यह अपमान करानेवाली अक्का ही है।''

यह जानकर वह अग्नि की तरह पश्चात्ताप के द्वारा अत्यन्त संतप्त हुआ। कामेदव से उन्मत्त हुए पुरुष को संताप होना दुर्लभ नहीं है। फिर वह बिना किसी को कुछ कहे अपने घर आ गया। **मानयुक्त पुरुष कुत्तों की तरह अन्य की अवज्ञा सहन नहीं करते।** घर के भीतर जाते हुए उसने अपनी प्रिया को देखा। उसने अपने हाथ पर गण्डस्थल रखा हुआ था, मलिन वस्त्र धारण किये हुए थे, हिम के द्वारा मुरझायी हुई कमलिनी की तरह वह ग्लान हो गयी थी। न देख सकने योग्य घर की दो प्रकार की दुर्दशा देखकर धैर्यशाली होने के बावजूद भी उसकी आँखों में आँसू आ गये। उसे दूर से आते हुए देखकर उसकी प्रिया का मुख विकस्वर हो गया। हर्ष से उसका पूरा शरीर रोमांचित हो गया। फिर वह विचार करने लगी–''क्या मेरे सद्भाग्य से ये मेरे स्वामी ही आ रहे हैं? अथवा तो मेरा ऐसा भाग्य कहां?''

क्षणभर निश्चय करके पहले तो उत्सुकता सहित मन के द्वारा, फिर दृष्टि से और फिर शरीर के द्वारा अपने पति के सामने खड़ी होकर चली। उसने अपने पति की ऐसी अमृतोपम सेवा–आगवानी की कि उसका अपमान रूपी अग्नि से संतप्त हृदय शान्त हो गया। फिर रात्रि के समय उस **कृतपुण्य** ने उस विनयवती पत्नी को भोगमातृका का अभ्यास करवाया और शुद्ध बुद्धियुक्त उस स्त्री ने अंतःकरण में प्रबोध की तरह गर्भरत्न को धारण किया।

अगले दिन उसने प्रिया से कहा–''मेरे जैसा मूढ़ इस जगत में अन्य कोई नहीं है। ऊसर

भूमि में वृष्टि की तरह मुझ में शास्त्र की दृष्टि निष्फल हुई है, क्योंकि मैंने माता–पिता को अगाध दुःख के समुद्र में डाला और बाप–दादा का इकट्ठा किया हुआ धन नष्ट कर दिया। हे कमल समान नेत्रोंवाली! तुमने भी जो किया है, उसे शब्दों के द्वारा प्रकट करने की शक्ति मुझमें नहीं है। अतः मैं ही सर्व दोषों का स्थान हूं और तूं ही सर्व गुणलक्ष्मी का स्थान है। अब धन के अभाव में दुर्दशा को प्राप्त मैं क्या करूं? क्योंकि वैभवरहित पुरुष अनेक मनुष्यों के दास के समान होता है। हे मधुर वचनोंवाली! अगर कुछ धन हो, तो मैं व्यापार करूं।''

यह सुनकर विशेष बुद्धियुक्त वह हर्षित होकर बोली–''मेरे सारे अलंकार रूपी यह धन आपका ही है। उसके उपरान्त हजार स्वर्ण मोहरें भी हैं। इन्हें ग्रहण करके मुझ पर अनुग्रह कीजिए।''

यह सुनकर **कृतपुण्य** अत्यन्त प्रसन्न हुआ और व्यापार करने की इच्छा से उस धन को ग्रहण किया। उन्हीं दिनों पूर्व दिशा से चला हुआ कोई सार्थ उसी नगर में आया। यह सुनकर **कृतपुण्य** उस सार्थ की तरफ गया। उसके पीछे–पीछे उसकी प्रिया उसे पहुँचाने के लिए गयी। उसे मधुर वाणी के द्वारा प्रसन्न करके उसे वापस भेजा और नगर के बाहर किसी देवकुल में निद्रारहित सो गया।

उसी अवसर पर उसी नगर की रहनेवाली कोई धनाढ्य वृद्धा थी। उसके पुत्र के कोई सन्तान नहीं थी। समुद्र में उत्पात के कारण वाहन टूट जाने से उसका पुत्र मरण को प्राप्त हो गया था। अतः उसका धन राजकुल में न चला जाय, इस डर से उस वृद्धा ने अपने पुत्र के मरण की बात को गुप्त रखा था। उस समय वह वृद्धा रात्रि में सार्थ में आयी थी। वहां **कृतपुण्य** के रूप को देखकर आश्चर्यचकित होते हुए उसे नींद में सोया हुआ समझकर अपने चाकरों द्वारा उठवाकर अपने घर ले गयी। मार्ग में जाते हुए **कृतपुण्य** हृदय में विस्मित होकर विचार करने लगा–''यह वृद्धा कौन है? यह मुझे कहां और क्यों ले जा रही है?''

इस प्रकार विचार करते हुए वह उसके घर पर पहुँच गया। फिर वह धूर्त और निर्लज्ज वृद्धा अपनी चारों बहुओं के देखते ही **कृतपुण्य** के गले लगकर रोती–रोती बोली–''हा! स्वच्छ प्रेमयुक्त हे पुत्र! अपनी माता को छोड़कर तूं इतने दिन तक कहां गया था? कहां रहा? हे पुत्र! जब तेरा जन्म हुआ, तभी किसी पापी ने तेरा हरण कर लिया था। मैं तेरी माता हूं–यह तूं जान ले। इसमें किसी प्रकार का संशय मत रखना। हे प्यारे पुत्र! तूं अर्थ और नाम से भी **श्रीनिवास** नामक मेरा पुत्र है। तेरे वियोग रूपी दावानल ने चिरकाल तक मुझे संतप्त किया है। आज ही तुम्हारा समागम होगा–ऐसा निमित्तज्ञों ने मुझसे कहा था। रात्रि में स्वप्न में फलों से लदा हुआ कल्पवृक्ष भी मैंने देखा। इस सार्थ में खोजते हुए मुझे दुर्लभ तुम प्राप्त हुए हो। मेरे जागृत भाग्य के द्वारा आज मेरे मनोरथ फलीभूत हुए हैं। तुम्हारे बड़े भाई के मरण व

तुम्हारे समागम से मुझे अद्वितीय शोक व हर्ष एक साथ प्राप्त हुए हैं। इन चार बहुओं और इस सर्व लक्ष्मी का अन्य कोई आश्रय न होने से महासागर को नदियों की तरह यह तुम्हें प्राप्त हुई है। अतः अतुल लावण्य के अतिशय का स्पर्श करनेवाली इन बहुओं और इस लक्ष्मी के भोग द्वारा तूं सौभाग्यशाली बन।''

इस प्रकार उस वृद्धा के वचनों की विचित्रता का श्रवण करके **कृतपुण्य** के चित्त की वृत्ति अत्यन्त विस्मय के कारण विकस्वर हुई। वह विचार करने लगा–''यह अपार लक्ष्मी और ये स्त्रियाँ मुझे प्रत्यक्ष रूप से स्वयंवर के रूप में प्राप्त हुई हैं। तो फिर मुझे आकाश–पुष्प की तरह असत् कल्पना क्यों करनी चाहिए?''

ऐसा विचार करके वह बोला–''हे माता! मुझे कुछ भी याद नहीं है। आप वृद्ध हो, अतः इस प्रकार इतिहास बताने में समर्थ हो। मैं तो माता की आज्ञा को मस्तक पर मुकुट के समान मानता हूं, क्योंकि कौनसा विवेकी पुरुष कामधेनु के समान गुरुजनों की आज्ञा का तिरस्कार करेगा?''

तब वे चारों बहुएँ भी उसके गुणों से आनन्दित होती हुईं अपने विवाहित भर्त्तार की तरह उसके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करने लगीं। अनुक्रम से उन चारों स्त्रियों के चतुर और आश्चर्यकारक मनोहर गुणों के समूहवाले चार पुत्र उत्पन्न हुए। वहां रहते हुए और सुखों का उपभोग करते हुए **कृतपुण्य** के बारह वर्ष बारह घड़ी के समान व्यतीत हो गये। सुख में मग्न प्राणी जाते हुए काल को नहीं जान पाते।

उसके बाद एक दिन स्वार्थ की सिद्धि हो जाने से मन में कृतार्थता को मानती हुई उस वृद्धा ने अपने वश में रहनेवाली उन चारों बहुओं से कहा–''तुम्हें पुत्र की प्राप्ति हो गयी है, अतः अब इस पुरुष का त्याग कर दो, क्योंकि फलों का समूह ले लेने के पश्चात् आम्रवृक्ष पर भी आदर नहीं रहता।''

यह सुनकर बहुओं ने कहा–''हे माता! मनोहर गुणों का स्थान रूप पति हमको आपने ही दिया है। हमने भी उसके साथ भोग भोगे हैं। अतः अब उसका त्याग करना योग्य नहीं है।''

यह सुनकर क्रोधपूर्वक भृकुटि को टेढ़ी करते हुए वृद्धा ने कहा–''हे पुत्रियों! मेरी आज्ञा का भंग आज नये रूप में ही देखने में आया है। हमारा धन राजा ग्रहण कर लेगा–इसी भय से सन्तान उत्पन्न करवाने के लिए ही मैंने इस अनजान पुरुष को लाकर तुम्हें सौंपा था। अब लक्ष्मी का रक्षण करने में पहरेदारों के समान पुत्र तुम्हें उत्पन्न हो गये हैं। जिसमें से सारभूत रस निकाल लिया हो, ऐसे गन्ने के सांठे के समान पुरुष से अब क्या प्रयोजन?''

इस प्रकार वृद्धा के कोप व आग्रह जानकर बहुएँ मौन हो गयीं। **वृद्धजनों की आज्ञा अयोग्य हो, तब विवेकीजनों के लिए मौन ही शरण रूप होती है।**

एक बार वृद्धा के कपट को जानने के बाद जब बहुओं को लगा कि वृद्धा इस गुणवान व्यक्ति को धोखा देनेवाली है, तब बहुओं ने चार मनोहर लड्डू बनाकर उनके भीतर रत्न डालकर उन्हें वस्त्र के छोर पर बांध कर तकिये के नीचे रख दिया। फिर उसी रात्रि में सुखपूर्वक निद्रा में मग्न **कृतपुण्य** को पलंगसहित उठवाकर दासियों के द्वारा उस वृद्धा ने उसी देवकुल में रखवा दिया, जहां से उसे उठवाकर लायी थी। उस समय वही सार्थ पूर्व दिशा से वापस आकर उसी स्थान पर उतरा। भवितव्यता दूर रही हुई वस्तु को भी समीप ला देती है। वहां निद्रा का क्षय होने पर **कृतपुण्य** जागृत हुआ। वृद्धा की इस कुचेष्टा को जानकर और स्वयं कुछ भी धनोपार्जन न कर सकने के कारण बार–बार अपनी आत्मा को धिक्कारने लगा।

उधर पूर्व दिशा से साथ के आगमन का समाचार सुनकर हर्षित होते हुए उसकी पूर्व पत्नी ने अपने पति की खबर लेने के लिए एक पुरुष को सार्थ में भेजा। वह खोजते–खोजते **कृतपुण्य** के पास आया। उसने उससे पूछा–"हे भद्र! क्या घर पर मेरी प्रिया कुशल है? उस समय वह गर्भवती थी, अतः उसके क्या हुआ? तब उस पुरुष ने उसे प्रसन्नता के साथ पुत्रजन्म के बारे में बताया। फिर उसने जैसे ही बिस्तर को उठाया, तकिये के नीचे से लड्डू निकले। उन्हीं लड्डुओं को लेकर द्रव्योपार्जन न कर पाने के दुःख से दुःखित होते हुए **कृतपुण्य** उसी पुरुष के साथ निराश कदमों से अपने घर आया। उसे आता देखकर उसकी प्रिया हर्षित होती हुई खड़ी हुई। उसका आगमन–सत्कार किया। **कुलीन स्त्रियाँ सम्पत्ति और विपत्ति में पति के प्रति समान आचरण से युक्त होती हैं।** फिर वह अपने स्वामी की अभ्यंगन आदि विधि करने लगी। उसी समय उसका पुत्र पाठशाला से भोजन करने के लिए घर आया। तब उसने उन लड्डुओं में से एक लड्डू उसे खाने के लिए दिया। वह भी उसें खाता हुआ अपने अन्य साथियों के पास गया। दांतों से न टूटनेवाला एक दैदीप्यमान रत्न उस लड्डू में से निकला। उसने उस रत्न को हाथ में लिया और उत्कण्ठापूर्वक अन्य साथियों से पूछने लगा–"यह वस्तु क्या है?"

सभी इसी प्रकार कहने लगे और एक हाथ से दूसरे हाथ में उस रत्न को लेने लगे। इस तरह कंकर की तरह वह मणि अनेक हाथों में फिरने लगी। फिर वह बालक उस मणि को लेकर किसी कन्दोई की दुकान में खाने की वस्तु लेने पहुँचा। वहां वह मणि उसके हाथ से छिटककर जल के पात्र में गिर गयी। तुरन्त ही वह जल खल मनुष्य की मैत्री की तरह दो भागों में विभक्त हो गया। यह देखकर कन्दोई ने मन में निश्चय किया कि यह जलकान्त मणि है। उसने मन में धूर्तता धारण करते हुए बालक से कहा–"यह पत्थर मुझे दे दे। मैं तुझे खाने के लिए बढ़िया वस्तु दूंगा।"

इस प्रकार लोभ दिखाकर उस कन्दोई ने वह मणि उससे ले ली।

उसी समय **श्रेणिक** राजा का **सेचनक** हाथी स्नान करने के लिए नदी में उतरा। तभी उसे तन्तु नामक जलजन्तु ने पैर में पकड़ लिया। वह ताकत लगाकर भी अपने–आपको छुड़वा नहीं सका। तब भयभीत होते हुए सैनिकों ने राजा को जाकर बताया। राजा ने बुद्धिनिधान अभय मंत्री को बताया। यह सुनकर अभयकुमार ने भण्डार में से जलकान्त मणि मंगवायी। पर अनेक रत्नों में मिल जाने के कारण वह जल्दी से हाथ नहीं आयी। ज्यादा समय बीत जाने पर कहीं हस्तीरत्न का कुछ अशुभ न हो जाय–ऐसा विचार करके राजा ने पूरे नगर में उद्घोषण करवायी–"जो कोई शीघ्र ही जलकान्त मणि को लेकर आयगा, उसे राजा आधा राज्य देगा व अपनी पुत्री से विवाह करवायगा।"

इस प्रकार के पटह को सुनकर कन्दोई का मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने तत्काल पटह का स्पर्श करके राजा को वह जलकान्त मणि दे दी। राजा ने उस मणि से जैसे ही जल का स्पर्श किया, नदी का जल दो भागों में विभक्त हो गया। यह भूमि है–इस भय से व्याकुल होते हुए वह जलजन्तु तुरन्त हाथी का पैर छोड़कर वहां से भाग गया। तब वह हस्ती क्षेमकुशल होकर क्रीड़ा करने लगा। उधर कन्दोई के मन में भी अनेक मनोरथ क्रीड़ा करने लगे।

"अरे! इस कन्दोई को मैं अपनी राजकन्या किस प्रकार परणाऊँ?"–इस चिन्ता से राजा पश्चात्ताप करने लगा। यह जानकर अभयकुमार ने धमकी–भरे वचनों से कन्दोई पर प्रहार किया। तब उसने हकीकत प्रकट की। यह सुनकर अभयकुमार ने कहा–"निश्चय ही **कृतपुण्य** ही इस प्रकार की सम्पत्ति का मालिक हो सकता है। कल्पवृक्ष मेरुपर्वत के सिवाय अन्यत्र संभवित नहीं है। उसके बाद राजाज्ञा से **कृतपुण्य** ने राजकन्या के साथ विवाह किया और आधा राज्य भी पाया। भाग्य से क्या दुर्लभ है? दाक्षिण्य और चतुराई आदि गुणों रूपी रत्नों के समुद्र के समान **कृतपुण्य** की कलावान अभयकुमार के साथ गाढ़ प्रीति हो गयी।

एक बार **कृतपुण्य** ने **अभयकुमार** से कहा–"हे मित्र! इस नगर में पुत्रसहित मेरे चार स्त्रियाँ और हैं। पर मैं उनका घर नहीं जानता हूं।"

यह सुनकर **अभयकुमार** ने हंसकर पूछा–"तुम स्त्रियाँ जानते हो, पर घर नहीं जानते–यह आश्चर्य की बात है।"

तब **कृतपुण्य** ने पूर्व का सारा वृत्तान्त उसे निवेदन किया। यह सुनकर **अभयकुमार** ने दो दरवाजों से युक्त एक प्रासाद बनवाया। उसमें एक द्वार प्रवेश करने के लिए और दूसरा निर्गमन करने के लिए था। फिर **कृतपुण्य** के समान आकृतिवाली यक्ष की लेप्यमय प्रतिमा करवाकर उस प्रासाद में स्थापित की। सत्पुरुषों की बुद्धि के पार को कौन पा सकता है? फिर

अभयकुमार ने नगर में उद्घोषणा करवायी–"जो भी मनुष्य कुटुम्बसहित इस यक्ष को नमस्कार करने के लिए नहीं आयगा, उसे व्याधिसहित मन की पीड़ा होगी।"

इस प्रकार **अभयकुमार** की उद्घोषणा को सुनकर सभी पुरजन उस यक्ष की श्रेष्ठ पूजा के द्वारा सेवा करने के लिए आने लगे। उस समय बुद्धिमान **अभय** और **कृतपुण्य** छिपकर एक द्वार से प्रवेश करते और दूसरे द्वार से निकलते लोगों पर नजर रखने लगे। तभी अपनी लीला के द्वारा वाचाल व चोटीयुक्त लगभग पाँच–पाँच वर्ष के चारों बालकों ने जिनका हाथ पकड़ा हुआ था, वे **कृतपुण्य** की चारों स्त्रियाँ प्रासाद में आयीं। पति के समान आकृतिवाले उस यक्ष को देखकर पति का स्मरण होने से उनके नेत्रों में अश्रु आ गये। फिर कम्प और रोमांचसहित वे बोलीं–"हे यक्ष! यह मजाक हमारे स्वामी ने ही किया है, तो हम तुम्हें लाखों मोदक देंगे।"

ऐसा कहकर चारों तरफ दृष्टि डालते हुए उन्होंने अपने पति को देखा। उनके पीछे कामदेव ने तुरन्त अपने पाँच बाण साधे। उस समय वे चारों पुत्र भी 'पिताजी–पिताजी" कहने लगे, उनके नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो गये और वे यक्ष की प्रतिमा के उत्संग में चढ़कर बैठने लगे।

तब **कृतपुण्य** ने **अभय** से कहा–"ये मेरी प्रियाएँ भाग्य से व आपके प्रयास से प्राप्त हुई हैं। कुल रूपी आकाश में सूर्य के समान ये मनोहर पुत्र भी मेरे ही हैं।"

फिर स्थिरबुद्धि से युक्त **अभयकुमार** ने वृद्धा को देशत्याग का हुक्म सुनाया और लक्ष्मीसहित स्त्रियों को **कृतपुण्य** को सौंप दिया। उसके बाद वह **अनंगसेना** वेश्या भी यक्ष के प्रासाद में आयी और **कृतपुण्य** की प्रतिमा को देखकर भावविह्वल हो गयी। गद्गद कण्ठ से बोली–"हे प्रभु! शुभ शकुन और शुभ स्वप्नादि के पुष्प तुल्य आपके दर्शन हुए हैं। अब उस प्रिय के दर्शन रूपी फल की मुझे प्राप्ति हो।"

ऐसा बोलकर चारों तरफ देखने लगी। तभी अष्टमी के चन्द्र के समान कपाल से युक्त उसने अपने स्वामी को देखा। तुरन्त ही उसके पास आकर उसने प्रीतिपूर्वक कहा–"हे जीवितेश! अनेक प्रयत्नों के द्वारा मैंने देश–देश और नगर–नगर में आपकी शोध करवायी, पर मुझ मन्दभागी को आप प्राप्त नहीं हुए। मेरे इस वेणीदण्ड का मोचन कभी भी परपुरुष के आश्रित नहीं हुआ। आज आप अपने हाथ से इसका मोचन करो।"

तब **अभयकुमार** की आज्ञा से **कृतपुण्य** उन पाँचों प्रियाओं को लेकर अपने घर गया। सात किरणोंवाली अग्नि की तरह दैदीप्यमान वह **कृतपुण्य** प्राप्त हुई विशाल समृद्धि के योग से सातों प्रियाओं पर अतुल प्रीति रखता हुआ तेज के द्वारा शोभित होने लगा।

उसके बाद एक दिन मोह रूपी अन्धकार का नाश करनेवाले श्रीमहावीर जिनेश्वर रूपी

दिनेश्वर वैभार पर्वत के शिखर पर उदित हुए। उस समय गुण रूपी मणियों से शोभित **श्रीश्रेणिक राजा, अभयकुमार, कृतपुण्य** और सभी पुरजन प्रभु को वंदन करने के लिए गये। केवलज्ञान के द्वारा पदार्थों को सिद्ध करनेवाले और सिद्धार्थ राजा के कुल की कौस्तुभ मणि के समान भगवान ने पापनाशक देशना प्रदान की। उसके बाद अवसर देखकर बुद्धिमान **कृतपुण्य** ने दोनों हाथ जोड़कर दुःख का नाश करनेवाले श्री जिनेश्वर भगवान से विज्ञप्ति की–"हे जगन्नाथ! मैं उपकारी और अपराधरहित होने के बावजूद भी पग–पग पर विपत्ति और संपत्ति को कैसे प्राप्त हुआ?"

फिर प्रभु ने अपनी बत्तीसी की शोभा से सभा को दैदीप्यमान करते हुए कहा–"हे वत्स! पूर्वभव में तूं वत्सपाल (बछड़ों को चरानेवाला) था। निरन्तर दरिद्रता से खेदित होते हुए तुमने एक बार किसी उत्सव के दिन घर–घर में खीर बनती हुई देखकर अपने घर आकर अपनी माँ से खीर मांगी। आधार–रहित और आपत्ति से दुःखी हुई तुम्हारी माता रोने लगी। यह जानकर पड़ोस की स्त्रियों ने दयापूर्ण होकर दूध, चावलादि खीर की सामग्री प्रदान की। तुम्हारी माता ने खीर तैयार की और थाली में परोसकर किसी आवश्यक कार्य से बाहर चली गयी। तभी एक मुनि मासखामण की तपस्या के पारणे के लिए वहां पधारे। उस समय आनन्द रूपी रोमांच के कवच से व्याप्त तुमने आसन से उठकर थाली में से एक भाग खीर मुनि को बहरा दी। फिर तुमने विचार किया कि ये मुनि एक मास के उपवासी हैं, अतः इतनी खीर तो कम होगी। ऐसा विचार करके तुम्हारी मति विकसित हुई। अतः तुमने फिर से खीर का आधा भाग मुनि को बहरा दिया, क्योंकि सत्पुरुषों की बुद्धि शुद्ध विचारयुक्त होती है। फिर घी और शक्कर थाली में ही रहे हुए देखकर उसे हिलाकर खीर का शेष भाग भी तुमने बहरा दिया। इस प्रकार निदान रहित तीन भाग में तुमने मुनि को दान देकर इस भव में अन्तरयुक्त भोगों को प्राप्त किया।"

इस प्रकार पण्डितों में शिरोमणि उस **कृतपुण्य** को भगवान की देशना का श्रवण करके विषयों पर उद्वेग उत्पन्न हुआ। अतः वह वैराग्य को प्राप्त हुआ। फिर उसने अपने पुत्रों पर घर का सारा भार डालकर **श्री वीर भगवान** द्वारा प्रदत्त मुनिव्रत को स्वीकार किया। अनुक्रम से उग्र तपस्या करके विधिपूर्वक अनशन करके मन की प्रसन्नतापूर्वक सुखसमाधिपूर्वक स्वर्ग को प्राप्त किया।

हे भव्य जीवों! इस **कृतपुण्य** के वृत्तान्त को सुनकर बिना विलम्ब हर्ष के साथ पात्रदान में प्रवृत्ति करनी चाहिए, जिससे तुम्हें विलम्ब के बिना स्वर्ग और मोक्ष की अद्‌भुत संपत्ति प्राप्त हो सके।

जिसकी बुद्धि एकमात्र पुण्य के कार्य में ही तत्पर है, उस पुरुष को दान करते समय गर्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि गर्व करने से दान के फल में विपरीतता आती है। वह गर्व दो प्रकार

का होता है–स्व और पर। उनमें कुबुद्धियुक्त दातार पुरुष स्वयं ही शरीर, वाणी और मन से गर्व करता है। दान के गर्व से उन्मत्त हुआ दातार मत्त हस्ती की तरह अपने मस्तक और हाथों को हिला–हिलाकर स्व–पर के दुःख का कारणभूत बनता है। शरद्ऋतु के मेघ की तरह अपने उत्कर्ष की गर्जना के द्वारा मुख रूपी गुफा को वाचाल बनाता हुआ दातार किसकी हंसी का पात्र नहीं बनता? मेरे जैसा दातार कोई नहीं है–इस प्रकार मन में गर्व करता हुआ दातार अपने महान दान–पुण्य को अल्प कर देता है।

दूसरों को दान देते हुए देखकर उसकी स्पर्द्धा करना पर से गर्व कहलाता है। महात्माओं ने इस गर्व का त्याग करने के लिए कहा है। बुद्धिमान पुरुष को किसी से भी स्पर्द्धा नहीं करनी चाहिए, तो फिर बान्धवादि से भी अधिक प्रिय साधर्मी के साथ स्पर्द्धा करना कैसे योग्य हो सकता है? धार्मिक पुरुष की धर्म–संबंधी स्पर्द्धा भी मन को मलिन बनाती है और उससे अशुभ कर्मों का ही बंध होता है। वह **दशार्णभद्र** की तरह जिसके मोक्ष समीप हो–उसी को संभव होती है। कदाचित् स्पर्द्धासहित दान देने से संपत्ति–प्राप्ति संभव हो सकती है, पर वह संपत्ति पुण्य का अनुबंध नहीं कर सकती और चिरकाल तक टिक भी नहीं सकती। इस पर **धनसार** श्रेष्ठी का उदाहरण है, जो इस प्रकार है :–

इस भरत क्षेत्र में मथुरा नामक नगरी है। वह न्यायधर्म से व्याप्त थी, समृद्धि से विशाल थी और जिनचैत्यों की ध्वजाओं के द्वारा इस तरह शोभित होती थी, मानो लक्ष्मी के द्वारा स्वर्ग का तिरस्कार कर रही हो। उस नगरी में **धनसार** नामक एक श्रेष्ठी रहता था। वह समग्र कृपण पुरुषों का अलंकार था। उसका 22 करोड़ द्रव्य पृथ्वी में दबाया हुआ था, 22 करोड़ द्रव्य ही उसी नगरी में व्यापार में लगाया हुआ था और 22 करोड़ द्रव्य ही देशान्तर में व्यापार में लगाया हुआ था। इस प्रकार वह 66 करोड़ द्रव्य का स्वामी था। फिर भी तिल के अंश के समान थोड़ा–सा भी धन उसने कभी भी धर्मकार्य में नहीं लगाया। वह सेठ जब भी याचकों को देखता, उसके नेत्रों में लवण का प्रवेश हो जाता था। कोई उससे याचना करता, तो वह अग्नि की तरह कोप से जाज्ज्वल्यमान बन जाता था। कदाचित् उसके बुजुर्ग उसे यात्रादि के निमित्त से बुलाते, तो वह अधम धनिक लुटेरों के समूह की तरह लोगों के समूह के बीच से पलायन कर जाता था। कोई उसे जबरन पकड़कर ले जाता, तो टीप आदि धन भरने के समय मानो अकस्मात् कोई दौरा पड़ा हो–इस प्रकार से दाँतों को जड़ीभूत करके महाकष्ट के द्वारा चेष्टारहित बन जाता था। अधिक क्या कहें? उसके घर के सदस्य भी वैद्य के पास रोगी की तरह उसके पास इच्छानुसार खाने–पीने में भी समर्थ नहीं थे। सम्पूर्ण नगरी में उसकी कृपणता की ध्वनि इस प्रकार उछली हुई थी कि कोई भी मनुष्य प्रातःकाल होने पर कुछ भी खाये बिना उसका नाम तक अपनी जुबान पर नहीं लाते थे। इसी प्रकार धर्म, काम और मोक्ष पुरुषार्थ से

विमुख एवं धनोपार्जन करने में ही तत्पर उस सेठ ने **मम्मण** वणिक की तरह कितना ही काल व्यतीत किया।

एक बार उस **धनसार** ने अपने हाथ से दाबी हुई अपनी सम्पत्ति को भूमि खोदकर देखा, तो उसमें अंगारे दिखायी दिये। अतः उसका मुख ग्लानियुक्त हो गया। वह अत्यन्त खेदखिन्न हुआ। फिर भयभीत होते हुए उसने अपने अन्य निधान भी सम्भाले, तो किसी निधान में बिच्छु, किसी में सर्प, किसी में मकोड़े देखे। यह देखकर आकुल–व्याकुल होते हुए वह शोकमग्न हो गया। तभी किसी ने आकर उससे कहा–"हे सेठ! खल पुरुष की मित्रता की तरह आपके सभी वाहन जलमग्न हो गये।"

तभी किसी अन्य ने आकर कहा–"आपका सारा माल मार्ग में लुटेरों ने लूट लिया।"

इसी प्रकार कहीं अग्नि, कहीं चोर, कहीं वाणोतर, तो कहीं खल पुरुषों ने भिन्न–भिन्न निमित्तों के द्वारा उसका सारा धन नाश को प्राप्त हो गया। इन सब उपद्रवों के कारण उसका मन दीन हो गया। उसके मन में जरा भी विश्रान्ति नहीं हुई। मानो भूत से आविष्ट हुआ हो–इस प्रकार से पूरे नगर में इधर–उधर भटकने लगा।

फिर एक दिन उसने विचार किया–"अभी तक मेरे शरीर में बल है और कहीं–कहीं कोठार में अखण्ड माल भी भरा हुआ है। अतः देशान्तर में जाकर द्रव्योपार्जन करूं। स्वजनादि से अपमानित होकर यहां रहने की अपेक्षा अन्य स्थानों का आश्रय करना कल्याणकारी है, क्योंकि पूरे नगर में मेरी कृपणता से उत्पन्न अपवाद फैला हुआ है। उसमें भी धन क्षीण हो जाने के कारण मैं सभी के हास्य का पात्र भी बन गया हूं।"

इस प्रकार मन में विचार करके दस लाख द्रव्य लेकर वाहन में चढ़कर वह लोभी श्रेष्ठी समुद्र में चला। दूर मार्ग का उल्लंघन करने के बाद यकायक आकाश बादलों के द्वारा व्याप्त हो गया। प्रत्येक दिशा में तीक्ष्ण भालों के समान बिजली चमकने लगी। मानो परस्पर स्पर्द्धा कर रहे हों–इस प्रकार मेघ और समुद्र गरजने लगे। वाहन में बैठे हुए मनुष्यों का हृदय वाहन के साथ ही कम्पित होने लगा। यह देखकर श्रेष्ठी आदि लोग इस प्रकार सतुति करने लगे–"हे दैव! हमारी रक्षा करो।"

पर उनके पुण्य के साथ ही उनका वाहन भी टूट गया। उस समय एक पाटिया हाथ लग जाने से वह सेठ समुद्र को तैरकर किनारे पर पहुँच गया। किनारे की शीतल वायु के द्वारा मानो उसे आश्वासन मिला। अत्यन्त खेदित होते हुए वह विचार करने लगा–"हा! हा! मुझ मूढ़बुद्धि ने हजारों क्लेशों के द्वारा धन का उपार्जन किया और लाखों प्रयत्नों के द्वारा उसका अच्छी तरह रक्षण किया। तो भी वह क्षणभर में कैसे नष्ट हो गया? मैंने सुपात्रदान भी नहीं किया, स्वयं भी

उस धन को नहीं भोगा, अन्य के उपकार में भी उसका उपयोग नहीं किया। अतः मेरा वह धन शल्य की तरह मेरे मन को पीड़ित करता है। दैव को इतने से भी तृप्ति नहीं हुई। उसने कुटुम्ब से भी मेरा विरह करवा दिया।''

इस प्रकार विचार करके मन में खेदखिन्न होते हुए वह किनारे के वन में घूमने लगा। तभी उसने एक मुनि को देखा। उन्हें उसी समय केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। अतः देव उनकी महिमा कर रहे थे। वे स्वर्णकमल पर विराज रहे थे। यह देखकर मन में हर्षित होते हुए उनके पास जाकर उन श्रेष्ठ मुनि को नमन किया और उनके पास बैठ गया। मुनि ने भी उन्हें धर्मोपदेश दिया, जिसे सुनकर उसका मन अत्यन्त स्वस्थ बना। फिर उसने मुनि से पूछा–''हे भगवान! मैं जन्म से कृपण किस कारण से बना? मेरा इतना अधिक वैभव यकायक कैसे क्षीण हो गया?''

तब गुरुदेव ने कहा–''**धातकीखण्ड** के अलंकार रूप **भरत** नामक क्षेत्र में समृद्धिवान श्रेष्ठी के दो पुत्र **धनद** व **नन्द** थे। उनके पिता परलोक सिधारे, तब बड़े भाई ने घर का भार सम्भाला। वह उदार मनवाला था। उसकी बुद्धि हंस की तरह जिनधर्म रूपी कमल में क्रीड़ा करती थी। वह निदान रहित होकर निरन्तर दीनादि को अपना धन प्रदान करता था। मेघ की तरह महापुरुषों की सम्पत्ति अन्यों के उपकार के लिए ही होती है। उसके हस्त रूपी मेघ सुपात्रादि रूपी खेत पर दान रूपी जल की बरसात इस प्रकार करते थे कि उसकी कीर्ति रूपी नदी का पूर सर्व दिशाओं में फैल गया था।

एक बार उस पर ईर्ष्या रखने से अंधा हुआ और तुच्छ मनवाला उसका छोटा भाई **नन्द** विचार करने लगा–''**धनद** की कीर्ति दान के कारण सर्व ओर प्रसरित हो गयी है। पर भाग्यहीन की तरह मेरा नाम भी कोई नहीं जानते। पिता के द्वारा उपार्जित धन तो हम दोनों के भोग के लिए है। उस धन का यह अकेले ही कैसे नाश कर सकता है? थोड़े ही समय में तो यह समग्र वैभव को खत्म कर देगा। अतः मुझे अपने भाग का वैभव इससे मांग लेना चाहिए।''

इस प्रकार विचार करके दुर्बुद्धियों में मुकुट के समान **नन्द धनद** से जुदा हो गया। क्या कहीं भी आम्र और कैर के वृक्ष का साथ–साथ निवास योग्य है?

उसके बाद **धनद** के साथ स्पर्द्धा करते हुए उसने श्रद्धारहित होते हुए भी गर्व के द्वारा उद्धत चित्त से दीनादि को दान देना शुरु किया। पर मूढ़मतियुक्त उसमें विशेष ज्ञान न होने से तथा स्वभाव से कृपण होने के कारण दान देने के अवसर पर स्थान–स्थान पर उचितता के विपरीत आचरण करने लगा। अतः दान देने के उपरान्त भी उसकी लोक में उस प्रकार की प्रतिष्ठा न हो पायी। यथार्थ कारण के अभाव में यथार्थ कार्य की सिद्धि कभी हो नहीं सकती।

अपनी कीर्ति का श्रवण न होने से और अपने भाई की कीर्ति को सर्वत्र श्रवण करके वह अपने भाई पर शत्रु के समान द्वेष रखने लगा। उसी द्वेष के कारण उसने राजा के सामने झूठी चुगली करके अपने भाई का सर्वस्व राजा के द्वारा हरण करवा लिया। धिक्कार है ऐसी ईर्ष्या को! इसी कारण से **धनद** को वैराग्य उत्पन्न हुआ। अतः उसने साधुजी के पास दीक्षा ग्रहण करके तपस्या की और सौधर्म देवलोक में देव बना।

नन्द की दुष्टता का वृत्तान्त लोगों ने जाना, तो लोक में उसकी अत्यधिक निन्दा हुई। अतः संतप्त होकर **नन्द** ने तापस दीक्षा अंगीकार की और मरण प्राप्त करके असुरकुमार देव बना। वहां से च्यवकर तुम **धनसार** नामक श्रेष्ठी बने हो। तुमने पूर्वजन्म में दान दिया था, अतः इस भव में तुम्हें अत्यधिक सम्पत्ति प्राप्त हुई। पर तुमने कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा से ईर्ष्या सहित गर्व किया था। तुम स्वभाव से कृपण भी थे, अतः तुम्हारी सम्पदा का दान और भोग में उपयोग न हो सका। इसी कारण से निरन्तर तुम्हारा अपवाद प्रवर्तित हुआ और तुम हंसी के पात्र बने, क्योंकि मूढ़ मानस जिस अर्थ के लिए प्रवर्तन करता है, उसके विपरीत फल की ही प्राप्ति उसे होती है। तुमने क्रोध के आवेश में अपने बड़े भाई के धन का हरण करवाया था, अतः तुम्हारा भी समग्र धन भी एक साथ एक ही बार में नाश को प्राप्त हुआ। प्रायः ईर्ष्यालू मनुष्यों को सत्पुरुषों के गुणों में ईर्ष्या होती है और उस ईर्ष्या के कारण उनकी मनोवृत्ति मलिन बनती है। जिसके कारण मर्मस्थान को बींधनेवाले दुष्कर्म को वे बांधते हैं। इस विषय पर **कुंतलदेवी** रानी का दृष्टान्त सुनो–

इसी भरतक्षेत्र में इन्द्र की नगरी के समान **अवनिपुर** नामक नगर है। उसमें सर्व शत्रुओं को त्रस्त करनेवाला **जितशत्रु** नामक राजा था। गुण की सम्पदा के द्वारा श्लाघनीय उस राजा के पाँचसौ रानियाँ थीं। वे सभी उदार, सर्व प्रकार का दान करनेवाली, लोगों में मान्य और पुण्यकार्य में अत्यन्त आदरयुक्त थीं। उन सभी के मध्य **कुंतलदेवी** नामक पट्टरानी मात्र बाहर से ही शोभित थीं। अन्य रानियाँ निष्कपट भाव से सम्यग् प्रकार से धर्मकर्म में तत्पर रहती थीं, अतः वे तत्त्वतः शोभित थीं। सभी रानियों को राजा की कृपा से अत्यधिक सम्पदा प्राप्त थी। **प्रसन्न हुआ पति स्त्रियों के लिए कल्पवृक्ष से भी अधिक फलदायक होता है।** अतः प्रत्येक रानी ने अद्‌भुत चैत्य करवाये। **महात्माओं की सम्पदा पुण्य की उपकारक होती हैं।** उन चैत्यों में उन्होंने स्वर्ण की सुन्दर जिन–प्रतिमाएँ भरवायी थीं। **सत्पुरुषों के भाव पुण्यकार्य में निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हैं।** उन चैत्यों में वे निरन्तर स्नात्रादि विशाल उत्सव करने लगीं, क्योंकि **चैत्य में विशाल पूजाओं का आयोजन किया जाय, तो स्व–पर के लिए बोधि का कारण बनती हैं।**

उन सभी रानियों पर वक्र हृदय को धारण करनेवाली **कुंतलदेवी** रानी ईर्ष्या करती थी।

अतः उसने स्वर्ण का विशाल और ऊँचा चैत्य बनवाया। उनमें पूजादि सभी कार्य विशेष रूप से करने लगी, क्योंकि **ईर्ष्यालू अपने उत्कर्ष और अन्यों के अपकर्ष के लिए ही यत्न किया करते हैं।** अन्य सभी रानियाँ सरल थीं। वे भक्तिपूर्वक जो–जो उत्सव करतीं, उन सभी को वह **कुंतलदेवी** रानी ईर्ष्या से दुगुने रूप में करती। पर फिर भी अन्य रानियाँ उसकी प्रशंसा ही करती कि–"अहो! इस **कुंतलदेवी** रानी की संपत्ति किसके द्वारा प्रशंसनीय नहीं होगी? कि इस प्रकार से जिनेश्वर देव की अद्‌भुत भक्ति करती है।"

इस प्रकार प्रशंसा करके उसकी अनुमोदना करती थीं। पर **कुंतलदेवी** रानी का मत्सर भाव उसके महान पुण्य का भी नाशक बना, क्योंकि विष महास्वादिष्ट भोजन को भी दूषित कर देता है। सपत्नियों के चैत्यों में मनोहर वाद्यन्त्रों के गूंजते हुए शब्द उसके कान में पड़ते ही उसे तीव्र ज्वर हो जाता था। हमेशा उनके चैत्यों में होते उत्सवों को देखकर वह उसी प्रकार दुःखी होती थी, जिस प्रकार सूर्य को देखकर धुवड़ दुःखी होता है। इस प्रकार द्वेष के दुःख से पीड़ित **कुंतलदेवी** व्याधि से भी पीड़ित होने लगी, क्योंकि **अत्यधिक पुण्य या पाप का फल इसी भव में भी प्राप्त होता है।** हिम के द्वारा कमलिनी की तरह वह व्याधि के द्वारा अत्यन्त दुष्ट अवस्था को प्राप्त हुई। सभी उसे देखकर थू–थू करके उसकी निन्दा करते थे। यह अब सेवन करने लायक नहीं है–ऐसा सोचकर राजा ने उसे दूर कर दिया। उसका परिवार भी उसकी अवज्ञा करने लगा। ऐसी स्थिति में कौन अवज्ञा न करे? इस प्रकार की पीड़ा में मरकर वह चैत्य के पास ही एक कुतिया के रूप में उत्पन्न हुई। ईर्ष्यालू मनुष्य पुण्यवान होने के बावजूद भी शुभ गति को प्राप्त नहीं होता। वह बार–बार चैत्य के भीतर आवागमन करने लगी, क्योंकि पूर्वजन्म में अभ्यस्त शुभ या अशुभ मोह अन्य जन्म में भी प्राप्त होता है। अन्य सभी रानियाँ भी हर्ष से अपने और **कुंतलदेवी** रानी के चैत्य में पूजा करने लगीं, क्योंकि **सत्पुरुषों को किसी भी कार्य में स्व–पर की बुद्धि नहीं होती**, तो फिर धर्म में तो कैसे हो?

एक बार उस नगर के उद्यान में कोई केवलज्ञानी मुनि पधारे। यह सुनकर अंतःपुर और परिवार सहित राजा ने उनके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया। देशना के अंत में हर्षप्राप्त रानियों ने गुरु से पूछा–"वह पुण्यशाली **कुंतलदेवी** रानी मरकर कहां उत्पन्न हुई?"

गुरु ने फरमाया–"ईर्ष्यावश उसका गर्व वृद्धि को प्राप्त हुआ था, अतः उसने अपना सर्व पुण्यकर्म मलिन कर लिया। अत्यधिक विस्तारयुक्त मत्सरभाव से बांधे हुए दुष्कर्म के योग से वह मरकर अपने ही चैत्य के समीप कुतिया के रूप में उत्पन्न हुई है। अतः सभी कार्यों में मत्सर का त्याग करना चाहिए, क्योंकि खटाई के द्वारा दूध की तरह मत्सर के कारण पुण्य का नाश होता है।"

इस प्रकार सुनकर चतुर रानियाँ अत्यन्त वैराग्य को प्राप्त हुईं, क्योंकि भव्य प्राणी कुकर्म का फल सुनकर वैराग्य को प्राप्त होते ही हैं। फिर रानियाँ चैत्य में आकर जिनेश्वर को नमन करके स्नेह, करुणा और आश्चर्यपूर्वक उस कुतिया को देखकर उसके पास भोजनादि पदार्थ रखकर वैराग्यपूर्ण वचन कहने लगीं–"हे भद्रे! तुमने पूर्वभव में इस चैत्य को बनवाया था। इसके सिवाय दानादि अन्य पुण्य भी बहुत किया था। पर तेरी ईर्ष्या ने वह सब पुण्य धो डाला है। उसी ईर्ष्या के कारण तूं इस निन्दनीय गति को प्राप्त हुई है। पूर्वभव में तो तुम राजा की **कुंतलदेवी नामक** पट्टरानी थी।"

ऐसे वचन सुनकर कुतिया संभ्रान्त होते हुए विचार करने लगी–"मुझ पर प्रेम रखनेवाली ये स्त्रियाँ कौन हैं? ये मुझे क्या कह रही हैं? यह मन्दिर क्या है? मैंने इसे पहले कहाँ देखा है?"

इत्यादि तर्क–वितर्क करते हुए उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। पूर्वकृत पुण्य और ईर्ष्या आदि को प्रत्यक्ष देखा। अतः अत्यन्त वैराग्य को प्राप्त होकर बारम्बार पूर्वकृत दुष्कर्मों की निन्दा करने लगी। फिर केवली के पास जाकर उसने सर्व कर्मों की आलोचना की। वैराग्य के कारण अनशन स्वीकार किया और सात दिनों के बाद मरकर स्वर्ग में गयी।

इस प्रकार ईर्ष्या का परिणाम अत्यन्त दुष्ट है और वह ईर्ष्या सद्धर्म में बाधक है–ऐसा जानकर बुद्धिमान पुरुष को सर्व कार्य में उसका त्याग करना चाहिए और पुण्यकार्य में तो विशेष रूप से त्याग करना चाहिए।"

इस प्रकार अपने पूर्वभव के साथ केवली भगवान की दिव्य पुण्यमय वाणी को सुनकर हर्ष को प्राप्त **धनसार** श्रेष्ठी अत्यन्त वैराग्य को प्राप्त हुआ। उसका मन पुण्य में लीन हो गया। उसने केवली भगवान से पूछा–"हे भगवान! मेरा वह भाई अभी तक देवलोक से च्यवकर मनुष्य जन्म में आया है या नहीं?"

भगवान ने कहा–"वह तुम्हारा भाई सौधर्म देवलोक से च्यवकर **ताम्रलिप्ति** नामक नगर में श्रेष्ठीकुल में महान वैभवशाली बना। उसने यौवनवय में ही अत्यन्त वैराग्यवंत होकर जैनदीक्षा ग्रहण की और अब केवलज्ञान प्राप्त करके इस भूमण्डल पर विचारण कर रहे हैं। वह तुम्हारा बड़ा भाई मैं ही हूं।"

यह सुनकर उस श्रेष्ठी ने प्रसन्न होते हुए मन में विचार किया–"हहा! मैंने मूढ़ बुद्धि के द्वारा पूर्व में धर्म की विराधना की, जिसके कारण विशाल सम्पदा को प्राप्त करके भी इस प्रकार के कष्ट में आ गिरा हूं। मेरे इस बड़े भाई ने सम्यग् प्रकार से धर्म की आराधना करके महान कैवल्य संपत्ति को प्राप्त किया है।"

इस प्रकार विचार करते हुए उसे संवेग उत्पन्न हुआ। उसने केवली भगवान के पास सम्यक्त्व सहित गृहस्थ धर्म रूपी बारह व्रत अंगीकार किये। उसने यह अभिग्रह भी ग्रहण किया कि उपार्जित किये हुए धन में से चौथा भाग रखकर बाकी सारा धन स्पर्द्धारहित होकर दानादि धर्मकार्यों में उपयोग करूंगा। फिर पूर्वजन्म में अपने द्वारा किये गये अपराध को गुरु के सामने खमाया। गुरु भी विहार करके अन्य देश को सूर्य की तरह प्रकाशित करने लगे।

उसके बाद वह **धनसार** श्रेष्ठी पुण्यकार्य में तत्पर बनकर अनुक्रम से **ताम्रलिप्ति** नामक नगर में गया। वहां शुद्ध वृत्ति से व्यापार करने लगा। वहां पवित्र आत्मायुक्त होकर वह जितना भी द्रव्य उपार्जित करता, उसमें से एक चौथाई भाग रखकर बाकी सारा धर्मकार्य में लगाने लगा, क्योंकि सत्पुरुष कभी भी असत्यव्रती नहीं होते। अष्टमी आदि तिथियों के दिन कर्म रूपी व्याधि की औषधि के समान पौषधव्रत को अंगीकार करता तथा जिनपूजादि में प्रयत्न करते हुए उसने कितना ही काल निर्गमन किया।

एक बार चतुर्दशी की रात्रि में अत्यन्त क्रूर व्यन्तर के निवास के द्वारा भयंकर दिखते शून्य घर में स्थिर मतिवाले उस श्रेष्ठी ने प्रतिमा धारण की और कायोत्सर्ग में खड़ा हो गया। उस पर वह मिथ्यादृष्टि व्यन्तर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। जगत को आनन्द प्रदान करनेवाले चन्द्र पर क्या चोर क्रोध नहीं करते? उस व्यन्तर ने सर्प का रूप धारण करके निर्दयतापूर्वक शंकारहित होकर उस श्रेष्ठी को डंक मारा। अन्य भी अनेक भय दिखाकर उसे भयभीत करने की कोशिश की, पर उस श्रेष्ठी का मन स्थिर था। उसने अत्यन्त समता धारण कर रखी थी। अतः वह लेशमात्र भी क्षुब्ध नहीं हुआ–नहीं डिगा। क्या प्रलयकाल की उद्धत व प्रचण्ड वायु के द्वारा मेरुपर्वत कम्पायमान हो सकता है? उसकी स्थिरता देखकर उस अधम देव ने अत्यन्त क्रुद्ध होते हुए उसके शरीर में भयंकर वेदना उत्पन्न की। इस प्रकार सूर्योदय होने तक उस देव ने उपसर्ग किये, पर उसके मुख की कान्ति का भेदन नहीं हुआ। उसने शरीर को तृण के समान मान लिया था और उसका मन ध्यान में ही तल्लीन था। उसे इस प्रकार देखकर यक्ष ने कहा–"तूं ही धन्य है, तूं ही मान्य है, तूं ही पूज्य है और तूं ही स्तुति करने लायक है। गृहस्थ होते हुए भी तेरी धर्म में दृढ़ता किसी के द्वारा भी नष्ट नहीं की जा सकती। तेरा सत्त्व सर्व प्राणियों में सर्वाधिक है। तुम्हारी समता उपमारहित है। तेरा धैर्य मेरुपर्वत का भी तिरस्कार करनेवाला है। अहो! तेरे गुणों का अतिशय आश्चर्यकारक है। मैं तुम पर संतुष्ट हुआ हूं। अतः वरदान मांगो। देवदर्शन कभी निष्फल नहीं होता।"

इस प्रकार बार–बार कहने पर भी जब उस श्रेष्ठी ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, तब देव ने फिर से कहा–"हे महात्मा! तूं निःस्पृह है, पर फिर भी मेरे कहने से तूं अब मथुरानगरी में जा। जब तूं वहां जायगा, तो तुम्हारे उग्र भाव से किये हुए इस सुकृत्य के कारण तेरा नष्ट हुआ 66

करोड़ धन तत्काल तुझे प्राप्त होगा।''

ऐसा कहकर वह देव क्षमायाचना करके तत्काल अदृश्य हो गया। फिर श्रेष्ठ बुद्धियुक्त वह श्रेष्ठी प्रतिमा को पारकर विचार करने लगा–''मेरा चित्त विशुद्ध जिनधर्म में लगा हुआ है, अतः मुझे वित्त से क्या प्रयोजन? क्योंकि धर्म ही अनुपम सुखलक्ष्मी का कारण है, वित्त सुख का कारण नहीं है। मेरी नगरी में मेरे कुल के पंक के समान मेरी कृपणता का कलंक विस्तार को प्राप्त है। अतः वहां जाकर अभी ही उस कलंक को धो देना ही उचित है। और अगर वह नष्ट हुआ मेरा धन मुझे वापस प्राप्त हो जाय, तो मैं उसे सुकृत में लगाकर उसे सफल बनाऊँ, क्योंकि दान ही वित्त का फल है। अगर मैं वहां जाऊँगा, तो मेरे सम्बन्धी भी धर्म का फल देखकर उस धर्म में दृढ़ बनेंगे।''

इस प्रकार कार्य का विचार करके वह **धनसार** श्रेष्ठी मथुरानगरी में अपने घर पर गया। वहां जाकर अपना निधान सम्भाला, तो वह सारा धन पूर्ववत् जमीन में यथातथ्य रूप में मिला। जिन वाणोतरों ने धन को ग्रहण कर–करके देशांतरों में पलायन किया था, वे भी उसे समृद्धियुक्त देखकर फल को देनेनवाले वृक्ष को जैसे पक्षी सेवते हैं, वैसे ही आ–आकर उसकी सेवा करने लगे। निर्मल वृत्तियुक्त उस श्रेष्ठी का उधार दिया हुआ धन स्वयं ही उसके हाथ में आने लगा, क्योंकि **शुद्ध व्यवहार देखकर सर्व मनुष्य अनुकूल हो जाते हैं।** राजा के पास अपना मान होने से चोरादि के आधीन रहा हुआ धन भी उसे वापस प्राप्त हो गया। **जब प्राणियों के कर्म अनुकूल होते हैं, तब उसे कुछ भी दुर्लभ नहीं होता।** ज्यादा क्या कहें? उसका छासठ करोड़ धन उसे प्राप्त हो गया। **शुभ भाव से उत्पन्न हुआ सुकृत शीघ्र ही फलदायक होता है।** फिर मानो अपनी पुण्यलक्ष्मी के निवास करने के लिए मन की प्रसन्नता को करनेवाला और आकाश को स्पर्श करते शिखर से युक्त एक चैत्य करवाया। उसमें समग्र पृथ्वी के लोगों को आनन्द प्रदान करनेवाले महान उत्सवपूर्वक आदिनाथ भगवान की स्वर्णमयी प्रतिमा की स्थापना की। उसके शिखर पर अपनी पूर्व की अपकीर्ति रूपी अन्धकार का विनाश करने के लिए मानो चन्द्र के बिम्ब के समान दैदीप्यमान स्वर्णकलश की स्थापना की। बुद्धि रूपी धन से युक्त उस श्रेष्ठी ने जीर्णोद्धार आदि कार्यों में भी अपना धन लगाया। अतः उसके नियम जरा भी भंग रूपी मलिनता को प्राप्त नहीं हुए। इस प्रकार गर्वरहित निरन्तर दानधर्म का विस्तार करते हुए उस श्रेष्ठी ने पुण्य, कीर्ति और प्रतिष्ठा को अधिक से अधिक प्राप्त किया। अन्त में पुत्र को घर का कार्यभार सौंपकर धर्म में स्थिर बुद्धियुक्त उसने एक मास का अनशन किया और सौधर्म देवलोक में श्रेष्ठ देव बना। वहां से आयुष्य पूर्ण करके च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्तम कुल में जन्म आदि समस्त शुभ सामग्री प्राप्त करके चारित्र ग्रहण करके समताभावों के द्वारा आठों कर्मों का उन्मूलन करके मोक्ष को प्राप्त करेगा।

इस प्रकार **नंद** और **धनद**–इन दोनों भाइयों के दानधर्म संबंधी गर्व और अगर्व से उत्पन्न हुए शुभ–अशुभ फलयुक्त चरित्र को कर्णगोचर करके हे भव्यजनों! दानधर्म की विधि के द्वारा हृदय को साफ करके दो प्रकार के गर्व का त्याग करो, जिससे दानधर्म का फल शीघ्रता से प्राप्त हो सके।''

इस प्रकार जो पुरुष पाँच दोषरहित और पाँच गुणसहित व सम्पूर्ण फल को प्रदान करनेवाले श्रीदानधर्म की आराधना करता है, वह मनुष्य और देव के वैभव से युक्त अत्यन्त अद्‌भुत सम्पदा को भोगकर अन्त में समग्र कर्मों का नाश करके शीघ्रता के साथ शाश्वत मोक्ष्लक्ष्मी का वरण करता है।

।। इति द्वादश प्रकाश।।

अथ प्रशस्ति

श्रीमहावीरस्वामी के सर्व गणधरों में प्रथम गणधर **श्रीगौतम स्वामी** और आगम रूपी गंगा नदी की उत्पत्ति में हिमालय पर्वत के समान पंचम गणधर **श्रीसुधर्मास्वामी** आप सभी की सिद्धि के लिए हों। उनके पाट पर समता रूपी उद्यान में जल के समान **श्रीजम्बूस्वामी** शोभित थे। उनके बाद अनुक्रम से गौरव के द्वारा मेरुपर्वत का भी तिरस्कार करनेवाले **श्रीवज्रस्वामी** नामक गुरु हुए। उनकी शाखा के तिलक के समान और निर्मल संवेग के रंग द्वारा विकास को प्राप्त **श्रीजगच्चंद्र** नामक प्रसिद्ध सूरि ने जिनमत को अत्यन्त शोभा प्राप्त करवायी। उन्होंने निर्मल, दुस्तप और जगत को आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले उस–उस तप के द्वारा **श्रीचंद्र** नामक **गच्छ** के स्थान पर राजा द्वारा प्रदत्त **तपगच्छ** नामक प्रसिद्धि का पृथ्वी पर विस्तार किया। उनके पाट रूपी उदयाचल पर्वत को सूर्य की तरह विशाल तेज से विस्तृत बनाते हुए **श्रीमान् देवेन्द्रसूरि** ने शोभित किया। वे प्रत्येक दिशा में [1]कमलोल्लास करने में समर्थ थे। किरणों के समूह की तरह दैदीप्यमान और चारों तरफ सुन्दर प्रकाशयुक्त मोक्षपुरी के मार्ग को दीपता हुआ उनके ग्रंथों का समूह आज तक आश्चर्य उत्पन्न करता है। उसके बाद उनके पाट पर आये हुए **श्रीधर्मघोष** नामक प्रभु ने जैनधर्म को उन्नति प्राप्त करवायी। उन्होंने **गोमुख नामक देव** को समकित प्राप्त करवाकर **शत्रुंजय तीर्थ की रक्षा** के लिए स्थापित

1. सूर्य कमलों का विकास करने में और सूरि कमला का अर्थात् ज्ञानलक्ष्मी का विकास करने में समर्थ थे।

किया। अनेक प्रकार की अद्‌भुत सिद्धियों को धारण करनेवाले वे विद्या से उन्मत्त हुए कुवादियों की गर्व रूपी अपस्मार व्याधि को दूर करने में **धन्वन्तरि वैद्य** के समान थे। उनके पाट को शोभा प्रदान करनेवाले **श्रीसोमप्रभ** नामक सूरि हुए। उनके कण्ठ में उज्ज्वल मुक्तावली की तरह निरन्तर शोभित सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ के द्वारा शोभित एकादशांगी ने उन्हें उस प्रकार से सौभाग्य प्राप्त करवाया था कि जिससे जगत में उत्तमता को धारण करनेवाली लक्ष्मी ने स्वयं ही उनका शीघ्रता से वरण किया था। उनके बाद उनके पाट पर एक अलंकार रूप **श्रीसोम– तिलक** नामक सूरि हुए। वे नये और विचित्र शास्त्रों की रचना करने में विधाता के समान थे, सिद्धान्त के ज्ञाताओं में अग्रसर थे और दुःखपूर्वक पराभव किया जा सके, ऐसे मोह रूपी कुराजा को जीतकर धैर्य के स्थान रूप उन्होंने तीन जगत में श्रीधर्मराजा का साम्राज्य एकछत्र से युक्त बनाया था। उनके पाट पर तेज रूपी लक्ष्मी के स्थान रूप, तपागच्छ को प्रकाशित करने में तत्पर और कल्याण रूपी मार्ग के द्वारा दैदीप्यमान **श्री देवसुन्दर** नामक गुरु दीप के समान शोभित हुए। उन्होंने लक्ष्मी के स्थान रूप जैनधर्म को इस कलियुग रूपी रात्रि में उसी तरह प्रकाशित किया कि जिससे मन्ददृष्टि (मिथ्यादृष्टि) से युक्त जनों को भी स्पष्ट रूप से सद्दर्शन की प्राप्ति होती थी। उनके पाट रूपी उदयाचल पर्वत पर सूर्य के समान **श्रीसोमसुन्दर** गुरु नामक प्रभु जयवन्त वर्तित हैं। तीन जगत में श्रेष्ठ गुणों से युक्त उनके द्वारा जिनशासन गौतमस्वामी के समान दैदीप्यमान वर्तित हैं। उनकी कीर्ति के द्वारा पृथ्वीतल को धोनेवाले ये प्रख्यात पाँच शिष्य जिनमत की अत्यन्त उन्नति का विस्तार कर रहे हैं। उनमें **प्रथम श्रीमुनिसुन्दर** नामक गुरु हैं, जिनकी महिमा पृथ्वी पर अत्यन्त विस्तृत है। जगत में हिंसा का निवारण करने से वे **भद्रबाहु** स्वामी की तरह शोभित हैं। **दूसरे** गुरुराज **श्रीजयचन्द्र** नामक मुनीश्वर जयवन्त वर्तित हैं। उन्होंने अपनी बुद्धि के अतिशय की समृद्धि के द्वारा बृहस्पति का भी अत्यन्त तिरस्कार किया है। **तीसरे** सूरीश्वर **श्री भुवनसुन्दर** के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके सौभाग्यादि गुणों के कारण उन्होंने अपना नाम सार्थक कर लिया है। **चौथे** श्रेष्ठ गुणोंवाले **श्रीजिनसुन्दर** नामक सूरीश्वर जयवन्त विचरते हैं। वे निरन्तर मुक्तावली के समान एकादशांगी को शोभित करते हैं। चन्द्र की अत्यन्त निर्मल कीर्ति के द्वारा प्रसिद्ध **श्रीजिनकीर्ति** नामक मुनि हैं, जो कि **पाँचवें** हैं। पर वे गुणों के द्वारा गिनती के पात्र नहीं हैं अर्थात् उनके गुणों की गिनती ही नहीं है। पाँचों में से चौथे **श्रीजिनसुन्दर सूरि**, जो कि विद्या के निधान हैं, उनके शिष्य **श्री सोमसुन्दर गुरु** नामक सूरि, जो कि गच्छ के नायक हैं, उनकी आज्ञा में वर्तित होते अल्पमतियुक्त **चारित्ररत्न।**

गणि ने इस **दानप्रदीप** नामक ग्रन्थ को स्व और पर के अर्थ की सिद्धि के लिए रचा है। विक्रम संवत् 1499 में चित्रकूट नामक गढ़ (चित्तौड़गढ़) इस ग्रंथ को समाप्त किया है।

प्रशस्तिसहित इस ग्रंथ का प्रमाण अनुष्टुप श्लोकों की गिनती करते हुए 6675 श्लोक होते हैं। शेषनाग रूपी दैदीप्यमान जिसका नाल है, दिशा रूपी जिसके विशाल पत्तों का समूह है और मेरुपर्वत रूपी जिसकी कर्णिका है, ऐसे आकाश रूपी कमल में जब तक मनोहर गतियुक्त सूर्य और चन्द्र रूपी दो राजहंस क्रीड़ा करते हैं, तब तक सम्यग्दृष्टि प्राणियों के लिए मोक्षनगर के मार्गों को प्रकाशित करता यह दैदीप्यमान दानधर्म रूपी दीप जिनप्रवचन रूपी घर में चारों तरफ प्रकाश विकीर्ण करे।

।। इति प्रशस्ति।।

।। इति दानप्रदीप ग्रंथ समाप्त।।

अन्य प्रकाशन

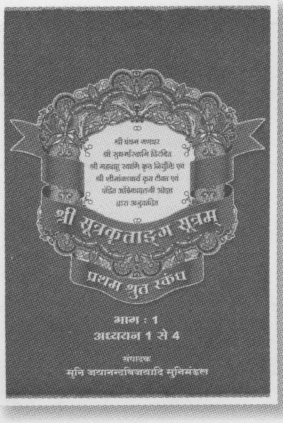
श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्रम्
प्रथम श्रुत स्कंध
भाग : 1
अध्ययन 1 से 4
सम्पादक
मुनि जयानन्दविजयादि मुनिमंडल

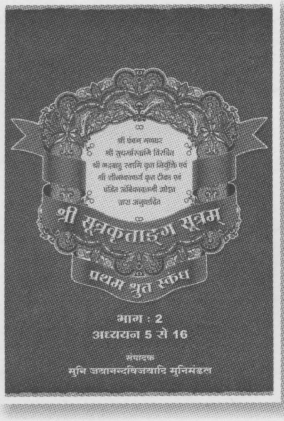
श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्रम्
प्रथम श्रुत स्कंध
भाग : 2
अध्ययन 5 से 16
सम्पादक
मुनि जयानन्दविजयादि मुनिमंडल

नरक के चार दरवाजे
हे प्रभुजी !
नहीं जाउँ नरक गति में

तीर्थयात्रा

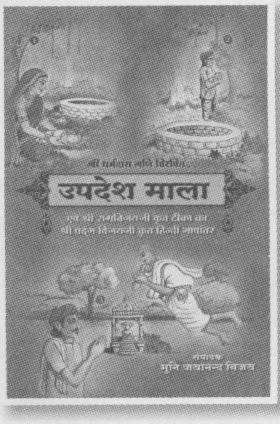
उपदेश माला
सम्पादक
मुनि जयानन्द विजय

होलिका आख्यानम्

॥ श्री कामघटकथानकम् ॥

श्री चन्द्रराजचरित्रम्

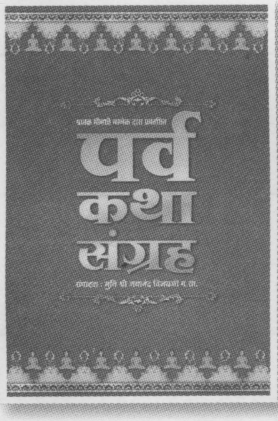
पर्व
कथा
संग्रह

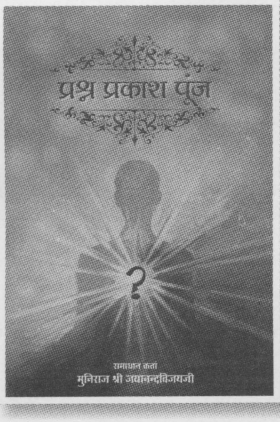
प्रश्न प्रकाश पुंज
?
समाधान कर्ता
मुनिराज श्री जयानन्दविजयजी

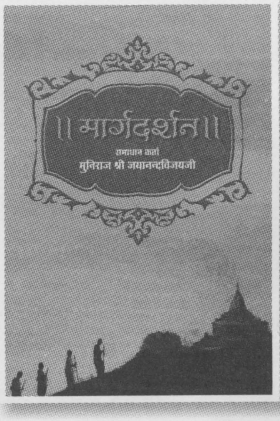
॥ मार्गदर्शन ॥
समाधान कर्ता
मुनिराज श्री जयानन्दविजयजी

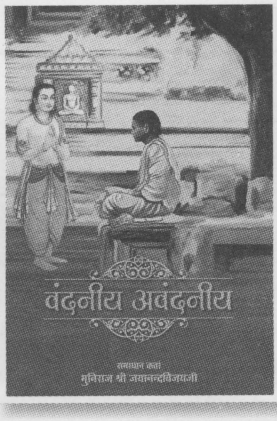
वंदनीय अवंदनीय
समाधान कर्ता
मुनिराज श्री जयानन्दविजयजी

❧ नोंध ❧

शास्त्रों में कहा गया है कि पृथ्वी का भूषण पुरुष है, पुरुष का भूषण उत्तम लक्ष्मी है और लक्ष्मी का भूषण दान है। इसी कारण से जैसे काव्य से कवि, बुद्धि से मंत्री, न्याय से राजा, शूरवीरता से सुभट, लज्जा से कुलपुत्र, सतीत्व से घर, शील से तप, कान्ति से सूर्य, ज्ञान से अध्यात्मी, वेग से अश्व एवं आँख से मुख शोभित होता है, वैसे ही दान से लक्ष्मी शोभित होती है। अतः अनेक प्रयासों से प्राप्त और प्राणों से भी ज्यादा महत्त्व रखनेवाली लक्ष्मी की एकमात्र उत्तम गति दान ही है। इसके अलावा तो लक्ष्मी उपाधि रूप ही है।

सभी प्रकार की दैविक व मानुषी समृद्धि एवं मोक्ष सम्पदा का उत्कृष्ट कारण धर्म ही है और उसके भी दान, शील, तप व भाव रूपी चार प्रकार होने पर भी दान धर्म को मुख्य कहने का कारण यह है कि बाकी तीन धर्म दान धर्म से ही स्थिरता को प्राप्त होते है।

यह ग्रंथ विशेष रूप से पठन, मनन और बार-बार मनन करने योग्य है। मनुष्य-जीवन के लिए सन्मार्गदर्शक, पिता की तरह सर्व-वांछित-प्रदाता, माता की तरह सर्व-पीड़ा को दूर करनेवाला, मित्र की तरह हर्षवर्द्धक यह धर्म महामंगलकारक कहलाता है। दानधर्म आत्मिक आनन्द उत्पन्न करनेवाला, मोक्षमार्ग को निकट लानेवाला, आत्मज्ञान की भावनाओं को स्फुरित करनेवाला, निर्मल सम्यक्त्व-श्रावकत्व-परमात्मतत्त्व को प्रकट करनेवाला होने से यह ग्रंथ एक अपूर्व रचना है।

MULTY GRAPHICS
(022) 23873222 23884222